पापप्रभावाद् भवेद्दरीद्रो दरिद्रभावाच्च करोति पाप ।
पापप्रभावान्नरक प्रयाति पुनर्दरिद्र पुनरेव पापी ।।

अर्थात् पाप के उदय से जीव दरिद्र होता है और दरिद्रता मे दुर्मतिवश चोरी, हत्या, मास भक्षण आदि फिर पाप करता है जिससे नरक मे चला जाता है, फिर दरिद्र और फिर पापी इस प्रकार दीर्घकाल तक कर्म परम्परा मे भटकता रहता है।

अक्सर देखा जाता है कि पूर्व जन्म के पाप तो भोग रहा है और फिर मनुष्य नये नये पाप कर्मों मे प्रवृत्त रहता है । इस स्थिति मे भला उसके अच्छे दिन कैसे आएगे ? बुरे कर्मों से उपार्जित वैभव भी शान्ति दायक नही होता वह कोई न कोई अशाति खडी कर देता है और चचल चमक सम अनायास नष्ट भी हो जाता है ।

आप देखते है, पैसे के लिए भाई भाई, बाप-बेटा और पति पत्नि तक मे भयकर झगडे होकर पारिवारिक जीवन दु खद बन जाता है । हिसा, झूठ और परिग्रह के चलते परम शान्त और सुखद जीवन भी अशान्त बन जाता है और देवो से स्पर्धा करने वाला भी मानव दानव और पशु-तुल्य हो जाता है ।

मनुष्य जीवन जो सकल अभ्युदयो की जड है, उसको व्यर्थ म गवाना बुद्धिमानी का कार्य नही माना जा सकता । जिस प्रकार वृक्ष अपने स्वभाव और गुण-धर्म को नही छोडते तथा अपकारी का भी उपकार करते है उसी प्रकार मनुष्यो को भी मानवोचित महान् गुण और धर्म का त्याग नही करना चाहिए । मन से दुख के कारणो को दूर किए बिना वास्तविक सुख की प्राप्ति असमव है । लडाई, हिसा या कलह से प्राप्त सम्पदा स्वय और परिवार किसी के लिए भी कल्याणप्रद नही हो सकती ।

आज हजारो लोग दोनो समय भोजन नही पाते और सर्दी एव घाम मे छटपटाकर पशुवत् जीवन व्यतीत करते है आप अपनी सुख सुविधा मे उन्हे भूल जाते है । लेन देन के पैसे लेना तो नही भूलते किन्तु उनके जीवन सुधार पर ध्यान नही देते क्योकि वैसा करने मे थोडा लोभ घटाना पडता है । जो लोग अज्ञानतावश मच्छी बेचते शिकार करते और पशु बेचकर आपको पैसा चुकाते है आप लोग उनको सान्त्वना देते हुए पाप की बुराई समझावे और कुछ सहानुभूति रक्खे तो उनका जीवन सुधर सकता है, हिसा घट सकती और थोडे त्याग मे अधिक लाभ हो सकता है । सम्पन्न लोगा को इस ओर ध्यान देना चाहिए ।

आज ससार मे सर्वत्र मन की सकीर्णता और स्वार्थपरता ही दृष्टिगोचर होती है । और की ता बात ही क्या ? जा पुत्र पिता स अनन्य प्रम करता है उनकी

आध्यात्मिक आलोक

प्रवचनकार

श्रीमज्जैनाचार्य श्री हस्तिमलजी महाराज

सम्पादक

स्व शशिकान्त झा

गजसिंह राठौड

जैन न्याय व्याकरण तीर्थ

प्रेमराज बोगावत

जैन न्याय-सिद्धान्त विशारद, व्याकरण तीर्थ

प्रकाशक

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

स्वकृत कर्म भोगता है, परकृत और उभयकृत नही । जेसे कहा है–जीवा सय कड दुक्ख वेदेति, परकड दुक्ख वेदेंति, तदुभय कड वा दुक्ख वेदेति ? गोयमा ! जीवा सय कड दुक्ख वेदेंति, नो पर कड, नो तदुभय कड । भ. ।

इसमे कोई शक नही कि जीव अपने ही किए हुए कर्म भोगता है । ठीक ही कहा है – 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम् ।' कई वार देखा जाता है कि भले आदमी को बिना कारण के भी सहसा दु:ख का सामना करना पड़ता है और अनचाहे भी कर्म फल भोगने पड़ते है । उदाहरण के रूप मे देखिये – ससार मे तीन प्राणी सीधे-सादे जीवन व्यतीत करने वाले है, मृग, मीन और सत । फिर भी मनुष्य इन्हे सताते है । इन तीनो का जीवन सतोष का होता है । मृग घास-पात खाने वाला और बिलकुल भोला-भाला प्राणी है । वह अपनी चचल गति की चौकड़ी और बड़ी-बड़ी ऑखों से देखने वालो का मन मोह लेता है । मगर ऐसे निर्दोष और सीधे जानवर के लिए भी मनुष्य वैरी बन जाता है । मछली भी उपकारी प्राणी है । वह बिना कुछ दिए लिए केवल जल पर निर्वाह करती है, तथा जल को शुद्ध करती है । मनुष्य के द्वारा की हुई गंदगी की वह सफाई करती है, किन्तु मनुष्य उसकी स्वतन्त्रता को ही नष्ट नही करता वरन् उसकी जान भी ले लेता है । सतजन सतोष पूर्वक सादगी से अपना जीवन व्यतीत करते है, किन्तु बिना कारण के सत के भी लोग दुश्मन बन जाते है । इस प्रकार दुष्ट का साधुओ को सताना, शिकारी का मृग मारना और मछुए का मछली पकड़ना आदि निष्कारण शत्रुता के उदाहरण है ।

मच्छी आदि के दु ख मे कर्म फल को अन्तरकारण मानते हुए भी इस सत्य को नही भूलना चाहिए कि अज्ञान या मोहवश जो किसी को सताते है, वे भविष्य के लिए स्वय वध्य बनकर अपने को भयंकर यातना के लिये तैयार करते है । अतएव मानव के लिए सतो का उपदेश है कि अपना भाग्य कुकर्म की मसि से मत लिखो। बुरे कर्म से तुम्हारा उभय लोक बिगड़ता है और जीवन भारी बनता है । भूमि मे धान का दाना भले न उगे, पर करनी का दाना बिना उगे नही रहेगा । कहावत भी है – "जैसी करनी, वैसी भरनी" कोई बुरा कर्म करके अच्छा फल पाने की इच्छा करे, यह कदापि सभव नही है । कहा भी है–

करे बुराई सुख चहे, कैसे पावे कोय ।
रोपे पेड़ बबूल का, आम कहा से होय ।।

बुरे कर्मो का ही परिणाम दरिद्रता है । पाप और दुःख की परपरा कैसे बढ़ती है, अनुभवी आचार्यो ने इसका ठीक ही चित्र खीचा है । जैसे कि –

प्रकाशकीय

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपने स्थापना काल से ही निरन्तर आगम साहित्य का प्रकाशन और उसका प्रचार प्रसार करता आ रहा है।

पिछले कई वर्षों से मडल का यह भी प्रयत्न रहा है कि ऐसे आगम साहित्य के प्रकाशन के साथ साथ आगम साहित्य के सर्जक एव उद्घोषक सन्त सतियो के मौलिक प्रवचना का भी सकलन करके उन्ह प्रकाशित किया जाय । इसी के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध रत्न परम्परा क महान् आचार्य गुरुदेव श्री हस्तिमलजी महाराज सा के अत्यन्त प्ररणाप्रद एव आगम सम्मत प्रवचनो के कई सकलन गजेन्द्र व्याख्यानमाला" के अन्तर्गत एव स्वतन्त्र रूप से भी मडल ने प्रकाशित किये हे ।

आज के भौतिक तमसाच्छन्न युग म, जबकि इस जगत को आध्यात्मिक सस्कृति की देन देने वाल इस देश के नागरिक भी भौतिक सस्कति के उपासक पाश्चात्य जगत् क भोग विलास को जीवन मे सीमातीत महत्त्व देने लग गये है एस तपोपूत सन्त योगियो के उद्बोधन की अत्यन्त आवश्यकता है । ऐसे सन्त योगियो के अन्तस्तल से निकले प्रवचन सरल सामान्य जनभाषा मे होने के कारण सीधे जन मानस का हित साधन करन म समर्थ होते है । ऐसे सन्त प्रवचनो की आवश्यकता दिनोदिन बढ रही है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे सन् १९६५ मे सैलाना नगरी (मध्यप्रदेश) म हुए आचार्यश्री के व्याख्याना का सग्रह है । इन व्याख्याना का सग्रह उस समय सैलाना निवासी लब्ध प्रतिष्ठ श्रावक अग्रणी स्व श्री प्यारचन्दजी राका ने बडी श्रद्धा एव लगन स करवाया था । एव स्वय न ही उनके प्रकाशन का व्ययभार भी सहर्ष वहन किया था। स्व. राकाजी की यह जिन शासन को अपूर्व सवा थी । मडल उनकी इस अत्यन्त उदारतापूर्ण श्रुतसवा के लिये चिर ऋणी रहगा । इस अद्भुत श्रुतसेवा के बदले म उन्होने कभी अपन नाम व यश प्रकाशन की आकाक्षा तक नहा की । लगता है ग्रन्थ के यथा नाम तथा गुण' स प्रेरित होकर उन्होने गुमनाम, त्यागी दानी रहकर अपन दान का पूरा लाभ लन का ही श्रेयस्कर एव पूर्ण हितकर समझा । एस गुमनाम सेवाभावी श्रद्धालु, दानी सद्गृहस्थो स यह जैन समाज सदैव गौरवान्वित रहगा।

इस ग्रन्थ को पुन सशोधित सम्पादित एव किंचित व्यवस्थित साहित्यिक स्वरूप प्रदान करने मे सहयोगी सर्वश्री स्व. शशिकान्त झा, गजसिहजी राठोड़ व प्रेमराजजी वोगावत के प्रति भी उनकी इस नि स्वार्थ एव नि·शुल्क श्रुतसेवा के लिये मडल हार्दिक आभार प्रकट करता है । साथ ही इसके प्रकाशन मे गहरी रुचि लेकर अत्यल्प समय मे इसे अत्यन्त सुन्दर रूप मे अत्याधुनिक कम्प्युटर तथा 'आफ सेट' मशीन से मुद्रित करके देने मे सहयोगी सुन्दर व श्रेष्ठ मुद्रणकला मे प्रसिद्ध 'जयपुर प्रिन्टर्स' के मालिक श्री सोहनलालजी जैन एव इनके सुपुत्र श्रो आलोकजी जेन तथा अन्य ·प्रेस के कर्मचारीगण को भी मडल हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता ।

इस प्रकाशन का प्रथम सस्करण कभी का समाप्त हो गया था । पर खेद हे कि ऐसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रभावशाली प्रकाशन के पुनर्मुद्रण की ओर हमारा ध्यान अब तक नही गया । आचार्यश्री के इस वर्ष के कोसाणा (जिला जोधपुर) ग्राम मे हुए चातुर्मास काल मे वहॉ के कुछ श्रद्धालु श्रावको ने इस ओर मडल का ध्यान आकर्षित किया और वही के एक दानी सज्जन ने इसके प्रकाशन मे पूर्ण आर्थिक सहयोग देने का वचन भी दिया ।

इसके लिये मडल उन सभी का अत्यन्त आभारी है । और भी जिन-जिन महानुभावो ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इस प्रकाश्य ग्रन्थ के प्रकाशन मे जो-जो सहयोग दिया, उनके नाम प्रकट करके उनके सहयोग के होने वाले अमूल्य लाभ को कम नही करते हुए, उसके लिये मडल उन सबके प्रति भी अपना आभार प्रकट करता है ।

देवेन्द्र राज मेहता
अध्यक्ष

चैतन्य ढड्ढा
मत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर

जयपुर
दिनाक : ९-११-८९

सम्पादकीय

प्रस्तुत ग्रन्थ मे जैनाचार्य श्री हस्तिमलजी महाराज सा के व्याख्यान सकलित है । अधिकाश व्याख्यान सन् १९६५ के सैलाना चातुर्मास मे दिये गये थे । इनका लेखन श्री मुरली मनोहरजी पाडे एम ए (हिन्दी एव राजनीति विज्ञान) साहित्यरत्न तात्कालिक प्राध्यापक, हायर सैकण्डरी स्कूल सैलाना ने किया था । वे किसी सकेतलिपि के जानकार नही थे । अत केवल अपने बुद्धि कौशल, विद्वत्ता एव अद्भुत मेधा शक्ति के बल पर हिन्दी लिपि मे जितना लिख सकते थे, इन व्याख्यानो को लिख लिया था । तब भी यह लेखन इतना सुन्दर व प्रभावशाली बन पडा है कि उनकी भूरि भूरि प्रशसा किये बिना नही रहा जा सकता ।

वे चूकि जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्दो के ज्ञाता नही थे अत इनको जितनी स्पष्टता दी जा सकती थी वे नही दे पाये । इस अभाव की पूर्ति उस समय के जैन दर्शन के जाने माने गहन विद्वान जो निरन्तर वर्षों तक अथवा यो कहिये कि जीवन पर्यन्त आचार्यश्री की सेवा का लाभ लेते रहे श्री शशिकातजी झा की सम्पादन कला के मणि काचन योग ने कर दी । स्व प्यारचन्दजी राका का योग भी इसमे मिला । वे स्वय धनिक होते हुए भी बडे तत्त्व रसज्ञ भी थे । फिर स्वय गुरुदेव से भी प्रकाशन के पूर्व, इसका अवलोकन करवा लिया गया था । इस तरह से यह सकलन बडा उत्तम एव अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक बन पडा है ।

सन्त योगियो की वाणी परमार्थ से भरी हुई निर्मल जलधारा की तरह प्रकतरूप मे ही प्रवाहित होती है । उसको माजने सवारने हेतु कोई उसका सम्पादन करने का साहस करे यह उसके लिये गर्व की नही केवल मात्र श्रद्धासिक्त गौरव की बात हो सकता है । इस तरह इस ग्रन्थ क लेखन सम्पादन मे विद्वान लेखक सम्पादको ने सन्तो की सहज प्रकृत मौलिक प्रवचन शैली को उसी प्रकृत रूप मे बनाये रखने का भरसक प्रयास किया है । केवल मात्र यत्र तत्र वाक्य अथवा वाक्याशा का थोडा-बहुत सस्कृत रूप भर देने का प्रयास मात्र किया है । इसम वे कितने सफल अथवा विफल हुए है इसका निर्णय पाठकगण स्वय करे ।

इस परिवर्तनशील ससार म केवल वीतराग वाणी के उद्घोषक सन्त योगियो की अनुभूत वाणी ही सारभूत है । शेष सब निस्सार है । सन्तवाणी मे ऐसी अद्भुत शक्ति है कि वह असख्य भूले भटके लोगो को सत्पथ पर आरूढ कर स्वर्गापवर्ग के पथ पर अग्रसर करती है । इसमे भगवान् महावीर के काल म विद्यमान आनन्द श्रावक

को केन्द्र बनाकर उनके द्वारा अगीकृत श्रावक के व्रतो का अत्यन्त सुन्दर एव प्रेरणास्पद निरूपण किया गया हे ।

सन्तवाणी एक अनुपम सुधा हे जो मर्त्य को अमृतत्व प्रदान करने की अचिन्त्य क्षमता रखती हे । यही कारण हे कि पुरातन काल से ही तत्व विचारको ने सन्तवाणी को भव सागर से पार उतारने वाली नाव की उपमा दी हे । आचार्यश्री के प्रवचनो मे आज के युगानुकूल एव निकट भविष्य मे आने वाली व्यक्ति, समाज, देश, विश्व अथवा समष्टि की सभी प्रकार की समस्याओ का समुचित समाधान प्रस्तुत हे । सुख के सच्चे मार्ग का दिशा सकेत इससे मिलता है ।

आज के तथाकथित प्रगतिशील वेज्ञानिक युग मे भोग सस्कृति के उपासक मानव मे भोग-विलास एव काम-रागवर्द्धक साधनो को अमर्यादित रूप मे एकत्र करते जाने की तीव्र होड़-सी लगी हुई है । विज्ञान का यह निम्नतम घिनौना दुरुपयोग है । इस दृष्टि से आज का यह तथाकथित विज्ञान-विज्ञान नही अपितु निपट अविज्ञान अथवा अज्ञान होकर रह गया है ।

आज का तथाकथित सारा सभ्य ससार अपनी नाक के नीचे, मुख से छटपटाते, खुले आकाश एव सूखी धरती पर बिलखते, व्याकुल बने, अर्द्ध नग्न, सूखी हड्डियो के ककाल मात्र मानव के प्रति हृदयहीन बनकर उसके ही श्रम से निर्मित साधनो के फल को छल-कपटपूर्वक उनसे छीनकर उनकी नितान्त उपेक्षा करते हुए उन सारे साधनो को अपनी ही सुख-सुविधा एव भोग लिप्सा पूर्ति के लिए एकत्र करने की घुड़दौड़ मे उलझा पड़ा है । इसके लिये आज उसके समक्ष कही विराम नही है। सीमा नही है । सारी मानव जाति को ही इस हेतु उसे नष्ट भी कर देना पडे तो वैसे साधन भी साथ मे जुटाने मे भी यह आज का तथाकथित सभ्य ससार संकोच नही कर रहा है । हालाकि उस विनाश मे वह स्वय एव उसके एकत्र किये गये भोगविलास एव समस्त सुख-सुविधाओ के साधन भी नष्ट-विनष्ट होने से बच नही पाएगे । इस सीधी और सरल-सी बात को भी वह शायद समझने म असमर्थ साबित हो रहा है ।

यत्र-तत्र वह क्लबो, रोटरी-लायन क्लबो, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय तथाकथित सेवा-सस्थानो, सेवा के कुटिल आवरण मे ढके निर्लज्ज ढोगी एवं देशद्रोही देशी-विदेशी विधर्मी मिशनरियों के माध्यम से उन पददलित दु:खीजनो को थोड़ी-बहुत राहत पहुचाने के कार्य कर भी रहा है, पर इसके पीछे भी सेवाभाव कम है । छल-कपटपूर्वक उनके धर्म परिवर्तन कराने आदि कुकृत्यो मे, उन्हे देशद्रोही तक बनाने मे अथवा अपनी सम्पन्नता का या वैभव का अत्यन्त भौडा, घिनौना और निर्लज्ज प्रदर्शन मात्र करने

की अत्यन्त कलुषित भावना ही अधिक दिखाई पडती है । इतना होने पर भी यह प्रयत्न भी केवल समुद्र मे बूद के बराबर है ।

यह सब पाश्चात्य सभ्यता व शिक्षा-दीक्षा एव विचारो की देन है जिसने आज कमोवेश सारे ससार को ही अपनी विषैली लपेट मे समेट लिया है । आज का यह तथाकथित सभ्य मानव गगनचुम्बी शीतोष्ण निरोधक अट्टालिकाओ मे अठखेलिया करने के एव गगनविहारी वनने के स्वप्न सजोये एकान्त भौतिकवाद मे उलझ कर विनाश के उस कगार पर पहुँच गया है, जहाँ वह स्वय आत्मिक ही नही शारीरिक अशान्ति म भी विकल एव मूढ बना कि कर्त्तव्य विमूढ सा इधर-उधर अन्धेरे मे हाथ पैर मार रहा है । यह अमर्यादित भोग लिप्सा का स्वाभाविक परिणाम है ।

उस पाश्चात्य सीमा रहित भोगवादी सस्कृति की काली छाया इस देश की पुरातन समन्वित एव सतुलित सस्कृति पर भी पड रही है । इस देश मे भी आज ऐसे हृदयहीन नव कुबेर पनप रहे है जो आज इस सीमा रहित भोग सस्कृति के उपासक बनकर अपने पडोस मे पीडित पडे अपनी आँखो के सामने नगे भूखे खडे उत्पीडित अर्द्धनग्न उपेक्षित एव जर्जरित मानव को उपेक्षा भाव स दखा-अनदेखा करके हृदयहीन बनकर असीम भोग विलास के साधनो को एकत्र करने की दिशा म अविराम गति से बेलगाम दौडे जा रहे ह ।

इस दौड को लगाम लगानी होगी । इस देश की सनातन समन्वित एव सतुलित सस्कृति को यह एक चुनौती है । उस चुनौती को स्वीकार करना हागा । निवृत्तिमूलक एव मर्यादित भोगोपभोग को ही स्वीकार करने वाली हमारी सस्कृति जा आज की सीमारहित भोग प्रधान पाश्चात्य सस्कृति के सामने धूमिल हो गइ है उसकी पुनर्संस्थापना करनी होगी । विनाश की कगार पर पहुँचे विश्व का भौतिक दौड म मर्यादित करके आत्मिक विकास की ओर उन्मुख करना होगा ।

जैन दर्शन मे निवृत्ति मार्ग पर पूर्ण रूप से अथवा मर्यादित रूप से चलने की प्ररणा ही प्रमुख रही है । इस सर्व विरति भाव को अथवा मर्यादित रहन के विरति भाव को जगाना आत्मा के कल्याणकारी मार्ग सम्यग्मार्ग का निरूपण करना उसका प्रमुख ध्येय रहा है । इसमे आत्मजयी शुद्ध-बुद्ध वीतराग महापुरुषा एव सन्त यागिया की वाणी एव उनके प्रवचन ही एकमात्र उद्वोधक हा सकते है । सुप्त मानवता को जगा सकते है । यह अमोघशक्ति उनकी अमृतवाणी म निहित है । इस सन्तवाणी सन्त-प्रवचना एव उनके उपदशा के अनुसार चलकर मानव आत्म साधक बन सकता है। इस आत्म-साधना के मार्ग पर चलते हुए एव स्व स्वरूप का चिन्तन मनन करते हुए शनै-शनै साधक सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन एव सम्यग्चारित्र की आराधना का बल प्राप्त कर

सकता है जिससे कि एक दिन वह स्वय शुद्ध-बुद्ध एव अक्षय अजर अमर वीतराग पद को प्राप्त कर सकता है।

आज भोगो को प्रोत्साहन देने वाले वैज्ञानिक उपकरणो के अतिरिक्त ऐसा ही अनैतिक साहित्य भी प्रचुर मात्रा मे निकल रहा है। इसके निराकरण एव अपनी शुद्ध सनातन सस्कृति के पुनर्सस्थापन के लिये उसी अनुपात मे अथवा उससे भी अधिक सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है। इसके लिये सभी दिशाओ से इस तरह के सतत् प्रयत्न अपेक्षित है। इसी को लक्ष्य मे रखकर सम्यग्ज्ञान प्रचारक मडल द्वारा किये जा रहे प्रकाशनो की श्रृखला का यह प्रकाशन भी एक छोटी-सी कड़ी है।

ऐसे ही प्रबल चतुर्दिक प्रयत्नो से अमर्यादित भोग सस्कृति मे डूबे आज के विकल मानव को सही एव सम्यग् दिशा मिलेगी जिस तरफ चलकर उसे पूर्ण शान्ति एव सच्चा सुख मिल सकेगा। अपनी सीमारहित भोग की सस्कृति मे आकठ डूबे मानव ने अपने ही विनाश के जो प्रचुर साधन आज जुटा लिये है, तथा जुटाता ही जा रहा है, उससे उसे विराम मिलेगा। आज जो चारो ओर से अणुबम, एटम बम एव रासायनिक बम आदि की विनाशक वाणी सुनाई दे रही है वह बन्द होगी। उससे उसे विराम मिलेगा एव आज के विज्ञान के एकान्त मानव-हित मे प्रयुक्त होने की शुद्ध भूमिका तैयार हो सकेगी। ऐसी भूमिका एव वातावरण तैयार करने के लिये एव उसे चिरस्थायी बनाये रखने के लिये भारत भूमि के जैन-अजैन आध्यात्मिक साधक सन्त-सतियो ने, योगियो ने, ज्ञानियो ने, भक्तो ने एव मनस्वी तपस्वियो ने अनादि काल से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एव सम्यग्चारित्र, तप, विराग, सयम एव गहरे आध्यात्मिक रसो से ओतप्रोत प्रवचनो की त्रिवेणी इस धरती पर मानव जाति के त्रितापहरण के लिये प्रवाहित की है। विज्ञ सहृदय पाठक इन प्रवचनो को पढ़कर शान्ति का अनुभव करते हुए आचार्यश्री द्वारा निर्दिष्ट सुख और शान्ति के कारगर उपायो को, नियमो को, परिमाणो को, व्रतो को, एव मर्यादाओ को अपने दैनिक जीवन मे काम मे लेने का सकल्प करेंगे तो हम सब अपने श्रम को सफल समझेंगे।

इन प्रवचनो का लेखन एव सम्पादन करते समय प्रमाद, अल्पज्ञता अथवा गूढ़ार्थ की अनभिज्ञता के कारण किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो वह हमारी है और उसके लिये हम क्षमाप्रार्थी है।

"यदत्रासौष्ठव किंचिदावयो, न हि कस्यचित्।"

सी-११, मोती मार्ग,
बापूनगर, जयपुर ३०२०१५
फोन : ६१९२६

गजसिह राठौड़
प्रेमराज बोगावत

स्व० सेठ सा० श्री हस्तीमलजी नाहर, कोसाणा

स्व० श्री तपसीचन्दजी नाहर, कोसाणा
(बडे पुत्र)

अर्थ सहयोगी

धर्मपरायण सुश्रावक दानवीर सेठ स्व श्रीमान् हस्तिमलजी नाहर का

सक्षिप्त जीवन-परिचय

राजस्थान के मारवाड क्षेत्र मे जोधपुर से ८० कि मी दूर कोसाणा (अहिसा नगर) गॉव मे सुप्रतिष्ठित सुश्रावक श्री गुलाबचन्दजी नाहर के सुपुत्र श्रीमान् शेषमलजी नाहर की धर्मपत्नी सुश्राविका श्रीमती चुन्नीबाई की कुक्षि से सवत् १९७५ मे पौष माह मे एक पुत्र रत्न ने जन्म लिया जिसका नाम हस्तिमल रखा गया । आप बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि एव कर्म कौशल म सम्पन्न थे । अपने गॉव मे ही प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर आप अपने पैतृक व्यवसाय म लग गये । कोसाणा से ५ कि मी दूर मादलिया ग्राम के सुप्रतिष्ठित सेठ श्री मिश्रीमलजी मुथा की सुपुत्री माडीबाई से आपका विवाह सम्पन्न हुआ । प्रथम पत्नी क स्वर्गवास के पश्चात् आपका पुनर्विवाह खारिया मीठापुर निवासी श्री जुगराजजी ललवानी की सुपुत्री टेमादेवी के साथ सम्पन्न हुआ । आप अपन पिताजी के चार बहनो के बीच इकलौता सुपुत्र होने के नाते आपका बचपन बडे लाड-प्यार से बीता । आपकी चार बहने लादूबाई, माडीबाई, दाऊबाई व आयचुकीबाई का विवाह बडी धूमधाम से क्रमश श्री जोधराजजी ओस्तवाल भोपालगढ श्री जुगराजजी चौरडिया नागौर श्री केवलचन्दजी काकरिया पीपाडशहर व श्री माणकचन्दजी कर्णावट जोधपुर के यहाँ सम्पन्न हुआ । वर्तमान मे पीपाडशहर निवासी श्री केवलचन्दजी काकरिया की धर्मपत्नी व आपकी बहिन श्रीमती दाऊबाई अभी आचार्यश्री के चातुर्मास म सेवा का लाभ ले रही है ।

सेठ साहब को पॉच सुशील विनीत पुत्र-रत्नो की प्राप्ति हुई । सवत् १९९६ मे तपसीचन्दजी, सवत् १९९८ मे शिवराजजी, सवत् २००९ में श्री नथमलजी, सवत् २०११ मे श्री देवराजजी व सवत् २०१३ मे बुधमलजी का जन्म हुआ । पॉच पुत्रो के बीच एक कन्या की प्राप्ति हुई, जिसका नाम कचन रखा गया । आपके पॉचो ही पुत्रो ने अपनी सत्यनिष्ठा, कुशलता व अनुभव के आधार पर प्रारम्भिक शिक्षा के पश्चात् अपने पैतृक व्यवसाय मे लगकर भारी प्रगति की । आपके पुत्र वर्तमान मे जोधपुर, मद्रास व कोसाणा मे अपने व्यवसाय मे ख्याति प्राप्त कर चुके हे । आपका कोसाणा के दस-बीस कोस के क्षेत्र मे व्यवसाय चलता था । लोग आपको सेठ साहब के नाम से जानते थे । आप अपनी दानशीलता एव मानव-प्रेम के लिए विख्यात थे । आपने कई समाजोपयोगी कार्य किये जो आज भी आपकी स्मृति दिला रहे है । कोसाणा ग्राम मे पानी के अभाव को दूर करने के लिए आपके पिता श्री शेषमलजी नाहर ने गॉव के मध्य मे कुआ खुदवा कर पीने के पानी की समस्या को दूर किया । सत-सतियो के ठहरने के लिए स्थानक भवन की आवश्यकता को महसूस कर आपने कोसाणा ग्राम मे स्थानक बनवाकर सघ को समर्पित किया । महावीर भवन कोसाणा के लिए अर्थ-सहयोग के साथ कुछ भू-भाग की उपलब्धता आपकी ओर से करवाई गई । सियारा गॉव के मार्ग पर आपने एक प्याऊ का निर्माण कराया जिसका सचालन आज भी नाहर परिवार द्वारा ही किया जा रहा है । कोसाणा ग्राम मे स्कूल की जमीन की सम्पूर्ण बाउन्ड्री का निर्माण आपश्री के अर्थ-सहयोग से कराया गया । अनेक धार्मिक, सामाजिक और शैक्षणिक सस्थाओं को आप तन, मन, धन से सहयोग देकर समाज सेवा कार्य मे सदैव अग्रणी रहे हैं ।

आपकी वाणी मे मधुरता, स्वभाव मे नम्रता, व्यवहार मे शालीनता एव हृदय मे उदारता होने से लोग आपको आज भी याद करते है । आपके यहॉ से कभी भी कोई याचक खाली हाथ नही लौटता था । आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री तपसीचन्दजी नाहर के सुपुत्र चि. महावीर की बारात प्रस्थान होने के पश्चात् अचानक आन्तरिक वेदना से आपका सवत् २०४१; ८ फरवरी, १९८५ को स्वर्गवास हो गया । आप अपने पीछे चार पुत्र, एक पुत्री, कई पौत्र-पौत्रियो एव दौहित्र-दौहित्रियो से भरा-पूरा परिवार छोड़कर गये है ।

आपका पूरा परिवार ही परमश्रद्धेय आचार्य-प्रवर श्री हस्तिमलजी म. सा. का अनन्य भक्त है । पूज्य आचार्य-प्रवर के सवत् २०४६ का पावन चातुर्मास कोसाणा मे कराने मे आपके पुत्रो की अह भूमिका रही है । अपने- आराध्य गुरुदेव के चातुर्मास को सफल बनाने के लिए आपके सुपुत्र मद्रास व जोधपुर से चार माह का

सेवा सकल्प लेकर यहाँ कोसाणा आये एव तन मन धन से सेवा का पूरा लाभ लिया। पूज्य आचार्य-प्रवर श्री हस्तिमलजी म सा के सवत् २०४६ के चातुमास के उपलक्ष्य म अपने पिता स्व श्रीमान् हस्तिमलजी नाहर एव अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीमान् तपसीलालजी की पुण्यस्मृति म परमश्रद्धेय आचार्यश्री के प्रवचन सग्रह "आध्यात्मिक आलोक' के पुन मुद्रण मे श्रीमान् शिवराजजी नथमलजी देवराजजी बुधमलजी व महावीरचदजी नाहर ने मानव सेवा आध्यात्मिक चेतना का नव जागरण प्रस्तुत करते हुए सहर्ष अर्थ सहयोग देकर सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल को अनुगृहीत किया है। एतदर्थ ऐसी उदात्त भावना के प्रति नाहर परिवार के प्रति हम मण्डल की ओर से अपना हृदय से अत्यन्त आभार प्रदर्शन करते ह तथा आशा करत हे नाहर परिवार भविष्य मे ऐसे विरलतम आध्यात्मिक साहित्य सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल जयपुर द्वारा प्रकाशित करवाने का श्रेय प्राप्त करते रहेगे।

स्वाध्याय-महिमा

मानव जिस प्रकार अपने शरीर-निर्माण एव स्वास्थ्यसुख के लिए व्यायाम एव भोजन की आवश्यकता महसूस करता है, ठीक उसी प्रकार उसमे निहित ज्ञान के प्रकाश को प्रज्वलित करने के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता है। स्वाध्याय शब्द का साधारण अर्थ अपना अध्ययन यानि आत्मिक चिन्तन।

स्वाध्याय की इस मधुर स्वरलहरी की आवाज को स्वामीजी श्री पन्नालालजी महाराज सा. ने उत्पन्न की किन्तु और उस स्वर-लहरी को वीणा के तार मे झकृत करने एव वेग देने का बीड़ा उपाध्याय पण्डित रत्न श्री श्री हस्तिमलजी महाराज सा. ने उठाया इस ज्ञान-ज्योति के प्रकाश को फैलाने का कितना श्रेय आपको है, यह अवर्णनीय है।

हम सव समाज के आबालवृद्ध को इस स्वर को और प्रवल करने हेतु, आत्म-साधना के रूप को व्यावहारिक रूप देने हेतु ज्यादा से ज्यादा स्वाध्याय मे भाग लेना चाहिए। इसी मे हर व्यक्ति के कल्याण का जो राज है वह छिपा है। हर व्यक्ति को समयानुसार कुछ सद्ग्रथो के अध्ययन हेतु व्रत लेकर स्व-निर्माण व समाज-कल्याण के लिए स्वाध्याय व्रत को अगीकार कर जीवन-निर्माण का मार्ग अपनाना चाहिए।

अनुक्रम

खण्ड प्रथम

खण्ड द्वितीय

आध्यात्मिक आलोक

[१]

साधना के मूलमन्त्र

साधना के भेद –

ससार मे प्राय दो प्रकार की साधना पायी जाती है एक लोक साधना और दूसरी धर्म साधना । अधिकाश मनुष्य अर्थ और कामरूप लोक साधना के उपार्जन मे ही अपने बहुमूल्य जीवन का समस्त समय खो देते है और उन्हे धर्म साधना के लिये अवकाश ही नही रह जाता । ऐसे मनुष्य भौतिकता के भयकर फेर मे पडकर न केवल अपना अहित करते वरन्, समाज देश और विश्व का भी अहित करते है ।

आज के युग मे चारो ओर फैले सघर्ष और अशान्ति का मूल कारण अतिशय भौतिक भावना ही है, दृश्यमान जगत् का कण-कण आज भौतिकता से प्रभावित दिखाई देता है और दीपक लौ पर पतगे की तरह हर क्षण मानव मन उधर आकृष्ट होता जा रहा है। इससे बहिरग और अन्तरग दोनो ही प्रकार की अशान्ति बढती है तथा मनुष्य दानवता और पशुता की ओर बढते हुए निरन्तर मानवता से विमुख होता जा रहा है ।

धर्म साधना –

धर्म साधना का लक्ष्य इससे विल्कुल विपरीत है। यह मनुष्य को मानवता से भी ऊचा उठाकर देवत्व या अमरत्व की ओर अग्रसर करती है। वास्तव म धर्म साधना के बिना मानव जीवन निष्फल, अपूर्ण और निरर्थक प्रतीत होता है। आर्थिक दृष्टि से कोई व्यक्ति चाहे कितना ही सम्पन्न इन्द्र या कुबेर के समान क्या न हो, किन्तु उसका आन्तरिक परिष्कार नहीं हुआ हो तो निश्चय ही जीवन अधूरा ही रहेगा और उसे वास्तविक लौकिक एव पारलौकिक सुख प्राप्त नही होगा ।

इसी दृष्टिकोण ने अतीतकाल मे अनेक राजाओ और महाराजाओ को पुनीत प्रेरणा दी थी। जिसके फलस्वरूप उन्होने राजसी सुख भोगो को त्याग कर धर्म साधना का पावन मार्ग अपनाया, पर आज का समाज उस पवित्र परम्परा को भूल वैठा और यही कारण है कि उसे लोक साधना और धर्म साधना के वीच सामजस्य करना कठिन हो रहा है ।

लोक साधना –

आज के मानव ने धन को साधन न मान कर साध्य बना लिया है । धन संचय को धर्म सचय से भी बढ़कर समझ लिया हे । हर जगह उसे धन की याद सताती है और हर तरफ उसे धन का ही मनोरम चित्र दिखाई देता है । और तो क्या ? आज संत दर्शन और संत समागम मे भी धन लाभ की कामना की जाती है। किन्तु श्रेणिक सारे धन वैभव को साथ लेकर वीतराग प्रभु को वन्दन करने चला। इसके पीछे भावना थी कि जन-साधारण के मन मे धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न हो और वे यह समझे कि धन-वैभव और शाही-सत्ता से भी कोई वड़ा है। सत्पुरुषो के पास कोई विशिष्ट वस्तु है जिसको पाने के लिये सत्ताधारी भी लालायित रहते हैं, इस प्रकार धर्म के प्रति जन-मन की श्रद्धा जगाने और सद्‌गुणो के प्रति आदर का भाव उत्पन्न करने को ही महान् मगध सम्राट श्रेणिक– बिम्वसार भी भगवान महावीर स्वामी के चरणों मे पहुँचा । जिस प्रकार जलधारा के मध्य मे पड़ा हुआ विपन्न व्यक्ति तीर (किनारा) पाने से प्रसन्न होता है, वैसी ही स्थिति महाप्रभु के चरण, शरण मे आकर श्रेणिक की हुई। क्योकि संतो का दर्शन एवं प्रवचन संसार सागर से तारने वाला होता है । मुक्ति की प्राप्ति के लिए संत संसार सागर के तीर या तीर्थ के समान माने गये है। कारण, जिसके द्वारा तिरा जाय, सचमुच वही तीर्थ है और कामादि विकारो में गुड़ चीटी की तरह सदा लिप्त रहने वाले मनुष्यो को छुटकारा दिलाना ही तीर्थ की वास्तविक उपादेयता है, जो संतो के चरणो में ही पूर्ण होती है। इसीलिये कहा है कि– 'तीर्थभूता हि साधवः'

श्रेणिक की साधना –

यद्यपि श्रेणिक अविरत-सम्यग्दृष्टि होने से किसी व्रत नियम की साधना नही कर सका फिर भी उसकी श्रद्धा शुद्ध एवं स्थिर थी। नवकारसी पचक्खाण भी नही करने वाला श्रेणिक संघ भक्ति के लिये सदा तत्पर रहता, क्योंकि साम्राज्य-पद पाकर भी वह धर्म को नही भूला था । जिस प्रकार एक चतुर किसान फसल पकने के समय विशाल धन राशि पाकर पेटभर खाता, देता और ऐच्छिक खर्च करते हुए भी बीज को बचाना नही भूलता, वैसी ही सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी पुण्य-फल का भोग करते हुए सत्कर्म साधना रूप धर्म बीज को बचाना नही भूलता। ठीक ही कहा है:–

बीज राख फल भोगवे, ज्यो किसान जग मा हि।
त्यो चक्री नृप सुख करें, धर्म विसारे नाहि।

महाराज श्रेणिक इसी उच्च आदर्श एव उद्देश्य को लेकर प्रभु के समक्ष उपस्थित हुआ था। उसके पास किसी भी वस्तु की कमी नही थी। भण्डार भरा हुआ था। फिर भी उसने शासन सेवा के लिये राज रानी और राज पुत्रो को अर्पण कर दिया। कितनी बडी साधना है यह ? इसलिये आचार्यों ने कहा है—जो अविरति होकर भी सघ में भक्ति रखता और शासन की उन्नति करता है, वह प्रभावक श्रावक है।

आज के गृहस्थ को धर्म और अर्थ दोनो मे सुन्दर सामजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है। धर्म को साध्य के रूप मे तथा अर्थ को साधन रूप मे ग्रहण करने से ही स्थिति का सुधार हो सकता है। यदि धर्म साधना का परित्याग कर केवल अर्थ सचय को ही प्रमुखता दी गई तो मनुष्य और पशु के जीवन मे कोई अन्तर नही रहेगा। सद्गृहस्थ के लिये यह आवश्यक है कि अर्थ साधन के साथ धर्म को महत्व की दृष्टि से देखता रहे, और उसका सर्वथा परित्याग नही करे।

श्रेणिक की तरह नगर के गणमान्य सद्गृहस्थ भी भगवान् की सेवा का लाभ लेते थे, उनमे आनन्द का नाम प्रमुख है। वह वाणियग्राम नगर का एक करोडपति सेठ था। उसके पास धन और मन दोनो थे। वह अपने परिवार की तरह लोक मे भी विश्वासपात्र था। सुख सामग्रियो मे किसी बात की कमी नही थी। उसका घर सुख सम्पदाओ से भरपूर था। सुयोग से सुशीला शिवानन्दा सी जीवनसंगिनी पाकर उसका जीवन और भी सुखमय बन गया। एक बार अपने नगर मे भगवान् महावीर के पधारने की बात सुनकर वह भी सेवा मे गया और प्रभु का सदुपदेश सुनकर उसका नैतिक जीवन चतुर्गुणा चमक उठा एव उसमे पर्याप्त बल आ गया। आनन्द ने सोचा कि प्रभु का मार्ग सच्चा है। प्राणी जब तक पाप का सम्पूर्ण त्याग नहीं करता सताप मुक्त नहीं हो सकता। मुझे आरम्भ और परिग्रह का त्याग करना चाहिये और जब तक इनके सम्पूर्ण त्याग का सामर्थ्य न हो तब तक इनका परिमाण तो जरूर कर लेना चाहिये। इस प्रकार उसने इनकी मर्यादा करली और अपने सद्गुणो की सौरभ से समस्त वातावरण को सुरभित बना दिया। आज भी वह सबके लिये अनुकरणीय है।

सुयोग्य गृहिणी की आवश्यकता –

आनन्द के धार्मिक जीवन की साधनाओ मे शिवानन्दा जैसी सुशीला और कुशल पत्नी का भी बडा योग था। उसके अभाव मे शायद ही इस कुशलता से साधना के बीहड पथ को वह पार कर पाता। यह एक मानी हुई बात है कि

पारिवारिक जीवन की सफलता बहुत अशो मे गृहिणी की क्षमता पर ही निर्भर है। दुर्दैव से यदि गृहिणी कर्कशा, कटुभाषिणी, कुशीला तथा अनुदार मिल जाती है तो व्यक्ति का न सिर्फ आत्म-सम्मान और गौरव घटता, बल्कि घर की सारी इज्जत मिट्टी मे मिल जाती है। ऐसी को, गृहिणी के बजाय ग्रहणी कहना अधिक सगत लगता है। ऐसी संगिनी के सग पुरुष अपने उत्तरदायित्व को भली-भांति समाल नही पाता। अतएव पत्नियो का सुयोग्य होना भी आवश्यक है। पुरुष और स्त्री गृहरूपी शकट के दो चक्र है। उनमें से एक की भी खराबी पारिवारिक जीवन रूपी यात्रा में बाधक सिद्ध होती है, योग्य स्त्री सारे घर को सुधार सकती है। नास्तिक पुरुष के मन मे भी आस्तिकता का संचार कर देती है। स्त्री को गृहिणी इसीलिये कहा है कि घर की आन्तरिक व्यवस्था, बच्चो की शिक्षा-दीक्षा तथा सुसस्कार एव समुचित लालन-पालन और आतिथ्य-सत्कार आदि सभी का भार उस पर रहता हे और अपनी जिम्मेवारी का ज्ञान न रखने वाली गृहिणी राह भूल कर गलत व्यवहारो में भटक जाती है । अतः उसका विवेकशील होना अत्यन्त आवश्यक है । बिना पुण्य बल के ऐसी गृहिणी हर किसी को नही मिलती, कहा भी है :–

शरीर-सुख ने सम्पदा, विद्या ने वरनार ।
पूरवला दत्तव बिना, मांग्या मिले न चार ।

आज की गृहिणी –

यह बड़ी विडम्बना है कि आज की गृहिणिया अपने नहाने, धोने और शरीर सजाने में इतनी व्यस्त रहती है कि उनको घर सभालने और बच्चो की शिक्षा-दीक्षा व सस्कार दान के लिये कोई समय ही नही मिलता । वे चाहती है कि बच्चो को कोई दूसरा सभाल ले। आजकल बालमन्दिरो पर जिस कार्य का भार डाला जा रहा है, प्राचीन काल मे वह कार्य गृह महिलाओं द्वारा किया जाता था। बच्चो पर जो सस्कार योग्य माताएं डाल सकती है, भला वह बाल मन्दिरो मे कैसे सम्भव हो सकता है ? वस्तुतः आज की माताएं नाममात्र की माताए रह गयी है, पहले का आदर्श, त्याग सेवा और वात्सल्य को उन्होने भुला दिया है। यही कारण है कि आज बालको में संस्कार और शील नही पाये जाते। "कुपुत्रो जायते क्वचिदपि कुमाता न भवति" का वात्सल्य भरा मधुर आदर्श आज नही रहा। वास्तव मे मातृ जीवन के गौरव से आज की महिला पराङ्मुख हो गयी है।

सतति निरोध –

आज की माताएं माता बनना तो चाहती है किन्तु मातापन की खटपट उनको पसन्द नही । उन्हें आहार-विहार और अपने साज-श्रृगार मे सयम रखना इष्ट नही ।, खुले रूप मे वासना का तर्पण ही आज के जीवन का लक्ष्य बन रहा है ।

ऐसी स्थिति मे अवाछनीय जनवृद्धि होना क्या आश्चर्य है ? सदाचार की ओर दुर्लक्ष्य ही इस सारी विषम स्थिति का मूल है। दूसरो का पालन करने वाला मानव आज अपनी ही वृद्धि से चिन्तित हो रहा है। करोडो पशु-पक्षियो को दाना खिलाने वाला भारत आज अपनी खाद्य समस्या के लिये चिन्तित हो ताज्जुब की बात है। जनसख्या की वृद्धि से चिन्तित राष्ट्रीयजन वैज्ञानिक तरीको से सतति नियन्त्रण करना चाहते है। भले इन उपाया से सतति निरोध हो जाय और लोग अपना बोझा हल्का समझ ले क्योंकि इन उपायो से सयम की आवश्यकता नही रहती और ये सुगम और सरल भी जचते है किन्तु इनसे उतने ही अधिक खतरे की सम्भावना भी प्रतीत होती है। भारतीय परम्परा से यदि ब्रह्मचर्य के द्वारा सन्तति निरोध का मार्ग अपनाया जाये तो आपका शारीरिक व मानसिक बल बढेगा, और दीर्घायु के साथ आप अपने उज्वल चरित्र का निर्माण कर सकेंगे ।

साधना का महत्व –

जीवन को महिमाशाली बनाने के लिये सद्गुणों को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है । सद्गुण हमारे भीतर उसी तरह विद्यमान है जैसे लकडी मे अग्नि। आवश्यकता है उन्हे प्रदीप्त करने के लिये समुचित साधना की। घर्षण करने से लकडी मे से आग निकलती है और चकमक पत्थर से भी घर्षण द्वारा ज्योति पैदा हो जाती है । जब लकडी या पत्थर जैसे निर्जीव पदार्थों से भी घर्षण द्वारा ज्योति पैदा की जा सकती है तो क्या साधना के द्वारा मनुष्य के हृदय मे ज्ञान की ज्योति प्रदीप्त नही की जा सकती ? यदि जीवन की डोर ढीली न की जाये तो पुरुषार्थ के द्वारा साधना के मार्ग मे हम जीवन को ऊपर उठा सकते है । निम्न स्तर पर गिरा हुआ पतित व्यक्ति भी साधना के द्वारा कराल-पाप-पुञ्ज से अपनी उन्नति कर गौरव गिरि का अधिवासी बन सकता है ।

साधना या अभ्यास मे महाशक्ति है। वह साधक को उच्च से उच्च स्थिति पर पहुँचा सकती है । रवि-शशि की तरह साधन है दैदीप्यमान बन सकता है । स्मरण और भक्ति की कणिका मे लगी अग्नि पौरुष के बल पर हृदय मे ज्योति जगा देती है ।

साधनाहीन विलासी जीवन कुछ भी प्राप्त नही करता वह अपनी शक्ति को यों ही गवा बैठता है। जीवन चाहे लौकिक हो या आध्यात्मिक, सफलता के लिये पूर्ण अभ्यास की आवश्यकता रहती है। जीवन को उन्नत बनाने और उसम रही हुई ज्ञान क्रिया की ज्योति को जगाने के लिये साधना की आवश्यकता है। साधना के बल पर चचल मनपर भी काबू पाया जा सकता है। जैसे-गीताकार श्रीकृष्ण ने भी कहा है–

"अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते"

सद्गुणो के प्रति आदर और दुर्गुणो के प्रति क्षोभ साधना के द्वारा सहज प्राप्त होता है। जैसे कपड़ो में लगे कीचड़ या गन्दगी से हमे घृणा होती है और उसे हम निकाल डालते है, वैसे ही साधक अभ्यास द्वारा पाप पक को निकाल देता है। विलासमयी महानगरी कलकत्ते के जौहरी श्री सागरमलजी ने साधना के वल से ही भोग और योग की ओर प्रगति की। गुरु भक्ति के उस मस्त साधक ने ५९ दिन का कठोर अनशन हंसते-२ पार कर दिया। एक दिन के व्रत में अकुलाने वाला शान्त-भाव से ५९ दिन पार कर दे, यह साधना का ही वल है ।

साधना मार्ग के विघ्न और वाधाओ को हटाकर त्यागमय जीवन विताना ही इष्ट फलदायक है । त्याग और वैराग्य के उदित होने पर सद्गुण आप से आप आते है। जैसे ऊषा के पीछे रवि-रश्मियां स्वतः ही जगत को उजाला देती है । वैसे अभ्यास के बल पर सद्गुण अनायास चमक पड़ते है ।

साधु सम्पूर्ण त्यागमय जीवन का सकल्प लेकर जन मानस के सामने साधना का महान् आदर्श उपस्थित करता है । वह रोटी के लिये ही सन्त नही बनता । रोटी तो पशु-पक्षी भी पा लेता है । संत की साधना का लक्ष्य पेट नहीं 'थेट' है वह मानता है कि रोटी शरीर पोषण का साधन है और शरीर उपासना एवं सेवा का मूल आधार। जैसा कि कहा है-

"शरीरमाद्यंखलुधर्मसाधनम्"

किन्तु शरीर यदि साधना मार्ग पर नही चले तो किस काम का ? महामुनि ने सोचा कि तप से शरीर भले क्षीण होता है पर आत्मिक शक्ति वढ़ती है । अतः यह भावदया है । उन्होने हंसते-हंसते प्राणोत्सर्ग कर दिये ।

आज दिवगत सागर मुनि का भौतिक शरीर यद्यपि अस्तित्व में नही है, फिर भी उनकी अमर-साधना युग-युग तक साधको के दिल-दिमाग को झुकाती रहेगी। कहा भी है-

प्रभुताई को सब मरे, प्रभु को मरे न कोय ।
जो कोई प्रभु को मरे, तो प्रभुता दासी होय ।।

वास्तव में प्रभु के पीछे मरने से लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रभुता मिलती है जिनको पाकर कि और कुछ पाना शेष नही रह जाता। आज का मानव दिवगत साधक के पुनीत जीवन से कुछ साधना का महत्व समझ पाये और जीवन को पुण्य-पथ पर गतिशील बना सके तो निश्चय ही उसका उभय लोक मंगलमय बन जायेगा।

(सैलाना, २०-१२-६२)

[२]

साधना के स्वर

पुण्य कला –

परमदर्शी आचार्यो ने अपने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि धर्माराधना के बिना जीवन मे सच्ची शान्ति नही मिलती। ससार की समस्त कलाए, निपुणताए और विशेषताए जीवन को तब तक समुन्नत और सफल नही बना सकती जब तक कि उनमे पुण्य कला की प्रधानता नही होती । आत्मार्थी ऋषियो का यह कथन अक्षरश: सत्य है कि–

सकलापि कला कलावता विकला पुण्यकला विना खलु ।
सकले नयने वृथा यथा तनुभाजा हि कनीनिका विना ।।

जिस प्रकार तारा (पुतली) विहीन नयन व्यर्थ है वैसे ही धर्म भक्ति विहीन व्यक्ति का जीवन भी बेकार है–पुण्यविहीन व्यक्ति जलहीन बादल के समान है। वस्तुत: जीवन मे प्राण का सचार करने वाली शक्ति धार्मिकता ही है। यही कारण है कि सब तरह से समृद्ध और सम्पन्न सम्राट श्रेणिक को भी प्रभु महावीर के चरणो मे सच्ची शान्ति एव पुण्य पीयूष पान के लिये जाना पडा। आनन्द और शिवानन्दा ने भी पारस्परिक सहयोग से आध्यात्मिक रस का पान कर जीवन को सफल बनाया। इन सब उदाहरणों से यह भली भाति समझा जा सकता है कि जीवन का उद्देश्य केवल जीना और लोक साधना ही नही है। उदर पूर्ति ऐश-आराम और धन-सग्रह ही यदि जीवन का परम उद्देश्य होता तो स्वय भगवान महावीर को भी साधना के इस कठिन पथ से गुजरना नही पडता।

सोन्दर्योपासना की आधी –

मगर आज की तो हवा ही बदली हुई है। भौतिकता की चकाचौध मे लोग आध्यात्मिकता को भूलते जा रहे है। पाश्चात्य देशों से प्रभावित होकर आज का मानव प्रधानत सौन्दर्य का उपासक बनता जा रहा है। पाश्चात्य सस्कृति सुन्दरता की

उपासिका है और उसकी छाप आज भारतीयो पर भी दिखाई दे रही है। वे अपनी संस्कृति के मूल तत्व "सत्य शिव" को भूल से गए है। उनकी दृष्टि मे आज सिर्फ सुन्दरता ही समायी हुई है। वे इसके पीछे छिपी हुई बुराइयो पर ध्यान नही देते किन्तु यह ठीक नही। यदि शीघ्रता मे एक अत्यन्त सुन्दर भवन तैयार कर लिया जाय और वर्षा ऋतु मे उससे पानी टपकने लगे तो उस भवन की सुन्दरता किस काम की ? यदि एक बहुत सुन्दर बांध बनाकर तैयार कर लिया जाये और बाद मे उसमे से पानी बहने लगे तो उसका सौन्दर्य किस काम का ? हर क्षेत्र मे सुन्दरता के साथ सत्य और शिव भी होना चाहिये। उचित तो यह है कि पहले सत्यं और शिवं हो फिर सुन्दरं । यही भारतीय सस्कृति की विशेषता मानी गयी है ।

प्राचीन काल की मिट्टी की दीवारें आज कुदाली से भी मुश्किल से टूटती है जबकि आज की ईंटो की पक्की दीवारे अनायास टूट-फूट जाती है। मतलब यह कि कोई भी वस्तु चाहे कितनी ही सुन्दर क्यो न हो ; यदि उसमे 'सत्यं और शिवं ' तत्व नही है तो वह वस्तु वास्तविक आदर योग्य नही होती। सौरमहीन कागज का फूल चमक-दमक और कमनीय कलेवर वाला होते हुए भी उसे कोई भी नही सूघता । यह तो बाहरी सुन्दरता की बात हुई । जीवन की दशा भी ठीक यही है ।

आज हम कोरे सौन्दर्य के उपासक बन गये है और अच्छी वेश-भूषा ही आज के जीवन का उच्च-स्तर माना जाता है। इससे जीवन अप्रमाणिक और अवास्तविक बन गया है। जीवन को चमकाने वाली नैतिकता और आध्यात्मिकता की अतिशय कमी हो गयी है। जैसे पोषक-शक्ति के अभाव में शरीर पीला और व्याधिग्रस्त होकर बेकाम बन जाता है, वैसे ही आध्यात्मिकता के अभाव में भारतीय सतति हतप्रभ और उत्साह-विहीन होती जा रही है। इसका मूल कारण है साधना की कमी और माता-पिता से प्राप्त होने वाले सुसस्कार का अभाव।

जीवन-निर्माण में माता-पिता का महत्त्व –

जीवन की साधना में माता-पिता के उत्तम संस्कार का बड़ा हाथ रहता है। माता के उत्तम सस्कार पाकर ही महात्मा गांधी श्रद्धाशील और सस्कारवान बने रहे। उन्होंने यद्यपि बैरिस्टरी तक पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की किन्तु उनके आहार-विहार एवं आचार-विचार सभी भारतीय ढग के बने रहे। क्योकि उनकी माता बड़ी धर्मशीला थीं, विलायत जाने के पूर्व माताजी उन्हें संत रायचन्द्र स्वामी के चरणो मे ले गईं और वही उनसे संकल्प करवाया कि सात्विक भोजन एवं सदाचार का सदा पालन करूंगा। इसी प्रेरणा का प्रभाव है जो गांधीजी को विलायत के विलासी वातावरण मे भी गिरावट से बचाकर पवित्र रख सका ।

गाधीजी के जीवन मे साधना व्रत, भक्ति सादगी और सुचरित्र आदि का समावेश उनकी माताजी के सस्कार का ही परिणाम कहा जा सकता है । पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित व्यक्ति आध्यात्मिकता के विरोध मे तर्क उपस्थित करते है, किन्तु वैसी तर्क भावना बैरिस्टर गाधी के मन को प्रभावित नही कर सकी। कारण स्पष्ट है कि भारतीय सस्कृति मे पली जननी का सुसस्कार पाश्चात्य शिक्षा जन्य बुराइयो को दूर रखने मे सर्वथा सफल रहा। यदि भोजन सात्विक और मन दृढ न हो तो कोई भी तरुण हर्गिज पाश्चात्य रमणियो से प्रभावित हुए बिना स्वदेश नही लौट सकता।

घर मे माता पिता का जैसा व्यवहार होता है, प्रेम या विरोध के जो वातावरण दृष्टिगोचर होते है सन्तान के मन पर उसका प्रभाव अवश्य पडता है इसीलिये बच्चे को जैसा बनाना चाहते है दम्पत्ति को स्वय वैसा बनना होगा। यदि माता पिता स्वय विनयशील न होंगे तो बच्चे कैसे विनयशील होगे ? यदि पिता स्वय की बुढिया मा से ठीक व्यवहार नही करे तो उसके बच्चे बडे होने पर मा-बाप से विनय का व्यवहार कैसे रक्खेगे ? बहुत बार लोग शिकायत करते है कि महाराज । बच्चो मे विनय नहीं रहा ये लोग बडो की बात नही मानते । वास्तव मे इसके लिये माता पिता भी जिम्मेदार है। मा-बाप शीलवान एव विनम्र है तो उनके बच्चे भी वैसे ही बनेगे। बचपन मे डाला गया सस्कार अमिट होता है और यह दायित्व पूर्ण रूप से माता पिता पर अवलम्बित रहता है। नीति भी कहती है–

यन्नवे भाजने लग्न सस्कारो नान्यथा भवेत् । '

शिक्षा का प्रभाव –

जीवन-निर्माण मे दूसरी छाप शिक्षा की भी पडती है। माता पिता की वात्सल्यमयी गोद छोडने के बाद बच्चे शिक्षालय की शरण मे जाते है और वहा जैसी शिक्षा प्राप्त होती है, उसके अनुकूल अपने आचरण का निर्माण करते है। मगर देखने से पता चलता है कि आज की शिक्षा जीवनोपयोगी होते हुए भी, व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता से कोसो दूर है । आज के अध्यापक का जितना ध्यान शरीर, कपडे नाखून, दात आदि की बाह्य स्वच्छता की ओर जाता है उतना उनकी चारित्रिक उन्नति की ओर नही जाता। बाह्य स्वास्थ्य जितना आवश्यक समझा जा रहा है अतरग भी उतना ही आवश्यक समझा जाना चाहिये। अतर मे यदि सत्य सदाचार और सुनीति का तेज नही है तो बाहरी चमक-दमक सब बेकार साबित होगी। सही दृष्टि से तो स्वस्थ मन और स्वस्थ तन एक दूसरे के पूरक व सहायक है। आज ग्रामीण बालक धूलि भरे बदन होते हुए भी नगर किशोरो से अधिक हृष्ट-पुष्ट क्यो दीख पडते है ? मानना होगा कि इसका प्रमुख कारण उनका आहार विहार व सदाचार ही

है, वे शहरी कृत्रिमता की अपेक्षा प्राकृतिक जीवन के अधिक निकट होते है और आज की शिक्षा वास्तविकता से अधिक कृत्रिमता की ओर झुकी हुई है।

आज की शिक्षा से प्रभावित लोग अपनी संस्कृति को भुला कर विदेशी सस्कृति की जोरो से नकल करने पर तुल गये है। अन्धानुकरण की अनेक बुरी आदतो ने भारतीयो मे अपना घर बना लिया है, प्राचीन लोग दांत की सफाई के लिये निम्बादि के दतौन तथा उगली का प्रयोग किया करते थे जब कि आज के शिक्षित टूथ-पाउडर और ब्रुश का उपयोग करने लगे है। जड़ी-बूटी से निर्मित अल्प मूल्य की भारतीय औषधियों को छोड़ कर आज के लोग इग्लैड और अमेरिका की बनी बेशकीमती दवाओ पर अधिक निर्भर रहने लगे है। और भी ऐसी कई बाते है जिनके लिये देशवासी आज पश्चिम की ओर लालायित दृष्टि से देखते है। इसी नकल की प्रवृत्ति के कारण लोग आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक दृष्टियो से हानि उठा रहे है। इन सबका मूल कारण शिक्षण-पद्धति में विकार है, जिससे इन्कार नही किया जा सकता। अंग्रेज चले गए मगर उनकी चलायी शिक्षण-पद्धति आज भी हमें उनकी ओर देखने को विवश कर रही है।

भारतीय परम्परा में "सत्य शिव सुन्दरम्" के आदर्श पर शिक्षण दिया जाता तो विद्यार्थियो मे नैतिकता के साथ चरित्र-निर्माण का भी कारण होता । बड़े-बड़े गुरुकुल सुसस्कारी नागरिक-निर्माण करने को देश-विदेश तक प्रसिद्ध थे । नालन्दा और तक्षशिला के गुरुकुल विश्वभर के लिये आकर्षण के केन्द्र थे। उनमें साक्षरता के साथ सस्कार दिये जाते थे।

जीवन-विकास मे परोपकार-सेवा का महत्व कम नही है। अतीत का भारत आज की तरह परावलम्बी नही किन्तु स्वावलम्बी और परोपकारी था।

आज बड़े-बड़े पदाधिकारी या शिक्षित व्यक्ति स्वयं काम नही करते। क्योकि, काम करना उनकी दृष्टि मे हीनता की निशानी है। उन्हे हर काम के लिये सेवक या नौकर चाहिये। ऐसे लोगो से दूसरो की सेवा की क्या आशा की जाय, जो स्वय अपना काम नहीं कर सकते। उनसे त्यागमय उच्च-जीवन की तो आशा ही व्यर्थ है। मगर प्राचीनकाल की घटनाए आखे खोलने वाली है। एक बार श्रीकृष्ण अरिहन्त अरिष्टनेमि को वन्दन करने अपनी सेना के साथ द्वारिका नगरी के मध्य से जा रहे थे। वहा मार्ग मे उन्होने एक अत्यन्त वृद्ध ब्राह्मण को ईंट ढोते हुए देखा। श्रीकृष्ण उसकी अवस्था देख कर द्रवित हुए और ब्राह्मण के सहायतार्थ स्वय हाथी से उतर कर एक ईंट उठा कर उसके घर में डाल दी। फिर क्या था ? अपने स्वामी को ईंट ढोते देखकर सेना के सभी कर्मचारियो ने उस कार्य मे हाथ बटाया और

देखते देखते उस वृद्ध का काम पूरा हो गया। यह था श्रीकृष्ण के काम करने का तरीका। जो काम कहके कराया जाता है उसकी अपेक्षा स्वय करके कराया गया काम अधिक प्रिय होता है। यदि परिवार या दल के प्रमुख अपना कार्य स्वय प्रारम्भ करे तो अन्य सदस्य उनका अनुकरण सहज ही करेंगे। आज भी सत लोग दूसरो से अपनी सेवा न लेकर अपना काम स्वय करते है। यह स्वाश्रयी वृत्ति का नमूना है । पूर्वकाल के श्रावक स्वय पौषधशाला मे प्रमार्जन करते थे, तब उसका महत्त्व समझा जाता था। आज उपाश्रय का कचरा सेवको से साफ कराया जाता है। इस प्रकार दूसरों पर असर नही पड सकता।

ज्ञान की आवश्यकता -

साधना की सफलता के लिये ज्ञानार्जन की भी बडी आवश्यकता है। बिना ज्ञान का जीवन सचमुच मे नीवहीन महल की तरह है वास्तविक ज्ञान और विश्वास की भूमिका के बिना मनुष्य ऊचा नही उठ सकता। शास्त्र मे कहा है कि जो जीव अजीव को नहीं जानता वह सयम को, पाप-पुण्य को तथा धर्म-अधर्म को कभी नही जानेगा। ऐसा अज्ञानी सयम या साधना क्या करेगा ? जैसा कहा है–

जो जीवेऽवि न जाणइ, अजीवेऽवि न जाणइ ।
जीवाजीवे अजाणन्तो कह सो नाहीउ सजम ।।

द.अ. ४/१२/

प्रश्न हो सकता है कि ज्ञान-सम्पादन कैसे किया जाये ? बालक के लिये पाठ के रूप मे ज्ञान ग्रहण करना कुछ सुगम हो सकता है परन्तु प्रौढो के लिये ऐसा सहज नहीं। उनके मन मे चचलता बनी रहती है अतः आर्थिक सामाजिक विक्षेपो के बीच उनकी ज्ञान साधना कठिन होती है। स्वाध्याय के द्वारा वे प्रौढ भी ज्ञान प्राप्त कर सकते है। इसके लिये एकाग्रता, तन्मयता और दृढ सकल्प के साथ अटूट लगन की भी आवश्यकता है । सत्प्रवृत्ति मे अनुराग और दुष्प्रवृत्ति के त्याग के लिये ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। राम की तरह आचरण करना या रावण की तरह यह ज्ञान के बिना कैसे जाना जा सकता है ?

स्वाध्याय और ज्ञान -

कुछ लोग कहते है कि हमारा धर्म सत्य और दयामय है, इसमे सीखना क्या है ? ठीक है दया और सत्य पर धर्म का प्रासाद खडा है और महामनीषियो ने दया को धर्म का मूल कहा है किन्तु ज्ञान के बिना दया को जानना और पालना भी तो सम्भव नही है। ज्ञान-वृद्धि का प्रमुख साधन स्वाध्याय है साक्षात् गुरुवाणी

का योग नही मिलने की स्थिति मे स्वाध्याय स्थायी साधन ही सहारा है । क्योंकि योग्य गुरु और साधु तो अगुली पर गिनने योग्य है फिर ऐसे योग्य गुरुओ तथा सतो की वाणी सुनने का हमेशा अवसर भी नही मिलता। अतः उनके अभाव मे उनकी प्रेरणा का लाभ हमे स्वाध्याय से ही मिल सकता है।

विभिन्न दृष्टिकोणो से स्वाध्याय के अनेक अर्थ होते है। स्व+अध्याय, इस अर्थ मे दूसरो को पढ़ने की अपेक्षा स्वयं के जीवन का अध्ययन या मनन करना । दूसरा सु+आ+अध्याय, अर्थात् उत्तम ग्रन्थो का अध्ययन करना होता है । भगवान् महावीर ने उत्तम शास्त्रो का लक्षण यह बतलाया है कि, "जं सुच्चा पडिवज्जंति तव खंतिमहिसयं। उ० ३ । जिस शास्त्र को पढ़कर या सुनकर मानव मन को सुप्रेरणा मिले तथा क्षमा-तप और अहिसा आदि की भावना बलवती हो। जैसे मुझ मे लगे कांटे मेरे लिये दु.खजनक है वैसे कांटे दूसरो के लिये भी दुःखद होंगे, ऐसी भावना या उत्तम वृत्तियां जिसके अध्ययन से जगे, वही उत्तम शास्त्र है और ऐसे शास्त्रो के अध्ययन से ही मनुष्य मे विमल ज्ञान चमकता है और वह जीवन को उच्चतम बनाता है ।

आत्म साधना –

जीवन की समुन्नति या साधना की सफलता के लिये तन की तरह आत्मा का भी महत्त्व समझना आवश्यक है। तन की रक्षा और पोषण के लिये लोग क्या नही करते, पर आत्म-पोषण की ओर कोई विरला ही ध्यान देता है। पर याद रखना चाहिये कि तन यदि एक गाड़ी है तो आत्मा उसका चालक है; गाड़ी मे पेट्रोल देकर चालक को भूखा रखने वाला धोखा खाता है। आज ससार की यही हालत है । तन के लिये मनुष्य खाता-पीता, सोता, वस्त्र धारण करता और समय पर मल-मूत्र त्यागने को भी जाता है। इनमे से एक काम भी कभी नही छोड़ा जाता, लोग मानते है कि इनको छोड़ा जाय तो शरीर नही चलेगा। कहा भी है–

खान-पान परिधान पट, निद्रा मूत्र पुरीस ।
ये षट् कर्म सब कोई करे राजा-रंक सरीस ।।

शरीर रक्षण मे इनको आवश्यक माना गया है। इसी प्रकार ज्ञानियो ने आत्म रक्षण के लिये भी देवभक्ति, गुरु सेवा, स्वाध्याय, सयम, तप और दानरूप षट्कर्म का विधान किया है। कहा भी है–

देवार्चा गुरु शुश्रूषा, स्वाध्यायः सयमस्तपः ।
दान चेति गृहस्थानां, षट् कर्माणि दिने-दिने ।।

पारस के सयोग से जैसे लोहा स्वर्ण बन जाता है वैसे ही षटकर्म की साधना साधक को पुरुषोत्तम बना देती है और आत्मा परमात्मा बन जाता है । आवश्यकता है कि आज हम सब साधना का प्राण हर मानस मे फूके इससे समाज ऊचा उठेगा और ससार का कल्याण होगा ।

गृहस्थ को देवभक्ति १ गुरु सेवा २ स्वाध्याय ३ सयम ४ तप ५ और दान ६ इन षटकर्मों का प्रतिदिन साधन करना चाहिये । शरीर को एक दिन भी खाना नही मिले या मलावरोध हो जाये तो क्षीण और बेचैन हो जाता है, तब आत्मिक षटकर्म के अभाव मे क्या आत्मा क्षीण एव अस्वस्थ नही होगी ? अवश्य।

सैलाना २१-१०-६२

---

[३]

साधना का ध्येय

प्रभु महावीर ने स्वाध्याय के समान सत्संग को भी ज्ञान का वड़ा कारण माना है। जीवन निर्माण में सत्सग का वहुत बड़ा हाथ है । इसके प्रभाव से मनुष्य कोयले से हीरा और ककर से शंकर बन जाता है। सत्संग की महिमा में किसी संस्कृत के विद्वान ने ठीक ही कहा है—

दूरीकरोति कुमति विमली करोति, चेतश्चिरन्तनमघं चुलुकि करोति

भूतेषुकिच करुणा बहुलीकरोति, सत्सगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ।

सत्सग से कुमति दूर होती है, चित्त निर्मल होता है और चिर संचित पाप क्षय हो जाता है। प्राणिओ पर दयाभाव की वृद्धि होती, इस प्रकार सत्सग से सभी भलाइयां सहज मिल जाती है।

सत्सग एक तालाब या सरोवर के सदृश है जिसके निकट पहुँचने मात्र से ही शीतलता, स्फूर्ति तथा दिमाग में तरी आ जाती है। चाहे कितना भी सतप्त और परिश्रान्त तन मन क्यो न हो, जलाशय का चुल्लूभर जल पिये बिना भी बिल्कुल तरोताजा बन जाता है। कल्याण मन्दिर स्तोत्र मे कहा है—

तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे।

प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ।।

फिर यदि कोई उसका जलपान करे अथवा डुबकी लगाये तो क्या उसकी तृषा और पाप नही मिटेंगे ? निश्चय उसके रोम-रोम उल्लास एवं शान्ति से पुलकित हो उठेगे। ऐसे ही सन्तो के चरणो मे पहुचते ही उनके समागम से मानव-मन को अपूर्व शान्ति मिलती है। यह शान्ति वैभव-विलास से मिलने वाले सुख मे नही मिल पाती। यही कारण है कि साधक वैभव-विलास की अनन्त सामग्रियो को ठुकराकर आध्यात्मिक मार्ग मे आने के लिये किसी सन्त-चरण की छत्र-छाया में पहुचते है।

श्रेणिक के राज्य भोग त्यागकर वीतराग प्रभु के चरणा मे जाने का भी मूल रहस्य यही है। साधना के द्वारा मिलने वाले अवर्णनीय आनन्द और अलौकिक शान्ति के मुकाविले भौतिक सुख तुच्छ और नगण्य है।

लौकिक दृष्टि मे वडप्पन का मापदण्ड धन योग्यता या पद आदि माना जाता है और चरित्र को उतना महत्व नही दिया जाता, किन्तु धार्मिक दृष्टि मे चरित्रवान ही सम्मान का पात्र समझा जाता है पूजी, उच्चपद, हुकूमत या भूमि वाला नही । कुटी मे रहने वाले ऋषि मुनियो के मुकावले मे गगनचुम्वी महलो मे रहने वाले छत्रपति नरेश की कोई गिनती नही होती। कहा भी है–

राजा योगी दोनो ऊचा ताबा तूबा दोनो सुच्चा ।
ताबा डूवे तूवा तिरे या कारण राजा योगी के पावा पडे ।

सम्राट श्रेणिक पद, धन, सम्पदा और सम्मान की दृष्टि से साधक आनन्द से ऊचे थे किन्तु धर्म के क्षेत्र मे आनन्द का स्थान श्रेणिक से ऊचा माना जाता है, क्योकि वह व्रतधारी है। साधक को अनुकूल साधन की भी आवश्यकता होती है साधना के मार्ग मे जव साधक को अनुकूल वातावरण मिलता है तभी वह सुमार्ग मे अग्रसर होता है। प्रतिकूल परिस्थिति मे साधक क्षणभर भी शान्ति नही पाता। परिस्थिति मन को आन्दोलित करती रहती है और साधक मे तन्मयता एव एकाग्रता का समावेश ही नही होने देती।

स्थानाग सूत्र के दूसरे स्थान मे भगवान् महावीर ने कहा है कि–दो कारणो से मनुष्य वीतराग धर्म का श्रवण नही कर पाता वे है आरम्भे चेव परिग्गहे चेव' आरम्भ और परिग्रह।

आरम्भ और परिग्रह साधना के राजमार्ग मे सवसे वडे रोडे है। जिस मनुष्य का मन आरम्भ और परिग्रह के दलदल मे फसा हो, वह सहसा उससे निकल कर साधना के पथ पर आगे नही वढ सकता ।

परिग्रह से तात्पर्य केवल सग्रह-वृत्ति ही नही वरन् आन्तरिक आसक्ति भी है। ग्रह का शाब्दिक अर्थ पकडने वाला जानता है, आकाश के ग्रह दो प्रकार के होते है एक सौम्य और दूसरा क्रूर । ये मानव-जगत से दूर के ग्रह है फिर भी इनमे से एक मन को आनन्दित करता है और दूसरा आतकित । हम इन दूरवासी ग्रहो की शान्ति के लिये विविध उपाय करते है किन्तु ह्दय गगन-मण्डल मे विराजमान परिग्रह रूप वडे ग्रह की शान्ति का कुछ भी उपाय नही करते । परिग्रह चारो ओर से पकडने वाला है। इसके द्वारा पकडा गया व्यक्ति न केवल तन से वल्कि मन और

इन्द्रियो से भी बधा रहता है। यह दिल-दिमाग और इन्द्रिय किसी को हिलने तक नही देता । 'परि समन्तात् गृह्यते इति परिग्रहः' रूप व्युत्पत्ति को सार्थक करता है ।

माया के फेर मे पड़ने से ही परिग्रह की भावना उदित होती है। आत्म-स्वरूप के दर्शन मे यह परिग्रह बाधक है। सरकार का सिपाही तो अपराधी के शरीर को बाधता है, किन्तु परिग्रह तो आत्मा को जकड़ लेता है। गगन-मण्डल स्थित ग्रह यदि साधारण ग्रह कहा जाये तो परिग्रह महाग्रह है। भौतिकवादी आस्था ही परिग्रह की जननी है, विश्व के अधिकाश लोग जिसके आज शिकार बने हुये हैं । इससे पिण्ड छुड़ाये बिना सच्ची शान्ति नही मिल सकती। साधु लोग परिग्रह का पूर्ण त्याग करके अपना जीवन शान्तिमय चलाते है। किन्तु ऐसा करना हर एक के वश की बात नही है ।

साधारण मानव यदि परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग नही कर सके, तो भी वह उसका सयमन कर सकता है। परिग्रह के मोह मे फंसा हुआ व्यक्ति अफीमची के सदृश है और मोही प्राणियो के लिये धन अफीम के समान है। अफीम के सेवन से जैसे अफीमची मे गर्मी स्फूर्ति बनी रहती है किन्तु अफीम शरीर की पुष्ट धातुओ को सोखकर उसे खोखला बना देती है; परिग्रह रूपी अफीम भी मनुष्य के आत्मिक विकास को न सिर्फ रोक देती है बल्कि उसे भीतर से तत्वहीन कर देती है। अतः हर हालत मे इसकी मात्रा निश्चित कर लेने मे ही बुद्धिमानी है ।

परिग्रह का विस्तार ही आज संसार मे विषमता और अशान्ति का कारण बना हुआ है। यदि मनुष्य आवश्यकता को सीमित कर अर्थ का परिमाण करले तो संघर्ष या अशान्ति भी बहुत सीमा तक कम हो जाये। आज जो अति श्रीमत्ता को रोकने के लिये शासन को जनहित के नाम पर जनजीवन मे हस्तक्षेप करना पड़ रहा है, धार्मिक सिद्धान्तो को ध्यान मे रखकर यदि मानव आप ही परिग्रह की सीमा बाध ले तो बाह्य हस्तक्षेप की आवश्यकता ही नही रहेगी और मन की अशान्ति, हलचल और उद्विग्नता भी मिट जायेगी ।

बहुधा देखा जाता है कि बड़े-बड़े श्रीमत लोग इन्कमटेक्स और सेल टेक्स के साधारण इन्सपेक्टरों के सामने भी झुक जाते है और उनकी खुशी के लिये कुछ उठा नही रखते। यदि सन्तो की सत् शिक्षा को ध्यान में रखकर चलें तो उन्हे झुकने या भय करने की कोई जरूरत नही रहेगी, तथा मन भी शान्त रहेगा। कारण भय और अशान्तियो का कारण परिग्रह का अति संचय ही है ।

साधक आनन्द ऐसे गृहस्थो मे था जो परिग्रह को साधन मात्र ही समझता रहा और कभी उसका गुलाम नही बना, अज्ञानी मनुष्य परिग्रह को जीवनोद्देश्य या

साध्य बनाकर मोहरूपी रोग से ग्रस्त हो जाते है। कमजोरी की अवस्था म, वीमार मनुष्य जैसे छडी का सहारा लेता है और स्वलता क आते ही उसे छोड देता है उसी प्रकार ज्ञानवान परिग्रह को दुर्वल का सहारा मानता और समय के आते ही छोड देता है। जैसे केचुली साप को अन्धा बना देती है वैसे परिग्रह की अधिकता भी मनुष्य के ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। केचुली से वँधा साप जैसे परेशान होकर पीडा सहकर भी झिल्ली को निकाल फेकता है–वैसे ही मनुष्य को भी परिग्रह रूपी केचुली को प्रयत्न करके निकाल फेकना चाहिये । क्योंकि यह ज्ञानचक्षु को वन्द कर देने का कारण है।

परिग्रह का दूसरा नाम 'दौलत' है जिसका अर्थ है दो-लत अर्थात् दो बुरी आदत। इन दो लतों मे पहली लत–हित की वात न सुनना दूसरी लत–गुणी माननीय नेक सलाहकार और वन्दनीय व्यक्तियो को न देखना, न मानना । समष्टि रूप से यह कहा जा सकता है, कि परिग्रह ज्ञानचक्षु पर पर्दा डाल देता है– जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य अपना सही मार्ग निर्धारित नही कर पाता ।

महामुनि शय्यभव भट्ट ने यशोभद्र के परिग्रह का पर्दा अपनी उपदेश धारा द्वारा हटा दिया और उसे अलौकिक आत्म सुख दिलाया। शय्यभव महाराज तो निमित्त ही वने किन्तु अपनी साधना के द्वारा यशोभद्र अमर वन गये ।

हर मानव मे ऐसी शक्ति छिपी है जो उसे ऊपर उठा सकती है। जगत् का प्रत्येक नर नारायण वनने का हकदार है और चाहे तो वन सकता है। किन्तु आवश्यकता है, पुरुषार्थपूर्वक साधना के पथ पर चलने की। जो साधना मार्ग के काटो, रोडों और आपत्तियो की परवाह नहीं करता, मंजिल उसके स्वागत के लिये पलक पावडे विछाये तैयार खडी रहती है। जो सासारिक क्षण भगुर प्रलोभनो के चक्कर मे नहीं पडता और साहस से साधना के मार्ग मे चलने के लिय जुट जाता है उसका इहलोक और परलोक दोनो सुधर जाते है ।

२०-११-६२

---

[४]

जैन संस्कृति की साधना

महापुरुष का जीवन स्वय ऊपर उठा होता है और वे संसार के लोगो को भी उठाने मे सहायक होते है जैसे चन्दन स्वयं भी सौरभ वाला है और पास के दूसरे वृक्षो को भी सुगन्धित कर देता है । यही कारण है कि संसार के लोग खासकर सौभाग्यशाली जन महापुरुषो के पीछे चलते है । साधक जब अच्छा निमित्त पा लेता है तो उसके ऊपर उठने मे समय नही लगता । लता भूमि पर प्रसरित होने वाली है, किन्तु आधार पाकर ऊपर चढ़ती है क्योंकि उसका स्वभाव फैलने का है । यदि उसे कोई आधार खम्भा इत्यादि नही मिले तो वह जमीन पर ही फैलती है किन्तु ऊपर नही उठती, क्योंकि सहारा नही है । ऐसे ही साधक को भी सहारा चाहिए । बिना सहारे के अन्त.शक्ति होते हुए भी ऊपर उठना दुःशक्य और असभव ।

सत्सग का सहारा–निमित्त जीवन को उच्चतम स्थिति पर पहुँचा देता है । महावीर स्वामी का सहारा पाकर कोल्लाग ग्राम का गृहस्थ आनन्द आदर्श-जीवन बनाकर न सिर्फ लोक मे ही सम्मानित बना, बल्कि उसका परभव भी सुधर गया । सुमार्ग मे ले जाने वाले महावीर स्वामी का पवित्र निमित्त मिलने से ही आनन्द अपना जीवन बना सका ।

जब कोल्लाग ग्राम मे वीतराग भगवान-महावीर स्वामी पधारे तो वहा की स्थिति बड़ी मगलमय बन गई । वहा का वातावरण आध्यात्मिकता से ओतप्रोत हो गया। किसी कवि ने ठीक कहा है–

विवेकी सत बसे जेहि देश ।
ऋद्धि सिद्धि तह वास करत है, धरि दासिन का वेश ।।

त्याग और ज्ञान के मूर्तिमान रूप प्रभु जब कोल्लाग पधारे तो चारो ओर समाचार फैल गया कि हृदय-पटल को खोलने वाले ज्ञानी सत आए है । उस युग मे

उनकी बराबरी का कोई दूसरा महापुरुष नही था । शरीर, मन और वाणी के तप से युक्त महावीर स्वामी अतरग और बहिरग तपस्वी थे । उनसे आधि व्याधि और उपाधि रूप त्रय ताप सर्वथा दूर रहा करते थे । जैसे अन्धकार प्रकाश से दूर रहता है । प्रभु के आगमन की सूचना से सारा जनपद उनके दर्शनार्थ उमड पडा । जन-समुदाय को जाते देख कर ज्ञान ग्रहण की कामना से आनन्द भी जाने को उद्यत हुआ ।

कहावत है कि जैसा सग वैसा लाभ । गधी के सग मे गध का लाभ होता लोहार के घर मे उसकी सगति से आग की चिनगारी का दर्शन तथा कोयले की दूकान मे कालापन मिलता है । वैसे ही ज्ञानवान की सगति मे ज्ञान-लाभ के सग आत्मिक शान्ति भी मिलती है । इस प्रकार सगति का फल मिले बिना नही रहता । कहा भी है – ज्ञान बढे गुणवान की सगत' ।

आनन्द जब ज्ञान ग्रहण करने की सुभावना लेकर चला तो महावीर स्वामी के सदृश त्याग, तप और आचारपूर्ण सत की सगति से भला लाभ क्यो न होता, जबकि आचारहीन विद्वानो की सगति से भी कुछ-न कुछ लाभ मिल जाता है । फिर धर्म साधना का अधिकार हरएक को है क्योंकि धर्म किसी एक की जागीरदारी नही जो दूसरा उसमे प्रवेश नही करे ।

यद्यपि प्रभु-दर्शन को जाने वाले कई लोग महावीर स्वामी की ख्याति बडाई और विशेष-गुण-दर्शन की उत्कण्ठा से जा रहे थे । जिज्ञासावश जाने वाले को भी सत्सगति का लाभ मिलता है । जैसे किसी सुरभित उद्यान मे प्रवेश करने वाले का मानस सुरभिपूर्ण और सुखी हो जाता है मगर सत्सग मे दर्शक की अपेक्षा गुण-ग्राहक अधिक लाभान्वित होता है । दर्शक की प्रसन्नता तो तभी तक है जब तक दर्शनीय उसके सामने हो किन्तु ग्राहक वस्तु को ग्रहण कर पीछे भी प्रमुदित होता रहता है । साधना के मार्ग मे ग्राहक बनकर जाना चाहिए, दर्शक बनकर ही नही ग्राहक बनकर जाने वाला तात्कालिक लाभ से भी अधिक भविष्य का लाभ लेकर जाता है ।

आनन्द समस्त कौटुम्बिक जजाल को त्याग कर शुद्ध मन से प्रभु की सेवा मे जा रहा था । इसलिये उसने धर्म-सभा के अनुकूल अपनी वेशभूषा बना ली । क्योंकि राजसभा की तरह धर्म-सभा मे भी अनुशासन और अदब का ध्यान रखना आवश्यक है । अन्यथा आत्मा उत्थान के बदले पतन की ओर झुकती है । सत के पास जाने के लिए पाच नियम है – १-सचित्त द्रव्य, फल फूल और श्रीफल आदि दूर रखकर जाना । २-अचित्त-वस्त्राभूषण बिना छोडे, वदन मे बाधक छडी-छाता आदि दूर रखकर जाना । ३-द्वार से सत को देखकर अजलि जोडे जाना । ४-एक शाटी के वस्त्र से उत्तरासन करना । ५-मन को सासारिक विषयो से दूर कर स्थिर करना ।

राजा हो तो पांच राज्य-चिन्हों को छोड़ना धर्म-सभा का नियम है :—जैसे १-छत्र २-चामर ३-मुकुट ४-मौजड़ी और खड्ग तथा फूलमाला। यह सभी त्याग धर्म के प्रति आदरभाव प्रदर्शित करने वाला है।

विवेक से काम लेने पर राजा से लेकर रक तक सभी धर्म-साधना कर सकते हैं और निश्चित रूप से सबको करना भी चाहिए। क्योंकि संसार की सभी वस्तु नाशवान् है, कहा भी है —

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।।

यहा से प्रयाण करने पर कोई भी भौतिक वस्तु साथ नही जाती, परलोक मार्ग मे जीव को कर्म के साथ अकेले ही जाना है। केवल धर्म ही उसके साथ रहने वाला है। परभव के लिए सबलरूप धर्म को अपनाये बिना यात्रा दुःखद रहेगी। सत एव शास्त्र का काम तो तत्व बता देना है, पर साधक मे श्रद्धा, विश्वास एव रुचि होने पर ही ग्रहण किया जा सकता है , इनके बिना न तो साधना मे मन लगेगा और न वास्तविक आनन्द ही आएगा। केवल आदेश पालन से व्रत-साधना उतनी श्रेयस्कर नही होती, जितनी ज्ञान—युक्त रुचि से की गई। रुचि का कारण कभी-कभी आज्ञा भी बन जाती है। किन्तु इस प्रकार की आज्ञा-रुचि जब तक ज्ञान से समर्थित न हो, स्थायी नही होती।

आनन्द को प्रभु की वीतरागता पर श्रद्धा थी वह उनके वचन को एकान्त हितकारी मानता था, अतः अन्तर मे रुचि जगी कि कुछ साधना करू। उसने प्रभु की संगति मे अलौकिक ज्ञान प्राप्त किया और अपने जीवन को धन्य बनाया।

आनन्द की तरह मुनि शय्यभव भट्ट के उपदेश से यशोभद्र को भी साधना की रुचि जगी और वे साधु बन गये और शय्यभव भट्ट के स्वर्गवास के बाद आप युग प्रधान आचार्य बने एव शासन-सूत्र का सचालन करने लगे। आचार्य यशोभद्र ने धर्म-शासन को सुरुचिपूर्ण ढग से चलाया और जगह-जगह भ्रमण कर सहस्रो नर-नारियो को अपनी सगति का लाभ दिया। बड़े-बड़े विद्वान उनसे ज्ञान ग्रहण कर जीवन को सफल बनाते थे। यशोभद्र में त्याग और ज्ञान का सुन्दर सामन्जस्य था।

त्याग के साथ ज्ञान का बल ही साधक को ऊचा उठा सकता है। जैसे सुक्षेत्र मे पड़ा हुआ बीज, जल-सयोग से अकुरित होकर फलित होता है और बिना जल के सूख जाता है, वैसे त्याग और ज्ञान भी बिना मिले सफल नही होते। जिस साधक में पेय, अपेय, भक्ष्य-अभक्ष्य, और जीव-अजीव का ज्ञान न हो वह साधक कैसे

उत्तम साधक होगा ? मछली मास, मैथुन आदि को बुरा न मानने वाले साधक भी मिलेंगे, परन्तु ऐसे पथभ्रष्ट साधको से किसी का भला नही होने वाला है । कोरा त्याग हो किन्तु ज्ञान न हो तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता तथा ऐसे साधक जन जीवन को भी प्रभावित नही कर सकते । आत्म-ज्ञान विहीन व्यक्ति उस चम्मच के समान है जो मिष्ठान्न से लिप्त होकर भी उसके माधुर्य के आनन्द से वचित ही रहता है । कहा भी है –

पठन्ति वेदशास्त्राणि, बोधयन्ति परस्परम् ।
आत्मतत्व न जानन्ति दर्वी पाकरस यथा ।।

लोक और परलोक दोनो को बनाने के लिए परमात्म तत्व का ज्ञान जरूरी है और इसके लिए सत्सगति परमावश्यक है । बिना सत्सगति के न तो साधना की रुचि ही होगी और न आत्म तत्व का ज्ञान ही । अत मनुष्य जीवन को पाकर चाहिए कि उसको सफल बनावे अन्यथा कीट-पतगे आदि की घृणित योनियो मे भटकते हुए नाना दुखो से टकराना पडेगा । आनन्द और सभूति विजय आदि का उज्ज्वल जीवन प्रकाश स्तम्भ की तरह हम सबका मार्ग निर्देशन कर रहा है और हमे इगित कर रहा है कि हमारी तरह तुम भी अपने अन्त करण म ज्ञान की ज्योति भर कर जगत् के भूले भटको का मार्गदशर्न करो और बुराइयो से बचकर भलाइयो के पथ पर बढते हुए अपने जीवन को यशः पूर्ण बनालो ।

---

[५]

भुक्ति से मुक्ति की ओर

मानव के सामने जीवन के मुख्य दो लक्ष्य हैं, एक भुक्ति और दूसरा मुक्ति। भुक्ति का अर्थ भोग या भोग की सामग्री मे तल्लीन होना है तो मुक्ति का अर्थ मोक्ष है जिसमे कि मनुष्य बारबार जन्म ग्रहण करने से छुटकारा पा ले । इन दोनो मे से उसका साध्य क्या होना चाहिए, इसके लिए विवेकशील बुद्धि ही निर्णायक है । कहा भी है–"बुद्धेः फल तत्व-विचारण च" याने तत्वातत्व का निर्णय करना ही बुद्धि का फल है ।

सारी दुनिया भुक्ति या भोग के पीछे छटपटा रही है, क्योंकि परिग्रह की साधना मे किए गए समस्त कार्य भुक्ति के अन्तर्गत आते हैं । मनुष्य यदि भुक्ति को ही जीवन का लक्ष्य बनाले तो पशु और मनुष्य मे कोई अन्तर नही रहता । मनुष्य को छोड़ कर अन्य प्राणियो के सन्मुख मुक्ति का लक्ष्य ही नही है । वे तो भुक्ति को ही सब कुछ समझते है । उनके भोग मे किसी की रोकथाम नहीं, भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य का कोई प्रतिरोध नहीं । चलता हुआ भी पशु किसी वस्तु मे मुह डाल देता है । रातदिन मधुकोष मे बैठने वाली मक्खी और कमल के कोमल सुमनो में सोने वाला भ्रमर भोग मे किस मानव से कम है । इस प्रकार भोग भोगने मे मनुष्य से बढ़ा हुआ पशु आदरणीय नही कहलाता और मनुष्य की पूजा होती है । इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य की कोई खास विशेषता है जो उसे पूज्य बनाती है ।

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है । वह हर वस्तु की गहरी गवेषणा के बाद ही कुछ निर्णय करता है । मनुष्य का भोग राज और समाज के नियमों से नियन्त्रित रहता है । उसके भोग में कुटुम्ब की भी बाधा रहती है और भी कतिपय मर्यादाए होती है जिन्हे मनुष्य सहसा लाघ नही सकता । वह भुक्ति पर विजय पाकर मुक्ति की साधना करना जानता है और जानता है पशुता और मनुष्यता के विभाजक तत्व धर्म की विशेषता को । कहा भी है–

आहार निद्रा भय-मैथुन च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभि समाना ।

अर्थात् खाना, सोना, भय और मैथुन रूप क्रिया मनुष्य और पशु मे बराबर है। धर्म ही एक मनुष्य का विशेष गुण है । जिसमे धर्म नहीं वह पशु के समान है ।

जो लोग अज्ञानता या वासना की दासता से अपना लक्ष्य स्थिर नही कर पाते, साधना करके भी वे शान्ति प्राप्त नही करते । जिनका लक्ष्य स्थिर हो गया है वे धीरे धीरे चलकर भी पहुँच जाते है ।

अनुभूति-प्राप्त ज्ञानियो ने कहा है कि मानव । तेरा अमूल्य जीवन भोग के लिए नही है । तुझे करणी करना है और ऐसी करणी कि जिससे तेरे अनन्तकाल के बन्धन कट जायँ । तेरा चरम और परम लक्ष्य मुक्ति है इसको मत भूल । अस्थिर लक्ष्य से काम करने वाला कोई लाभ नही पाता । पुराणो मे एक कथा आती है कि एक बार भगवान शकर और पार्वती मे इसी बात को लेकर वाद-विवाद हो गया । भगवान् शकर का कहना था कि ससार के मनुष्यो को भक्ति अधिक प्रिय है, जबकि पार्वती कहती थी कि पैसा अधिक प्रिय है । शकरजी ने कहा कि "हाथ कगन को आरसी क्या ? चलो मनुष्यलोक मे चलकर इस बात की सप्रमाण परीक्षा करले ।"

दोनो अपने पक्ष की परीक्षा के लिए निकल पडे । शकरजी सन्यासी का रूप धारण कर भ्रमण करते हुए एक बडे नगर मे पहुँचे। लोगो ने उनका बडा स्वागत किया और बडी प्रीति बतलाई । उसी नगर के किसी प्रतिष्ठित सेठ ने सन्यासी रूप भगवान् शकर से निवेदन किया कि आप कुछ दिन यहा रहकर सत्सग का लाभ देने की कृपा करे । सन्यासी ने कहा कि मै श्मशान का वासी आप लोगो के बीच कैसे रहू ? इस पर सेठ ने शहर के बाहर अपने उद्यान के बगले मे रहने की प्रार्थना

बाबाजी को स्थान पसन्द आ गया । वे सेठ से बोले कि मै स्वतन्त्र प्रकृति का हूँ, अपनी इच्छा के अनुसार रहूगा और बिना मेरी इच्छा के तुम कहोगे कि चले जाओ तो मै नहीं जाऊँगा । तुम्हारे आगन मे चिमटा गाडकर धूनी रमाऊगा । यदि तुम्हे मेरी शर्त स्वीकार हो तो ठहरू अन्यथा जाने दो । सेठ ने बाबा की शर्त मान ली और बाबा वहा जम गए। सेठ नित्य प्रति उनके दर्शन का लाभ लेने लगे।

कुछ दिनो के बाद साध्वी रूप मे पार्वतीजी भी भ्रमण करती-करती उसी नगर मे चली आयीं और उसी सेठ के द्वार पर पहुँच कर बोली कि 'देहि मे जलम्' याने जरा पीने को जल दो । सेठ ने सेवक से जल देने को कहा । तत्काल एक आदमी पानी का कलश लेकर उपस्थित हुआ और पार्वतीबाई ने बगल से एक

रत्न-जटित कटोरा निकाला और पानी पीकर फैक दिया । घरवालो ने स्वर्ण-कटोरे को फैका देखकर समझा कि वाई जी अप्रसन्न हो गई है । सेठजी ने वाईजी से करवद्ध प्रार्थना की कि हम सवसे कोई गलती हुई हो तो उसे क्षमा कर दे । यह सुनकर वाईजी हॅसी और वोली कि नाराजगी का कारण नही, यह तो मेरा नियम है कि जूठे वर्तन को दुवारा काम नही लेती । यो मै तुम सब पर नाराज नही हूँ ।

सेठ ने सोचा कि इस देवी के यहां ठहरने से तो दुहरा लाभ है, धर्म और धन दोनो प्राप्त होगे । उसने इस सुअवसर का लाभ लेना चाहा और बाईजी से आग्रह किया कि आप कुछ दिनों तक यही ठहरे, जिससे स्त्रिया भी कुछ शिक्षा प्राप्त कर सकें । ज्ञानाभाव से स्त्रियो का जीवन बिगड़ रहा है । विश्वास है कि आपके सत्सग से उनके जीवन पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा । यह सुनकर साध्वी बोली कि हम माया वालो के वीच मे कैसे रहे । सेठ ने बगीचे के वगले की ओर इशारा किया और प्रार्थना की कि अपने चरणरज से उसको पवित्र कीजिए, बाईजी ने वंगला देखा और इस पर साध्वी बोली कि जहा साधु रहते हो, वहा हम नही रहतीं ।

सेठ ने काम बिगड़ते देखकर बाबाजी से निवेदन किया कि आप दूसरे मकान मे पधारिए । किन्तु बाबाजी ने उसे स्वीकार नही किया । इस पर सेठ वोला कि महाराज ! कृपाकर आप दूसरे बंगले में पधार जावे, नही तो सेवकों द्वारा मुझे आपको उठवाना होगा । बाबाजी ने देखा अब यहां रहना ठीक नही । यहां पार्वती का चक्र चल गया है, वे वहा से चले तथा अदृश्य हो गए ।

इधर सेठ साध्वी को लिवाने गए किन्तु उन्होने टका-सा जवाब दिया कि जहां से साधु रूठकर चला जावे वहा साध्वी नही ठहरती, यह कहकर वह भी चल पड़ी, तथा कुछ दूर चलकर अन्तर्धान हो गई । सेठ ने देखा बाबा भी गायब और साध्वी भी गायव । दु खित मन से उसने कहा कि–

सूजा सुधि पायी नहीं, घर आए थे राम ।
दुविधा मे दोनो गए, माया मिली न राम ।।

संसार मे ऐसे लोग वहुत है जो सतों के पास आकर मुक्ति की बात करेंगे और वाहर जाते ही पूरे मायामोह में रग जाएँगे । उनका कोई लक्ष्य स्थिर नही होता। साधक को वुद्धिपूर्वक अपना लक्ष्य स्थिर कर लेना आवश्यक है । अस्थिर लक्ष्य वाला मुक्ति और भुक्ति दोनो से वंचित रहता है ।

भारतीय संस्कृति साधना-प्रधान है क्योंकि मुक्ति रूप फल की प्राप्ति साधना के विना नही होती । व्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य वानप्रस्थ और सन्यास रूप चारों आश्रमो मे त्याग तथा साधना को ही महत्व दिया गया है । मनुष्य अनुकूल समय देखकर भुक्ति

से दूर होता तथा मुनिव्रत सन्यास ग्रहण कर मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो जाता था। वस्तुत जीवन का कल्याण इन्ही से होता है, धन और भौतिक साधना से नही । सम्राट सिकन्दर ने प्रबल शौर्य प्रदर्शित कर खूब धन सग्रह किया किन्तु जब यहा से चला तो उसके दोनो हाथ खाली थे । बडे-बडे वैद्य और डाक्टर वैभव के बल से उसको बचा नही सके और न उसके सगे सम्बन्धी ही उसे चलते समय कुछ दे सके।

साधना के मार्ग मे पैर बढाना कुछ आसान नहीं है । बडी बडी विघ्न-बाधाए साधक को विचलित करने के लिए पथ पर रोडे डालती रहती है जिनमे मुख्य मोह और कामना है । इनमे इतनी फिसलन है कि साधक अगर सजग न रहा तो वह फिसले बिना नही रहता । कहा भी है–

एक कनक अरु कामिनी, जग मे दो तलवार ।
उठें थे हरि भजन को बीच लिया हैं मार ।।

यदि मोह और कामना पर विजय प्राप्त नहीं हुई तो कीचड युक्त मार्ग मे चलने वाले यात्री की तरह स्खलित होने का खतरा है । साधक को भूख, प्यास, गाली, तिरस्कार, अपमान आदि अनेक कष्टो को सहना पडता है । उसके जीवन मे अनेक परीक्षाकाल आते है जिनमे कुछ अनुकूल और कुछ प्रतिकूल भी होते है । मोह एव कामना का वातावरण साधक को अन्य कष्टो की अपेक्षा अधिक विचलित करता है । भौतिक पदार्थों की कामना गृहस्थो की तरह सन्यासियो पर भी असर डालती है। और उन्हे भटकाने की चेष्टा करती है । प्रभु महावीर स्वामी का कहना था कि कामनाओ को असीम बनाकर तथा मोह की परिधि को बढाकर मानव सुख-शान्ति का अनुभव नही कर सकता । किसी कवि ने ठीक कहा है–

मुझे नही चाहिए राज्यपद, अथवा भौतिक विभव विलास ।
कष्टोपार्जित प्रजाग्रास हरने से उत्तम है उपवास ।।

मुमुक्षु ज्ञान के प्रकाश मे इन बाधाओ पर विजय पा लेता है जो उसकी अपनी दिशा ही बदल देती है । कामना और मोह को समाप्त करना एव उसके बन्धन से मुक्त होना ही मनुष्य का साध्य है और इसका साधन-उपाय साधना है ।

कामना और मोह विजय के साथ साथ साधक मे श्रद्धा-विश्वास और रुचि होनी चाहिए । यदि श्रद्धा और विश्वास हो किन्तु रुचि न हो तो साधना के मार्ग मे अभीष्ट गति नही होगी । जैसे रोगी पथ्य भोजन के प्रति भी रुचि नही रखने से स्वास्थ्य-लाभ नही कर सकता वैसे साधना के मार्ग मे श्रद्धा और विश्वास के होने पर भी रुचि न होने से साधक अपनी साधना मे सफल नही हो सकता ।

संतों की वाणी मे श्रद्धा और विश्वास के जागृत होने पर भी यदि रुचि जागृत नही हुई तो भोग को त्याज्य मानकर भी मानव उससे विरत नही हो सकेगा और बिना भोग-विरति के साधना मे रति प्राप्त नही होगी । मानव को यह निश्चय कर लेना चाहिए कि भोग मात्र जीवन निभाने को है—जीवन बनाने की कला तो मुक्ति मार्ग मे ही है ।

आप देखते ही है कि मनुष्य अन्न के बिना भले ही निर्वाह करले किन्तु हवा का कभी परित्याग नहीं कर सकता, अथवा परित्याग करने से जी नही सकता । ऐसे ही हवा की तरह धर्म जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक खुराक है । इसी के द्वारा मनुष्य मुक्ति रूप साध्य को प्राप्त कर सकता है जो कि मानव-जीवन का चरम एवं परम ध्येय है ।

जीवन मे अहिसा, क्षमा, सत्य, अपरिग्रह आदि सद्‌गुण अपनाने से ही सच्ची आत्म-शान्ति मिलती है और जीवन सफल बनता है ।

---

[६]

कर्म एक विश्लेषण

भगवान् महावीर कहते है, मानव। साधक का मोक्षमार्ग जग से निराला होता है। भौतिकता के लुभावने दृष्य साधक को क्षण भर के लिए भी अपनी ओर आकृष्ट नही कर सकते। भौतिक साधनो के प्रति स्नेह का परित्याग ही सच्ची साधना या तपस्या है। अध्यात्म मार्ग मे लगा साधक ही मुक्ति की मंजिल पर पहुँच सकता है। जो इस साधना से दूर भौतिक प्रपचो मे उलझा रहता है उसका इहलोक और परलोक दोनो बिगडते है एव उसकी दशा मरीचिका मुग्ध मृग जैसी हो जाती है।

भगवान् महावीर ने जीवन के स्वरूप की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है। उनका कथन है कि जीव अपने कर्मों के द्वारा ही कभी देव कभी नरक तो कभी पशुरूप नाना योनियो मे परिभ्रमण करता रहता है। जीव का बन्धन स्वकृत है परकृत नही। इस ससार मे दिखाई देने वाले विविध प्रकार के सुख दुःख भी स्वकृत कर्म के ही परिणाम है। पर सुख को ईर्ष्या या द्वेष की नजरो से देखने वालो को यह भली भाँति जान लेना चाहिए कि वह भी अपने किए का ही फल भोग रहा है। न तो कोई किसी का सुखदाता या न कोई दुःखदाता ही है।

किसी व्यक्ति के द्वारा चोट खाने से जब कोई दुःखी या परेशान हो जाता है तो दुनिया चोट देने वाले को दोषी समझती है या उस चोट को परकृत मानती है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से बात ऐसी नही है। शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार चोट खाने वाले का कही न कही कुछ दोष अवश्य है। नहीं तो चोट देने वाले ने किसी दूसरे को चोट न देकर उसे ही क्यो दी, यह यहाँ एक प्रश्न उठता है।

भगवतीसूत्र मे गणधर गौतम ने प्रश्न पूछा कि भगवन्! जीव स्वकृत दुःख भोगता है या परकृत अथवा उभयकृत ? इसके उत्तर मे प्रभु ने कहा—गौतम। जीव

स्वकृत कर्म भोगता है, परकृत और उभयकृत नही । जैसे कहा है–जीवा सयं कड दुक्ख वेदेंति, परकड दुक्ख वेदेंति, तदुभय कड वा दुक्ख वेदेति ? गोयमा ! जीवा सय कड दुक्ख वेदेंति, नो पर कड, नो तदुभय कड । भ. ।

इसमे कोई शक नही कि जीव अपने ही किए हुए कर्म भोगता है । ठीक ही कहा है – 'अवश्यमेव भोक्तव्य कृतं कर्म शुभाशुभम् ।' कई बार देखा जाता है कि भले आदमी को बिना कारण के भी सहसा दु.ख का सामना करना पड़ता है और अनचाहे भी कर्म फल भोगने पड़ते है । उदाहरण के रूप मे देखिये – ससार मे तीन प्राणी सीधे-सादे जीवन व्यतीत करने वाले है, मृग, मीन और सत । फिर भी मनुष्य इन्हे सताते है । इन तीनों का जीवन संतोष का होता है । मृग घास-पात खाने वाला और बिलकुल भोला-भाला प्राणी है । वह अपनी चंचल गति की चौकड़ी और बड़ी-बड़ी ऑखो से देखने वालो का मन मोह लेता है । मगर ऐसे निर्दोष और सीधे जानवर के लिए भी मनुष्य वैरी बन जाता है । मछली भी उपकारी प्राणी है । वह बिना कुछ दिए लिए केवल जल पर निर्वाह करती है, तथा जल को शुद्ध करती है । मनुष्य के द्वारा की हुई गदगी की वह सफाई करती है, किन्तु मनुष्य उसकी स्वतन्त्रता को ही नष्ट नही करता वरन् उसकी जान भी ले लेता है । संतजन सतोष पूर्वक सादगी से अपना जीवन व्यतीत करते है, किन्तु बिना कारण के सत के भी लोग दुश्मन बन जाते है । इस प्रकार दुष्ट का साधुओ को सताना, शिकारी का मृग मारना और मछुए का मछली पकड़ना आदि निष्कारण शत्रुता के उदाहरण है ।

मच्छी आदि के दुःख में कर्म फल को अन्तरकारण मानते हुए भी इस सत्य को नही भूलना चाहिए कि अज्ञान या मोहवश जो किसी को सताते हैं, वे भविष्य के लिए स्वय वध्य बनकर अपने को भयंकर यातना के लिये तैयार करते है । अतएव मानव के लिए सतो का उपदेश है कि अपना भाग्य कुकर्म की मसि से मत लिखो। बुरे कर्म से तुम्हारा उभय लोक बिगड़ता है और जीवन भारी बनता है । भूमि मे धान का दाना भले न उगे, पर करनी का दाना बिना उगे नही रहेगा । कहावत भी है – "जैसी करनी, वैसी भरनी" कोई बुरा कर्म करके अच्छा फल पाने की इच्छा करे, यह कदापि सम्भव नही है । कहा भी है–

करे बुराई सुख चहे, कैसे पावे कोय ।
रोपे पेड़ बबूल का, आम कहां से होय ।।

बुरे कर्मों का ही परिणाम दरिद्रता है । पाप और दुःख की परपरा कैसे बढ़ती है, अनुभवी आचार्यो ने इसका ठीक ही चित्र खीचा है । जैसे कि –

पापप्रभावाद् भवेद्दरीद्रो दरिद्रभावाच्च करोति पाप ।
पापप्रभावान्नरक प्रयाति पुनर्दरिद्र पुनरेव पापी ।।

अर्थात् पाप के उदय से जीव दरिद्र होता है और दरिद्रता मे दुर्मतिवश चोरी, हत्या, मास भक्षण आदि फिर पाप करता है जिससे नरक मे चला जाता है फिर दरिद्र और फिर पापी इस प्रकार दीर्घकाल तक कर्म परम्परा मे भटकता रहता है।

अक्सर देखा जाता है कि पूर्व जन्म के पाप तो भोग रहा है और फिर मनुष्य नये-नये पाप कर्मों मे प्रवृत्त रहता है । इस स्थिति मे भला उसके अच्छे दिन कैसे आएगे ? बुरे कर्मों से उपार्जित वैभव भी शान्ति दायक नही होता वह कोई न कोई अशाति खडी कर देता है और चचल चमक सम अनायास नष्ट भी हो जाता है ।

आप देखते है पैसे के लिए भाई भाई, बाप-बेटा और पति पत्नि तक मे भयकर झगडे होकर पारिवारिक जीवन दु खद बन जाता है । हिसा झूठ और परिग्रह के चलते परम शान्त और सुखद जीवन भी अशान्त बन जाता है और देवो से स्पर्धा करने वाला भी मानव दानव और पशु-तुल्य हो जाता है ।

मनुष्य जीवन जो सकल अभ्युदयो की जड है उसको व्यर्थ मे गवाना बुद्धिमानी का कार्य नही माना जा सकता । जिस प्रकार वृंक्ष अपने स्वभाव और गुण-धर्म को नही छोडते तथा अपकारी का भी उपकार करते है उसी प्रकार मनुष्या को भी मानवोचित महान् गुण और धर्म का त्याग नही करना चाहिए । मन से दुख के कारणो को दूर किए बिना वास्तविक सुख की प्राप्ति असभव है । लडाई, हिसा या कलह से प्राप्त सम्पदा स्वय और परिवार किसी के लिए भी कल्याणप्रद नही हो सकती ।

आज हजारो लोग दोनो समय भोजन नही पाते और सर्दी एव घाम मे छटपटाकर पशुवत् जीवन व्यतीत करते है आप अपनी सुख सुविधा मे उन्हे भूल जाते है । लेन-देन के पैसे लेना तो नही भूलते किन्तु उनके जीवन सुधार पर ध्यान नही देते क्योंकि वैसा करने मे थोडा लोभ घटाना पडता है । जो लोग अज्ञानतावश मच्छी बेचते, शिकार करते और पशु बेचकर आपको पैसा चुकाते है आप लोग उनको सान्त्वना देते हुए पाप की बुराई समझावे और कुछ सहानुभूति रक्खे तो उनका जीवन सुधर सकता है हिसा घट सकती और थोडे त्याग मे अधिक लाभ हो सकता है । सम्पन्न लोगो को इस ओर ध्यान देना चाहिए ।

आज ससार मे सर्वत्र मन की सकीर्णता और स्वार्थपरता ही दृष्टिगोचर होती है । और की तो बात ही क्या ? जो पुत्र पिता से अनन्य प्रेम करता है उनकी

आज्ञा को सतत माथे चढ़ाता है तथा उनके पसीने पर खून बहाने को तत्पर रहता है, विवाह के बाद वह भी कुछ और ही बन जाता है । उनके मन मे पिता से बढ़कर पत्नी का स्थान हो जाता है और वह उसी के इशारे पर नाचने लगता है । सुदैव से यदि स्त्री सुशीला एवं बड़ों की मर्यादा को मानने व समझने वाली हुई तब तो ठीक, अन्यथा वह घर कुरुक्षेत्र का मैदान बन जाता है । पराए घर मे जनमी और पली वधू यदि पराएपन का व्यवहार करती है तो उसमे कुछ विशेष आश्चर्य नही, आश्चर्य तब होता है जब अपना लाडला भी पराया बन जाता है । इस तरह जहाँ रोम-रोम मे स्वार्थ के कीट भरे हुए हो, वहाँ जीवन को समुन्नत बनाने की क्या आशा की जाय ?

यो तो नर की अपेक्षा नारिया स्वभावतः विशाल हृदय, कोमल, दयामयी और प्रेम-परायणा होती है किन्तु शिक्षा, सुविचार एवं सत्सगति के अभाव मे वे भी सकुचित हृदयवाली बन कर आत्म कल्याण से विमुख बन जाती है जबतक उनमे समुचित ज्ञान का प्रकाश प्रवेश नही पाएगा, तबतक उनका जीवन जगमगा नही सकता । नारियो की सकीर्णता का प्रभाव पुरुषो पर भी अत्यधिक पड़ता है और वे उसी की लपेट मे पड़कर साधना विमुख बन जाते है ।

जीवन का गत काल यदि भोग-विलास मे बीत गया और उसमें किसी प्रकार की साधना नही हो सकी तो उसकी चिन्ता मत कीजिये, चिन्ता करिए वर्तमान का जो जीवन शेष है । उसका निश्चय सदुपयोग होना चाहिए । मनुष्य पिछली अवस्था मे जगकर चेतकर भी कल्याण कर सकता है । सभूतिविजय ने अधिकवय मे जीवन के सुख भोगो का त्याग किया और साधना के लिए कृत-सकल्प हुए एव अपने त्यागमय जीवन के कारण सद्गति के अधिकारी बन गए ।

इस तरह के अन्य अनेकों उदाहरण है, जिनसे पता चलता है कि मानव जीवन के निर्माण के लिए समय की बहुलता जितनी आवश्यक नही, उससे अधिक आवश्यक मानसिक एकाग्रता और निश्छलता है ।

जब तक पाप की भारी गठरी सिर पर रहेगी और मन मे उससे कोई झुझलाहट नही आएगी, तब तक सद्गति कैसे सभव है ? शिला का भारी वजन लेकर हिमालय की चोटी पर भले ही कोई चढ़ जावे परन्तु पाप की गठरी लेकर भवसागर के पार जाना संभव नही है । सतों ने कहा है—

नादान भुगत करनी अपनी, ओ पापी पाप मे चैन कहा ।
जब पाप की गठरी शीश धरी, फिर शीश पकड़ क्यो रोवत है ।।

इसीलिए तो सत तुलसी ने भी कहा है कि निर्मल मन से ही ईश की प्राप्ति होती है –

' निर्मल मन जन सो मोहि पावा, मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।

ज्ञान का समुद्र बहुत विस्तृत एव अगाध है और मनुष्य का जीवन सीमित और लघु । वह चाहे तो अनुकूल ज्ञान ग्रहण कर सकता है और अपने जीवन को ज्ञान ज्योति से दीपावली की तरह जगमगा सकता है । जागृत और प्रयत्नशील मनुष्य का कल्याण हुए बिना नही रहता ।

---

[७]

साधना की कला

आत्मा की मलिनता को दूर करने का सबसे बड़ा उपाय भोगो से मुक्त होना है और इसके लिए अनुकूल साधना अपेक्षित है । मनुष्य जब तक सांसारिक प्रपन्च रूप परिग्रह से पिण्ड नही छुड़ाता, तब तक उसके मन मे चंचलता बनी रहती है, भौतिकता के आकर्षण से उसका मन हिलोरे खाते जल मे प्रतिबिम्ब की तरह हिलता रहता है । लालसा के पाश मे बंधा मानव संग्रह की उधेड़ बुन मे सब कुछ भूल कर आत्मिक शान्ति खो बैठता है । अतएव सच्ची शान्ति पाने के लिए उसे अपरिग्रही होना अत्यन्त आवश्यक है ।

अपरिग्रह से मन मे स्थिरता आती है । जैसे गर्म-भट्टी पर चढ़ा हुआ जल बिना हिलाए ही अशान्त रहता है। उसी प्रकार मनुष्य भी जब तक कषाय (विकार) की भट्टी पर चढ़ा रहेगा, तब तक अशात और उद्विग्न बना रहेगा । जल की जलन और दाहकता को मिटाने के लिए उसे गरम भट्टी से अलग रखना आवश्यक है, वैसे ही मनुष्य को भी अपने मन को अशांत स्थिति से निपटने के लिए क्रोध, लोभादि विकार से दूर रहना होगा । जल का स्वभाव ठंडा होता है अतः वह भट्टी से अलग होते ही अपने पूर्व स्वभाव पर आ जाता है, ऐसे ही शान्त-स्वभावी आत्मा भी कषाय-ताप से अलग होते ही शात बन जाता है । कभी-कभी गर्म जलवत् अशान्त मन को शीघ्र ठंडक पहुँचानी हो तो सत्सगति का सहारा भी लिया जाता है, किन्तु कषाय के ताप को दूर कर दिया जाय तो कालान्तर मे आत्मा स्वय शान्ति अनुभव कर लेगी ।

मन मे विकारो के आवेगो को सयमित न करने वाले मनुष्य बड़े-बड़े भयकर हृदय विदारक कुकृत्य कर जाते है । ऐसे उदाहरण नित्य हजारों देखे जाते है, जिनमे मनुष्य दानवता को भी लजाने वाले कारनामो से मानवता को कलंकित करने पर

उतारू हो जाते है । अभी हाल मे ही एक सैनिक ने भ्रमवश अपनी पत्नी को छुरा भोक कर मार डाला । यहाँ दानवता का नग्न रूप और असयम की पराकाष्ठा है ।

मानव के मन मे सद्भावना आए बिना उसके आचरण प्रशस्त नही हो सकते । शास्त्र मे पुण्य सचय के नौ कारण बतलाए गए है जैसे–१ अन्नदान २. जलदान, ३ स्थान-गृहदान, ४ शय्यादान ५, वस्त्रदान ६, मनशुभ, ७ वचनप्रिय, ८. कायिक सेवा और ९, नमस्कार । इनमे मन अशुभ हो तो आठो पाप के कारण हो सकते है और शुभ भाव हो तो आठो पुण्य सचय के कारण बन जाते है । यही कारण है कि सुभावना से किया गया कार्य ही अच्छा गिना जाता है और उसीका फल भी अच्छा होता है । जैसे एक डाकू को सम्पदा प्राप्ति के लिए अन्न दिया जाए तो यह पाप कर्म है क्योंकि दान के साथ सुभावना नहीं है अथवा अन्न-जल देकर किसी डाकू को पकडवा दिया जाय तो भी यह पाप मे ही गिना जायेगा । उद्योग व्यवसाय मे सहायता लेने की दृष्टि से किसी मन्त्री को थैली भेट की जाय या कर से बचने के लिए तत्सम्बन्धी अधिकारी को प्रीतिभोज दिया जाय तो यह स्वार्थ कर्म-पाप है । शुभ-भावना से प्रेरित कर्म ही पुण्य कहा जायेगा अन्यथा पाप की कोटि मे आएगा । तात्पर्य है कि करनी को भला-बुरा बनाने का मापदण्ड मन की भावना है ।

मनुष्य माया से दूर रहकर, दभ का परित्याग कर तथा मान को मन से हटाकर ही सत सेवा का लाभ उठा सकता है । हाथ जोडकर आदर से सत की वाणी सुनना तथा अनुशासन मे रहना यह कायिक उपासना है और सत समागम मे जाकर लोगो के प्रति उद्दण्डता दिखाना, कायिक अपराध है । जिससे सर्वथा बचने मे ही कल्याण है ।

शास्त्र मे कलाचार्य शिल्पाचार्य और धर्माचार्य ऐसे तीन प्रकार के आचार्य बतलाए है । माता पिता या कलाचार्य की उपासना उन्हे अच्छा खिलाना पिलाना नहँलाना एव मालिश आदि से की जा सकती है, पर धर्माचार्य त्यागी होने से गृहस्थ की इन सेवाओ को स्वीकार नही करते । जिन वचनो को जीवन मे उतारना और सद्विचारो का प्रसार करना ही उनकी सही सेवा है । शरीर से अयतना की प्रवृत्ति नही करना, वाणी से हित, मित और पथ्य बोलना एव मन से शुभविचार रखना सेवा है । आनन्द इसी प्रकार प्रभु की त्रिविध सेवा कर रहा था ।

महर्षियो ने सम्यक दृष्टि मे चार भावनाओ का विकास आवश्यक माना है जैसे–१ मैत्री २. प्रमोद ३ करुणा और ४ मध्यस्थता । समस्त प्राणियो के प्रति

मैत्री, दु:खियो के प्रति करुणा भाव, गुणीजनो में प्रमोद और दुर्जनो पर माध्यस्थ जागरण ही सम्यक् दृष्टि है । कहा भी है–

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु दयापरत्वम् ।
माध्यस्थ भावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ।।

आशंकावश प्राणियों को मनुष्य इसलिए मार देता है कि वह किसी को क्षति न पहुँचाए । परिणाम यह होता है कि ऐसे प्राणियो की हिसक वृत्ति बढ़ जाती है और वे पहले से अधिक खूखार होकर मानव समुदाय को सताने लगते है । कुत्ता सताने वाले को देखकर भौकने लगता है और सांप भय की भावना से प्रेरित होकर देखते ही काट लेता है । इसी तरह अन्य प्राणी भी द्वेषवश मानव से हिंसक प्रतिकार के लिए तुल जाते है ।

विचार कर देखा जाए तो इसमे मुख्य दोष मानव का ही है । संसार को कंटक-रहित करने के अभिप्राय से समस्त कांटों को विनष्ट नही किया जा सकता । कांटे और फूल दोनो की अपने-अपने स्थान में उपयोगिता है, वैसे साप, बिच्छु, कुत्ते और कौए आदि निरर्थक जंचने वाले प्राणधारियो का भी उपयोग तथा महत्व है। जो लोग यह समझते है कि हिसक जीवो को मारना तो धर्म है, वे भूल करते है । यदि इसी प्रकार पशु जगत् यह ख्याल करे कि मानव बड़ा हत्यारा और खूंखार है उसे मार भगाना चाहिए तो इसे आप सब कभी अच्छा नही कहेंगे, इसी तरह अन्य जीवो की स्थिति पर भी विचार करना चाहिए। संसार में रहने का अन्य जीवों को भी उतना ही अधिकार है, जितना कि मनुष्यों को। सबके साथ मैत्री बना के रहना चाहिए। अपनी गलती के बदले दूसरो को दंड देना अच्छा नही। इस प्रकार की हिंसा से प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भावना बढ़ती है, जो संसार के लिए अनिष्टकारी है ।

पाप या हिसा करना मनुष्य का मूल स्वभाव या आत्म-धर्म नही है । वह पाप या विकार रूप रोग से ग्रस्त होने के कारण अज्ञानवश पापी या खूनी बनता है। हमें ज्ञान की ज्योति जगाकर उसको सुधारने का यत्न करना चाहिए । यदि पापी हमारे सद्प्रयत्नो से नही सुधर पाता तो भी उसके ऊपर क्रोध न कर मध्यस्थ भाव की शरण लेनी चाहिए । ऐसा शोचनीय व्यक्ति दया का पात्र है, क्रोध का नही । किसी पाप कर्म के कारण किसी भी व्यक्ति को मारने की अपेक्षा उसे समझाना या सुधारने का प्रयत्न करना अच्छा है और यदि प्रयास के बाद भी वह नहीं सुधरे तो तटस्थ भाव को ग्रहण कर लेना चाहिए । क्योंकि समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम मैत्री भाव एव दया ही मानवता का मूलोद्देश्य है ।

भगवान महावीर के सदेश में एक कवि ने ठीक ही कहा है–

घृणा पाप से हो पापी से कभी नही लवलेश ।
भूल सुझाकर प्रेम भाव से, करो उसे पुण्येश ।।

यही है महावीर सन्देश ।

सतो के आश्रय मे नही बोलने की स्थिति मे भी उनके मूक उपदेश चलते रहते है । तप और त्याग के वातावरण मे त्यागी पुरुषो के जीवन का मूक प्रभाव लोगो पर पडता ही रहता है और उनकी जीवनचर्या से भी प्रेरणा मिलती रहती है । जैसे पुष्पोद्यान का वातावरण मन को प्रफुल्लित करने मे परम सहायक होता है वैसे सत सगति भी आत्मोत्थान मे प्रेरणादात्री मानी गई है ।

सतो की वाणी को सुरक्षित रखने के लिए हम सब अपने पूर्वाचार्यों के प्रति अत्यन्त ऋणी है । यशोभद्र एक ऐसे ही आचार्य हुए है । भगवान महावीर के पश्चात् आपने श्रुतज्ञान के बल पर प्रवचन तथा धर्म शासन का रक्षण कर जन समुदाय का विराट उपकार किया । यशोभद्र के चालीस शिष्यो मे सभूतिविजय अग्रगण्य थे जिन्होने ४२ वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ली तथा राजयोगी भर्तृहरि की तरह आदर्श भुक्तभोगी सत निकले । राजा भर्तृहरि ने पिगला सदृश अद्वितीय सुन्दरी रानी एव राज्य सुख पाकर भी असलियत समझ कर क्षण भर मे सबका परित्याग कर दिया। सासारिकता उन्हे अपने बन्धन मे नही डाल सकी और मोह की महिमा गरिमा सब उनके त्याग के सामने ढीली पड गई ।

जिस समय भर्तृहरि राज्यपद एव सुख को अशाति का कारण समझकर तिलाजलि देने लगे तो मन्त्रियो ने उन्हे समझाया कि आप सहसा राज्यपद क्यो छोड रहे है ? आपके मार्ग मे जो बाधा हो उसे ही हटाकर आप सर्वथा निर्विघ्न क्यो नही हो जाते । इस पर भर्तृहरि ने कहा–भोग सब रोग का कारण है ।शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध ये सब सुख के साधन नही है वरन् दुख की सामग्रिया है । इन्ही के द्वारा इन्द्रिया मनुष्य को दुःख पहुँचाती है तथा मन को अशात बनाती है । भूख के रोग मे भोजन का मूल्य है । किन्तु यदि मूल्यवान भोजन अधिक मात्रा मे खा लिया जाय तो निश्चय ही हानिकारक होगा । इसलिए कबीर ने कहा है –

कबिरा काया कूकरी तन से लिवी लगाय ।
पहले टुकडा डालिये पीछे हरि गुण गाय ।।

भर्तृहरि ने भी यह कहते हुए कि –

'सर्व वस्तु भयान्वित, भुवि नृणा वैराग्यमेवाभयम्'

अर्थात् संसार की सभी वस्तुए भयवाली है, केवल वैराग्य ही एक निर्भय पद है । तो मुझे रोग पैदा करके दवा लेने की अपेक्षा, मूल मे रोग का ही सर्वनाश कर देना चाहिए " ऐसा कहकर वे वनवासी हो गए ।

विद्वद्वर सभूति विजय ने भी इसी तरह मान-पूजा और ससार के सुख भोगो को छोड़कर वीतराग का मार्ग ग्रहण कर लिया, निर्ग्रन्थ-मुनि हो गये ।

साधना की मस्ती आते ही साधक मस्त होकर सासारिक बन्धनो को बलपूर्वक तोड़ फैकता है । समुद्र में जिस प्रकार अनन्त नदियां समा जाती है और उसका कुछ पता नही चलता वैसे साधक में ज्ञान की अनन्त धाराएं समाहित हो जाती है । साधक अपने पुरुषार्थ एव साधना के बल से ऊपर उठकर अमर पद प्राप्त कर जीवन को धन्य बना लेता है ।

---

[८]

साधना का चमत्कार

जीवन को ऊँचा उठाने का एकमात्र उपाय सुसाधना है, जैसे नल के द्वारा पानी गगनचुम्बी इमारतो पर पहुँच जाता है वैसे साधना के द्वारा मनुष्य का जीवन महा-उच्च बन जाता है । मगर ज्ञान के अभाव मे साधना की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति नही होती । अत सर्वप्रथम मनुष्य को ज्ञान प्राप्ति मे यत्न करना चाहिए ।

दो तरह से मानव को ज्ञान प्राप्ति होती है एक प्राक्तन सस्कारो से-जिसको बिना गुरु या उपदेश के ज्ञान प्राप्त होता है, उसे निसर्ग कहते है और दूसरे सत्सग से होने वाले ज्ञान को ससर्ग ज्ञान भी कहते है। कहा भी है-'सुच्चा जाणइ कल्लाण, सुच्चा जाणइ पावगं' । सत्सगति भी ज्ञान की प्राप्ति का प्रमुख साधन है । जिसका पूर्व जन्म उल्लेख योग्य नही होता, वह सत्पुरुषो की सगति द्वारा ज्ञान की झलक पा लेता है ।

प्राणिमात्र के हृदय मे ज्ञान का भण्डार भरा है । कही बाहर से कुछ लाने की आवश्यकता नही है, परन्तु निमित्त के बिना उसका पाना कठिन है । सुयोग से किसी विशिष्ट निमित्त के मिलते ही उसका उपयोग लिया जाय तो अनायास प्रकाश प्राप्त हो जाता है । जैसे दियासलाई मे अग्नि सन्निहित है केवल तूली के घर्षण की आवश्यकता है। वैसे ही मानव की चेतना सद्गुरु से घर्षण पाते ही जल उठती है । आवश्यकता केवल शुभनिमित्त पाकर पुरुषार्थ करने की है ।

सामान्यजन की चेतना नाबालिग श्रीमत पुत्र के कोष की तरह है जो अज्ञानता के कारण अपने खजाने को खोल नहीं सकता है । जब किसी योग्य व्यक्ति की सगति से उसका अज्ञान दूर होता है, तब वह खजाने को पा लेता और जीवन को समाल लेता है । ऐसे सद्गुरु की कृपा से जीव भी आत्म-ज्ञान का अखूट खजाना पा लेता है ।

योग्य गुरु के होते हुए भी यदि कोई शिष्य लाभ न ले, पुरुषार्थ न करे तो उसका दुर्भाग्य ही समझना चाहिए । जैसे कि – किसी पण्डितजी के एक दुलारा पुत्र था, पण्डितजी अपने इस लाडले पुत्र को रजाई मे पड़े-पड़े पढ़ाया करते थे । एक बार उनके घर मे एक दूसरे विद्वान पधारे । शास्त्रीजी ने नवागतुक विद्वान से अपने पुत्र की परीक्षा लेने का आग्रह किया । पण्डितजी ने उस बालक की योग्यता के अनुसार दो-चार प्रश्न पूछे किन्तु उसने कोई उत्तर नही दिया । एक दर्शक जो बराबर उस बालक को पढ़ते देखता था, बोला कि पण्डितजी इसको रजाई मे लेटे-लेटे पढ़ाते हैं । अतः आप भी इसको रजाई के भीतर सुलाकर प्रश्न कीजिए और वैसा करने पर वास्तव में बालक ने सभी प्रश्नो का उत्तर दे दिया ।

यह गुदड़ी का ज्ञान था । दुनिया मे हर जगह रजाई कहाँ से मिल सकती है ? यह अभ्यास का प्रशस्त तरीका नही है । इस प्रकार विद्वान पिता को पाकर भी बालक अच्छा नही बन सका । यद्यपि निमित्त अच्छा था, पर विधिपूर्वक पुरुषार्थ नही किया गया । योग्यता होते हुए भी पुरुषार्थ की आग को ढ़क कर रखने से ज्ञान रूपी प्रकाश नही मिलता ।

आनन्द श्रावक ने भगवान् महावीर स्वामी का निमित्त पाकर योग्य पुरुषार्थ किया । उसने प्रभु के मुख से जो कुछ भी सुना उसको शुद्ध मन से ग्रहण कर जीवन में उतारने का यत्न किया, फलतः उसका जीवन सफल बन गया ।

यदि वीतराग की वाणी को सुनकर कोई उसे ग्रहण न करे तो उसकी आत्मा मे बल नही आवेगा, उसमे बुराइयों से जूझने की शक्ति नहीं होगी । ऐसी स्थिति मे समझ लेना चाहिए कि श्रोता मे कुछ मानसिक रोग अवशेष है । सुनी हुई बात को मनन करने से आत्मिक बल बढ़ता है । मनन के बिना सुना हुआ ज्ञान स्थिर नही होता ।

ज्ञान सुनने को यदि खाना कहें तो मनन करना उसको पचाना है । मनुष्य कितना ही मूल्यवान एवं उत्तम भोजन करे पर यदि उसका पाचन नहीं करे तो वह बिना पचा अन्न, अनेक प्रकार की व्याधियों का कारण बन जाता है । यदि गाय, भैस खाकर जुगाली न करे तो वह अच्छा दूध नही देगी ।

इस प्रकार सतगुरु की सगति से जीवन मे परिवर्तन लाना हो तो श्रवण के पश्चात् मनन करना होगा । क्योंकि रुचि ही सत्वृत्ति का प्रमुख कारण है, जैसे भूखा व्यक्ति भोजन की ओर अभिरुचि और प्रवृत्ति रखता है, वैसे साधक की रुचि साधना की ओर रहती है । वह इस पथ पर सहज भाव से प्रसन्नता पूर्वक बढ़ता और क्रमशः बढ़ता ही जाता है, जब तक कि मंजिल पर नही पहुँच जाता ।

जीवन निर्माण की दिशा म मात्र सत्पुरषो के गुणगान से ही आत्मा लाभ प्राप्त नही कर पाता, इसके लिए करणी की भी आवश्यकता है और गुणीजना को भी केवल अपनी प्रशसा भर से वह प्रमोद नही प्राप्त होता जो कि उनकी कथनी को करनी का रूप देने से होता है। समझिए किसी दुकानदार के पास ऐसा ग्राहक आवे जो सभी वस्तुओ को अच्छी तो बतावे पर कुछ भी खरीद नही करे तो क्या दुकानदार लाभ समझेगा ? ऐसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी ऐसे भक्त जो उपदेशो की बहुत प्रशसा कर किन्तु ग्रहण कुछ न करे तो उनका कोई भी महत्व नही है।

जैसे जीवन निर्वाह के लिए हर एक व्यक्ति कुछ न कुछ धन्धा करता है और उसमे यथा योग्य सफलता भी पा लेता है वैसे आत्म-बल की वृद्धि के लिए भी प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ करना चाहिए। मन वाणी और काया की साधना करने से सहज ही आत्मा की शक्ति बढेगी, यश प्राप्त होगा और समाज मे सम्मान और सुख मिलेगा।

ससार मे दूसरे की अच्छाई, कीर्ति और भौतिक उन्नति देखकर ईर्ष्या करने वालो की कमी नही है। यह एक मानसिक दोष है और यदि इसका निराकरण करने के लिए मन पर नियन्त्रण कर तो आत्मिक बल बढ सकता है। असद् विचारो को रोक कर कुशल मन की प्रवृत्ति करना यह मन का धर्म है। असत्य कटुक और अहितकारी वाणी न बोलना यह वाणी की साधना है। वाणी का यदि इस तरह दुरुपयोग रोक कर भगवद् भक्ति की जाय तो इससे भी आत्मिक लाभ होगा। मन और वाणी की साधना के समान तन की साधना भी महत्त्वपूर्ण है। तन को हिसा, कुशील आदि दुर्व्यवहारा से हटाकर, सेवा, सत्सग और व्रत आदि मे लगाना, कायिक साधना है। ये सभी साधनाए साधक को ऊपर उठाने म सहायक होती हैं। गरीब मनुष्य भी इस प्रकार मन, वचन, और काया के तीन साधनो से धर्म कर सकता है।

साधना की सामान्यतः तीन कोटिया है–

१. समझ को सुधारना–साधक का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह धर्म को अधर्म तथा सत्य को असत्य न माने। भगवान् की भक्ति करे। देव, अदेव और सत-असत को पहचानना भी साधको के लिए आवश्यक है।

शास्त्र मे देवा के पाच भेद किए है – १. द्रव्यदेव, २. नरदेव,३. धर्मदेव ४ भावदेव, और ५. देवाधिदेव। ज्ञान का आदान-प्रदान करने एवं सदाचरण के कारण ब्राह्मणो को भी भूदेव कहा गया है। चक्री राजाओ को नरदेव तथा सतो को धर्मदेव कहा है। भावदेव चार प्रकार के है। देवगति म जाने वाला द्रव्यदेव है। इस सब म साधक के लिए केवल वीतराग देवाधिदेव ही वदनीय है। अतः किसी

तमोगुणी या सरागी देव की वदना से बचना चाहिए । हमें किसी का तिरस्कार नही करना है किन्तु वस्तु का सही रूप तो देखना ही होगा । यही सुदृष्टि वाले का काम है । यों तो सम्यग्दृष्टि कीट-पतगो से भी मित्रवत् व्यवहार करता है, फिर किसी देव-देवी के तिरस्कार की तो बात ही क्या ? मगर सरागी देव को अपना मित्र समझेगा, आराध्य देव नही ।

इस प्रकार धर्म-अधर्म और पूज्य-अपूज्य का उचित विवेक रखकर चलना सम्यग्दृष्टिपन है । पाप नही छोड़ने की स्थिति में भी उसे बुरा मानना और छोड़ने की भावना रखना साधना की प्रथम श्रेणी है ।

२. देश विरति या अपूर्ण त्याग—जो श्रमण धर्म को ग्रहण कर पूर्ण त्याग का जीवन नही बिता सकते, वे देश विरति साधना को ग्रहण करते है, इसमें पापों की मर्यादा बाधी जाती है । सम्पूर्ण त्याग की असमर्थता मे आंशिक त्याग कर जीवन को साधना के अभिमुख करना, देश विरति का लक्ष्य है ।

३. सम्पूर्ण त्याग – पूर्ण त्याग का मार्ग महा कठिन साधना का मार्ग है । इस पर चलना असि पर चलने के समान दुष्कर है इस साधना मे पूर्ण पौरुष की अपेक्षा रहती है । संसार मे सब कुछ है किन्तु उसको ही वह मिलता है, जिसमें उसके ग्रहण की क्षमता होती है । रत्नाकर के पास पहुँच कर भी मनुष्य अपनी शक्ति से अधिक लाभ नही उठा सकता । तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है –

कर्म कमण्डलु कर लिए, तुलसी जहं तहं जात ।
सागर सरिता कूप जल, अधिक न बूंद समात ।।

यह निश्चित है कि जितना अन्तःकरण में बल होगा, उतना ही आत्मिक गुणों को मानव अपना सकेगा ।

यह सच है कि सांसारिक वासना का सर्वथा त्याग कोई आसान और सरल बात नही है । बड़े-बड़े मजबूत मन वाले भी मोह के वशीभूत होकर हार जाते है । संसार मे प्राणीमात्र को वासना ही भटकाती है । यह कभी रुलाती और कभी हसाती है । प्रतिक्षण चचल बनाए रहती है । मगर इसका यह मतलब नहीं कि वासना की भट्टी में मन को अहर्निश जलने के लिए छोड़ दिया जाय । आग हर घर में जलाई जाती है । और कम से कम दो बार उसकी पूजा होती है किन्तु अत्यावश्यक वस्तु होते हुए भी वह गफलत से इधर-उधर खुले स्थान में नही छोड़ी जाती । अगर उसे यो खुली छोड दें तो उसका परिणाम घातक सिद्ध होगा । अतएव सुविधा भी रहे और घातक परिणाम भी न हो इसके लिए आग को नियन्त्रित रखना पड़ता है ।

वैसे ही हिसा आदि दुर्वासना की आग को भी नियन्त्रित रखना आध्यात्मिक जीवन रक्षण के लिए आवश्यक है ।

ससार परिवर्तनशील है यहाँ हर क्षण परिवर्तन होता रहता है । रीति रिवाज भी समय समय पर बदलते रहते है रहे है, और रहेगे । मगर धर्म के सिद्धान्तो मे कभी कोई परिवर्तन नही होता । सत्य, अहिसा आदि धर्म की बाते सदा ऐसे ही स्थिर रहेगी । उन पर देश और काल का कोई प्रभाव नही पडता । ऋषि मुनियो का अनुभव जन्य ज्ञान जो शास्त्रा मे सकलित है, आज हम सब के लिए वह धर्म ग्रहण मे परम सहायक बना हुआ है । उसके आधार पर हम तप-त्याग रूपी साधना म प्रवृत्त होते और उसे जीवन निर्माण मे उपयोगी मानते है । क्योकि त्यागियो का आचरण साधना पथ का सबल माना जाता है ।

आपके सामने तपःपूत पूर्वाचार्यों के बहुत से उदाहरण है जिनमे एक पूर्ण त्यागमय जीवन व्यतीत करने वाले महामुनि यशोभद्र के शिष्य सभूति-विजय भी है उनके समय मे जैन सप्रदाय की श्वेताम्बर तथा दिगम्बर शाखाए नही थी आज की तरह विभिन्न फिरकाबन्दिया की तो बात ही क्या ? आपके उत्तराधिकारी भद्रबाहु स्वामी हुए । छात्र या शिष्य भी दो प्रकार के होते है एक जल मे घृत बिन्दु सम, दूसरा तेल बिन्दु सम । भद्रबाहु जल मे तेल-बिन्दु के समान प्रसरणशील बुद्धि वाले थे । भद्रबाहु को उत्तराधिकारी बनाने से उनके दूसरे शिष्य वराहमिहिर को बडी ईर्ष्या हुई क्योकि वे अधजल गगरी के सदृश थे और भद्रबाहु भरे घडे की तरह गभीर । ईर्ष्या वश वराहमिहिर साधु मण्डली से अलग हो गए और ज्योतिष-शास्त्र के सहारे अपना प्रभाव विस्तार करते हुए पाटलिपुत्र के नये राजा नन्द के राजपुरोहित नियुक्त हो गए। इस प्रकार क्रोध ने एक तपोधनी तपस्वी को सासारिक उलझन मे उलझा दिया ।

सौभाग्यवश राजा को एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ । वराहमिहिर ने बालक की जन्म कुण्डली बनाकर उसे शतायु एव पुण्यात्मा बतलाया । राज दरबार मे सभी लोग मगल कामना के लिए पहुँचे । महामुनि भद्रबाहु भी पाटलिपुत्र के पास ही कहीं अपनी साधना मे लगे हुए थे किन्तु वे इस खुशी के अवसर पर राजदरबार मे नही गए। इस प्रसग को पाकर वराहमिहिर ने राजा को भद्रबाहु के विरुद्ध भडकाया जिससे राजा भी उन पर रुष्ट हो गए । महामन्त्री शकटार ने भद्रबाहु क न आने का हेतु बतलाते हुए राजा स निवेदन किया कि गुरुदेव कीट स कुजर तक सभी प्राणियों पर दया करने वाले हैं फिर वे आप से भला द्वष कैसे रखेगे ? निश्चय ही उनके न आने का कोई दूसरा ही कारण है । मगर राजा इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ ।

आखिर शकटार भद्रबाहु के पास आया और उनकी सेवा मे सारी बाते निवेदन कर दी और साथ ही यह भी अनुरोध किया कि यदि आप राज दरबार मे मगल-कामना के हेतु जल्द नही पधारेंगे तो हमारा बुरा होगा । यह सुनकर भद्रबाहु ने कहा "बालक सात दिनों के बाद ही बिड़ाली के मुख से चोट खाकर मर जाएगा, अतः आज न जाकर हमने एक बार ही जाने का सोचा है ।" शकटार ने गुरुमुख से सुनी बात राजा को कह दी । दो प्रकार के निर्णय से राजा विचार मे पड़ा और उसने समस्त नगर की बिल्लियो को निकलवा दिया ।

सयोगवश सात दिन के बाद बालक का स्वर्गवास हो गया । क्योकि धाई के प्रमाद से एक बिडालमुखी अर्गला उस बालक पर गिर पड़ी । इस घटना से राजा बहुत दुःखी हुआ । भद्रबाहु ने राजदरबार मे जाकर राजा को सान्त्वना दी । राजा ने भद्रबाहु का बड़ा आदर किया और उनके त्याग, सत्य एव ज्ञान पूर्ण जीवन से बड़ा प्रभावित हुआ । वराहमिहिर इस घटना से बहुत क्षुब्ध हुए तथा उनके हृदय मे प्रतीकार की भावना प्रदीप्त हो गई मगर भद्रबाहु ने उस पर कुछ भी ध्यान नही दिया और अपनी साधना मे लीन रहकर शान्त मन से आत्म-कल्याण करने लगे । वास्तव मे ज्ञानीजीवन सागर की तरह गम्भीर और मेरु की तरह अचल होते है ।

यदि हम भद्रबाहु के समान धर्म मार्ग मे दृढ़ रहकर आत्म साधना करेंगे तो निश्चय ही आत्मा का कल्याण होकर रहेगा ।

---

[९]

दु:ख मुक्ति का उपाय

साधक जब ज्ञान का प्रकाश पा लेता है तब वह भौतिकता के सारे लुभावने आकर्षणो से दूर हट जाता है । किन्तु जैसे दीपक का प्रकाश हवा से झिलमिला जाता है वैसे ही ज्ञान का प्रकाश भी बाधक तत्वो से कभी विचलित हो सकता है और उस समय ज्ञान की ज्योति मे मन्दता भी आ सकती है ।

सत्पुरुषो ने अनुभव किया कि मानव मन मे ज्ञान की ज्योति अखण्ड रहे, इसके लिए निरन्तर सत्सग, स्वाध्याय और साधना की स्नेह धारा चलती रहनी चाहिए, ताकि मोह के झोको मे उसका ज्ञान-प्रदीप बुझ न जाए । आचार्य भद्रबाहु ने कहा है –

जीवो पमायबहुलो बहुसोऽवि य बहुविहेसु अत्थेसु ।
एएण कारणेण, बहुसो सामाइअ कुज्जा ।।

जीव प्रमाद बहुल होने से योग्य सत्सग के अभाव मे चटपट ही इधर-उधर भटक जाता है किन्तु सत्सग और स्वाध्याय मे शास्त्रो का परिशीलन होने से ज्ञान का प्रकाश क्षीण नही होता । सत्सग और शास्त्र निमित्त है, जो सद्विचारो को जागृत करते है, एव जीवन सुधार मे प्रेरणाभूत बनते है । मगर जीवन का ऊचा उठना साधक के पुरुषार्थ पर ही निर्भर है । जिसमे स्वय का बल नही होगा, निमित्त उसको लक्ष्य पर नही पहुँचा सकता ।

यह ससार आकर्षणो का भण्डार है जिसमे भाँति भाति के आकर्षण भरे पडे है किन्तु उनमे कनक और कान्ता रूप दो प्रमुख आकर्षण है । इनके प्रभाव से बचना कोई आसान नही है । मनुष्य वनराज के भीषण प्रहार से कदाचित् आत्म-रक्षा कर सकने मे सफल हो सकता है मगर इन दो के आगे धैर्य बनाए रखना परम साहस का काम है । कनक और कामिनी की नीव पर आधारित परिवार भी कोई

साधारण उलझन का स्थान नही हे । जाले की मकड़ी की तरह एक वार इसमे फस जाने पर जल्दी निकलना भारी पड़ जाता है । भाति-भाति के मोह तन-मन को इस प्रकार घेर लेते है कि आत्म-साधना की ओर ध्यान ही नही जा पाता ।

साधक आनन्द के सामने भी ये सारे लुभावने आकर्षण थे , फिर भी उसने सयम का परित्याग नहीं किया और भोग के लिए कभी व्याकुल नही वना । वह दंपति सम्वन्ध को साधना में भी परस्पर के लिए सहायक मानता था । भोगों के वीच में रहकर भी वह जल मे कमल-पत्र की तरह निर्लेप रहा । उसका लक्ष्य भोग से बदल कर योग बन गया था ।

भगवान् महावीर की सेवा मे पहुँच कर आनन्द ने उनसे प्रार्थना की कि भगवन् ! वे पुण्यशाली धन्य है, जो आपकी सेवा मे पूर्ण त्याग की दीक्षा ग्रहण करते हैं, पर मेरी शक्ति नही है कि मै इस समय सर्वथा आरभ-परिग्रह का त्याग कर दू । मै आपकी सेवा में गृहस्थ के पाच मूल-व्रत, तीन गुण-व्रत और चार शिक्षा-व्रत धारण करना चाहता हूँ । स्थूल हिंसा, बड़ा झूठ और वड़ी चोरी का त्याग एव स्वदार सतोष की तरह पाचवे व्रत में उसने इच्छा का भी परिमाण किया ।

आनन्द की तरह प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन में संयम का अभ्यास करे और विषयराग को मर्यादित बनाए । कारण, बिना मर्यादित जीवन के मानव को शान्ति प्राप्त नही हो सकती । तृष्णा की प्यास असीम होती है, यह बड़वानल की तरह कभी शान्त नही हो पाती । ससार की समस्त सम्पदा और भोग के साधन पाकर भी मनुष्य की इच्छा पूरी नही होती । क्योंकि शास्त्र मे —'इच्छा हु आगास-समा अणंतिया' इच्छा को आकाश के समान अनन्त कहा है । लोक भाषा के किसी कवि ने ठीक कहा है—

जो दस बीस पचास भए, शत होय हजार तो लाख मंगेगी,
कोटि अरब्ब खरब्ब असख्य, धरापति होने की चाह जगेगी ।
स्वर्ग पाताल को राज मिले, तृष्णा तबहूं अति लाग लगेगी,
"सुन्दर" एक संतोष विना शठ, तेरी तो भूख कभी न भगेगी ।।

एक बालक नंगे बदन जन्म लेता है, धीरे-धीरे उसके पास दो-चार रुपये जमा होते है और वह चाहता है कि इसी तरह कुछ आता रहे तो अच्छा । इस तरह लाखों अरबो की सम्पदा मिलने पर भी उसे संतोष तृप्ति और शान्ति नहीं मिलती, मन की भूख बढ़ती ही जाती है । इसलिए ज्ञानियो ने कहा है कि तृष्णा और लालसा को सीमित करो । यदि लोभवश इसे सीमित नही करोगे तो वह मन को सदा आकुल व्याकुल बनाए रखेगी ।

अन्न और धन की कोठी भरी जा सकती है परन्तु पेट की तरह तृष्णा कभी भरी नहीं जा सकती । अनुभवियो ने सात बडी खाडे बताई है । जैसे–१ पेट की खाड, २ श्मशान की खाड ३ समुद्र की खाड, ४ राज खजाने की खाड ५, अग्नि की खाड, ६ आकाश की खाड और ७ तृष्णा की खाड । ये कभी भरी नही जा सकती । इनमे सबसे बडी तृष्णा की खाड होती है । इस सम्बन्ध की एक कहानी पढने योग्य है–

किसी नगर मे एक सत्कर्म प्रेमी भक्त गृहस्थ रहता था, जो धन की दृष्टि से बहुत पिछडा हुआ था । और तो क्या धनाभाव मे कुलीनो की तरह उसका आहार भी पूरा नही पडता था । इससे उसका मन अशान्त और चचल बना रहता था । सत्सगति और भक्ति के स्थान मे भी उसके मन को शान्ति नहीं मिल पाती फिर भी श्रद्धा से वह सत्सग मे अवश्य जाता था ।

सयोगवश एकदा उस नगर मे एक महात्मा पधारे । महात्मा का प्रवचन आकर्षक और प्रेरणादायक था, जिससे प्रवचन सुनने के लिए उनके पास बहुत से लोग आया करते थे । वह भक्त भी सत्सग का लाभ लेने के लिए नित्य महात्मा के पास आने लगा । एक दिन प्रवचन के पश्चात् वह अवसर पाकर ठहर गया और महात्माजी से अपनी सारी राम कहानी कह सुनायी तथा बोला कि महाराज । मन को साधना मे लगाने का बहुत प्रयत्न करता हूँ किन्तु मन मे बिलकुल शान्ति नहीं रहती ।

आँसू भरी आँखो से उसने अपने घर की आर्थिक परिस्थिति का ऐसा करुण चित्र खीचा कि महात्माजी दया से द्रवित हो उठे और उसकी हथेली पर एक का अक बना दिया । उस दिन उस भक्त को व्यापार मे शीघ्र ही एक रुपया मिल गया। इससे उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति कुछ और अधिक जागृत हुई और वह महात्माजी की भक्ति म खूब जोर लगाने लगा । उसकी बढती भक्ति से प्रसन्न होकर महात्मा ने उसकी हथेली म एक के सामने एक शून्य बढा दिया । उस दिन भक्त को दस रुपये मिले जिससे बडी प्रसन्नता हुई ।

कुछ दिन बाद महात्मा ने उसको पूछा–बोलो भक्त क्या बात है ? उसने कहा–महाराज ? कुछ कर्ज टिका हुआ है और करने के आवश्यक काम तो सिर पर यो ही पडे हुए है । महात्मा ने उसकी हथेली म एक शून्य और बढा दिया जिसस भक्त की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो गई । अब प्रतिदिन एक सौ की आमदनी होने लगी । महात्मा ने फिर पूछा तो बोला–अभी लडकी का ब्याहना है । महात्मा ने एक बिन्दी और बढा दी जिसस उसे हजार रुपये की नित्य आय होने लगी । अब तो उसे व्यापार स अवकाश ही नही मिलता । उसका व्यापार बहुत विस्तृत हो

गया और हर तरफ से आमदनी के साथ खर्च भी वढ़ने लगा। घर पर गाड़ी-घोड़े और चिट्ठी पत्री आती-जाती रहती। भक्त व्यापर की धुन मे दिन-रात मस्त रहकर बाबाजी के पास तीन की जगह दो बार ही जाने लगा। महात्माजी ने उसकी हथेली में एक बिन्दी और बढ़ा दी। फिर तो क्या था, हजार से वढ़कर उसकी आमदनी प्रतिदिन दस हजार हो गई और वह इससे भी अधिक के लिए व्यस्त रहने लगा। एक रोज बाबा ने एक बिन्दी और बढ़ा दी जिससे उसकी दैनिक आमदनी एक लाख की हो गई।

वह अपने व्यापार में इतना उलझ गया कि महात्मा के दर्शनो को जाना भी भूल गया। सत्संग और कथा श्रवण की तो बात ही क्या ? अब नित्य आने वाले भक्त के महात्माजी को दर्शन नही होने लगे। महात्माजी ने समझ लिया कि माया ने अब भली-भांति भक्त को घेर लिया है और उससे अव वह निकल नहीं सकता। निदान एक दिन महात्माजी स्वय उस भक्त के द्वार पर पहुँचे और पूछा कि क्या बात है, जो अब प्रवचन सुनने नही आते हो ? भक्त ने निवेदन किया कि महाराज! बहुत परेशानी रहती है। व्यापार धन्धो से अवकाश ही नही मिलता। अतः चाहकर भी आपकी सेवा मे नही पहुँच पाता। बाबा ने भक्त को पास बुलाया और कहा कि घबराओ नही, मै पलभर मे तुम्हारी सभी परेशानी मिटा दूगा, यह कहकर उन्होने उसकी हथेली पर के एक के अंक को मिटा दिया। परिणामतः व्यापार की हालत खराब हो गई और नित्य प्रति के भयंकर घाटे से उसका कामकाज बन्द हो गया। इस प्रकार उसकी सारी परेशानी अनायास ही मिट गई।

भक्त सिह से फिर चूहा बन गया था। अब उसे दिन भर पहले की तरह अवकाश ही अवकाश था। बीच मे माया से जो बैचेनी बढ़ गई थी वह माया के जाते ही सारी की सारी कूच कर गई।

सामान्यतः यही स्थिति साधारण मानवों की होती है। वे लाभ की दशा मे बेभान अथच बेचैन हो जाते हैं। खाना-पीना, सोना, आराम करना आदि शारीरिक सुविधा का भी जब ख्याल नहीं रहता तो आत्मिक सुधि और साधना की तो बात ही क्या ?

किन्तु याद रखना चाहिए जैसे घृत की आहुति से आग नहीं बुझती वैसे धन की भूख धन से नही मिटती है। तन की भूख तो पाव भर अन्न से मिट जाती है किन्तु मन की भूख असीम है। उसकी दवा त्याग और सतोष के पास है, धन या तृष्णा के पास नही। यदि मनुष्य इच्छा को सीमित करले तो सघर्ष के सब कारण आप से आप समाप्त हो जाएगे, विषमता टल जायेगी, वर्गभेद मिट कर शान्ति और आनन्द की लहर सब और फैल कर यह पृथ्वी स्वर्ग के समान बन जाएगी।

मानव जन्मते समय कुछ भी साथ लेकर इस वसुधा पर नही आता । किन्तु विना साधन के आने पर भी जीवन की सभी आवश्यक सामग्री उसे उपलब्ध होती रही है । माँ का मीठा ताजा दूध, स्वच्छ हवा, प्रियजनो का प्यार एव प्रकृति की अन्य सुविधा का पूर्ण लाभ उसे मिलता रहता है । जन्म से नगा मानव होश म आकर विविध साज-श्रृगारो से अपने जीवन को सजाता और मरकर भी कफन से तन ढक कर ही चिता पर चढता है । आवश्यकता की पूर्ति के लिए कर्मानुसार सवको मिलता है । हाँ—लाभ मे पुण्य का बल अवश्य अपेक्षित है । वस्तुतः मनुष्य जव सहज रूप से अपना जीवन निभा सकता है तो वैभव के लिए दुर्गुण अपनाने की क्या आवश्यकता है ?

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

ग्रामे ग्रामे कुटी रम्या निर्झरे निर्झरे जलम् ।
भिक्षाया सुलभ चान्न, विभवै कि प्रयोजनम् ।।

आज के मनुष्य ने अपनी करनी, योग्यता तथा भगवान पर से विश्वास उठा लिया है उसीका परिणाम यह विस्तृत दुःख और दारिद्र्य है ।

वह सोचता है - आज खाने को है कल न रहा तो ·· । आज स्वस्थ है कल बीमार पड गये तो ·· ···। इसी प्रकार हर वात के लिए तो' का शकास्पद प्रश्न मन मे उठता रहता है और मनुष्य इसी शका के चक्कर मे पडकर हरक्षण अशान्त एव दुःखी वना रहता है ।

आत्म-साधना मे तर्क और शका को हटाना ही श्रेयस्कर है । सत्य और विश्वास के वल पर चला हुआ हर कार्य सुखदायी होता है, जो मनुष्य जीवन के लिए अपेक्षित है । आज मानव दुर्बलता से घिरा हुआ है । दुर्बलताओ को मन से निकाले विना उसे सच्ची शान्ति नही मिल सकती ।

ससार मे उनका ही जीवन महत्वपूर्ण है, जिनके मन मे रचमात्र भी सशय या शका नहीं होती तथा जो प्रण पर अपने प्राण को न्यौछावर करने की हिम्मत रखते है । देखिए अनुभवी पुरुषो ने जीवन की परिभाषा करते क्या कहा है —

जगत मे उनका जीवन जान ।
जिन्हे न होती शक रच भी प्रण पर देते प्राण ।
जो क्षत खाकर भी करते है औरो का उत्थान ।जगत।

इतिहास और धर्म-शास्त्र उनकी यशोगाथा गाता है तथा प्रेमभरे हृदय से उनका सम्मान करता है, जो जीवन मे आत्म-विश्वास उत्पन्न कर राग रहित हो गए है। आत्म-विश्वास से असभव कार्य भी सुगम और सभव हो जाते है और साधना ही आत्म-विश्वास जगाकर साधक को परम-पद पर पहुँचाने की क्षमता रखती है, यह सत्य एव निश्चित है । ऐसा समझ कर निःशंक मन से साधना करेंगे तो कल्याण ही कल्याण है ।

---

[१०]

अहिसा का आलोक

अनन्त-काल से ससार का प्राणी कर्मपाश मे वधा हुआ है । जिससे वह अपने ज्ञानादि गुणो का पूर्ण प्रकाश नही फैला सकता । कर्म बन्ध की अनादिता से प्रश्न होता है कि जब कर्म अनादि है तो फिर मनुष्य की मुक्ति कैसे हो ?

यहाँ समझने की बात है कि सम्बन्ध दो प्रकार के होते है एक सयोग सम्बन्ध और दूसरा समवाय सम्बन्ध । एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ सम्बन्ध अथवा आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध यह सयोग सम्बन्ध है और आत्मा का ज्ञान आदि निज गुण के साथ सम्बन्ध समवाय है इसमे से पहले का सम्बन्ध अनादि होकर भी सान्त है जबकि दूसरे का अनादि अनन्त सम्बन्ध है न उसका सयोग है और न वियोग ।

किसी को यदि योग्य निमित्त मिल जाय और उसमे उचित पुरुषार्थ हो तो आत्मा के साथ जो कर्म का सम्बन्ध है उसका वियोग भी कर सकता है । जैसे सुवर्ण और धूलि का सम्बन्ध अनादि से होने पर भी रासायनिक प्रयोग से सोना शुद्ध होता है । मिटटी मे मिला हुआ भी जल शुद्ध किया जाता है वैसे ही आगतुक कारणो को रोक कर कर्म का भी अन्त किया जाता है । कर्म भी प्रवाह की अपेक्षा अनादि और स्थिति की अपेक्षा सादि है । जैसे छने जल के पात्र को ढक दिया जाय तो नया मैल नही आता फिर वाष्प नलिका मे फिल्टर कर उसे पूर्ण शुद्ध कर लिया जाता है । ऐसे ही व्रतो के द्वारा पापो का आगमन रोक कर तप एवं ध्यान से कर्म मल का सर्वथा अन्त भी कर लिया जाता है ।

कर्म के अणु ससार मे चारो ओर भरे पडे है जब आत्मा उन्हे ग्रहण करती है तो व उस-उस परिणति के अनुकूल फल देते है जैसे भादादेवा मे आकर कोई भग पी लेता है तो उसके दिल-दिमाग सब मस्ती से आवृत्त होकर कुछ और ही

रूप हो जाते है । धीरे-धीरे उपचारो से वह प्रभाव मिटकर मन स्वस्थ होता है । जैसे भग के परमाणु स्वय के द्वारा ग्रहण करने पर ही दु.ख देते है, वैसे कर्म परमाणु भी अपने द्वारा ग्रहण किए जाने पर ही दुःखदायी होते है ।

कर्म बन्ध से वचने का उपाय साधना है जो दो प्रकार की है, एक साधु मार्ग की साधना और दूसरी गृहस्थ धर्म साधना । दोनो में अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच व्रतो के पालने की व्यवस्था की गई है । साधु-मार्ग की साधना महा कठोर और पूर्ण त्याग की है किन्तु गृहस्थ की धर्म साधना सरल है। गृहस्थ के व्रत में मर्यादा होती है । आनन्द की साधना भी देश साधना है । उसने श्रावक धर्म को स्वीकार करते हुए सर्व प्रथम स्थूल हिसा का त्याग किया जो सावना पथ की सवसे वड़ी वाधा है ।

ससार में जीवन निर्वाह करते हुए शरीर धारी के सम्मुख हिसा के अवसर आते रहते है । ऐसी स्थिति मे अहिसा व्रत का निर्वाह कैसे किया जाय ? इस प्रकार आनन्द के द्वारा पूछे जाने पर प्रभु ने वतलाया कि हिसा के दो भेद है :– एक स्थूल हिसा और दूसरी सूक्ष्म हिसा । सूक्ष्म हिसा के अन्तर्गत निम्न पांच वाते आती है – १-पृथ्वी काय के जीवो की हिसा, २-जलीय जीवों की हिसा, ३-अग्नि के जीवो की हिसा, ४-वायु के जीवो की हिसा, ५-वनस्पति के जीवो की हिसा । गृहस्थ के लिए दैनिक व्यवहार मे इनका सर्वथा त्याग सभव नही । फिर भी विवेकी को इसके लिए ध्यान रखना चाहिए, यह सूक्ष्म हिंसा है । किन्तु दूसरी स्थूल हिसा जिसमें एक कीट से लेकर पशु पक्षी और मनुष्य तक सारे चर प्राणी आ जाते है, श्रावक को स्थूल रूप मे चलने-फिरने वाले जीव जन्तुओ की जान-बूझकर दुर्भाव से हिसा नही करनी चाहिए । आनन्द ने ऐसी प्रतिज्ञा कर ली ।

साधु या व्रती से पाप हो सकता है परन्तु उसका संकल्प है कि जान-बूझकर पाप नही करना । पाप का हो जाना और पाप करना ये दो भिन्न-भिन्न वाते हैं । करने मे मन की प्रेरणा होती है और होने मे मात्र काय चेष्टा । यदि हमारे व्यवहार से किसी के हृदय पर ठेस लग गई और उससे क्षमा मागकर परिशोधन कर लिया तो वह शान्त हो जायगा और यदि अनायास ही किसी को पीड़ा पहुँच जाय तो यह जान-बूझकर पीडा न पहुँचाने के कारण क्षम्य है किन्तु ककर की चोट भले ही कम हो, पर जानबूझकर मारने वाले को आप कड़ी दृष्टि से देखते है । किन्तु अनजाने मिलने वाली पीड़ा को भी क्षमा की नजरो से देखते है ।

हर प्राणी को अपनी जान प्यारी होती है, अतएव हिसा से वचना हर मानव का परम पुनीत कर्तव्य है । कवि ने ठीक ही कहा है–

प्रथम तो प्रिय धन सब ही को द्रव्य से सुत लागे नीको ।
पुत्र से वल्लभ तन जानो, अग म अधिक नयन मानो ।।

दोहा – *नयन आदि सब इन्द्रियन, अधिक पियारे प्राण ।*
या कारण कोई मत करो, पर प्राणन की हान ।

बुरी है जग मे बेईमानी दयापालो बुधजन प्राणी ।
स्वर्ग अपवर्ग सौख्यदानी ।

जीव को अपना जीवन सबसे प्यारा होता है । अपनी जानके आगे वह किसी की भी परवाह नही करता ।

एक जगह की बात है कि एक सेठजी को चौथेपन मे पुण्य योग से एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ । पुत्र का बडे ठाठ से लालन-पालन हुआ । एक दिन सेठ कहीं बाहर गए हुए थे कि उनके घर मे अचानक आग लग गई और बच्चा घर के भीतर पालने मे ही रह गया घर के सब लोग जल्दी मे बाहर हो गए । बच्चे की याद आयी तब तक तो घर मे चारो ओर आग फैल गई थी और जोरो की ज्वाला निकल रही थी ।

जब सेठ को पता चला तो उसने, बच्चे को बचाने के लिए बहुत धन देने का निर्णय किया, किन्तु धन के लिए जान पर खेलने वाला व्यक्ति उस जगह नही मिल सका । सेठ बच्चे के लिए छाती पीट कर रो रहा था । सेठ की व्याकुलता देख कर किसी व्यक्ति ने कहा कि सेठजी ! स्वय ही भीतर जा कर बच्चे को क्यो नही निकाल लाते हो ? यह सुनकर सेठजी बोले कि यदि बचाने के बदले मैं स्वय जल जाऊं तो……। यदि मै ही नही रहा तो पुत्र-मुख दर्शन का सुख कौन देखेगा? नीति मे भी तो कहा है –

आत्मान सतत रक्षेत्, दारैरपि धनैरपि

इस दृष्टान्त से तात्पर्य यह है कि सम्पदा, और पुत्र आदि से, हर एक मनुष्य को अपना जीवन अधिक प्यारा है । अतः आत्मवत् मान कर किसी के भी प्राण को खतरे मे डालना महान् घातक व बडा पातक है ।

हिंसा करने वाले मनुष्य को हमेशा चिन्तित रहना पडता है । सताए गए व्यक्ति से प्रतीकार पाने की भावना भी मन को कचोटती रहती है । क्योकि हिंसा प्रति हिंसा को उत्पन्न करती है जो मनुष्य के लिए चिन्ता का कारण है । आप जानते हैं एक साधारण व्यक्ति कहीं भी स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण कर सकता है । उसे किसी भी बात की चिन्ता नही रहती किन्तु देश के प्रधानमन्त्री या बडे-बडे पदाधिकारी

अकेले नही घूम सकते । उनके मन मे शका लगी रहती है, मगर जिसके मन में अहिसा की भावना है, वह अकेले भी जगत् मे घूम-फिर सकता है । गाधीजी हिन्दू-मुस्लिमदगे के समय मे भी नोआखाली आदि पाकिस्तानी क्षेत्रो मे घूम गए । कारण स्पष्ट है कि उनके मन मे अहिंसा की पवित्र भावना थी, अतः वे सर्वत्र निर्भय रहते थे ।

आचार्य पातंजलि ने योग दर्शन मे साधना के मार्ग मे यम का लक्षण बतलाते हुए कहा है–'अहिसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः ।' फिर अहिसा की महिमा बताते हुए आप कहते है कि जिसके मन में अहिंसा की प्रतिष्ठा हुई हो, उसका किसी से वैर-विरोध नही रहता और भयंकर प्राणी भी उसके सामने वैर-भाव भूल जाते है जैसे कि–

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" योग. ।

साधु वन-भूमि मे हिसक पशुओ से घिर कर तपस्या करते हैं । इन साधु सतो के पास अहिसा का ही बल है । पूर्ण अहिसक के शरीर पर सर्प, बिच्छू आदि विषैले जीव-जन्तु भी अपना विष नही लगाते । धार्मिक साधना मे अहिंसा के द्वारा ही लोगो का दिल जीता जा सकता है । गृहस्थ भी यदि अहिंसा का व्रत धारण करे तो उसका कौटुम्बिक जीवन मधुर बन सकता है ।

अहिसा का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है । शरीर से नही मारना तक ही अहिसा सीमित नहीं है । मंत्र द्वारा दूसरे को हानि पहुँचाना, जादू-टोना करना, कटुवाणी का प्रहार कर ठेस पहुँचाना ये सब भी हिसा के ही रूप है । यदि कोई किसी की कटुवाणी या छीटाकशी से उत्तेजित होकर आत्म-हत्या कर ले, तो आत्म-घाती के साथ-साथ छीटाकशी करने वाला भी पातकी होगा । अतएव खूब ध्यानपूर्वक हिसा के पाप से बचने का प्रयत्न करना चाहिए । आनन्द श्रावक ने प्रभु से कहा कि मै ऐसी स्थूल हिसा स्वय नही करूगा और न कराऊगा ही । मन, वाणी एव शरीर तीनो से स्थूल हिसा का त्याग करता हूँ ।

सयमित जीवन का अर्थ साधना को ऊपर बढ़ा ले जाना है । मगर जो साधना ऊपर बढ़ने के बजाय अधोगामिनी हो, उसे साधना कहना साधना शब्द के महत्व को घटाना है । अब जरा पूर्ण साधक की जीवन झाकी प्रस्तुत करते है–भद्रबाहु । वे पूर्ण त्यागी थे । उनकी सत्यवादिता के चमत्कार से अपमानित वराहमिहिर के हृदय मे आकुलता भर गई और वह प्रतिशोध के लिए प्रज्वलित हृदय हो गया, आर्त्तध्यान मे प्राण त्याग कर वह व्यन्तर देव बना और प्रतिशोध की भावना से पाटलिपुत्र के संघ मे प्लेग, हैजा का जन संहारक रोग फैलाने लगा । जब भद्रबाहु

के पास सघ ने आकर रक्षा की प्रार्थना की तब भद्रबाहु ने शान्ति के लिए एक स्तोत्र की रचना की और कहा कि इसके पाठ से कोई सकट नही रहेगा । यद्यपि मन्त्र-यन्त्र आदि विद्या की जानकारी या प्रयोग गृहस्थ को बताना जैन साधुओ के लिए वर्जित है किन्तु आगम व्यवहारी होने से भद्रबाहु ने इसमे सघ रक्षा के साथ शासन की प्रभावना देखी । अत उवसग्गहर' स्तोत्र की रचना कर दी जो आज भी अपने मगल रूप मे विद्यमान् है ।

कालान्तर से इस स्तोत्र का उपयोग साधारण दु:खो मे भी होने लगा तब कहा जाता है कि दुरुपयोग के कारण उसकी दो गाथाए निकाल दी गई, स्तोत्र की पाच गाथा अभी भी शेष है ।

पाप मानव के सत्यानाश का कारण बनता है पाप से सताप मिलता है तथा धर्म आत्म-सुख का निमित्त है । देशविरति आनन्द का नमूना और पूर्ण त्याग मे महामुनि भद्रबाहु का आदर्श हम सबके सामने है । अपने सामर्थ्य के अनुसार हमे साधना का रूप ग्रहण करना है । वीतराग की प्रेरणामयी वाणी का लाभ लेकर स्वय साधना करने से लौकिक और पारलौकिक दोनो तरह का कल्याण होगा और आत्मिक शान्ति प्राप्त होगी ।

---

[११]

साधना का बाधक तत्वः असत्य

साधना के क्षेत्र मे कुछ साधक और कुछ बाधक कर्म होते है । यदि साधक, साधक कर्म को स्वीकार करे तो सुख शान्ति और बाधक कर्म करे तो दुःख और अशान्ति होती है । शास्त्र की भाषा मे इसी को उपादेय और हेय कहते है । बाधक कर्मों में अनेक विकार रहते है, जो साधना में व्यवधान-रुकावट उपस्थित करते हैं, जिनमें भय और लोभ ये दो प्रमुख है ।

ये दोनो विकार साधना के क्षेत्र मे साधक को आगे बढ़ने से रोकते है । परमार्थ की साधना तो बहुत ऊंची है, किन्तु व्यवहार साधना मे भी ये दोनो बाधक है। यदि कोई लोभवश अर्थ सचय करना चाहे तो उसे भी भय का सामना करना पड़ता है और अर्थ सचय के बाद भी जीवन भर उसके संरक्षण का भय तन-मन पर सवार रहता है, फिर भी भय जीतना आसान है किन्तु लोभ को जीतना उतना आसान नही है । लोभाधीन प्राणी मौत का भी मुकाबिला करते देखा जाता है ।

बड़े-बड़े महाजन लोभ के वशीभूत होकर सब कुछ बर्बाद कर लेते है और पीढ़ियों की कमाई हुई अतुल धनराशि लोभ की वेदी पर भेंट चढ़ा कर, फकीर हो जाते है । इस सम्बन्ध के सैकड़ों उदाहरण आप सब के सामने होंगे, कि किस तरह रोज घर मे दीवाली जलाने वाले जन लोभवश सट्टे और जुए में अपना दिवाला निकाल लेते है तथा ऊँचे-ऊँचे महलों में रहने वाले प्रियजनो को भी झोंपडी मे रहने को विवश कर देते है ।

अतएव भगवान् महावीर स्वामी ने कहा—कामना को वश मे करो । कामना के कारण ही मनुष्य विविध जन्म-मरण करता और अनचाहे भी दुःख प्राप्त करता है । कामना पर विजय ही दुःख पर विजय है । जैसा कि शास्त्र मे कहा है-'कामे कमाहि, कमियं खु दुक्खं ।' कामना की विजय दुष्कर प्रतीत होती है। आनन्द ने

कामना पर विजय प्राप्त करते हुए मन वचन, और कार्य से स्थूल हिसा करने एव कराने का त्याग कर लिया । हर एक पाप तीन प्रकार से होता है, करना कराना और करने वाले को प्रोत्साहित करना उसकी प्रशसा करना । मनुष्य स्वय पाप करता है उसकी अपेक्षा सैकडो गुणा अधिक कराता व अनुमोदन करता है । अतः अनुमोदन नही त्यागने की स्थिति मे भी करने-कराने का त्याग आनन्द ने किया ।

परिहार्य और अपरिहार्य रूप दो प्रकार की हिसा मे श्रावक को परिहार्य के बाद अपरिहार्य त्याग का भी धीरे धीरे अभ्यास बढाना चाहिए । यह पहला व्रत है ।

इसके बाद साधना क्षेत्र मे दूसरा स्थान सत्य का आता है । साधना मे अहिसा अगर वायु की तरह है तो सत्य को भी पानी की तरह प्राण-रक्षक समझना चाहिए । सत्य से विचलित होने पर कोई भी साधना सफल नही होती । मगर पूर्वाचार्यों ने बतलाया है कि अहिसा के पालन मे सत्य आदि व्रत स्वय आ जाते है। क्योंकि जहा हिसा है, वहा सत्यादि व्रत नही रह सकते और जहा असत्य कुशील आदि हैं, वहा अहिसा भी सुरक्षित नहीं रहती ।

झूठ, चोरी एव कुशील आदि भी एक प्रकार से हिसा है देखिए—झूठ बोलने वाला अपनी हत्या करता है, क्योंकि सत्य बोलना आत्मा का स्वभाव है और इस दृष्टि से झूठ बोलना उसकी हत्या हुई । फिर नकली को असली और असली को नकली बना कर कहने वाला मिथ्याभाषी पदार्थ के सही रूप का भी हनन करता है । अत झूठ बोलने वाला वाणी से हिसा का कारण बनता है ।

स्थूल और सूक्ष्म भेद से असत्य-झूठ भी दो प्रकार का है । साधक के लिए यदि सर्वथा त्याग सभव न हो तो भी उसे स्थूल असत्य का त्याग कर मर्यादा तो करनी होगी उस को ऐसे झूठ से बचना होगा जिससे कि दूसरे की हानि होती हो ।

ससार के सभी धार्मिक सम्प्रदायो ने एक स्वर से हिसा की तरह झूठ को भी त्याज्य माना है । जगत् मे लाखो का लेन-देन सत्य से होता है । यदि भरोसा नही निभाया गया तो मनुष्य विश्वासघाती समझा जायगा और झूठ से उसका विश्वास समाप्त हो जायेगा । इसलिए सद्गृहस्थ को स्थूल असत्य से अवश्य बचना चाहिये ।

सत्य एव सदाचार की पालना मे सत्सग की तरह बाल्यकाल के सस्कारो का भी बडा हाथ होता है सस्कार का प्रभाव देखने के लिए प्राचीन इतिहास देखिये—

एक साधु को एक बार एक सजीव भिक्षा (बालक की भिक्षा) प्राप्त हुई । साधु ने भिक्षा लाकर भिक्षा-पात्र गुरु को दिया, पात्र भारी था, अतएव उस बालक

का नाम वज्रकुमार रखा गया । अव वच्चे का लालन-पालन कैसे हो ? यह समस्या सामने आई, क्योंकि मंडली साधु की थी, वे त्यागी थे । आखिर साध्वियों के द्वारा बालक शय्यातरी की देखरेख मे रख दिया गया । उसी के घर मे साधुओं का भी डेरा था अतः बच्चे को जन्म-घूटी धर्म की मिलती रही ।

कुछ दिनों के वाद वच्चे को खुशहाल देख कर उसकी असली माँ उसे लेने आई, किन्तु साधु-मंडली वालक को देने को तैयार नही हुई, जिससे विवाद खड़ा हुआ। राजा के समक्ष निर्णय के लिए यह प्रकरण रखा गया । जन्म देने वाली मा विविध प्रकार के खिलौने, मिठाई आदि लेकर आई और सघ की ओर से शय्यातरी रजोहरण, मुंहपत्ती, पुस्तक, पात्र, आसन, माला, सुमरनी आदि धार्मिक उपकरण लेकर आयी । दोनों सामग्रियों के बीच वच्चे को रखा गया । वच्चा धार्मिक उपकरण की ओर वढ़ा और खिलौनो की ओर उसने मुँह फेर कर भी नही देखा ।

तात्पर्य यह कि एक अवोध वच्चा भी धार्मिक सस्कारो के कारण खिलौनो को छोड़ कर धार्मिक उपकरणों की ओर वढ़ा । यदि इसी प्रकार माताएँ अपने वच्चों में जन्म से ही धार्मिक और अच्छे सस्कार डाले तो आगे चलकर वच्चो को अपना जीवन ऊँचा उठाने में कोई दिक्कत नही होगी ।

भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द आदि को सम्वोधित करके बड़े झूठ के पांच प्रकार बतलाए । जैसे–

१. कन्यालीक–

कन्या का सम्बन्ध करने को झूठ बोलना, कन्या के दोषों को छिपाकर अच्छा बताना, वय में छोटी को बडी और बड़ी को छोटी कहना आदि । इस प्रकार यदि वैवाहिक सम्बन्ध किया तो झूठ वोलने का पातक लगेगा तथा कन्या भी अपने ससुराल मे सुखमय जीवन नहीं व्यतीत कर सकेगी । कन्या की तरह वच्चे के लिए भी समझना चाहिए । लोग स्वार्थवश दूसरे की हानि का भी विचार नही करते । एक भाई ने किसी जानकार से पूछा कि यह लड़का कैसा है ? अपनी वाई का सम्बन्ध करना है । उसने कहा–पढ़ा-लिखा होशियार तो है मगर मृगी का दौरा आता है । बेचारा उम्मीदवार धरा रह गया । यह बड़ा झूठ है । नौकरी आदि के लिये भी बात करने का अवसर आ सकता है । श्रावक का कर्तव्य है कि बात-चीत मे दूसरे को धोखे में न डाले और किसी का अहित हो, ऐसा भी न कहे ।

२. गवालीक–

गाय, भैंस आदि पशु के सम्बन्ध में झूठ बोलना भी बड़ा असत्य है । दुधारु गाय-भैस को खराब या खराब को दुधारु बताना, धोखा देकर गाय, भैस, बैल घोड़ा आदि जानवरो को दूसरे के गले लगा देना आदि पशु-पक्षियों सम्बन्धी झूठ है ।

३ भौमालीक–

पराई जमीन को अपनी बताकर ले लेना या टैक्स बचाने के लिए अपनी को पराई कहना आदि । यह भूमि सम्बन्धी झूठ है ।

४ न्यासापहार–

दूसरे की रकम (रुपये पैसे आदि) को हडपने की बुद्धि से झूठ बोलना, इधर-उधर की बात बना कर टालना आदि धरोहर सम्बन्धी झूठ है ।

५ झूठी साक्षी–

न्यायालय पचायत आदि मे स्वार्थवश झूठी गवाही देना, असत्य को सत्य और सत्य को असत्य बतलाना आदि कूट साक्षी सम्बन्धी झूठ है ।

गृहस्थ का धर्म है कि वह दूसरे के लिये हानिकारक हो वैसे बडे झूठ को कभी नही बोले । बहुत बार खाकर न आने पर भी "भोजन कर लिया' ऐसा कहना, ठहरने की फुर्सत नही है कहकर ठहर जाना आदि छोटे-छोटे झूठ मनुष्य अनावश्यक रूप से अनेक बार बोल जाता है । यो तो सभी प्रकार के झूठ वर्जित एव निन्दित है किन्तु यदि सम्पूर्ण झूठ छोडने की शक्ति न हो तो बडे झूठ से तो बचना ही चाहिए ।

देवालय की ध्वजा और गाडी के चक्के के समान अपनी बातो को हमेशा बदलने वाले मर्द (व्यक्ति) दु खमय जीवन व्यतीत करते तथा अपनी आत्मा को दूषित कर लेते है । लोक मे उनकी प्रीति और प्रतीति कम हो जाती है । सत्य का पालन करने वाला जीवन मे सदा सुखी रहता है । अतएव कवि ने बडा ही उत्तम परामर्श दिया है–

ना नर गज न नापिये ना नर लीजे तोल ।
'परशुराम' नर नार का बोल बोल मे मोल ।।

मनुष्य की कीमत उसकी वाणी से है, नाप-तौल से उसकी कीमत नही होती। सत्य की महिमा ही वाणी मे निहित है । महावीर भक्त आनन्द सत्यव्रत का सकल्प लेकर बडे ही सम्माननीय व्यक्ति बन गए ।

यदि कोई सेठ स्वय झूठ का त्याग करे किन्तु मुनीम को झूठ बोलने को कह दे तो यह भी सेठ के लिए स्वय झूठ बोलने के समान पापपूर्ण है । थोडे लाभ के लिए, झूठ बोलकर अपने जीवन को लाछित करना सभ्य मनुष्य के लिये शोभनीय नही होता । लेन देन म सौदेबाजी (मोलभाव घट-बढकर करना) भी ग्राहक और व्यापारी दोना के लिए परेशानी का कारण है सौदेबाजी से दूर रह कर

प्रामाणिकता से व्यवहार करने पर ग्राहक और व्यापारी दोनो का समय बच जाता है और अनावश्यक झूठ बोलने से भी छुटकारा मिल जाता है ।

झूठ से जिसका व्यवहार अशुद्ध होगा, तो प्रामाणिकता के अभाव मे उसके पूजा-पाठ आदि भी लांछित होगे । शुभ-कर्म करने वाले पर आक्षेप की अधिक सभावना रहती है । संसार का नियम है कि जो उजला वस्त्र होगा, उसमे दाग जल्दी नजर आता है, किन्तु जो वस्त्र पहले से काला है, उसमे नवीन दाग का कोई असर नही पड़ता । ऐसे अनार्य लोगो की अपेक्षा, एक भक्त गृहस्थ का जीवन उजला है। गृहस्थ-धर्म की दृष्टि से उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मन, वचन और काय से न तो झूठ बोले और न बोलावे । सत का जीवन व्रती गृहस्थ से भी अधिक उजला होता है । उसको सर्वथा झूठ का त्याग है । सर्व-त्यागी भद्रबाहु और देश-त्यागी यानि स्थूल त्यागी गृहस्थ आनन्द का आदर्श आप सबके सामने है ।

पाटलिपुत्र के राजा नन्द महामुनि भद्रबाहु के ज्ञानबल तथा आचारबल से बहुत प्रभावित थे । उनके समय मे पाटलिपुत्र के लोगो का चरित्र बहुत ऊँचा था । पाटलिपुत्र मे नगरी की खुली दुकानो से कोई चोरी के रूप मे माल नही उठा पाता था । चीनी यात्री ह्वेनसाग, फाहियान आदि, यहा के लोगों के सत्य व्यवहार से बड़े प्रभावित थे । इस सम्बन्ध में उन्होने अपने यात्रा-विवरण में यहा के लोगो की प्रशंसा की है ।

दुर्दैव से एक बार पाटलिपुत्र मे बारह वर्षों का लगातार दुर्भिक्ष पडा, क्षुधा की पीड़ा से लोक-जीवन सिहर उठा और उसका प्रभाव संत-जीवन पर भी पड़ा, क्योकि ज्ञान और सदाचार की सुरक्षा के लिए शरीर रक्षा आवश्यक है, शरीरधारणार्थ सतो को शुद्ध आहार, वही मिल सकता है, जहां लोगों में स्वस्थ मन और कुछ उत्सर्ग करने की शक्ति हो । पाटलिपुत्र तो अकाल की चपेट मे कगाल बन गया था। अतएव भद्रबाहु वहां से उत्तर की ओर निकल पड़े और पक्षी की भांति अपना घोसला बदल दिया । भद्रबाहु ने देश के कोने-कोने में धर्म का सन्देश फैलाया और साथ ही आत्म-साधना का तेज भी चमकाया ।

आज लोगो का चरित्र-बल इतना अधिक क्षीण हो गया है कि संतों को भी समय-समय पर सामान्य नैतिक जीवन तक की शिक्षा देनी पड़ती है । इस के लिए आज संतों का उपदेश ही पर्याप्त नही है, बल्कि हर गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह अपनी जीविका सचालन मे सत्य-अहिसा आदि का भी पालन करे तथा दूसरों को भी उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा करे । साधना-पथ पर स्वयं चलते और दूसरो को

चलाते हुए मानव अभय पुण्य का भागी बनता है। जहा सौभाग्य से समाज मे दोनो कार्यों को करने वाले होंगे वहा धर्ममयता एव शान्ति बनी रहेगी।

आज समाज मे ऐसे अवकाशप्राप्त लोगो की आवश्यकता है जो नैतिक सुधार के साथ भावी-प्रजा को धर्म शिक्षा दे, स्वाध्याय की प्रेरणा देकर युवको मे रुचि जागृत करे और लोक मानस मे ज्ञान की ज्योति जगा सके। गृहस्थ आनन्द और मुनि भद्रबाहु की-सी साधना का लक्ष्य हर मानव का हो तो सबका लोक और परलोक सुखमय बन सकता है।

---

[१२]

साधना की कसौटी : अस्तेय

साधना जीवन-निर्माण की जड़ है। इसके विना कोई भी ऊपर नही उठ सकता। मगर इस पथ पर चलने में बड़ी-बडी बाधाएँ और कठिनाइया है। एक व्यक्ति जो पहाड़ के जंगली मार्ग से चलता है, जहा एक ओर उत्तुग शिखर तथा दूसरी ओर गहरी खाई है, पर वह मार्ग उतना कठिन नही है जितना कि साधक का मार्ग जिसके चारों ओर रेडियो, खेल-तमाशे, सिनेमा एव विविध आहार-विहार की वस्तुए मन को आकृष्ट करने के लिए सजी पड़ी है।

साधना के त्यागमय मार्ग मे चलने वाले के लिए लुभावने वातावरण से अपने को बचा लेना बड़ा दुष्कर होता है। राग का आकर्षण त्याग को हर घड़ी दबाता रहता है। इसलिए जब तक कामनाओ पर पूर्ण नियन्त्रण नही होता तब तक साधना निर्विघ्न नही हो सकती। साधक शुद्ध हृदय से एक बार जब कामना पर विजय पा लेता है तो फिर वह साधना-पथ से हर्गिज विचलित नही हो सकता। वह काम विजयी कुशलतापूर्वक कठिन मार्ग से भी निकल जाता है, क्योंकि आत्म-बल का सम्बल उसे प्राप्त हो गया है जो साधक को पथच्युत नहीं होने देता।

किसी भी वस्तु को त्यागने से पूर्व संकल्प की दृढ़ता के लिए नियम लेना आवश्यक माना गया है। नियम लेने से आत्मा मे विश्वास और बल प्राप्त होता है। लौकिक दृष्टि से भी नियम का पालना करना आवश्यक है। शासन के उच्च्य पदाधिकार प्राप्त करने वाले को भी विधानानुसार शपथ लेनी पड़ती है। जब व्यवहार क्षेत्र मे भी इसके बिना काम नही चलता तो फिर साधना के क्षेत्र मे बिना नियम के काम कैसे चलेगा ? नियम न लेने की भावना मन की दुर्बलता या कमजोरी को प्रगट करती है—जिससे साधना मे सफलता नही मिल सकती।

धार्मिक नियमो का लक्ष्य मनुष्यों को स्वानुशासित बनाना है। पर-शासन से मन को पीड़ा पहुँचती है और जीवन भारवत् मालूम पड़ता है। अतः स्वयं ही

अनुशासित जीवन बिताने का अभ्यास मनुष्य के लिए सुख और कल्याणदायक है । स्वशासन से शासित प्राणी ही विश्व मे सर्वप्रिय हो सकता है । उसके लिए शासन-व्यवस्था दड और निरीक्षण की आवश्यकता ही नही रहती ।

साधक आनन्द ने नियमो के द्वारा साधना करना आवश्यक समझा । अहिसा और सत्य का व्रत तो वह ले ही चुका था । अब उसने अचौर्य व्रत को भी स्वीकार किया । क्योंकि इसके बिना जीवन की साधना पूर्ण नहीं बन पाती ।

चोरी शारीरिक अपराध के साथ-साथ एक भयकर मानसिक अपराध भी है । सफलता मिलने पर यह अपराध वैसे ही बढता है जैसे घृत पडने से आग की ज्वाला। इसके लिए निर्धनता कोई कारण नही मानी जा सकती । क्योंकि धनवान लोग भी लालचवश इस रोग के शिकार बने मिलते है ।

अदत्त ग्रहण (चोरी) भी स्थूल और सूक्ष्म रूप से दो प्रकार की होती है। जिस वस्तु के लेने मे मनुष्य अगल-बगल देखे और दूसरो की आख बचावे वह बडी (स्थूल) चोरी है । चाहे चोरी का सामान साधारण हो या मूल्यवान् । इस स्थिति की चोरी हीरा और सुई दोनों मे समान ही मानी जाती है । सामान्यतया जो वस्तु किसी दूसरे की है उसकी अनुमति के बिना उस वस्तु को ग्रहण करना ही चोरी है । यही कारण है कि साधु सत बिना पूछे किसी दूसरे के चबूतरे का उपयोग करना भी उचित नही समझते । क्योंकि उनके जीवन मे छोटी से छोटी वस्तु की चोरी के भी त्याग का नियम रहता है ।

गृहस्थ-जीवन मे भी जो व्यक्ति चोरी से विलग रहता है , वह सम्माननीय माना जाता है । सडक पर नाजायज कब्जा सरकारी या दूसरे व्यक्ति की भूमि पर अवैधानिक अधिकार आदि भी चोरी का ही रूप है जिसके लिए शासन द्वारा दण्ड दिया जाता है । गाय बैल बकरी आदि पशु धन तथा पुत्र-पुत्री की चोरी सजीव चोरी का नमूना है ।

वास्तव मे मानव समाज के लिए चोरी एक कलक है। गृहस्थ को ससार मे प्रतिष्ठा का जीवन बिताना है और परलोक बनाना है तो वह चोरी से अवश्य बचे । चोरी करने वाला आत्म-गुणो की हत्या करता है । जिसकी वस्तु ली जाती है उसके हृदय मे हलचल होती है दुःख होता है जो प्रकारान्तर से हिंसा भी है । भला हिंसा के द्वारा किसी का जीवन कैसे पवित्र माना जा सकता है और उसका परलोक कैसे सुधर सकता है ।

स्थूल चोरी के भी भगवान् महावीर स्वामी ने पांच प्रकार बतलाए है–जिनसे बचने का आदर्श हर गृहस्थ के समक्ष होना चाहिए । वे इस प्रकार है–

१–सेंध मारना-दीवारो में छेद बनाकर मकान के अन्दर घुसना और वस्तुओ को उठा ले जाना इसके अन्तर्गत आता है ।

२–गांठ की वस्तु खोल लेना, जेव, पल्ले और गांठ, काट कर व बिस्तर आदि में से वस्तु निकाल लेना । नगरो में आज कल गांठ काटने की शिकायत बहुत होती है, चलते आदमी की जेब से माल निकाल लिया जाता है । यह बड़ी चोरी है ।

३–यंत्रोद्घाटन–ताले को तोड़कर या खोलकर माल निकाल लेना ।

४–किसी के घर की वस्तु को नजर बचाकर उठा ले जाना ।

५–गिरी, पड़ी हुई रास्ते की वस्तु, जिसके स्वामी का पता हो ग्रहण कर लेना या राह चलते किसी को लूटना ।

साधक आनन्द ने इन पांचो प्रकार की स्थूल चोरी का त्याग किया और वह उसका बराबर पालन करता रहा । यही कारण है कि आज भी वह साधक जगत् में अनुकरणीय माना जाता है ।

चोरी की लत बहुत बुरी होती है । मनुष्य को चाहिए कि वह सदा इससे बचने का प्रयत्न करे और साथ ही अपने परिवार पर भी दृष्टि रखे कि कोई इस कुटेव का शिकार तो नहीं हो रहा है । यदि कोई गृहस्थ अपने बच्चे द्वारा लाई हुई एक साधारण वस्तु भी घर में रख लेता है तो समझना चाहिए कि वह बच्चे को पक्का चोर बनने को प्रोत्साहन दे रहा है । इस तरह बालक की बुरी प्रवृत्ति नित्य बढ़ती ही जाएगी और एक दिन वह चोरो का राजा डाकू भी बन सकता है । यदि मां-बाप सजग रहें तो बच्चो मे चोरी की कुत्सित आदत कभी नही पड़ेगी । परन्तु आज के पालको को पुत्र-पुत्री के सस्कार निर्माण की चिन्ता कहां है ?

एक जगह की बात है–कुछ पास गांव के लोग संतो की सेवा में आए हुए थे । गांव के एक श्रीमन्त ने सबका अपने यहां आतिथ्य किया । उनमें एक भाई जो साधारण स्थिति का था, जिसके पास पाच रुपये और कुछ पैसे थे । कपड़े खूंटी पर रख कर वह भोजन करने बैठा । भोजन के बाद जब उसने कपड़े संभाले तो रुपये गायब । बेचारा किराये की फिक्र करने लगा । पास के किसी भाई ने कहा–कदाचित् इनके लडके ने निकाल लिए होंगे, क्योंकि उसकी ऐसी आदत है । भाग्ययोग से लड़का रास्ते मे मिल गया । पकड़ कर जेब टटोली तो पाच का नोट

मिल गया, पैसे नदारद । पाए हुए मे सन्तोष कर यात्री चला गया । सम्पन्न घर मे ऐसा होने का कारण बच्चे मे सस्कार का अभाव ही कहा जायेगा ।

यदि इस प्रकार की स्थिति रही और बच्चो मे अच्छे सस्कार नही डाले गए तो निश्चय ही भविष्य भयावह बनेगा और मनुष्य जन्म पाने का कुछ भी लाभ नही होगा । जिस व्यक्ति ने लाखो रुपए कमाये किन्तु समाज मे प्रतिष्ठा नही रही तो वह नुकसान मे ही रहा ऐसा समझना चाहिए । दिवालिए का कोई विश्वास नही करता । साख वाले को ही बाजार मे सम्मान मिलता है । वास्तव मे उसने बोया कम, किन्तु अधिक प्राप्त करना चाहा ।

आज कुछ लोग यह समझने लगे है कि चोरी मे क्या बुरा है ? एक बार दो मित्रो मे बात हो रही थी, एक ने कहा चोरी करना बुरा नही चोरी करके पकडा जाना बुरा है, किन्तु यह गलत विचार है । भारतीय नीति मे चोरी चाहे पकडी जाए या नही पकडी जाए, दोनो हालत मे निन्दनीय अशोभनीय और दण्डनीय कृत्य है । चोरी या अनीति का पैसा सुख शान्ति नही देता । वह किसी न किसी रूप मे हाथ से निकल जाता है । कहावत भी है कि 'चोरी का धन मोरी में' । मतलब यह कि साधक को चोरी से और खास कर बडी चोरी से सदा दूर रहना चाहिए । उसका जीवन ससार मे प्रामाणिक एव विश्वसनीय होना चाहिए । अज्ञान और कुसगति से कई लोगो मे पापाचार की आदते पड जाती है और वे उसी मे आनन्द मानने लगते है किन्तु यह ठीक नही है । साधक को सतत् इस बात के लिए जागृत रहना चाहिए कि अपने जीवन मे गलत व्यवहार का अवसर न आवे । यदि मनुष्य अपनी कुप्रवृत्तियो को वश मे रखे तो जीवन उन्नत बना सकता है । भगवान् की आज्ञा मे वे ही साधक आ सकेंगे जो दुर्गुणो को छोडेंगे और माया से सतत् दूर भागेंगे ।

धर्म की महिमा अपार है । साधक धर्म पर आस्था रख कर अपना उभय लोक सुधार सकता है । किन्तु साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि धर्म प्रदर्शन की चीज नहीं वह ग्रहण करने की चीज है सिनेमा और प्रदर्शनी देखने से मन प्रसन्न हो जाता है, परन्तु स्वादिष्ट भोजन केवल सामने देखने को रखा जाय और खाने को न दिया जाय तो तुष्टि नही होगी और भूख भी नही मिटेगी । धार्मिक स्थल भी भोजनालय के समान है जहा भोजन पेट मे रखने से प्रसन्नता होती है । धार्मिक जीवन के प्रभाव से मनुष्य चोरी आदि सकल दुष्प्रवृत्तियो से बचकर जीवन निर्माण कर सकता है ।

भगवान् महावीर स्वामी ने लोक अनुकम्पा हित श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का उपदेश देकर जगत् का महान् उपकार किया है । इसके पालन से जीवन सफल

हो जाता है । प्रभु की वाणी से प्रभावित हो जहा लाखो ने श्रावक धर्म ग्रहण किया, वहा हजारो पूर्ण त्यागी श्रमण भी हो गए थे । उसमे से एक थे महामुनि भद्रबाहु । वे चौदह पूर्व (एक प्रकार का उत्कृष्ट आध्यात्मिक ज्ञान) के ज्ञाता थे। एक बार वे साधना के लिए नेपाल की तराई में गए हुए थे । उस समय जैन संघ का सन्देश लेकर दो सन्त उनकी सेवा मे पहुँचे कि ज्ञान की सुरक्षा के लिए एक बार आप स्वदेश पधारे । भद्रबाहु ने नम्रता पूर्वक उन सन्तों से कहा कि मै महाप्राण ध्यान की साधना प्रारम्भ कर चुका हूँ । अत.एव आने की स्थिति मे नही हूँ ।

जैन सघ को उनके सन्देश से बड़ा खेद हुआ । सन्त दुवारा उनके पास भेजे गए और उनसे पुछवाया गया कि यदि कोई सघ की आज्ञा न माने तो उसे क्या कहा जाय ? भद्रबाहु ने इस प्रश्न का लक्ष्यार्थ समझ लिया और बोले :-"वह बहिष्कार करने योग्य होगा । सघ जो आज्ञा देगा, मुझे शिरोधार्य होगी ।"

व्यक्ति के जीवन निर्माण मे सघ समाज का भी बड़ा हाथ है । इसीलिए मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है । समाज की आज्ञा टालने वाला अकृतज्ञ (कृतघ्न) है, यह जानकर महामुनि ने सन्देश दिया कि मै आने मे विवश हूँ किन्तु यहां साधुओ को सात वाचनाए (आध्यात्मिक पाठ) दे सकता हूँ । मुनि भद्रबाहु के उत्तर मे विनय और विवशता का समावेश था । अतः सघ ने ज्ञान सुरक्षा की दृष्टि से कुछ सन्त चुनकर उनकी सेवा मे भेजे और श्रुतज्ञान का रक्षण करवाया, जिसके आधार पर आज भी हम सब धर्मा-धर्म समझकर साधना पूर्ण जीवन बिताने मे समर्थ होते है । इस प्रकार जो भी श्रुत सेवा करेगा उसका कल्याण होगा ।

---

[१३]

साधना के दो मार्ग

सन्तो का जीवन जगत् मे पूर्ण शान्ति का जीवन है । वे ससार मे रहते हुए भी कामनाओ से सदा अलग-थलग रहते है । प्रपन्चो के बीच जम कर भी, उनसे अछूते रहते है । कर्म उन्हे बाँधने मे असमर्थ है, माया उन्हे लुभाने मे असफल है । मदिरा का ठेकेदार जैसे सैकडो हजारो लोगो को अपने यहा मदिरा पीते देखकर भी मस्त नही होता, क्योकि जो उसे ग्रहण कर पीता है वही नशे मे चूर होता है । ठेकेदार विक्रय करते हुए भी उसका पान नही करता अतएव उसे मादकता नही सताती । ऐसे ही निर्मोही सन्त और ससारी दोनो के सामने कर्म परमाणु फैले हुए है वीतराग सन्त उसके जाल मे नही फसते और ससारी उस जजाल मे उलझ कर वध जाता है । अतः सन्त कर्मों से अलिप्त और शान्त रहते है जवकि ससारी लिप्त तथा अशान्त ।

भगवान् महावीर स्वामी कहते है कि मनुष्य यदि अज्ञान का पर्दा हटाकर विवेक से काम ले तो उसे शान्ति और आनन्द कहीं अन्यत्र खोजने की जरूरत नही होगी, वह स्वय शान्ति और आनन्द का धाम वन सकता है । कर्मों का जजाल ही उसे ऐसा होने मे वाधक वनता है ।

आनन्द धाम की प्राप्ति के दो साधन--एक श्रमण धर्म और दूसरा श्रावक धर्म । पहला मार्ग पूर्ण त्याग और सयम का है । इसका पालन वही कर सकता है जो कवीर के शब्दो मे घर जलाकर तमाशा देख सकता है अथवा सर को हथेली मे रखकर घूम सकता है या कि दहाडते सिंह के खुले जवडे मे हाथ डालने की हिम्मत रखता है । मतलब यह कि जिसमे अपूर्व साहस, शौर्य और सहनशीलता नहा होगी वह इस असिधारा व्रत का पालन नही कर सकता । कदाचित् आवेश मे आकर कोई ग्रहण भी कर ले तो वरावर उस पर कायम नही रह सकता ।

दूसरा मार्ग अपूर्ण त्याग वाला गृहस्थ जीवन का है । इसे श्रावक धर्म भी कहते है। इसका पालन हर एक व्यक्ति कर सकता है, चाहे वह वकील, जज, कृषक, उद्योगपति, श्रमजीवी मजूदूर या कोई भी धन्धा करने वाला क्यो न हो ? गृहस्थ धर्म के पालन के लिए सुदृष्टि अपेक्षित है । वह पुण्य पाप, जीव-अजीव, खाद्य-अखाद्य और करणीय अकरणीय के भेद को भली भांति समझे, यह आवश्यक है ।

जीव का स्वभाव है चेतना शक्ति से युक्त होना । एक छोटे-से छोटे कीट से लेकर कुजर तक सभी प्राणियों मे चेतना वेदन करने की शक्ति है और सभी का जीव समान है । पूरे कमरे को प्रकाशित करने वाले दीपक को यदि छबड़ी से ढांक दिया जाय तो वह छबड़ी की परिधि तक ही प्रकाश देगा, जो पहले पूरे कमरे को प्रकाश दे रहा था । यदि उससे भी छोटे पात्र से उसे ढाक दें तो उसके भीतर तक ही प्रकाश फैलेगा । और यदि उसी दीपक को द्वार पर रख दे, तो दूर तक भीतर एव बाहर प्रकाश फैला देगा ।

दीपक की रोशनी विभिन्न स्थितियो में बड़ी छोटी नही हुई, किन्तु उसमें विस्तार तथा संकोच होता रहा । ऐसे ही जीव की चेतना भी बराबर है, केवल उनके शरीर की आकृति के अनुसार चेतना का विस्तार न्यूनाधिक परिमाण में होता है । बच्चा मा के पेट में छोटे आकार में रहता है, मगर बाहर आते ही वह धीरे-धीरे बड़ा होने लगता है और एक दिन पूर्ण बड़ा हो जाता है । उसकी चेतना वाणी के द्वारा प्रस्फुटित होती है । मस्तक से लेकर पैर तक शरीर के सभी भागों में उसे चोट का या स्पर्श का ज्ञान होता है । इससे सिद्ध है कि चेतना शरीर के किसी एक भाग मे नही, बल्कि सम्पूर्ण शरीर में है । अतः कीड़ी से लेकर कुंजर तक सभी में जीव समान है और सब के साथ प्रेमभाव रखना हर मानव का कर्तव्य है ।

जिस व्यक्ति मे विवेक का प्रकाश फैल जाता है, चाहे वह राजा है या रंक अथवा किसी भी स्थिति का हो, श्रावक धर्म का पालन कर सकता है । यदि किसी व्यक्ति ने प्रपंच नही त्यागा, सयत जीवन नही बनाया, जीने की दिशा मे कोई सीमा नहीं निर्धारित की, तो वह सर्व-विरति या देश विरति-श्रावक धर्म का साधक नहीं बन सकता । केवल मन को जागृत करने की आवश्यकता है । फिर हर एक साधक, साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ सकता है ।

आनन्द ने तीसरे व्रत में स्थूल अदत्त का त्याग कर दिया । उसका जीवन बहुत प्रामाणिक एव विश्वस्त था । वह चाहे राजा के भण्डार में अकेले भी चला जाता तो उसका कोई अविश्वास नही करता, क्योकि वह प्रामाणिक और त्यागी था ।

धर्म व्यवस्था से मनुष्य का मन मजबूत होता है । धार्मिक जन का त्याग शुद्ध मन से होता है, भय या परवशता से नही । बहुत से मनुष्य हिसा कुशील, चोरी आदि महापापो को राजदण्ड के भय से और कुछ यमदण्ड से भी त्याज्य मानते है, परन्तु ज्ञानी सद्गृहस्थ आत्मा को मलिन बनाने वाले पाप कर्मों को बुरा समझकर उनका त्याग करता है ।

धार्मिक जीवन मनुष्य के मन को निर्मल व महत्वपूर्ण बनाता है । पाप के प्रति मन मे घृणा के भाव हो और सद्गुणो के प्रति अनुराग, तो अनायास ही पाप मन में नही आवेगा और घडी आध-घडी के लिए कदाचित् आ भी जाय तो वह अधिक समय तक मन के भीतर नही ठहर सकेगा । ऐसी स्थिति मे मन पूर्ण चन्द्र की तरह दिव्य आभा से आलोकित हो उठेगा ।

आज तो घृणा का दृष्टिकोण भी बदला हुआ दिखाई देता है । समाज मे बहुत से ऐसे लोग है जो हरिजनो, शूद्रो या निम्न जातियो के लोगो से तो घृणा करेगे और उनकी छाया तक से बचेगे मगर मैला से बने खाद एव नालियो के गदे पानी से पैदा होने वाली साग-सब्जियो से जो कि उन्हीं गदे जनो के द्वारा उपजाई गई है कोई घृणा नहीं करेंगे, वरन् मौसम के समय ऐसी सब्जियो व फलो को बडे चाव से ग्रहण करेगे । पाप एव बुराई से घृणा नही करेगे । अजीब तमाशा है । एक ओर जहा घृणा नही करनी चाहिए, वहा घृणा करते हैं और जहा करनी चाहिए वहा नही करते है ।

ज्ञानी जन पाप से घृणा करते है जैसे कोई कै और मल के स्पर्श से परहेज करता है किन्तु पापी से नही । कारण पापी घृणा का नहीं किन्तु दया का पात्र है । आज का पापी कल सुधर सकता है । अज्ञानतावश कोई बुरे कर्मों मे उलझता है । साधु या सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि प्रेम से उसका मार्ग दर्शन करे तथा बुराई से उसको बचावे । धर्म नीति की यही विशेषता है कि वह हृदय परिवर्तन कर मानव का दृष्टिकोण ही बदल देती है ।

आज के धर्म विहीन देश एव समाज भौतिकता के प्रभाव मे धर्म की महिमा भूल रहे है । किन्तु उन्हे याद रखना चाहिए कि इसम वे धोखा खा रहे है । इतिहास साक्षी है कि भौतिकता के उन्माद म हजारों वर्षों से मानव सुन्दोपसुन्द न्याय से सुख शान्ति प्राप्ति के लिए लड रहा है पर उन्हे आज तक प्राप्त नहीं कर सका । हर देश की जल, थल एव नभ की सीमा निर्धारित की जा चुकी है फिर सघर्ष की ज्वाला क्यां उठ रही है ? इसका उत्तर साफ है कि आज के जन-जीवन म धर्म नहीं और त्याग नही । धर्म साधना के लिए समाज मे सुन्दर परम्पराएं डाली

जायं, तो निश्चय ही सहज रूप मे होने वाले वहुत से पाप-कर्म नही हो पाएंगे और रौरव रूपा आज की यह धरती, स्वर्ग के समान सुन्दर वन जाएगी ।

आनन्द की तरह जगत् के सभी गृहस्थो को अपनी मर्यादा वांध लेनी चाहिए । कोई भी वस्तु मर्यादा वाधी जाने पर ही हितकर और सुखकर हो सकती है । भोजनादि भी मर्यादित समय पर ही अच्छे और हितावह हो सकते है, मर्यादा हीन उच्छृंखल मन वेलगाम-घोड़े की तरह पाप कर्मों की ओर दौडता फिरेगा और सुलभता से उसमे रमण करेगा । फिर तो लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव हो जाएगी । क्योंकि सन्त या भगवान् के निकट मनुष्य तभी पहुँच सकता है जव वह जीवन मे पाप कर्मों का त्याग करेगा ।

देश विरति-श्रावक धर्म, पूर्ण त्याग-रूप श्रमण धर्म की ओर अग्रसर होने की भूमिका है । श्रमण धर्म की साधना के ज्वलन्त उदाहरण आपके सामने है । आचार्य संभूतिविजय और उनके मुनि संघ ने कितने कष्ट सहे तया वतला दिया कि विकारों के साय जूंझना सत्पुरुषों का काम है । पामर मनुष्य जहां आपस मे लड़कर ससार को रौरव बनाते, वहां ज्ञानी क्रोध, लोभादि विकारों से जूझते है, चाहे कितनी ही कठिनाई क्यो न आवे, वे पीछे नही हटते । कहा भी है–

सूरा चढ़ संग्राम में, फिर पाछो मति जोय ।
उतर जाय चौगान मे, करता करै सो होय ।।

शास्त्रकारों ने चार वाते दुर्जय बतलाई है । जैसे–

अक्खाण सणी, कम्माण, मोहणी तह वयाण बंभवई ।
गुत्तीण य मण गुत्ती, चउरो दुक्खेण जिप्पति ।। (दशाश्रुतस्कंध)

पाच इन्द्रियो मे रसना, आठ कर्मों में मोह, तथा व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत और गुप्तियों में मन गुप्ति को वश में करना कठिन है, अतः ये दुर्जय है । शेर, हाथी और शत्रु के कष्टो को सहन करने वाला पुरुष वीर कहलाता है किन्तु मन की गति राकेट और तीव्रगामी यानों की गति को भी मात करने वाली है । इसीलिए कवि ने कहा है–

सव कर्मों में मोह कर्म का, विजय कठिन बतलाया है ।
काम वासना को जीते वह, बड़ा शूर कहलाया है ।।

हरि करि अरि के कष्ट सहे, वह दुष्कर कर्म कहाता है ।
मोह जीतने वाला साधक, महावीर कहलाता है ।।

सतो की जीवनचर्या इसीलिए पढी और सुनी जाती है कि इससे मन की सोयी हुई ज्ञान शक्ति जागृत हो जाय । जिस प्रकार सूर्य किरण को यदि सूर्यमणि म केन्द्रित किया जाय तो रूई को जला सकती है, वैसे ही ज्ञान रूपी सूर्य किरण को हृदय रूपी काच म साधकर पाप पुज रूपी रूई की ढेरी को जला सकते है । हर मानव यदि पाप से भय करने लगे तो वह लोक और परलोक दोनो म अपना हित साध सकता है ।

---

[१४]

जीवन का प्राण सदाचार

दुनिया के साधनो मे भले ही चचल चित्त वाला आगे बढ़ सके, किन्तु अध्यात्म मार्ग मे उसकी गति तेज नही हो सकती । इस संसार में चित्त को चंचल बना देने के सहस्रो साधन है, जिन में कामिनी का स्थान सर्वोपरि माना गया है । इसकी दृष्टि मे वह जादू है, जो साधक के मन की चंचलता को बढ़ाकर, साधना मार्ग से उसे विचलित कर देती है ।

मन की चचलता को दूर करने के लिए, पहले उसका शुद्धिकरण करना होगा । जब मानसिक अशुद्धि दूर हो जाएगी तो स्थिरता सहज प्राप्त हो सकेगी । मन को निर्विकार समाधिस्थ कैसे बनाना, शिष्य की इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है :-

तस्सेस मग्गो गुरु-विद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा ।
सज्झाय एगत–णिसेवणा य, सुत्तत्थ सं चितणया धिई य ।।

अर्थात्-निर्विकार होने को गुरु तथा वृद्धजनो की सेवा करना, अज्ञानी एवं क्षुद्र प्रकृति के लोगो से दूर रहना, स्वाध्याय और चिन्तन द्वारा एकान्त सेवन करना । इस प्रकार सूत्रार्थ के चिन्तन से मन मे धृतिबल प्राप्त हो सकेगा ।

मन की दृढ़ता के लिए दृढ़ सहनन अर्थात् तन दृढ़ होने की भी अपेक्षा रहती है । कहावत भी है कि "स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन बसता है" शारीरिक स्वस्थता के लिए वीर्यबल अपेक्षित है । अतएव भारतीय सस्कृति में ब्रह्मचर्य की महिमा गाई गई है । आत्म स्वरूप का गान यह वाचिक ब्रह्मचर्य है । शरीर स्पर्श के सिवा चार अन्य भोग, शब्द, रूप, रस, गंध की आसक्ति भी ब्रह्मचर्य मे विघातक है ।

जैसे साधु-जीवन मे पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का नियम है। वैसे गृहस्थ जीवन मे भी भारतीय सस्कृति ने ब्रह्मचर्य पालन को आवश्यक माना है किन्तु आवश्यकतावश

इसमे थोडी सी छूट दी गई है । पाश्चात्य सस्कृति मे ब्रह्मचर्य पालन का कोई खास महत्व नही है फिर भी इसकी उपयोगिता और महत्व से वे सब भी अनभिज्ञ नही है।

व्यवहार मे स्त्री-पुरुष के समागम को कुशील माना गया है । यद्यपि ससार वृक्ष का मूल होने से गृहस्थ इसका सम्पूर्ण त्याग नही कर सकता फिर भी पर स्त्री–विवर्जन और स्व स्त्री समागम को सीमित रखना तो उसके लिये भी आवश्यक है । भारतीय सस्कृति के अनुसार भोग मानव का लक्ष्य नही है क्योंकि भोगरत तो अन्य सभी प्राणी हैं, फिर मानव जीवन की विशेषता क्या ? अतः मानवो के लिए त्याग को सुखद कहा गया है । कहा भी है यतस्त्यागस्तत सुखम् ।

यदि मानव अपनी असीम कामना को ससीम नही करेगा तो वह न सिर्फ अपने लिए, बल्कि समाज के लिए भी दुःखद बनेगा । जैसे गिरिशृग से गिरने वाली जलधारा यदि अबाध गति से खुली बहती रहे तो गाव घर, खेत-खलिहान आदि सब को भयकर क्षति पहुँचाएगी । अत इसका नियन्त्रण करना भी आवश्यक होता है । वैसे ही वासना की धारा को नियन्त्रित करना आवश्यक है ।

ससार मे साधारणतया देखा जाता है कि युवावस्था प्राप्त होते ही स्त्री पुरुष एक दूसरे से मिलने के लिए आतुर से रहते है । इस अवस्था मे उन्माद की इतनी अधिकता हो जाती है कि लोग महान् से महान् अनर्थ का काम करने पर भी उतारू हो जाते है । अत इन सब अनर्थों को रोकने और कामना वृत्ति को ससीम बनाने के लिए भारतीय पूर्वजो ने विवाह सम्बन्ध का नियम बनाया । इसके द्वारा व्यक्ति वासनाओ के बहाव से हट कर अपनी स्त्री मे मर्यादित रह सकता है ।

कामनाओ को समेटना व सीमित करना जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है । भगवान महावीर ने कहा है कि मनुष्य यदि कामना नही समेटेगा तो शारीरिक और आत्मिक दोनो दृष्टियो से बर्बाद होगा । कुसग मे पडा तरूण तन बल ज्ञान और आत्मा सभी का नाश करता है ।

सदाचार मानव जीवन का प्राण है । इसके बिना मानव अहिसादि किसी भी धर्म-तत्व को नही निभा सकता। क्योंकि हरक्षण उसमे मानसिक दुर्बलता बनी रहती है। ब्रह्मचर्य व्रत उत्तेजना के समय मनुष्य को कुवासनाओ पर विजय प्राप्त करा कर धर्म विमुख होने से बचाता है । ब्रह्मचारी सदाचारी गृहस्थ अपने जीवन मे बुद्धि पूर्वक सीमा बाध कर, अपनी विवेक शक्ति को निरन्तर जागृत रखता है। वह भोग विलास मे कीडे के सदृश तल्लीन नही रहता और न समाज मे कुप्रवृत्तियो को ही फैलाता है। कामना को सीमित ढग से शमन कर लेना ही उसका दृष्टिकोण रहता है।

कुशील की मर्यादा के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से अनेक रूप है। अपने स्त्री पुरुष का परिमाण यह द्रव्य मर्यादा है, क्षेत्र से विदेश का त्याग करना, काल से दिन का त्याग और रात्रि की मर्यादा, भाव से एक करण एक योग आदि रूप से व्रत की मर्यादा होती है। प्राचीन काल में सामान्य जन भी पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन की मर्यादा रखते थे। उस समय भारत वर्ष में आश्रम व्यवस्था चल रही थी। किन्तु आज स्थिति बदली हुई है। उत्तेजक वस्तुओ के भोजन और श्रृंगार प्रधान वातावरण मे रहने के कारण बच्चो मे काम-वासना शीघ्र जागृत होती है। परिस्थिति को ध्यान मे लेकर ही जैन शास्त्र में अवस्था का नियम नही बताया। क्योकि शरीर वृद्धि मे जल, वायु, वातावरण तथा वंश आदि का भी प्रभाव पड़ता है। उष्ण प्रदेश मे असमय में ही बालक बालिकाएं योवन धारण करते दिखाई देते है और इस स्थिति मे उनको सभालकर चलाना भारी लगने लगता है।

जब जीवन में तरुणाई अगडाई लेने लगे और मन की गति मृग सम चंचल बन जाय तब ऐसे ही नाजुक क्षणो मे तरुणाई को कुवासनाओ से बचाने की जरूरत रहती है। प्रमादवश यदि एक बार भी वे गलत मार्ग पर लग गए तो फिर उससे उनका पिण्ड छुड़ाना मुश्किल हो जाएगा।

जब शरीर पूर्ण विकसित होकर अंग प्रत्यंग जागृत एवं पुष्ट हो जाते थे तभी प्राचीन काल में विवाह की स्थिति समझी जाती थी। इससे तरुणो या तरुणियों को बहकने का अवसर नही मिल पाता और वे अपनी कामवासना को अपने तक ही सीमित कर अनर्थ एवं अधर्म से भी बच पाते थे। प्रागैतिहासिक काल तक २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालना मामूली सी बात मानी जाती थी और उसका पालन ऐतिहासिक काल तक भी चलता रहा। शादी के पश्चात् दुबारा जब बालिका का ससुराल मे पुनरागमन होता, तब उसे उत्सव माना जाता था। परन्तु दुर्भाग्य या तरक्की की बात यह है कि आजकल शादी के प्रथम वर्ष में ही लड़की मा तथा लड़का बाप बनने का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है और जो जल्द नही बन पाते उनके मा बाप उनके लिए देवी-देवता की मिन्नतें मनाने लग जाते है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि दोनों का शरीर असमय मे ही बिगड़ जाता है। उनसे पैदा होने वाली संतान भी किसी काम की नही रह पाती।

आज के लोगो का आहार-विहार नियन्त्रित नही है। सदाचार को भूल जाने से मानव अपने को पद-पद पर पीड़ित और व्याकुल अनुभव कर रहा है। उत्साह, उमंग और उल्लास आदि प्रमोदकारी तत्वों का जिनसे जीवन मे जान आती है आज सर्वथा अभाव देखा जा रहा है। तरुणाई में ही बुढ़ापा झांकने लगता है तथा शरीर रक्त-हीन एवं निस्तेज प्रतीत होता है। आज के भारतीय तरुण की

शारीरिक दुर्दशा देखकर सचमुच मे दया आती है जो समय से पहले ही कुम्हलाया और मुर्झाया सा लगता है । एक उर्दू के शायर ने ठीक ही कहा है –

फूल तो दो दिन बहारें जा फिजा दिखला गए ।
हसरत उन गुचो पै है जो वे खिले मुरझा गये ।।

यदि मानव का आहार विहार ठीक हो, तो उसमे विषमता नही आ सकती तथा शरीर के क्षीण होने की भी समावना नही रहती । जिनमे ब्रह्मचर्य का तेज रहेगा, वे निश्चय ही आनन्दमय जीवन व्यतीत करेंगे ।

मनुष्य के शरीर मे वीर्य ही वास्तव मे तेज या बल है । जब तक शरीर मे यह बना रहता है तब तक एक प्रकार की दीप्ति मुख मडल पर छायी रहती है और शरीर अगूर की तरह दमकता रहता है । वीर्य के अभाव मे शरीर कुछ और ही हो जाता है । वस्तुतः वीर्यनाश ही मृत्यु और वीर्य धारण ही जीवन है । कहा भी है–

"मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्"

अर्थात् बिन्दु भर वीर्य का पात मरण तथा बिन्दु भर वीर्य का रक्षण ही जीवन है । शरीर शास्त्रियो का कहना है कि प्रतिदिन सेर भर पौष्टिक भोजन खाने वाला मनुष्य ४० दिनो मे डेढ तोला वीर्य सचय करता है । आज साधारण मनुष्य को खाने के लिए दूध, घी सरीखा पौष्टिक पदार्थ तो दूर रहा दो बार पेट भरने को साधारण अन्न भी नही मिलता । ऐसी सामान्य खुराक मे ४० दिनो मे कितना वीर्य सचित होगा ? यह सोचने की बात है ।

यदि एक बार भी पुरुष स्त्री का सग करे तो चालीस दिनो का सचित वीर्य समाप्त हो जाता है । शरीर की इतनी बहुमूल्य वस्तु के विनाश का यह क्रम चलता रहा तो शरीर की गाडी कैसे और कब तक चलेगी ? यह बाल जीवन के वीर्य रक्षण का ही परिणाम है कि गाडी धक्के खाकर भी चलती रहती है ।

यूनान के महा पण्डित एव अनुभवी शिक्षक सुकरात ने अपने एक जिज्ञासु भक्त से कहा था कि मनुष्य को जीवन मे एक बार ही स्त्री समागम करना चाहिए । यदि इतने से कोई नही चला सके तो वर्ष मे एक बार और यदि इससे भी काम न चले तो मास मे एक बार । जिज्ञासु ने पूछा – अगर इससे भी आदमी काबू नहीं पा सके तो क्या करे ? उत्तर मिला – कफन की सामग्री जुटा कर रखले, फिर चाहे जितना भी समागम करे ।

यह तो शारीरिक दृष्टिकोण से विचार हुआ । आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर ब्रह्मचर्य का महत्त्व अनन्त एव उपादेय रूप है । ब्रह्मचर्य व्रत सेना म

सेनापति के समान अन्य सब व्रतो में अधिक महत्वशाली है । इसकी रक्षा के लिए नव नियम नव बाड़ के रूप में बतलाए गए है । यह अन्य व्रतों का रक्षक है । जैसे दीपक तेल बिना बुझ जाता है, वैसे ही शरीर का तेल अधिक जलाया गया तो जीवन दीप भी शीघ्र ही बुझ जाएगा । अल्पायु मे मृत्यु का एक कारण अधिक मैथुन, एवं आहार-विहार का असयम भी है । सदाचार के महत्व को समझने वाला गृहस्थ, ब्रह्मचर्य का हमेशा पूर्ण पालन करेगा ।

कुशील सेवन करने वाले, वीर्य हानि के साथ असख्य कीटाणुओं के नाश रूप हिसा के भी भागी बनते है । ब्रह्मचर्य की चोरी करने वालो को प्रकृति के घर से सजा होती है और इसी के कारण आज रोगियों की सख्या अधिक हो रही है । जिन्होने गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया है या प्रवेश करने वाले है, उन्हे इन बातों का गम्भीरतापूर्वक मनन करना चाहिए । यदि ब्रह्मचर्य रूप दवा का सेवन किया जाय तो सहज मे डाक्टरों के चक्कर मे नही पड़ना पड़ेगा और शरीर भी सदा स्वस्थ बना रह सकेगा ।

सदाचार मे प्रमुख बाधक तत्व आहार विहार की खराबी है । चाय, पान, सिनेमा के अश्लील चित्र, नशीली वस्तुएं आदि उत्तेजक उपकरणो ने सदाचार को बिगाड़ रखा है । ब्रह्मचर्य मानव का एक स्वाभाविक गुण है और कदाचार बाहर से आया हुआ एक अस्वाभाविक तत्व है । जानी हुई बात है कि दुराचारियों की सन्तान भी दुराचारी बन जाती है ।

इस प्रकार दुराचारी व्यक्ति आत्म गुणो को ही नष्ट नही करता, वरन् भावी पीढ़ी को बिगाड़ कर समाज के सामने भी गलत उदाहरण प्रस्तुत करता है । अतएव कहा है –"शीलं पर भूषणम्" अर्थात् सोने चादी आदि के आभूषण एवं वस्त्रादि ब्राह्य सजावट की वस्तुएं वास्तविक आभूषण नहीं है, किन्तु शील ही मानव का परम आभूषण है । सदाचारी व्यक्ति कभी ठगाता नही और प्रगति पूर्वक अपने पथ पर आगे बढ़ता है ।

समझ आ जाने के बाद मनुष्य के लिए बुराई का त्याग कोई कठिन कार्य नहीं है, केवल मन की दुर्बलता हटाकर सदाचार पालन की भीष्म प्रतिज्ञा लेनी पड़ेगी । गागेय-भीष्म के कामना-नियन्त्रण का दृष्टान्त संसार से छिपा नहीं है । भीष्म ने अपने पिता शान्तनु के सुख के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की भीष्म प्रतिज्ञा की । क्योंकि शान्तनु की इच्छा पूर्ति के लिए सत्यवती के पिता धीवर ने कहा कि सत्यवती की संतान ही राज्याधिकारी हो, वह इसी शर्त पर अपनी बेटी दे सकता है । पिता की मनस्तुष्टि के लिए गागेय ने आजीवन ब्रह्मचारी बने रहने का व्रत ले

पिता की मनस्तुष्टि के लिए गांगेय ने आजीवन ब्रह्मचारी बने रहने का व्रत ले लिया । जो लोग कहा करते है कि बिना पुत्र के मुक्ति नही मिलती भीष्म ने उनकी गलत परम्परा को नया मोड दिया और बतलाया कि सुकृत्य से मानव मुक्ति पाता है, पुत्र से नही । महाभारत के हजारो पात्रो मे भीष्म का जो ओज व तेज है वह किसी दूसरे को नही मिला । अत भरसक हर युवक युवती को भीष्म सी प्रतीज्ञा पालन कर आदर्श उपस्थित करना चाहिए ।

महामुनि स्थूलभद्र की जीवन गाथा भी हमारे सामने है । वे स्वय तो निष्कलक चरित्र रहे ही, पर साथ ही एक कदाचारिणी वेश्या के जीवन को भी सुधार दिया । जिस प्रकार काम विजय कर स्थूलभद्र ने अपने जीवन मे सिद्धि प्राप्त की वैसे हर मानव यदि ब्रह्मचर्य का पालन करे तो उसका उभयलोक सुखद होगा ।

---

[१५]

सा विद्या या विमुक्तये

द्रव्य कर्म को अपनी ओर आकर्षित करने वाला भाव कर्म है । भावकर्म यदि कमजोर हुआ तो द्रव्यकर्म स्वतः कमजोर हो जायेगा । भावकर्म यदि सज़ोर है और द्रव्य-कर्म कमजोर है तो वह उसे भी सबल बना देगा । भावकर्म का रूप—काम क्रोध, माया, मोह आदि है, जो मनुष्य को विविध प्रपन्चों में उलझाए रखता है ।

श्रावक आनन्द प्रभु के समीप व्रत ग्रहण कर अहिसा सत्यादि का पालक बन गया। व्रत ग्रहण के पूर्व उसे तत्व-अतत्व का ज्ञान नहीं था । वह दुनिया के प्रवाह में तन, धन, परिजन, एवं पुत्र कलत्र आदि को ही सब कुछ मानता था । महावीर स्वामी के पास उसे सद्‌विद्या मिली, प्रकाश मिला और वह वस्तु स्वरूप को समझने लगा ।

प्राचीन आचार्यों ने परा और अपरा दो विद्याएं मानी है । साक्षरता ही विद्या नही वह तो एक साधन है । वास्तव मे जिस विद्या के द्वारा मनुष्य, हित, अहित, उत्थान और पतन के मार्ग को समझ सके वही सच्ची विद्या है । जैसे—"वेत्ति हिताहितमनया सा विद्या" । दूसरे व्याख्याकार का मत है कि जो आत्मा का बंधन काट दे वही सही विद्या है । जैसे—"सा विद्या या विमुक्तये" ।

आज का मनुष्य विद्या को जीविका-संचालन का साधन मानता है, निर्वाह का संबल मानता है, यह नितान्त भ्रम है । जीवन निर्वाह के लिए वस्तुएं जुटाना, खाद्य पदार्थ जुटाना, सतति का पालन-पोषण करना, गर्मी-सर्दी-वर्षा से बचाव करना आदि बाते तो पशु भी कर लेते है । पक्षी बड़ी चतुराई से अपना घोंसला बना लेता है और वह भी ऐसे स्थानों में जहां अन्य प्राणियों का संचार न हो । मगर उनको विद्वान् नही कह सकते । पेट पालने का तरीका, हुनर या शिल्प-विद्या विज्ञान है, तथा आत्मतत्व को जानने की विद्या ज्ञान है । ऐसा अमर कोषकार अमरसिंह का कथन है। जैसे कि "मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञान शिल्पशास्त्रयोः ।"

धन कमाने का इल्म या हुनर जानने वाला विज्ञान रखता है परन्तु ज्ञान के अभाव मे उसे सच्ची शान्ति नही मिलती । इस प्रकार की विद्या जो पेट पालने का केवल हुनर सिखावे वह मृग जलवत् है । जैसे ग्रीष्मकाल मे तृषित मृग भ्रम मे पडकर झूठे जल के लिए दौड दौडकर अपने प्राण दे डालता है वैसे ही मनुष्य अन्न के कणो के लिए चादी या कागज के टुकडो के लिए दौड-दौड कर अपना बहुमूल्य जीवन नष्ट कर डालता है । मन की लहरो के अनुसार मर्कट नाच नाचने से क्या प्यास बुझ जायेगी ? नही, वह तो सद्विद्या के द्वारा ही बुझ सकती है और उससे अशान्त जीवन मे सच्ची शान्ति आ सकती है । आनन्द पूर्व गृहीत चार व्रतो के पश्चात् पचमव्रत इच्छा परिमाण को स्वीकार करता है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

इच्छा के पीछे जग जाता जिमि शरीर अनुगत छाया ।
जहा चाह है वहा राह है यह परेश की है माया ।।

इच्छा मनुष्य को सतत अशान्त बनाए रखती है । ससार उसके पीछे वैसे ही दौडता है जैसे काया के पीछे छाया । जगत् मे सब बातो की पूर्ति की जा सकती है । किन्तु इच्छा की पूर्ति समव नही । जब तक मनुष्य अपने मन पर अकुश नहीं लगाता तब तक वह उसे विविध रूप से नचाती है और सदा आकुल बनाए रखती है । ज्ञानवान् मन को अपने वश मे रखकर आत्म-शान्ति का सुखानुभव करता है । कहा भी है–

मन सब पर असवार है मन का मता अनेक ।
जो मन पर असवार है वह लाखन मे एक ।।

ज्ञान बल न होने से मानव इच्छा पर नियन्त्रण नहीं कर पाता और रात दिन आकुलता का अनुभव करता है । ज्ञान की बागडोर यदि हाथ लग जाय तो चचल मन-तुरग को वश मे रखा जा सकता है इसके लिए सतसगति और सुशिक्षा म प्रयत्न किया जाता है ।

वर्तमान काल मे शिक्षा का बहुत प्रसार है और साक्षरता मे भी अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि हुई है किन्तु साक्षरता तो साधन मात्र है जिसके द्वारा ज्ञान के प्रवेश द्वार तक पहुँच सकते है । शास्त्रो के पठन-पाठन एव भाव ग्रहण करने के लिए इसकी आवश्यकता है । मगर जैसे किसी प्रासाद के द्वार पर पहुँच कर यदि भोजनशाला मे न पहुँचे तो भूख ज्या की त्यो बनी रहेगी । वैसे साक्षरता मात्र से शान्ति नही मिलती, वरन् ज्ञान की प्राप्ति होने पर सदाचार पालन से ही शान्ति मिलती है ।

कोरी साक्षरता वाली सन्तान विपरीत हो जाने पर 'राक्षस' तुल्य वन जाती है–जैसे कि 'साक्षरा' शब्द को उलट देने से 'राक्षसा' शब्द वन जाता है। यही कारण है कि आज की साक्षरता के अनेक दुष्परिणाम देखे जा रहे है। तलाक की प्रथा से बात की वात मे स्त्री-पुरुष को और पुरूष स्त्री को छोड़ देता है। पुत्र पिता पर मुकदमे चलाता है और स्त्री पति पर। यह उलट गंगा साक्षरो के द्वारा ही बहायी जाती है। फिर ऐसी साक्षरता किस काम की ? जो अपनी परम्परा, संस्कृति और मर्यादा का ध्यान नही रखे। कला विज्ञान के साथ यदि सद्‌विद्या हो तो जीवन में सरसता रहेगी। सरस विद्वान् विरोधी होने की स्थिति मे भी सरस ही रहेगा। इसीलिए कहा है–

"सरसाविपरीताश्चेत्, सरसत्वं न मुच्यन्ति।"

सद्‌गृहस्थ आनन्द ने जब भगवान् महावीर स्वामी के समक्ष इच्छा परिमाण का व्रत लिया, तव उसे सच्ची शान्ति मिली। इच्छा परिमाण के लिए अध्यात्म विद्या की आवश्यकता होती है जो आत्मा के महत्व और संसार की असारता का परिचय कराती है।

आज के शिक्षण से संसार, दुष्प्रवृत्तियो का शिकार हो गया है। तरह-तरह की उद्दण्डताए और असामाजिक आचरणों की प्रधानता से विद्यार्थी समाज वदनाम होता जा रहा है। अतएव, आज की शिक्षा को लोग शंका की दृष्टि से देखने लगे है। यही कारण है कि आज के शिक्षण शास्त्रियों को यह मानना पड़ा है कि नैतिक और आध्यात्मिक विद्या के बिना छात्रों की अनुशासन-हीनता कम नहीं हो सकती। यदि बच्चों मे शिक्षा-प्रणाली के माध्यम से सुसस्कार डाले जायं, तो वे आदर्श-जीवन बनाने की कला सीख सकेगे।

यदि कोई स्वस्थ अवस्था में विकार से बचने की सजगता न रखे तथा रुग्ण हो जाने पर उपचार न करे तो इस असावधानी का परिणाम भयंकर हो सकता है। ऐसे ही समय रहते, बच्चों के सुसंस्कार के लिए यदि समाज तन, मन, धन नही लगाएगा तो इसके कटु-फल उसे अवश्य भोगने पडेगे। पहले की सी विनम्रता, श्रद्धा, भ्रातृत्व, शिष्यत्व और भक्ति आदि के भाव अब बहुत कम दिखाई देते है। अध्यात्म-विद्या की शिक्षा से यह कमी दूर की जा सकती है। माता-पिता का यह पुनीत कर्तव्य है कि बच्चों की सद्‌विद्या का उसी प्रकार ध्यान रखें, जैसे उनके भरण-पोषण का ध्यान रखते है।

महामन्त्री शकटार की धर्म-पत्नी लाछलदे ने अपनी सन्ततियों की सत्‌शिक्षा का ऐसा समुचित प्रवन्ध किया था कि उनकी हर एक सन्तान अद्वितीय निकली। स्थूलभद्र

मे उत्तम सस्कार डालकर उसने एक अमर साधक उत्पन्न कर दिया । महामन्त्री शकटार राजनीति और अर्थनीति मे लिप्त रहते थे । राजनीति एव अर्थनीति मे भाईचारा नही रहता, किन्तु अध्यात्म विद्या मे सब के लिए मैत्रीभाव रहता है । लाछलदे आध्यत्मिक प्रवृत्ति वाली थी । वह पतिभक्ता गुणवती शीलवती और रूपवती नारी थी । वह वाणी मे मिठास, मन मे प्रीति और व्यवहार मे कुशलता रखने वाली थी । अतिथिगण उसके मधुर व्यवहार से मुग्ध थे । वह धर्म मे पति की सहायिका एक आदर्श धर्मपत्नि थी । लाछलदे पति-पत्नि के सम्बन्ध को भोग का ही नही मानती थी । उसने हीरे, जवाहरात के आभूषणो से नहीं बल्कि सद्गुणो से अपने को अलकृत किया था । यदि ऐसी ललनाए भारत भूमि मे जन्म लेकर कर्तव्य के प्रति जागरुक रहे तो भावी सन्तति को सुधरने मे कुछ भी देर नही लगे ।

आनन्द ने इच्छा परिमाण का सकल्प लेकर जीवन को जजालो से अलग किया । क्योंकि इच्छा परिमाण के बिना परिग्रह पर नियन्त्रण असम्भव है । जगम स्थावर या सचित्त-अचित्त रूप से परिग्रह ही मनुष्य को ससार-कान्तार मे चक्कर खिलाता है या भवसागर मे गोते पर गोते लगवाता है जिसकी आकाक्षा द्रोपदी के चीर की तरह बढी होती है वह आर्त्त एव अशान्त हो जाता है और अशान्त मन से धर्म साधना कभी सम्भव नही होती । परिग्रह की दृष्टि से मनुष्य के तीन भेद होते है जैसे –

१–महापरिग्रही २–अल्पपरिग्रही ३–और अपरिग्रही । अपरिग्रही वही बन सकता है जिसकी आकाक्षाए पूर्ण नियन्त्रित हो । ऐसा व्यक्ति कभी राजकीय अपराधो मे नही पडता । ऐसा अपरिग्रही महाव्रती साधु है । दो हाथ वाला प्राणी जब दस हाथ वाले के सदृश काम करे और काम के पीछे दिन रात हाय हाय करे तो भला उसे सुख-शान्ति कैसे मिल सकती है? जहा परिग्रह की कोई सीमा नही वहा जीवन मे शान्ति नही और अशान्त जीवन मे साधना को गति नही ।

आनन्द व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनो जीवन का सामन्जस्य करता है और अपने को अल्पपरिग्रही बनाता है । निश्चय ही वह चतुर व्यक्ति है जो लोक एव परलोक दोनो को सभालता है । गृहस्थ होकर जो इस लोक मे ही बिलकुल मस्त हो जाय और काम के पीछे दिन रात का भी ज्ञान न रखे वह जीवन की चतुराई को नही जानता । कहा भी है–

' या लोकद्धयसाधिनी तनुभृता सा चतुरी चातुरी । '

यानि उभयलोक साधने वाली चातुरी ही वास्तविक चातुरी है ।

अनियन्त्रित लोभ या क्रोध व्यावहारिक जीवन को कटु बना देता है और वैसी परिस्थिति मे साधक का लोक-जीवन भी ठीक नही बन पाता । वह माता-पिता, परिजन एव बन्धु-बान्धव आदि के प्रति भी ठीक व्यवहार नही रख पाता । वस्तुतः लोभ व लालसा आदि पर अंकुश लगाने वाला ही जीवन में सुखी बनता है । सन्त की तरह सर्वथा परिग्रह-मुक्त नही होने की स्थिति मे भी गृहस्थ को परिग्रह साध्य के रूप मे नही, वरन् साधन के रूप में मानना चाहिए । परिग्रह कमजोर अवस्था मे लिए गए लाठी के सहारे के समान है । जैसे कमजोर व्यक्ति बल आते ही लाठी को हटा देता है, वैसे ही ज्ञानी गृहस्थ परिग्रह को सहारा मानता और संयमित कर उसे उपधि-उपकारी बना कर समय आते ही छोड़ देता है ।

व्यवहार मे लोक, आनन्द को महापरिग्रही और एक भिखारी को अल्पपरिग्रही कहेगे, परन्तु प्रभु कहते है—अल्पपरिग्रह और महापरिग्रह का मापदण्ड निराला है । जिसके पास कुछ नही पर इच्छा बढ़ी हुई है, तृष्णा असीम है, तो वह महापरिग्रही है और करोड़ों की सम्पदा पाकर भी जिसकी इच्छा पर नियन्त्रण है, चाह की दौड़ घटी हुई है, वह अल्पपरिग्रही है । चेडा राजा और आनन्द आदि श्रावक इसी श्रेणी के पुरुष है ।

आनन्द ने स्थावर और जगम दोनों प्रकार के परिग्रहो का परिमाण किया । उसने सोना, चादी आदि जड़ तथा गोधन, बाजिधन एवं अन्य चतुष्पद धनो को भी सयमित कर लिया। बारह करोड़ की सम्पदा, चालीस हजार पशु और ५०० हल के परिमाण से अधिक भूमि का त्याग कर दिया । बाह्य परिग्रह नव प्रकार का है, जैसे क्षेत्र और घर-प्रासादादि-१-२ सोना एवं चादी ३-४ धन-मणि-मौक्तिक मुद्रा और धान्य ५-६ दास-दासी और पशु-पक्षी ७-८ और घर का सामान ९ इन सबका परिमाण करके उसने सीमित कर लिया । इसीलिए उसका परिग्रह अल्पपरिग्रह कहा गया । परिग्रह परिमाण के उसके तीन प्रयोजन थे १-इच्छाओ के बढ़ते वेग पर नियन्त्रण करना, २-वैर-विरोध का कारण घटाना । ३-साधना मे आने वाले विक्षेप को घटाना । मानसिक शान्ति बढ़ाना और साधना के विक्षेप को दूर करना ।

इच्छाओ को सीमित किए बिना साधना की ओर चरण नही बढ़ेगा और मानव-जीवन कीट पतंगो की तरह छटपटाता रहेगा । यदि मनुष्य ने अपना जीवन पेट भरने के धधे मे ही बिता दिया तो समझना चाहिए कि उसने नरभव को महत्वहीन बना लिया । कहा भी है—

हँस के दुनिया में मरा कोई, कोई रोके मरा ।
जिन्दगी पायी मगर, उसने जो कुछ होके मरा ।।

दुर्गुणी मानव परिग्रह के पीछे हाय हाय करते मरता है । किन्तु ज्ञानी भक्त मरते समय सद्गुणो का धन सभालता है । अतएव लडकी जैसे ससुराल से पिता के घर जाने मे प्रसन्नचित्त होती है, वैसे वह भी परलोक की ओर हँसते हँसते जाता और आनन्दित होता है । हर मानव को ऐसी ही साधना करनी चाहिए और ऐसी तैयारी रखनी चाहिए, जिससे कि वह हसते हसते इस ससार से प्रस्थान कर सके ।

महामुनि स्थूलभद्र ने पूर्ण त्याग का जीवन व्यतीत किया उनकी साधना मे जीवन-सुधार की कला थी । उनका जीवन आज भी धन्य धन्य माना जाता है । भला जिनका जीवन बिगडा होगा, उनकी मृत्यु हँसते हँसते कैसे हो सकती है । उसके लिए साधना की आवश्यकता है वह सयम श्रद्धा और विवेकपूर्ण होने पर ही हितकर हो सकती है । अन्यथा साधक के स्थान मे मारक बन जाती है ।

आत्म-साधना की तो बात ही क्या ? व्यवहार के साधारण काम भी विवेक के बिना उपहास के कारण हो जाते है । एक सासू अपनी बहू को काम सिखा रही थी । झाडू निकालने के बाद सासू रोटी बनाने बैठी तो बहू बोली माँ । यह तो मै ही बना लूगी और उसने परात मे आटा लेकर लोटा भर पानी डाल दिया । पानी की अधिकता से आटा ढीला हो गया । बहू आकर सासू से कहने लगी कि रोटी तो नही बनती । सासू ने कहा अच्छा ठहरो, थोडा पानी और डाल दे तो राबडी हो जाएगी । बहू न कहा पानी डालकर राबडी तो मै ही बना दूगी । उसने आटे को हाण्डी मे डालकर पानी भर दिया और हण्डिया को चूल्हे पर रख कर चली आयी । आच की तेजी से हण्डी मे उफान आया और राब अग्नि की भेट चढ गई । कुछ समय बाद बहूजी राब लेने को आयी तो देखा कि राब उफनने से चूल्हा बुझा पडा है । बची-खुची राब लेकर बुढिया के पास गई । सासू राब देखते ही स्थिति समझ गई और प्रसाद के रूप मे राब लेकर सतोष मान चुप हो गई ।

चूल्हे को साफ कर सासू जब राख डालने को तैयार हुई तो बहू बोली–माताजी ? इतना तो हमे भी करने दो ।

कचरा डालने मे क्या है ? इस पर सासू बोली देखो बेटी । भले आदमी को देखकर गिराना । हाँ कहकर बहूजी गई और थोडी देर बाद एक भले आदमी को आते देखकर उस पर कचरा गिरा दिया । राहगीर बडा नाराज हुआ । उसने कहा–एक भले घर की स्त्री होकर तुमने जगली को भी न शोभे ऐसा काम किया शर्म की बात है । शोर सुनकर बुढिया आयी और देखा तो बडा दुःख हुआ हाँ तो हर काम मे विवेक की जरूरत है।

सयम के बिना किए गए कार्य मे स्व पर की हानि होती है । अतः हर एक कार्य सयम और विवेक से किया जाना चाहिए । यह शिक्षा घर में कुटुम्ब के मुखिया तथा समाज के सत्पुरुषों के द्वारा मिलनी चाहिए । तभी संस्कार का रक्षण और भावी प्रजा का कल्याण हो सकता है ।

---

[१६]

परिग्रह

ससार मे जितने प्राणी है उनमे से कोई भी दु खमय जीवन जीना नही चाहता । फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या ? वह तो ससार का सबसे बढकर बुद्धिमान प्राणी है । फिर भी देखा जाता है कि अज्ञानवश वह दुःख के मार्ग पर स्वय चलता रहता है । दूसरो को दुःख मे पडा देख कर भी मनुष्य उनसे सीख ग्रहण नही कर पाता तथा उन्ही कारणो को स्वय अपनाता है जिनसे उसके दु ख घटने के बजाय बढते रहते है । सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र से दुःख के इस बन्धन को काटा जा सकता है । सद्ज्ञान प्राप्ति के लिए सद्गुरु की शरण और अटूट लगन की जरूरत रहती है । ससार मे मोह का सबसे बडा रूप लोभ है जो कि मानव की आखो मे अहर्निश समाया रहता है । ससार के सकल अनर्थों की जड यही लोभ है जो सतत सबको नचाता रहता है । यदि मनुष्य अपने बढते परिग्रह पर नियन्त्रण कर ले तो वह स्वय को सुधार कर दूसरो को भी आसानी से सुधार सकता है और कर्म के भार से हल्का हो सकता है । जब तक हृदय मे मोह है तब तक सद्ज्ञान की स्थिरता असभव है । अगर लोभ से सर्वथा पिण्ड छुडाना कठिन है तो उसकी दिशा बदली जा सकती है और उसे गुरुसेवा या जप-तप तथा सद्गुणो की ओर मोडा जा सकता है । ऐसा करने पर परिग्रह का बन्धन भी सहज ढीला हो सकेगा ।

साधारणत मानव मोह का पूर्णरूप से त्याग नहीं कर सकता पूर्ण अपरिग्रही नही बन सकता तो क्या वह उस पर सयम भी नही कर सकता ? ऊची डालिया के फूल हम नही पा सकते तो क्या नीचे के काटो से दामन भी नही छुडा सकते ? अवश्य छुडा सकते है । जब शरीर के किसी अग मे अनावश्यक मास वृद्धि हो जातीहै तो उससे शारीरिक कार्यों मे बाधा पडती है । उस बाह्य वृद्धि को पट्टी बाधकर या अन्य उपचार के द्वारा रोकना पडता है सीमित करना पडता है वैसे ही बढा हुआ परिग्रह भी अच्छे कार्यों मे – साधना मे बाधक होता है । अत उस पर

नियमन की पट्‌टी लगानी आवश्यक होती है । आनन्द गाथापति ने भगवान् महावीर स्वामी के समक्ष इसीलिये इच्छा परिमाण का व्रत स्वीकार किया ।

यदि मन का नियमन नही किया गया तो मन मे कभी शान्ति नही रहेगी । जिसने सम्पदा पर बाह्य दृष्टि से तो परिमाण किया है किन्तु इच्छा पर नियमन नही किया तो उसे सच्ची शान्ति प्राप्त नही होती और उसका व्रत धारण भी विधिपूर्वक नही समझा जाएगा । इसीलिए परिग्रह परिमाण का दूसरा नाम शास्त्र मे इच्छा परिमाण भी रखा है । जब इच्छा की सीमा होगी तो मन मे आकुलता नही रहेगी ।

आनन्द के पास बारह करोड़ की सम्पदा तथा चालीस हजार का पशुधन था। वह अपनी बढ़ी हुई सम्पदा की बेल को सीमा के अन्दर रखना चाहता था, इसीलिए उसने संकल्प किया कि भगवान् ! इस वर्तमान सम्पदा से अधिक का मै सचय नही करूगा । वस्तुतः इच्छा पर नियन्त्रण होने से सहज ही त्याग की ओर मन बढ़ता है, जिससे जीवन मे एक अलौकिक आनन्दानुभव होता है, जो धन के लिए सतृष्ण होने पर कभी संभव नही । आनन्द ने पाचवे व्रत मे नौ प्रकार के परिग्रह १. खेत २. वस्तु ३. धन ४. धान्य ५. हिरण्य ६. सुवर्ण ७. दास-दासी ८. पशु और ९ गृह-सज्जा आदि अन्य सामान का परिमाण किया ।

१—खित्त याने खुले मैदान की भूमि खेत आदि (२)—वास्तुक याने गृह प्रासाद आदि यथा-घर, गौशाला, घुड़शाला, हाट-हवेली आदि । वस्तु परिमाण के सम्बन्ध मे आनन्द ने नियम किया कि वर्तमान में जितने मकान है उनसे अधिक अब नही बढ़ाऊगा । इस प्रकार का व्रती दैववश प्राप्त होने वाली नयी सम्पत्ति, दान, पुरस्कार या अन्य किसी भी प्रकार की ऐसी सम्पत्ति से अपने को विमुख रखेगा जिसके चलते कि आज जगह-जगह महाभारत का श्रीगणेश होता है । जब तक मनुष्यो के मन मे सन्तोष का रूप स्थिर नही होता तब तक सरकार द्वारा किया गया नियमन एव लाखो का व्यय भी व्यर्थ ही जचता है । इच्छा परिमाण के अन्तर्गत जो भावना निहित है वह शासनतन्त्र से प्राप्त नही हो सकती ।

नौ परिग्रहों मे से किसी परिग्रह मे देश काल समय देखकर अधिक या कम नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ती है । आज ऐसे बहुत सारे परिवार है जहा दास-दासी रखने की आवश्यकता नहीं होती । मनुष्य अपना काम आप कर लेता हे और इसमे वह किसी प्रकार की हीनता का अनुभव नही करता। दास रखने की आवश्यकता काम की अधिकता, रोगी या कमजोरी की दशा एवं प्रभुता या बड़प्पन के प्रदर्शन करने आदि के लिए होती है। आज अधिकांश अल्पकालिक वेतनभोगी दास से काम चला लिया जाता है । अपने करके दास-दासी थोड़े ही सम्पन्न लोग रख पायेंगे । किन्तु

मध्ययुग मे तो दास दासी रखने की प्रथा थी चाहे जरूरत हो या नहीं । आनन्द ने इसका भी परिमाण कर लिया । क्योंकि दास के साथ अनात्मभाव से काम लेना अहिंसा के विपरीत यानि धार्मिकता के विरुद्ध है । आनन्द के सैकड़ो दास थे ।

आज कुछ लोग नौकर रखकर यह तर्क उपस्थित करते है कि हम मजदूर लोगो का पालन करते है । ऐसी दुहाई देने वाले कहा तक सच कहते है यह उनका हृदय जानता है । आज के कारखाने स्वार्थ के लिए चलते है या लोकपालन के लिए ? इसका जवाब तो स्वय से पूछना चाहिए ।

जिन घरो मे सस्कार अच्छे होते है वहा के बच्चे भी धर्म-भावना से सदा प्रेरित रहते है अतः हर गृहस्थ को अपने अमर्यादित लोभ पर नियन्त्रण करना आवश्यक है । कहा भी है

अति लोभो न कर्तव्यः लोभो नैव च नैव च ।
अति लोभो प्रसादेन सागरः सागरं गतः ॥

जिस प्रकार एक मोटरगाडी है जिसकी तेल वाली टकी म पट्रोल तो डाला गया किन्तु पानी की टकी मे पानी नहीं डाला तो एसी गाडी म यात्रा करना खतरे से खाली नहीं होगा । ऐसे ही जीवन की यात्रा म व्रत नियम के जल की टकी भी आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना जीवनरूपी गाडी को भयकर खतरा हो सकता है ।

धनी घरो म बच्चे प्रारम्भ से ही अर्थ की घुट्टी पीते है । अतः श्रीमन्त घरो के बच्चो मे अनायास धर्म की ओर प्रवृत्ति नही हो पाती । ऐसे बच्चो के मन मे सदा धनोपार्जन की कामना रहती है । उनमे सेवा देने वाले, धर्मभावना वाले लोग बहुत कम मिलते है क्योंकि मन मे सेवा की रुचि जगाने के लिए परिग्रह पर नियन्त्रण आवश्यक है । घर के जन-जन म अर्थ रुचि देखने वाला बच्चा सेवा रुचि या धर्म रुचि वाला कैसे हो सकता है । इसके लिए समाज के प्रति प्रेम होना आवश्यक है। गुणिजनो के प्रति यदि आदरभाव जागृत हो तो समाजसेवी भी मिल सकेंगे । राजिया कवि ने कहा है —

जब आदर बिन मद, सुन न कोई सामने ।
जब नारी बिन नह राही भलो रे राजिया ॥ (राजे-ज्ञान)

कोई व्यक्ति धर्म के लिए समाजसेवा या प्रचार मे अपना समस्त जीवन लगा दे फिर भी समाज यदि उसके प्रति आदर न करे तो ऐसे व्यक्ति की उन्नति [illegible] कैसे होगी ? कोई राजा, ऋषि मुनि महान, [illegible] और परिग्रह [illegible]

की ओर अधिक ध्यान लगावे तो ऐसे सद्गुणियों का समाज में आदर होना चाहिए। महामात्य शकटार की पत्नी लाछलदे ने अपनी सातों कन्याओ तथा दोनों पुत्रो स्थूलभद्र तथा श्रीयक पर बचपन से ही सुन्दर सस्कार डाले थे। फलतः उनका भविष्य उज्ज्वल बना।

प्रजापति गीली मिट्टी के पिण्ड से विभिन्न रूपो का निर्माण करता है। कारीगर अपनी कला का रूप गीली मिट्टी के पिण्ड पर ही बता सकता है। सूखी मिट्टी के पिण्ड से रूप निर्माण नही होता। एक कुशल कारीगर या प्रजापति की तरह कोमल अवस्था में यदि माता-पिता सुसस्कार के चाक पर बच्चो को चढ़ावें तो उनका जीवन निश्चय ही सुसंस्कृत हो सकता है। यदि पुत्र को सुसस्कृत न बनाया जाय तो सिर्फ एक घर की हानि होगी किन्तु यदि बालिका मे सुसंस्कार नही दिए जायं तो पितृघर और श्वसुरघर दोनो को धक्का लगेगा तथा भावी सतानों पर भी कुप्रभाव पड़ेगा। जो बालिका कुसस्कार लेकर ससुराल जायेगी, वह वहां भी कुसस्कार का रोग फैलायेगी। अतः लड़के की अपेक्षा लड़की की शिक्षा पर माता-पिता को अधिक ध्यान देना आवश्यक है।

प्राचीन काल के पुरुषो ने स्त्रियो की मर्यादा का पाठ पढ़ाकर समाज का बड़ा उपकार किया है। उनके लिए पक्षपात की बात कह कर स्त्री जाति के प्रति उनकी सद्भावना और सम्मान बुद्धि पर लांछन लगाना उनके सद्विचारो को गलत रूप मे समझना है। मनुष्य बहुमूल्य हीरे-जवाहरातो को अधिक सुरक्षित रखता है वैसे ही हीरे-जवाहरातो से भी अधिक बेशकीमती स्त्रियो की सुरक्षा का प्रबन्ध क्या उनके आदर का सूचक नही है? लाछलदे ने बहुमूल्य जवाहरातों से भी बढ़कर अपनी पुत्रियों की सुशिक्षा एवं रक्षा की ओर ध्यान दिया। साथ ही पुत्रो की शिक्षा पर भी कुछ कम ध्यान नहीं रखा। उन्हे सभी विद्याओं मे सुसम्पन्न किया। महामन्त्री शकटार ने पुत्रों को धनुर्विद्या, राजनीति, अर्थनीति, ज्योतिष, ब्रह्मज्ञान आदि सिखाने का उचित प्रबन्ध किया। चौदहो विद्याओ का निरूपण एक कवि ने अपनी कविता में अच्छी तरह किया है, जो इस प्रकार है :–

राग रसायण नृत्य गीत, नटबाजी, वैद्यग,
अश्व चढ़न व्याकरण पुनि, जानत ज्योतिष अग।

धनुष वाण, रथ हाकवो, चित चोरी ब्रह्मज्ञान,
जल तिरवो, धीरज वचन, चौदह विद्या निधान।।

उस समय पाटलिपुत्र में रूपकोषा नाम की एक विख्यात वेश्या थी। अपने रूप और गुणो के कारण वह नगर-नायिका मानी जाती थी। उसके रूप लावण्य की

प्रशंसा सारे देश मे छायी हुई थी । साथ ही वह मनोविज्ञान म भी निपुण थी । विभिन्न उद्देश्यो को लेकर लोग उसके पास आया करते थे । शकटार ने सोचा कि अपने पुत्र को सभी विद्याओ मे दक्ष बनाने के लिए इसे वेश्या का सग भी कराना चाहिए । क्योंकि नीति कहती है दक्षता के लिए "वारागना राज सभा प्रवेश: की भी आवश्यकता होती है । राजकीय पदो मे सफलता प्राप्ति के लिए विद्या का बहुमुखी रूप न हो तो सफलता नही मिलती । कहा भी है हाकिमी गरम की दुकानदारी नरम की और बहू-बेटी शरम की आदि ।

शकटार ने स्थूलभद्र को रूपकोशा के घर प्रशिक्षण के लिए भेजने का निश्चय किया, परन्तु स्थूलभद्र सुसस्कार के कारण जाने को अनिच्छुक हुए आदि बात आगे सुस्पष्ट हागी । किन्तु इस उपरोक्त कथन से हमे यह सीख लेनी है कि अपनी सन्तान को सुशिक्षा देकर भावी पीढ़ी का जीवन सुमधुर व सुन्दर बनान म सस्कार की बड़ी आवश्यकता होती है क्योंकि उत्तम जीवन-निर्माण म ही स्वपर का कल्याण सभव है ।

---

[१७]

इच्छा नियम

श्रावक धर्म की साधना करने वाले गृहस्थ आनन्द ने पाच मूलव्रतो के पालन का नियम लिया। इन मूलव्रतो का नाम अणुव्रत भी है। अन्य व्रतो का पालन अवसर के अनुसार किया जाता है, किन्तु मूलव्रतो को हमेशा धारण करना पड़ता है। पदार्थों की सख्या घटाने से इच्छा घटती है और इच्छा के घटने से ससार का चक्कर घटता है। केवल बाहरी, वस्तु के परिमाण करने से काम नही चलता। यह तो इच्छाओ को सीमित करने की एक साधना मात्र है। साधना-क्षेत्र मे वाह्य और आन्तरिक परिसीमन की नितान्त आवश्यकता है तथा दोनों का अन्योन्याश्रय सम्वन्ध है।

आनन्द ने ५00 हल परिमाण की भूमि रखी, वह अर्थ-सचय के लिए काश्त नहीं करता, वरन् अपने परिवार तथा स्वाश्रित पशुओ के गुजर-वसर के लिए करता था। आनन्द के यहा विशाल जन-मडली थी इसलिए उसको सामग्री ढोने तथा सवारी के लिए वाहन एवं आदमी की भी आवश्यकता निरन्तर बनी रहती। पाच पाच सौ गाड़िया एक देश से दूसरे देश माल ले जाने के लिए तथा पाच सौ घरेलू भार ढोने के लिए एवं गमनागमन के लिए पाच-सौ शकट उसके यहां उपयोग मे आते थे। आनन्द ने इनसे अधिक नही बढ़ाने का सकल्प कर लिया।

मनुष्य इच्छाओ का दास बन कर कभी वास्तविक शान्ति को प्राप्त नही कर पाता। सरित लहर की तरह इच्छाओ की लहरे भी निरन्तर एक के बाद दूसरी उठती रहती है। जागृत दशा की कौन कहे, इच्छा स्वप्न मे भी नर को मर्कट नाच नचाती रहती है। जब तक इच्छा पिशाचिनी पर नियन्त्रण न किया जाय, तव तक सुखशान्ति की प्राप्ति असमव है। इच्छा पर जितना ही साधक का नियन्त्रण होगा उतना ही उसका व्रत दीप्तिमान होगा। इच्छा की लम्बी-चौड़ी बाढ़ पर यदि नियन्त्रण नही किया गया तो उसके प्रसार मे ज्ञान, विवेक आदि सद्गुण प्रवाह-पतित तिनके की तरह बह जायेंगे।

आज साधना का रूप जीवन से निकाल दिया गया है जिससे आवश्यकताए अनियन्त्रित हो गई है । व्रतो और नियमो को केवल दस्तूर के रूप मे न लेकर आत्मा को कसने का उनसे काम लिया जाय, तो वास्तविक लाभ हो सकता है । खाने-पीने की वस्तुओ, सम्पदा भूमि वस्त्र और अलकार आदि हर एक के परिमाण मे यह लक्ष्य रखना है कि नियम दिखावे के लिए, दूसरे के कहने पर या नाम के लिए नही, वरन् आत्मा को ऊपर उठाने एव जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिए करना है । देश काल तथा परिस्थितियो को देखकर यदि कोई आदमी अपनी परिधियो को सोचे तथा पराधीनता की स्थिति मे हो तो व्रत मे छूट रखना उचित भी हो सकता है, किन्तु साधारण स्थिति मे यदि कोई गलिया रखे तो समझना चाहिए कि उसे अभी व्रत की सही दृष्टि प्राप्त नही हुई है ।

साधना के क्षेत्र मे व्रत करते समय तीन उद्देश्या को सदा ध्यान मे रखना चाहिए । इन तीनो का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है जैसे (१) हिसा घटाने के लिए (२) कुछ नियम अविरति रोकने के लिए (३) कुछ स्वाद जय तथा जितेन्द्रियता की साधना के लिए होते है । गृहस्थ आनन्द ने इन उद्देश्यो को ध्यान म रखकर आत्मिक शान्ति प्राप्त की थी ।

आनन्द की गुणगाथा गाने मात्र से हमारा काम नही चलेगा किन्तु स्वय की साधना करनी पडेगी । आनन्द अपने पर शासन करता हुआ आनन्दित था । हर एक साधक जब आनन्द के जैसे आत्म नियन्त्रण मे आनन्द लेगा ममता को काट सकेगा तभी वह वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकेगा ।

साधक का लक्ष्य शरीर से भी ममता हटाने तथा कामनाआ को वश म करने का होना चाहिए । साधक अभ्यास द्वारा धीरे धीरे मन पर पूर्ण अधिकार कर सकता है । कई शक्तिशाली पहलवान अभ्यास द्वारा छाती पर हाथी चढा लेते हैं । जब शरीर-बल द्वारा ऐसा असभव सभव हो सकता है तो आत्मा का बल शरीर बल से कम नही है । आत्म-बल के द्वारा काम, क्रोध, लोभ आदि को भी वशीभूत किया जा सकता है केवल पौरुष जगाने भर की देर है । मानसिक कमजोरी को हटाइए तो व्रत करने के मार्ग म आपके कदम स्वय आगे बढते जाएग ।

ससार म अनेक प्रकार के शूर है युद्ध शूर कर्म शूर दान शूर वाकशूर, तथा कलह शूर आदि-आदि । किन्तु हम तो साधना शूर या तप शूर चाहिय । अपन ऊपर नियन्त्रण करन वाला, राग-द्वेष को जीतने वाला क्षमाशील साधक शूरा का भी शूर महावीर कहलाता है । कहा भी है—

जो सहस्स सहस्साणं सगामे दुज्जए जिणे ।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ।।

अर्थात् जो दस लाख सुभटों को दुर्जय सग्राम मे जीत लेता है और दूसरा एक आत्मा को जीतता है तो वह परम जयी है । ऐसे साधक स्वर्गारोहण के पश्चात् संसार मे अमरता छोड़ जाते है ।

एक छोटे से बीज को देखकर यह अनुमान नही लगाया जा सकता कि आगे चलकर यही विशाल वृक्ष वन जाएगा, जिसकी सुखद शीतल छाया में हजारों प्राणी अपने को शीतातप के कष्ट से मुक्त कर पाएँगे । किन्तु उसमे सभी आवश्यक संस्कार विद्यमान् है, अतएव वह उचित सामग्री पाकर वृक्ष का विशाल रूप धारण कर लेता है । महामन्त्री शकटार और लाछलदे को जब स्थूलभद्र का जन्म हुआ तव क्या पता था कि आगे चलकर यही वालक एक महान् साधक होगा । शकटार ने स्थूलभद्र को राजनीति मे निपुण बनाने के लिए रूपकोषा गणिका के यहां रखना चाहा । जैसे वच्चे गन्ने को चूसकर फेक देते है वैसे ही गणिका रस, रूप एव अर्थ को चूसकर अपने प्रेमी को ठिकाने लगा देती है, किन्तु रूपकोषा कुछ विलक्षण विचारों वाली थी । साथ ही स्थूलभद्र ने भी सुसंस्कारी होने के कारण विना मान गणिका के घर जाना उचित नही समझा जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—

आदर भाव विवेक विना, वहि ठौर के त्याग कियो चहिये ।
जिनसे अपनी मर्जी न मिले, उनसे निर्लेप सदा रहिये ।
प्राणहि जाय कुसंग तजो, सत्संग से प्रेम सदा लहिये ।
सत्सग मिले न जहां तुलसी वहि, ठौर को पथ नही गहिये ।।

मन में जाने की इच्छा नही होते हुए भी, पितृ आज्ञा का पालन करने के लिए स्थूलभद्र रूपकोषा के भवन की ओर चल दिये ।

आकृति, प्रकृति, चाल-ढाल और वाणी आदि से मनुष्य की योग्यता जान ली जाती है । रूपकोषा ने ऐसे हजारों व्यक्तियों की परीक्षा की थी, इसलिए राजमार्ग पर चलते स्थूलभद्र को भी उसने दूर से ही पहिचान लिया तथा दासी को भेज कर उनको बुलवाया, मगर स्थूलभद्र ने दासी की बात नहीं मानी और कहा कि यदि तुम्हारी स्वामिनी स्वयं बुलाने को आवे तो आ सकता हूँ । आज रूपकोषा ने अर्थ के वजाय गुणो की कद्र की और वह स्वयं स्थूलभद्र को बुलाने आयी; उसने सामने आकर घर में पधारने का निवेदन किया और बोली कि जीवन का अनुभव लीजिए और ज्ञान-विज्ञान का प्रयोग कीजिए ।

स्थूलभद्र को पाकर रूपकोषा की मनोवृत्ति मे परिवर्तन हो गया । अनेक नवयुवक गलत रास्ते पर चलकर मा-बाप के हाथ से निकल जाते है । राजनीति के अखाडे मे कूदा हुआ व्यक्ति भी घर के किसी काम का नही रहता और देखते देखते लडका "धोबी के गधे की तरह ' न घर का रहता है और न घाट का । देशाटन के दीवाने बने बच्चे घर के काम नही आते । इस प्रकार कुमार्ग मे जाने से कभी सन्तान से हाथ धो लेना पडे तो मनुष्य सन्तोष मान लेगा किन्तु यदि वीतराग के चरणो मे पडकर कोई बच्चा कभी त्याग के मार्ग पर लगे तो मा-बाप को विचार होता है, वे नाराज होते है । शास्त्र-ज्ञान मनुष्य के मन मे साधना का रूप निश्चित कर उसको परम पवित्र बनाता है । स्थूलभद्र मनहरण विद्या सीखने के लिए माता पिता की आज्ञा से अनिच्छावश भी रूपकोषा गणिका के घर गया । लौकिक ज्ञान की तरह माता पिता यदि अध्यात्म ज्ञान के लिये इस प्रकार बालको को सत्सग मे लगाने का भी ध्यान रखे तो उभयलोक कल्याणकारी हो सकते है ।

---

[१८]

इच्छा की वेल

शास्त्रकार का हृदय माता के समान होता है । जैसे माता अपने छोटे-वड़े विभिन्न बच्चो के लिए उनकी शक्ति और स्थिति को देखकर यथा योग्य भोजन प्रस्तुत करती है । दूध पीने वाले को दूध, अन्न ग्रहण करने वाले के सुस्वादु अन्न और रोगी के लिए पथ्य, हल्का भोजन रखती है । वीतराग भगवान् भी इसी प्रकार साधक लोगो को ज्ञान की खुराक देते है । वे जानते हैं कि मनुष्य रोगी है और उसे उसके रोग के अनुसार ही खुराक देना उपयुक्त रहेगा । जिसका कर्मरोग प्रबल हो वह मिथ्यात्व निवारण रुप शुद्ध पौष्टिक भोजन को अधिक ग्रहण नही कर सकता । उसके लिए गृहस्थ धर्म रूपी हल्का आहार सुझाया गया है और पूर्ण त्याग विराग की खुराक शक्तिशाली समर्थ साधको के लिए प्रस्तुत की गई है, पूर्णत्यागी साधक को कमजोरी की शिकायत नहीं रहती ।

आनन्द ने स्वेच्छा से अपनी इच्छारूपी वेल के विस्तार को सीमित कर लिया । जैसे तार, बास या लकड़ी का मण्डप बनाकर वेल का फैलाव सीमित कर दिया जाता है उसी प्रकार आनन्द ने भी व्रतो और नियमो के द्वारा इच्छाओ को नियन्त्रित कर लिया । द्रव्यों का परिमाण कर लेने से चाहना की वेल भी उस परिमित स्थान मे ही सीमित हो जाती है । आनन्द ने मन की आकुलता को अधिक न बढ़ने देकर वर्तमान सम्पत्ति के विस्तार में व्रतो के द्वारा रोक लगा दी ।

काया की हिंसा की तरह मन की हिसा मे भी नियन्त्रण किया जाना चाहिए। पर मन की हिसा सयम, और ज्ञान द्वारा बचाई जा सकती है । वह दबाव से नही मिटती । प्राचीन समय की बात है जबकि महाराज श्रेणिक मगध का शासन कर रहे थे । उस समय वहां की राजधानी पाटलिपुत्र में कालसौर नाम का एक कसाई रहता था, जो नित्य पाच-सौ भैसे काटता था । इस महा हिसा को रोकने के

लिए महाराज मगधपति प्रयास करने लगे । भगवान् महावीर स्वामी ने सम्राट श्रेणिक को वतलाया कि यदि एक दिन भी वह कसाई हिसा को बन्द कर दें तो तुम्हारी नर्क गति वच सकती है । महाराज श्रेणिक ने उस कसाई से एक दिन के लिए कसाइखाना वन्द करने को कहा तो कसाई ने उत्तर दिया कि महाराज । यह मेरा धर्म है और यही मेरी आजीविका है । अतएव और जो कुछ भी आप कहे सो कर सकता हूँ पर यह धन्धा एक दिन तो क्या एक क्षण के लिए भी नही बन्द कर सकता । अज्ञानता के कारण वह धर्म और अधर्म के मर्म को नही समझता था । उसने अपनी कुटेव या दुर्भाव को ही धर्म समझ रखा था ।

जो व्यक्ति धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य वन्ध और मोक्ष तथा जीव और अजीव मे भेद नही समझता वह सचमुच मे दयनीय और शोचनीय है । धर्म आत्मा को शान्ति दिलाता है और अधर्म से अशान्ति मिलती है । आत्मा का शुद्ध गुण जिससे दब जाय या मलीन हो जाय, उसे अधर्म कहते है । ज्ञान आनन्द, शुद्धता, शक्ति और निष्कलकता आदि आत्मा के गुण है । जिन विचारो और व्यवहारो से विकार दवे या दूर हो तथा मैले आचार तथा व्यवहार शुद्ध हा, वे धर्म है । पानी गदला होने पर उसे गरम करके साफ करते है । मूल मे वह ठडा है पर जव भट्टी पर चढा और अग्नि की आच रूप पर–धर्म (अधर्म) के साथ उसका सग हुआ तो वह गरम हो गया पानी ने अपना स्वधर्म ठडापन छोड दिया । गन्दे पानी मे यदि निर्मली (एक जडी विशेष) को डाल दे तो पानी शुद्ध हो जाता है। निर्मली के सत्सग के कारण गन्दे पानी का गन्दापन दव गया । ऐसे ही हवा गर्म पानी के लिए ठण्डा वनाने का कारण (धर्म) वन गई । इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव क्रोध करना नही है परन्तु कुछ कारण आ जाने से मनुष्य गरम हो जाता है। यह आत्मा का अधर्म है। पुत्र कलत्र को क्रोधावेश मे मारना-पीटना आत्मा का अधर्म है। यह तमोगुण का प्रकटीकरण है, क्योकि यह बाहर के कुसग से आया है ।

आख के मूल मे स्वभावतः सफेदी रहती है, किन्तु तमोगुण के प्रसग उपस्थित होते ही उसमे ललाई छा जाती है । सफेदी की जगह यह रक्तिम परिवर्तन अधर्म है । यदि दुकानदार या महाजन तराजू को लोभवश इधर-उधर करना धर्म समझे तो वह भूल है, अधर्म है । वह लोभ के कारण अपने स्वभाव से हट गया । दुकानदार यदि ग्राहक का सिर मूडकर उसे अर्थहीन कर दे तो यह भी अधर्म है । कृषक स्वार्थ छोडकर यदि दया करे और जीवो को हिसा से बचावे तो यह धर्म है । व्यवहार मे आत्मा के स्वभाव के निकट लाने वाले व्यवहार भी धर्म है जैसे–प्रामाणिकता रखना धोखा न देना आदि । सम्यक दृष्टि व्यक्ति के लिए दूसरे को विना उजाडे या दूसरे की बिना हानि किए अपना कार्य वनाना उचित है ।

कसाई ने तो अधर्म को ही धर्म समझ रखा था और इसीलिए वह उससे अलग होने को तैयार नही हुआ । यदि कोई धर्म की गलत परिभाषा करे, तो यह भी धर्म के साथ अन्याय करना है । महाराज श्रेणिक ने कसाई को कालकोठरी मे वन्द कर दिया । फिर भी कसाई वहा शरीर के मैल से भैंसा वनाकर मारने लगा । इस प्रकार उसके द्वारा शरीर से तो हिसा कार्य वन्द रहा परन्तु मन की सकल्पजा (मानसिक) हिसा चालू ही रही । मन की हिसा ज्ञान से ही वचाई जा सकती है । यदि ज्ञान का प्रकाश न हो, तो मन की हिसा नही वचाई जा सकती ।

वासना-लता को सीमित रखने से पाप का भार घटेगा । सुसंगति और सद्शास्त्र पाप की प्रवृत्ति को सुधारने के अच्छे साधन है । सुसगति पाकर भी यदि मनुष्य पाप का बोझ न घटा सके तो उसका दुर्भाग्य है । किसी कवि ने ठीक ही कहा है ।

कुसंगत मे विगड़ा नही, वाका वड़ा सुभाग ।
सुसगत मे सुधरिया नही, वाका वड़ा अभाग ।।

नरश्रेष्ठ स्यूलभद्र एक ऐसे ही आदर्श पुरुष थे जो अतिथि के रूप में रूपकोषा के घर आए, परन्तु कुछ काल रूपकोषा के साय रहने पर उसके सस्कार इन पर डोरे डालने लगे । जन-मन-मोहिनी उस वेश्या ने स्यूलभद्र को अपने मे उसी प्रकार समेट लिया जैसे कमलिनी भौंरे को अपने अन्दर समेट लेती है । वेश्यागामी पुरुषो मे धर्म, धन और शरीर को क्षति पहुँचाने वाले असंख्य लोग मिल सकते है; किन्तु गुण के ग्राहक स्यूलभद्र सरीखे दूसरे नही मिलेंगे । राजा या महामन्त्री के पारिवारिक सदस्यो को आदि से अन्त तक प्रसन्न रखना कठिन कार्य है, किन्तु रूपकोषा ने स्यूलभद्र के चित्त को चुराकर स्ववश मे कर लिया । वे गणिका के घर मन हरण विद्या सीखने आए थे, किन्तु अपना परमोद्देश्य भूल गए और रूपकोषा मे ही तल्लीन हो गए । मनहरण कला सीखने की जगह स्वय का मन हरण हो गया। स्थूलभद्र के लालन-पालन के लिए महामन्त्री शकटार ने अपना खजाना खोल दिया । रूपकोषा को मुहमागा धन मिला और वह स्यूलभद्र की प्रेम-पात्रा बन गई । स्थूलभद्र के मन को रूपकोषा ने जीत लिया ।

शकटार मन में सोचते थे कि अनेक कलाओ की शिक्षा लेकर उनका पुत्र कुल का दीपक बनेगा और परिवार को सुख पहुँचाएगा । इस तरह सोचते वर्षों वीत गये, मगर स्थूलभद्र वापिस नही आया तो महामन्त्री को चिन्ता हुई । उनके मन मे अनेक कुशंकाएं उठने लगी । सुसगति का मतलब यह होता है कि ग्रहण करने योग्य वस्तु लेकर साधक वापिस लौट आवे और निज गुणो को नही खोवे । जैसे गोता-खोर समुद्र में गोता लगाकर कीचड़, गन्दगी और खारे पानी मे जाकर भी रत्न

लेकर वापिस आता है उसी प्रकार उच्च कुलवान और सुसस्कृत व्यक्ति निम्न कुल मे असस्कृत जनो के बीच जाकर भी कुछ मनचाहा ज्ञान रत्न लेकर आता है मगर गवाता कुछ भी नही । महामन्त्री शकटार का भी यही उद्देश्य था कि स्थूलभद्र गणिका रूपकोषा से जो उस समय की अनिन्द्य सुन्दरी और चतुर थी चातुर्य कला सीखकर यथा शीघ्र घर लौट आवे, किन्तु यहा तो स्थिति ही दूसरी हो गई । कहा भी है–"आये थे हरिभजन को ओटन लगे कपास । स्थूलभद्र की प्रीति अपनी मर्यादा को छोडकर मोह के रूप मे परिणत हो गई । अब उन्हे रूपकोशा का साथ छोडना असभव प्रतीत होता था । उनकी आखो मे हरदम रूपकोषा की मूर्ति नाचती रहती थी, वे अब इस कल्पना से सिहर उठते थे कि कभी रूपकोषा से अलग भी होना पडेगा । उन्हे सोते-उठते-बैठते रूपकोषा की याद बनी रहती थी । वस्तुत रूपकोषा की रूप वारुणी से स्थूलभद्र का तन मन बेभान हो गया था ।

प्रीति यदि मोह का रूप ले ले तो साधक के लिए गिरावट का कारण बन जाती है । रूपकोषा के साथ जो स्थिति स्थूलभद्र की हुई वैसी ही कुछ परिस्थिति बिल्वमगल की भी हुई थी । बिल्वमगल का प्रेम जब चिन्तामणि नाम की वेश्या से हो गया तो वह अपना होशहवाश ही गवा बैठा । और तो क्या ? वह अपनी नव विवाहिता पत्नी से भी सभाषण नही कर पाया एव अपने पिता से अन्तिम समय भी नही मिल सका । पिता के स्वर्गवास हो जाने पर वेश्या को कहना पडा कि जाकर अपने पिता का क्रिया-कर्म तो करो ।

किसी तरह अनिच्छा से, चिन्तामणि की फटकार पर पितृकर्म के लिए बिल्वमगल घर गया तो जैसे-तैसे कर्म समाप्त कर वर्षा ऋतु की अन्धेरी रात मे ही वह वेश्या के घर लौट पडा। मार्ग मे नदी पडती थी जिसको पार करने के लिए मुर्दे को नौका समझ कर उस पर सवार हो, वह नदी पार हुआ । भवन के पास पहुँच कर, सर्प को रस्सी समझ कर, उसी के सहारे वह चौक मे कूद पडा । चिन्तामणि बिल्वमगल के इस दीवानेपन पर दग रह गई । उसके मुँह से सहसा निकल पडा–

जैसा चित्त हराम मे, वैसो हरि सो होय ।
चल्यो जाय वैकुण्ठ मे, पल्लो न पकडे कोय ।।

बिल्वमगल ने चिन्तामणि को अपना गुरु माना और उसकी मीठी फटकार से प्रभावित हो कर वह हरिभक्त बन गया । यह एक आश्चर्य का विषय है कि एक अटल वेश्या भक्त जीवन मे मोड आने से, हरिभक्त के रूप मे बदल गया । मोह छूट जाने से ही वह हरिभक्त बन सका । यदि आप सब भी इसी प्रकार मोह का परित्याग करेंगे, तो अपना कल्याण कर सकेंगे ।

---

[१९]

साधना की पाँखें

ससार का अनादि से नियम है कि हर वस्तु पर उत्कर्ष और अपकर्ष का चक्र घूमता रहता है । चेतन द्रव्य और धर्म भी इससे अछूते नही रहते । गुणो की अपेक्षा आत्मा का भी उत्कर्ष एवं अपकर्ष होता रहता है । धर्म भी आविर्भाव और तिरोभाव के कारण उन्नत, अवनत हुआ कहलाता है । फिर भी इतना निश्चित है कि नरेन्द्र हो या सुरेन्द्र, जब तक धर्म की शरण नहीं ली जाती, आत्मा को सच्ची शान्ति प्राप्त नही होती । वस्तुतः धर्म की शरण मे ही शान्ति का अनुभव होता है । अतः हम सब की एक ही आवाज होनी चाहिए । 'धम्म सरण पवज्जामि ।'

धर्माराधन मे अर्थनीति, राजनीति या भोग का आकर्षण नही है । वर्तमान मे शान्तिलाभ और जीवन-निर्माण ही इसके प्रमुख आकर्षण है । वे सभी प्रकार की साधनाएं धर्म के नाम से कही जा सकती है जिनसे कि मन को विशुद्ध शान्ति प्राप्त हो । महात्माओ की सत्संगति मे लोग इसीलिए आते भी है किन्तु पुरुषार्थ के अभाव मे आज हमारा श्रुत-बल एवं चरित्र-बल गिर गया है । इसीलिए आज हम आकुल है। श्रुत-धर्म के द्वारा ही सत्शास्त्र की उपासना होती है । जहां श्रुत-धर्म न हो, भला वहां चारित्र-धर्म के स्थिर होने की सभावना कैसे होगी ?

जैसे गगन विहारी पक्षी को दो पख आवश्यक होते है, वैसे ही धर्म के भी मुख्य दो अंग है—श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म । छोटे पतगे के भी दो पख होते है । एक भी पख कटने पर पक्षी उड़ नही सकता । फिर मनुष्य को तो अनन्त ऊर्ध्व आकाश को पार करना है, जिसके लिए श्रुत और चारित्र-धर्म ही साधन है । आत्महितैषी मानव कुलधर्म-गुणधर्म और संघधर्म को पालन करते हुए श्रुत-चारित्र धर्म की साधना करे, यह आवश्यक है । यदि कुल का भय होगा तो मनुष्य चारित्र से हीन नही होगा । जो रीति-रिवाज समाज को व्यवस्थित रखे और जिससे संघ या समाज की उन्नति हो उसे सघधर्म कहते है ।

व्यक्तिगत रूप से प्राप्त प्रेरणा समय पर ढीली हो जाती है। यदि कुलधर्म का पालन करने वाला व्यक्ति चारित्र धर्म का पालन करता हो किन्तु कुल का वातावरण गन्दा हो पारिवारिक जन लोक धर्म शून्य विचार के या तमोगुणी हो तो मन मे विक्षेप उत्पन्न होने के कारण व्यक्ति का श्रुत धर्म और चारित्र धर्म ठीक नही चल सकेगा। "गृह कारज नाना जजाला" की बाते यदि साधना के समय आवे तो आत्म-धर्म का साधन सुलभ नही होगा। यदि कुलधर्म मे अच्छी परम्पराये होगी तो आत्म-धर्म का पालन सरलता से हो सकेगा। जितना ही कुल गण एव सघ धर्म सुदृढ होगा उतना ही श्रुत तथा चारित्र्य धर्म अच्छा मिलेगा। जैसे स्वजनो की मृत्यु पर न रोना यदि किसी का व्यक्तिगत धर्म हो, किन्तु जातिधर्म मे रोने का रिवाज हो, तो व्यक्ति-धर्म नही चलेगा। किन्तु कुछ समाजो मे मृत्यु होने पर शान्त रूप मे वेद-ध्वनि करते हुए शव ले जाने की परम्परा है और कई जातियो मे रोते हुए आवाज मारते हुए शव को श्मशान ले जाया जाता है। यदि भगवान् महावीर की वाणी की प्रेरणा को स्थायी बनाए रखना है तो सघधर्म को पक्का करना होगा। कुछ धर्मानुकूल रीति रिवाजो को स्थान देना होगा।

जैसे सिक्खो मे दाढी रखने का सघधर्म है इसी प्रकार समाज मे प्रभु स्मरण, गुरुन्दर्शन एव स्वाध्याय का दैनिक नियम बना लिया जाय तो सस्कारो मे स्थिरता आ सकती है। समाज को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए सघ धर्म आवश्यक है। समय रहते हमे सोचना पडेगा कि आचार्यों ने महावीर स्वामी की परम्परा को आज तक अक्षुण्ण रखा और शासन अबाध गति से चलता रहा, किन्तु इसके पाए (नीव) और मजबूत होने चाहिए। जिस समाज मे ज्ञान और आचरण के पाए मजबूत होगे वही समाज या धर्म ससार मे उत्तम है तथा वही स्थिर रह सकेगा।

आचार्य देववाचक महाराज ने सघ को रथ की उपमा दी है। लम्बी यात्रा मे रथ या वाहन का सहारा लेना पडता है। हमारी जीवन यात्रा लम्बी और उलझनो से भरी हुई है। हमे शिवनगरी तक यात्रा करनी है। जब छोटी-सी यात्रा मे वाहन एव अन्य आवश्यक सामग्रियो की आवश्यकता रहती है, तब शिवनगरी तक पहुँचने के लिए भी वाहनादि साधना की नितान्त अपेक्षा रहेगी। भगवान् महावीर स्वामी ने कहा कि सघ ही रथ है जो हमे मुक्ति तक पहुँचने मे सहायता पहुँचाएगा। रथ में मगल तूर्य होता है। सघ रथ का मगल तूर्य स्वाध्याय का नन्दिघोष है। आगे फिर प्रभु ने कहा-हे सघ रथ। तेरे ऊपर शील की पताका फहरा रही है और तप एवं नियम रूप दो मजबूत घोडे जुत है।

तप और नियम से नये कर्मों की वृद्धि रुकती है । साधको को चाहिए कि नियमो के द्वारा स्वयं तथा समाज मे कर्म की धूल नहीं आने दे । सघ धर्म के रूप में स्वाध्याय और तप-नियम आदि जुड़ जाएँ तो व्यक्ति-धर्म का पालन आसान हो सकता है। धर्म-विरुद्ध सस्कारो और प्रथाओं को दूर करने के लिए धर्मानुकूल सामाजिक नियम होने चाहिए जैसे—जातीय प्रतिबन्ध होने के कारण जैन जगत् में आतिशबाजी की रोक है, वर्षा ऋतु मे शादी नही करना भी राजस्थान मे समाज धर्म है, क्योंकि इससे अनावश्यक हिसा बढ़ती है तथा अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां भी आती है । इसको सघ-धर्म मे सम्मिलित कर देने से व्यक्ति-धर्म का पालन सरल हो गया ।

यदि व्यक्ति-धर्म और जाति-धर्म मे प्रभु-भक्ति एव स्वाध्याय का भी नियम हो, तो व्यक्ति और जाति दोनो के लिए हितकर हो सकता है । धर्मस्थान इसीलिए बनाए जाते है कि उनसे सदा प्रेरणा मिलती रहे और धर्म-विमुख लोगो मे भी उनको देखकर कुछ-कुछ धर्मभावना जगती रहे । पाश्चात्य देशो में भी लोग गिरिजाघरो तथा धर्मस्थलो में प्रेरणा ग्रहण करने को जाते है और धीरे-धीरे वहा आते-जाते कुछ-न-कुछ प्रेरणा प्राप्त कर लेते है ।

ज्ञान-बल के अभाव मे अनेक कुत्सित कर्म किए जाते है और मन मे सतत कमजोरियां घर करती रहती है, क्योंकि ज्ञान नही होने से हेयोपादेय का कुछ पता नही चलता । यदि सामूहिक स्वाध्याय का रिवाज होगा, तो मन की दुर्बलता दूर भगेगी और करने योग्य शुभ कर्मो मे प्रवृत्ति एव दृढ़ता जोर पकड़ती जाएगी ।

धार्मिक स्थल, उपाश्रय, स्थानक और मन्दिरो मे स्वाध्याय का नन्दिघोष अवश्य होना चाहिए । चातुर्मास मे साधु-साध्वी और उनके प्रवचन के अभाव मे भी धार्मिक स्थल खाली नही रहने चाहिए । साधु-साध्वी आसमान से नही टपकते और न जमीन से तथा न साधुओ के यहा ही पैदा होते है । फिर उतनी बड़ी संख्या मे साधु-साध्वी कहा से आएँगे, जितने कि समाज को अपेक्षित है । अतएव श्रावक संघ को स्वतः स्वाध्याय मे बढ़ावा देकर अपने धर्म स्रोत को प्रवाहित बनाए रखना चाहिए । यदि सघ द्वारा स्वाध्याय को बढ़ावा नही मिला तो व्यक्ति का चारित्र-धर्म उत्कर्ष की ओर नही बढ़ेगा ।

वस्तु का स्वभाव नही जानने से ही राग-द्वेष की परिणति होती है, जो ज्ञान से दूर होती है । स्वाध्याय के द्वारा आसानी से वस्तु स्वरूप का परिचय मिल जाता है । अतः जहा साधुओ का गमनागमन नही हो, वहा पर भी सघ मे, साधु का अभाव न अखरे ऐसे उपदेशक उत्पन्न करना चाहिए । सघ-सेवा अपनी और दूसरे की उभय सेवा है । तप-व्रत आदि साधना व्यक्ति-धर्म है, जो साधारण जन भी कर

सकते है, पर शासन सेवा सब नही कर सकते । उसकी महिमा मे स्व पू माधव मुनि ने कैसा अच्छा कहा है

जिन भाषित आगम अनुसार,
जिनवर धर्म करें ।
धारे शिर जिन आज्ञाभार,
वो ही जन जैनी कहलाए ।।

जैन धर्म का प्रचार प्रसार केवल जैन नाम धराने से नही होगा , इसके लिए दो बाते चाहिये ।

(१) शास्त्रानुसार वीतराग धर्म का प्रसार करना । और
(२) स्वय जिनाज्ञा का पालन करना ।

फिर आचार्य श्री आगे कहते है ~

उपदेशक-जन कर तैयार ।
भेजे देश-विदेश मझार ।।

जिन देशो और क्षेत्रो मे साधुओ का पदार्पण नहीं होता, वहा उपदेशक तैयार कर दया धर्म का जो प्रसार करे वह प्रभावक श्रावक है ।

जहा पै नही साधु सयोग उनको दया धर्म दरसावे ।

स्वाध्यायशील व्यक्ति ज्ञान के बल से स्वय स्थिर रहते हैं और दूसरो को भी धर्म मार्ग पर लगाते है । ज्ञातासून मे सुबुद्धि प्रधान का वर्णन आता है । उसमे स्पष्ट लिखा है कि खाई के गन्दे पानी को लेकर जब राजा को घृणा हुई तो मन्त्री ने वहा जैन नीति से उत्तर दिया और कुछ ही सप्ताहो मे उसी जल को शुद्ध कर राजा को पिलाया ।

मन्त्री के उपदेश से राजा ने समझा कि वास्तव मे पुद्गल का स्वभाव क्या है ? अच्छा देख मनुष्य प्रशसा करता है और बुरा देखकर घृणा करता है । वास्तव मे पुद्गल परिवर्तनशील है इसमे अच्छे का बुरा और बुरे का अच्छा होता रहता है । सुबुद्धि स्वाध्यायशील नही होता तो राजा को नही सुधार सकता था। यह श्रावक का धर्म है। साधु सब बात नही कह सकते और न सब जगह पहुँच ही सकते है। अतः श्रावक-सघ को अपना कर्तव्य समझ कर स्वाध्याय को बढावा देना चाहिए ।

एक मदिरा का ठेकेदार स्वय मदिरा नही पीते हुए भी उसका व्यापार कर सकता है । उसी प्रकार सिगरेट, बीड़ी, नायलोन के वस्त्र का व्यापारी इन वस्तुओ का व्यवहार किए विना भी इनका व्यापार व प्रचार कर सकता है । किन्तु धर्म का प्रचार शुद्ध सदाचारी बने बिना सम्भव नही है । जो सत्य, अहिसा और तप का स्वय तो आचरण नही करे और प्रचार मात्र करे, तो वह अधिक प्रभावशाली नही हो सकता । इसके विपरीत, आचरणशील व्यक्ति विना बोले मौन-आत्म-बल से भी धर्म का बड़ा प्रचार कर सकता है । महर्षि अरविन्द का उदाहरण हमारे सामने है । मूक साधको का दूसरे के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है । आचार तथा त्याग विना बोले भी हर व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव डालता है ।

संत-दर्शन से भी व्यक्ति लाभान्वित होता है । जो इस बात को जानते है, उन्हे सन्त-दर्शन का लाभ क्यो छोड़ना चाहिये ? बिना स्वाध्याय और आचार के भला काम कैसे चलेगा ? साधु-साध्वियों तथा उपदेशको के कधे पर चढ़कर कब तक चला जायेगा । यदि संघ-धर्म के रूप मे स्वाध्याय को अपना लिया जाय, तो धर्म की एव अपनी रक्षा हो सकती है । कहा भी है–"धर्मो रक्षति रक्षितः "।

स्वाध्याय की महिमा गाते हुए किसी ने ठीक ही कहा है :–

"स्वाध्याय बिना घर सूना है, मन सूना है सद्ज्ञान बिना"

सत्संग से अपना ज्ञान भण्डार भरो । स्वाध्याय जनित जानकारी और अनुभव हो तो गृहस्थ-साधकगण साधुओ के जीवन को निर्मल बनाने मे भी सहायक हो सकते है, नही तो वे ही अज्ञानवश उन्हे फिसलाने वाले भी होते है । रागादिवश पहले तो अकल्प मे सहायक होते है और फिर वे ही त्यागियो की कटु आलोचना करते है । यह अज्ञान, स्वाध्याय नहीं करने का ही फल है ।

राजा सम्प्रति ने साधुओ की कमी को दूर करने के लिए सैनिको को साधु बनाकर जगह-जगह भेजा । यह उनका धर्म के प्रति उत्कट अनुराग का उदाहरण है। श्रमणों के तपस्तेज को कायम रखने के लिए प्रचार की आवश्यकता है। केवल प्रस्तावो या महत्वाकांक्षाओ से धर्म का सरक्षण, सवर्धन और उत्थान कैसे हो सकेगा? स्वाध्याय से श्रुत-धर्म पुष्ट होगा और सामायिक से चरित्र-धर्म शुद्ध बनेगा। स्वाध्याय का बल होने से चिन्तन-मनन की शक्ति बढ़ेगी और तू-तू मै-मै की स्थिति उत्पन्न नही होगी। तत्व ज्ञान तथा अन्य आध्यात्मिक बातो का आदान-प्रदान भी सघ मे स्वाध्याय के द्वारा ही हो सकता है।

राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए गाधीजी और सुभाषचन्द्र दोनो के अलग-अलग तरीके थे । लक्ष्य दोनो का एक था पर नीति मे भेद था । यदि दोनो टकरा जाते तो देश को स्वतन्त्रता नही मिल पाती । थोडा-सा भी सघ धर्म के कमजोर हो जाने पर श्रुतधर्म और चारित्र धर्म की ज्योति फीकी हो सकती है । एक-दूसरे के सहकार से जीवन ऊचा उठाया जा सकता है । कुल धर्म, गण धर्म और सघ धर्म का सहारा नही मिलने से चारित्र धर्म पगु एव दुर्बल हो जाता है वह स्थिर नही रह सकता । अतः साधक को मानना चाहिए कि सघ के हित मे ही मेरा हित है। शासन के हित मे अपना हित है, ऐसा हर एक माने तो शासन का विमल यश चमक सकता है ।

कभी सघ के सहृद भाइयो मे कीचड लगा हो, कोई चूक हो गई हो तो उसको धोने का प्रयास करना चाहिए, किन्तु बाजार या जन समूह के बीच कहते फिरना पर्चेबाजी या अखबार रगना शुद्धि का मार्ग नहीं । वह अनुचित है । ऐसे ही किसी साधक मे कहीं त्रुटि हो तो उसे दबाए रखना भी भूल है । दबाने से भी सडान बढती है । सच्चे साधक और उनके हितैषी का काम है कि दोष का अविलम्ब सरल मन से परिमार्जन करे । साधक की रक्षा और दोष का नाश ही आत्मार्थी का प्रमुख लक्षण है । चिकित्सक रोग का दुश्मन है पर रोगी का मित्र होता है । वही दृष्टिकोण आत्म-सुधार की दिशा मे भी रखा जाना चाहिए, तो शासन तेजस्वी रह सकता है ।

सम्यक्ज्ञान सम्यक्दर्शन और चारित्र से ही व्यक्ति समाज राष्ट्र और विश्व का कल्याण कर सकता है । स्वाध्याय ही इन सबका मूल है । इसके साधन से ज्ञान, दर्शन और चारित्र निर्मल रखा जा सकता है । अतः कहा भी है —

एक ही साधे सब सधे, सब साधत सब जाय ।
जो तू सींचे मूल को, फूलेहि फलहि अघाय ।।

---

[२०]

आवश्यकताओं को सीमित करो

वीतराग भगवान् महावीर स्वामी का अनुशासन संसार के जीवों को सवकाल के लिए लाभदायक है । मन को स्थिर कर अनेको ने उनकी वाणी से लाभ उठाया तथा जीवन को सफल किया है । आज भी उनकी वाणी उतनी ही प्रेरणादायक, शक्तिवर्द्धक और स्फूर्तिदायक है, जितनी कि वह पहले थी । केवल शुद्ध दृष्टि से उसपर सोचने और विचारने की आवश्यकता है । वाहरी संसार मे धन, जन-परिवार एवं राज का बन्धन कितना ही दृढ़तम क्यो न हो, यदि आन्तरिक वन्धन जो काम-क्रोध लोभ-मोह का है ढीला हो जाय तो साधना का मार्ग खुल सकता है । वाग से कसा हुआ अश्व भी सवार की आत्मदृढ़ता से ही नियन्त्रित रहता है । अन्यथा वह मनमाना चलने लगता तथा आरोही को जमीन पर गिरा देता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आन्तरिक बन्धन मनुष्य को फंसा लेते है और अपनी दृढ़ पकड़ मे जकड़ लेते है । बाहरी वन्धन ढीला करने से आन्तरिक बन्धन को ढीला करने मे मदद मिल सकती है । और जब अन्तर का बन्धन ढीला हो गया तो साधक को अपनी साधना में सफल होते देर नही लगती । साधक शंकारहित होकर कठिन साधना में भी सफलता प्राप्त कर लेते है ।

आनन्द श्रावक के हृदय मे महावीर स्वामी की वीतरागता का प्रभाव पड़ने से हृदय का बन्धन ढीला हो गया । उसने पांच मूलव्रत पालने का तो संकल्प कर लिया। अब इनकी निर्मलता के लिए भोगोपभोग, आहार-विहार, सजावट आदि पर अकुश लगाना आवश्यक जानकर, कयोंकि रसना पर अंकुश होगा तो हिसा घटेगी, वाणी पर नियन्त्रण से सत्य निर्मल रहेगा और सजावट कम करने से आरम्भ एवं आवश्यकता घटेगी, वह उनका परिमाण करता है ।

मानव-जीवन को आदर्श बनाने के लिए आवश्यकता का परिमाण आवश्यक है । क्योंकि आवश्यकता जितनी अधिक बढेगी पाप एव आरम्भ भी उतना ही अधिक बढेगा । देखा जाता है कि आवश्यकताओ से प्रेरित मानव जघन्य से जघन्य काम करने पर भी उतारू हो जाता है । वह नही सोच पाता कि क्षणभगुर जीवन के लिए क्षणभगुर आरम्भ ठीक है या नही ? वह अपनी आवश्यकता से इतना अन्धा हो जाता है कि भले-बुरे का कुछ विचार ही नही कर पाता । बच्चे से जवान की आवश्यकता अधिक होती है । बडे होने पर अपने-पराए का भेद समझने लगता है । जैसे आवश्यकता आविष्कार की जननी है उसी प्रकार आवश्यकता पाप की भी जननी है ।

आवश्यकता दो प्रकार की होती है-अनिवार्य और दूसरी निवार्य । खाना पीना पहिनना, मकान आदि अनिवार्य आवश्यकताए है क्योंकि जीवन निर्वाह के लिए सबको इनकी आवश्यकता होती है । इनके बिना काम नही चल सकता । इन आवश्यक वस्तुओ की भी दो कोटिया हो जाती है (१) उपभोग्य वस्तुए और (२) परिभोग्य वस्तुए । एक बार काम मे लेने पर जो वस्तुए निकम्मी हो जावे यथा भोजन फल मेवा आदि, इनका सेवन उपभोग है । कपडा पलग, फर्नीचर आदि अनेक बार तथा दीर्घकाल तक उपयोग मे आते रहते है अत इनको परिभोग्य कहा जाता है ।

आनन्द ने अपनी अमित आवश्यकताओ को सीमा मे करने का सकल्प लिया। यह सातवा व्रत है इसको भोगोपभोग भी कहते है । दैनिक आवश्यकताओ की यहा एक तालिका बतला दी है । जैसे —

(१) उल्लणिया विधि — प्रातःकाल मनुष्य जब उठता है तो सर्वप्रथम हाथ मुह धोकर एक वस्त्र से पोछता है । श्रीमत ही नही साधारण गृहस्थ के घरो मे भी अनेक प्रकार के तौलियो का प्रयोग किया जाता है । आनन्द ने इसके लिए सीमा निर्धारित की कि आज से मै एक मोटा रोएदार गुलाबी कपडे का ही उपयोग करूगा अन्य का नही ।

(२) दातौन विधि — शौच के पश्चात् दतशुद्धि के लिए दातौन की आवश्यकता होती है और उस उपयोग मे आने वाली वस्तु दो प्रकार की हो सकती है (१) सचित्त और (२) अचित्त । सचित्त वस्तु के अन्तर्गत नीम बबूल आदि वृक्षो के डठला का प्रयाग होता है तथा अचित्त वस्तु मे कोयला राख तथा मजन आदि । प्राचीन समय मे जहा कोडिया के खर्च और थोडे आरम्भ म यह आवश्यकता पूरी हो जाती थी वहा आज इसके लिए भी बडे-बड कारखाने खुले है।

विदेशो से आने वाले टूथ पाउडर और वहुमूल्य लिक्विड मे हिसा अधिक होती है। आनन्द ने दन्त-शुद्धि के लिए केवल गीली मुलेठी की लकड़ी की छूट रखकर शेष का त्याग कर दिया।

(३) फल विधि – आनन्द ने सिर की स्वच्छता के लिए आमले के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ के उपयोग पर रोक लगादी। क्योंकि साधक को चाहिए कि वह कम से कम हिसा वाली वस्तु का उपयोग करे। आज कई व्यक्ति कम्पनी विशेष की वस्तु नही मिलने से वहुत उद्विग्न हो जाते है, यह वड़ी पराधीनता है। आज का मनुष्य जड़ वस्तुओ के अधीन होकर दिनोंदिन परमुखापेक्षी होता जा रहा है, जो लज्जा की बात है। वास्तव मे मनुष्य की श्रेष्ठता और उच्चता इसी मे है कि वह किसी वस्तु के अधीन नही हो, बल्कि वस्तुओ को अपने अधीन वनाए रखे।

करोड़पति आनन्द ने अपनी इच्छाओ को घटाने मे आनन्द प्राप्त किया। उसे यह दृढ़ विश्वास था कि इच्छा की बेल को जितना अवसर दिया जाएगा वह बढ़कर उतना ही अधिक दु.ख बढाएगी। अतएव उसने इच्छाओं का परिमाण किया और इससे उसको बड़ी शान्ति प्राप्त हुई। जिस प्रकार विना मजवूत पाल (बंधान) के जलाशय का पानी निकल कर सर्वनाश कर बैठता है वैसे ही विना व्रत के मानव-जीवन भी विनष्ट हो जाता है। जहां सदाचार का वल है, वहां नूर चमकाने के लिये बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नही होती। वाह्य उपकरण क्षणिक है, वास्तविक सौन्दर्य तो सदाचार है। यदि वस्तुओ के उपयोग मे नियम नही होगा, तो मन वस्तुओ की प्राप्ति के लिए चचल एव दुःखी होगा। सद्गृहस्थ अपरिमित वस्तुओ का उपभोग नही करता। वह भोगोपभोग का गुलाम नही बनता वरन् उनको अपने वश मे रखता है। यही श्रावक धर्म का स्वरूप है।

अब स्थूलभद्र की बात करते है।

महामन्त्री शकटार के पुत्र स्थूलभद्र के दिल पर स्नेह की बेड़ी पड़ी है, अतएव वह रूपकोषा के घर से बाहर नही जा पाता। उसने एक-एक कर वारह वर्ष रूपकोषा के स्नेह-सूत्र मे बँध कर बिता दिए। शकटार अब सोचने लगे :–

"बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगारे आपनो, जग मे होत हसाय॥
जग मे होत हसाय, चित्त में चैन न पावे।
खान पान सम्मान, राग रग मनहु न भावे॥"

गणिका से शिक्षा ग्रहण कर स्थूलभद्र के घर न लौटने से मन्त्रीवर के हृदयाकाश में चिन्ताओ के बादल उमड़ने लगे। वे सोचने लगे कि वेश्या के घर मे

युवा पुत्र को भेजकर मैंने बडी गल्ती की है । वहा जाकर पुत्र राग रग म रग गया प्रेमपाश म पड कर जकड गया । वह न योग का रहा और न भोग का । यदि उसे सुसगति मे डालता तो इस प्रकार अपयश का भागी नही बनता और न मन ही अशान्त होता ।

आजकल भी कई पिता अपने पुत्रो को उच्च शिक्षा प्राप्त करने को विदेशो मे भेजते है । उनका ख्याल होता है कि विदेश मे होशियार होकर पुत्र अच्छी तरक्की करेगा और अपना तथा वश का नाम फैलाएगा । परन्तु याद रखे यदि धार्मिक सस्कार का असर नहीं रहा तो बच्चा विदेश जाकर ऐसी तरक्की करेगा कि आपकी बात भी न पूछेगा । सुरा सुन्दरी के ससर्ग मे पड कर कही बाप को भूल बैठा तो कौन बडी बात । बल्कि कुल मर्यादा को भी सदा के लिए तिलाजलि दे सकता है । अत समझदारो को चाहिए कि वह युग प्रवाह मे बहने की अपेक्षा पुत्र को सुसस्कारो से सस्कारित बनाना न भूले । यदि बालक को दृढ सुसस्कार दिये गये तो वह विदेश जा कर भी ठगाएगा नही और यदि सुसस्कार का बल नही रहा तो उसके भ्रष्ट हो जाने की अधिक समावना रहती है ।

महामन्त्री शकटार पुत्र के हाथ से निकल जाने की चिन्ता मे व्यग्र थे । उन्हे दुःख था कि अपने ही हाथो से अपने पुत्र को गवा दिया । सयोगवश उसी काल मे प. वररुचि राजदरबार मे उपस्थित हुए । वररुचि राजनीति अर्थशास्त्र, काव्यकला और धर्मशास्त्र के महान् ज्ञाता थे किन्तु अर्थहीन थे । ससार का नियम है कि ' न विद्वान् धनी भूपति दीर्घजीवी ' अर्थात् विद्वान् धनी और राजा दीर्घजीवी नही होता । अतः वे अर्थोपार्जन द्रव्य लाभ के लिए राजदरबार मे आए थे । सम्राट नन्द के दरबार मे विद्वानो के यथायोग्य सम्मान की परिपाटी थी । जो जिस कला मे प्रवीण होता उसमे उसका पाण्डित्य देखकर पुरस्कार देने की प्रथा थी । पण्डित वररुचि को भी राजदरबार मे सस्कृत श्लोक सुनाने की अनुमति मिली । उसने भी बडे परिश्रम से दरबार योग्य नित्य नये श्लोक बनाकर सुनाये किन्तु राजा नन्द महामन्त्री शकटार की ओर देखते एव उसके अनुमोदन के बिना किसी को कुछ भी पुरस्कार नही देते । इस तरह वररुचि का भी पुरस्कार रुका रहा । महामन्त्री उत्कोच लेने, मदिरा पान करने और क्लब म रगरेलिया करने के शौकीन नही थे, अतएव पण्डित जी के शुभचिन्तको ने उन्ह सलाह दी कि आप मन्त्राणी को जाकर प्रसन्न कीजिए तो कार्य सुगमता से बन जाएगा । वररुचि मन्त्राणी के पास उपस्थित हुए और उनसे निवेदन किया कि मै नित्य प्रति एक सौ आठ नवीन श्लोक बना कर राजदरबार म उपस्थित करता हूँ, किन्तु महामन्त्री के अनुमोदन बिना मरा सब परिश्रम धूल म मिल जाता है और मुद्रा कुछ

भी उपहार नही मिल पाता । जो आपकी दया हो जाय तो हमारा दुःख दूर हो सकता है ।

मन्त्राणी विप्र की दुःखद कहानी सुनकर पसीज गई । आप पहले सुन चुके है कि लाछलदे बड़ी विद्या प्रेमी महिला थी । उसने मन्त्री से कहा कि विप्र को अवश्य कुछ उपहार दिया जाना चाहिए । आप मन्त्री हो आपके पास कोई अर्जी करे तो उसे निराश करना अच्छा नही । ब्रह्मकवि ने अपनी कविता मे एक स्थान पर ठीक ही कहा है कि :—

पूत-कपूत, कुलच्छन नारि, लराके परोस, लजायन सारो ।
बन्धु-कुबुद्धि, पुरोहित लपट, चाकर-चोर अतिथि धुतारो ।
साहिब सूम, अराक तुरग, किसान कठोर, दीवान नकारो ।
ब्रह्म भषो, सुनु शाह अकबर, बारहुं बांधि समुद्र मे डारो ।।

मन्त्राणी की बात सुनकर महामन्त्री ने कहा—प्रिये ! यह मिथ्या दृष्टि कई कुकर्मो मे लगा है । सदा अधर्म के मार्ग पर चलता है । भला ऐसे व्यक्ति को दान देने का क्या परिणाम होगा ? कहा भी है :—

पयः पानं भुजंगाना, केवल विष—वर्द्धन ।
उपदेशो हि मूर्खाणा, प्रकोपाय न शान्तये ।।

किन्तु आखिर मन्त्राणी की बात माननी ही पड़ी । महामन्त्री की दया से वररुचि कैसे धन पाएगा, यह तो प्रसग आने पर विदित होगा, किन्तु हमें यहां देखना है कि मनुष्य परेशान क्यो होता है ? वह इधर-उधर हाथ पसारे क्यो फिरता है ? उसके पास विद्या, बुद्धि और वाणी का बल होते हुए भी दुःखी रहने का कारण क्या है ? इन सबका एक मात्र उत्तर यही है कि वह इच्छा के पाश में बधा हुआ है । इच्छा मनुष्य को चारों ओर भटकाती है । कहा भी है कि :—'जहा चाह है, वहा राह है, यह परेश की है माया ।' बड़े से बड़ा विद्वान् भी जो कही बैठकर ५, १० लड़को को ज्ञान दान देकर आसानी से अपना निर्वाह कर सकता है, चाहना के चक्कर मे हाथ पसारे फिरता रहता है । इसलिए अनुभवी सतों ने कहा है :—

चाह किया कछु ना मिले, जिहां तिहां करि के देख ।
चाह छोड़ धीरज धरो, तो पग-पग मिले विसेख ।।

---

[२१]

विचार और आचार

प्रभु महावीर स्वामी ने जीवन को ऊपर उठाने के लिए दो प्रकार का धर्म बतलाया है। एक विचार धर्म तथा दूसरा आचार धर्म। आचार धर्म म शारीरिक आचार के अतिरिक्त ज्ञानाचार और दर्शनाचार को भी सम्मिलित कर लिया गया है।

चर-गति भक्षणयो धातु से आ उपसर्ग लगाने पर आचार शब्द बनता है। आ का अर्थ मर्यादा है तथा चर से तात्पर्य चलना या खाना है। आचर्यते इति आचार' याने मर्यादापूर्वक चलना ही आचार है। दूसरे शब्दा म व्यवहार और विचार की दृष्टि से मन वचन और काय द्वारा मर्यादापूर्वक चलने को आचार कहते है। ज्ञान की साधना से सत्यासत्य का बोध होता है। और विकल धर्म वाले गृहस्थ भी आचार द्वारा जीवन को शुद्ध एव सयत कर सकते है।

जीवन मे शारीरिक और आध्यात्मिक दोनो साधनाओ का सामजस्य आवश्यक है। जैसे पक्षी अपने दोनो पखो के कुशल रहते ही ऊपर उड सकता एव स्वैर विहार कर सकता है वैसे ही मानव जीवन के लिए उपरोक्त दोना प्रकार की साधना अपेक्षित है। फिर भी जीवन को ऊचा उठाने के लिए आध्यात्मिक साधना को प्रधान एव शारीरिक साधना को गौणरूप देना सुसगत है। सद्‌गृहस्थ आनन्द आत्म-साधना प्रधान दृष्टि वाला था न कि तन धन चाहने की वहिर् दृष्टि वाला। वह शरीर की ओर इसलिए ध्यान देता कि साधन रूप होन से शरीर आत्म साधना म सहायक हो सकता है। उसने पूर्व मर्यादित विधि की तरह उद्वर्तन विधि, विलेपन विधि तथा स्नान विधि के सम्बन्ध मे भी मर्यादा स्वीकार की जो इस प्रकार है —

स्नान के समय तल की मालिश और आटे की पीठी की जाती है जा अनेक प्रकार की होती है। आनन्द ने अपनी आवश्यकता को नियन्त्रित रखने के लिए इस वास्त मयादा की कि शतपाक और सहस्रपाक तेल क अतिरिक्त काई विलपन

मलेरिया आदि रोगो से अनायास ही बच सकता है । मरुभूमि के लोगो को मालूम है कि पानी का क्या मूल्य है ? आनन्द सबसे पहले अनछाने पानी का त्याग करता है। क्योंकि अनछाने पानी मे असख्य स्थावर जीवो के अतिरिक्त लाखो त्रस जीवो की हिसा हो जाती है । वैष्णव-शास्त्र मे भी अनछाने जलपान का निषेध है । कहा भी है – "पानी पीना छान कर गुरु करना जानकर । वहा छानने का विचार निम्न प्रकार से किया है – षट्त्रिशदगुलायाम विशत्यगुल विस्तृत । दृढ गलनक कुर्यात्, ततो जीवान् विशोधयेत् ।।

लूताऽस्य तन्तु गलितैक बिन्दौ सन्ति जन्तव ।
सूक्ष्मा भ्रमरमानास्ते, नैवमान्ति त्रिविष्टपे ।।

अर्थात् ३६ अगुल लम्बा और २० अगुल चौडा मजबूत गलना बना कर उसके द्वारा पानी छानना चाहिए । क्योकि मकडी के मुह की तात मे गाले गए पानी की एक बिन्दु म इतने सूक्ष्म जीव है कि यदि वे भवरे जितना शरीर बना ले तो तीन लोक म भी नही समा सके ।

अनछाना पानी नही पीने से कितने जीवो की हिसा टल जाती है । इसको आप भली भाँति समझ गये होगे । तृणभक्षी पशु भी जब ओठ से फूक कर पानी पीते है कुत्ते, बिल्ली या शेर की तरह वे जीभ से लपलप कर नही पीते, तब भला मनुष्य को कितनी सावधानी रखनी चाहिए जो कि प्राणियो मे सर्वोपरि बुद्धिमान है । इससे आरोग्य और धर्म दोनो प्रकार से लाभ है । बिना छाने जल पीने वाले को नारू आदि कीडे पेट मे जाकर कई प्रकार की पीडा उत्पन्न करने और कई बार जान जाने तक का खतरा झेलना पडता है ।

एक राजा ने एक बार रात को खुले म रखा पानी पीया जिसम एक विषैला साप उसके पेट म चला गया । अत आनन्द ने सकल्प किया कि वह बिना छाना पानी नहीं पीएगा और न जलाशय म प्रवेश कर स्नान ही करेगा । जलाशयो मे प्रवेश कर स्नान करने से अनेक हानिया होती हैं । १ सर्वप्रथम तो आस-पास का जल गन्दा हो जाता है । २ सम्पूर्ण जलाशय के जन्तुओ म हलचल मच जाती है एव आस-पास के बहुत जलजीव मर भी जाते है। ३ सस्पर्शी रोगो (छूत के रोग) का प्रसार होता है और ४ जल म पैर फिसलने से नहीं तैरना जानने वाले कइयो की जान भी चली जाती है । बच्चो के डूब कर मरने के समाचार तो हर वर्ष अखबारो म पढने को मिलते है । अत जहा तक हो खास परिस्थिति को छोड कर जलाशय म कभी नहीं नहाना चाहिए ।

नहाने का उद्देश्य शरीर शुद्धि है और मर्यादित जल लेकर भी यह कार्य किया जा सकता है। जलाशय तथा खुले नल पर अमर्यादित जल से भी यही कार्य होता है। अतः अनर्थ दण्ड बचाने को आनन्द ने स्नान और वस्त्र प्रक्षालन के लिए आठ कुंभि (एक प्रकार का घड़ा) से अधिक जल काम मे नही लेने की प्रतिज्ञा कर ली। सत्पुरुषो की शिक्षा एवं धर्म मर्यादा कितनी सुन्दर है ? शरीर की आवश्यकता भी पूरी हो गई और महारभ का पाप भी बच गया। इस प्रकार व्रतधारण से असंख्य जीवो की हिसा से वह बच सका और दूसरो के लिए भी विवेक-पूर्वक चलने की प्रेरणा प्रदान की।

आनन्द की तरह हर आत्मार्थी गृहस्थ को संसार के आवश्यक कार्यों मे विवेक से काम लेना चाहिए। इससे बड़ी भारी हिसा टल सकती है और जीवन भी उज्वल बन सकता है। जो व्यक्ति विवेक से काम न ले तथा जिसकी आवश्यकताओ की सीमा न हो, चाहे वह कितना ही विद्वान क्यों न हो उसकी विद्वत्ता का कोई उपयोग नही। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है –

काम-क्रोध-मद-लोभ की, जब लग मन में खान।
"तुलसी" पण्डित मूरखो दोनों एक समान ।।

इच्छा पर सयम नही करने का ही परिणाम है कि वररुचि जैसे विद्वान को भी लालच के वशीभूत होकर मन्त्राणी के पास पुरस्कार की याचना के लिए निवेदन करना पड़ा। नित्य की तरह वररुचि फिर राजदरबार में श्लोक सुनाने को उपस्थित हुए। महामन्त्री ने श्लोको की प्रशसा की और तत्काल ही उनको १०८ मुहरें पुरस्कार के रूप में प्राप्त हो गयी। फिर क्या था ? वे नित्य ही श्लोक बनाकर दरबार मे लाते और सम्मान मे मुहरें प्राप्त कर ले जाते। महामन्त्री शकटार को विप्र के लालच और मिलने वाले इस नित्य के दान से बड़ा दुःख हुआ। श्रीकृष्ण ने महाभारत में युधिष्ठिर से ठीक ही कहा है :–

दरिद्रान भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्य, नीरुजस्य किमौषधैः ।।

दवा रोगी को दी जानी चाहिए, नीरोग व्यक्ति को दवा देने से क्या लाभ? पण्डित वररुचि को नित्य एक सौ आठ मुहरों का दिया जाना महामन्त्री शकटार को खटकने लगा। वे सोचने लगे कि यदि इसी तरह मुहरे रोज दी गईं तो बहुत धनराशि खजाने से निकल जाएगी और राजकोष खाली हो जाएगा। शकटार सोचने लगे कि समय पाकर सम्राट के समक्ष इस विषय को रखना चाहिये।

महामन्त्री शकटार ने कैसे समय पाकर इस विषय को सम्राट नन्द के सामने रखा यह तो आगे पता चलेगा, किन्तु इस प्रसग से हमे यह भली भाति समय लेना है कि लोभ सब पापो का मूल है ।यदि वररुचि लोभ के वशीभूत न होते तो महामन्त्री को भी इतनी चिन्ता नही होती । मगर वररुचि की लोभ वृत्ति एव सग्रह वृत्ति इस तरह असीमता की ओर पैर बढाती गई कि मजबूर होकर महामन्त्री को इसको रोकने के लिए कदम बढाना पडा । हमे भी काम क्रोध लोभादि शत्रुओ को वश मे रखकर अपना जीवन आनन्दित बनाना है तथा इन कुवृत्तियो से बचते जाना है जिससे लोक और परलोक दोनो के कल्याण का मार्ग सरलता से खुल सके ।

---

[२२]

आचार : एक विश्लेषण

भगवान् महावीर स्वामी ने आचार को केवल काया के व्यवहार तक ही सीमित नही रखा, वरन् उन्होने ज्ञानाचार और दर्शनाचार को भी आचार ही माना है। ज्ञानाचार और दर्शनाचार मस्तिष्क और ह्रदय को सुधारने वाले आचरण है। चारित्र, तप और वीर्य, ये तीनो भी आचार है। चाहे साधु का पूर्ण त्याग भरा जीवन हो या गृहस्थ का अपूर्ण त्यागी जीवन, दोनो के लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र अनिवार्य है । ज्ञान और दर्शन की नीव पर चारित्र का महल खड़ा है। यदि कोई ज्ञान और दर्शन से अवकाश पाना चाहे तो काम नही चलेगा।

शास्त्र में कहा है कि– "ना दसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरण गुणा।" उ० २८। अर्थात् बिना श्रद्धा के ज्ञान नही और ज्ञान के बिना चारित्र नही। चारित्र का काम संचित कर्म को क्षीण करना है। इसीलिये चारित्र की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है– "चयस्य रिक्तीकरण चारित्रम्" शास्त्रकार भी कहते है :

"एय चय-चरित्त करं, चारित्र होइ आहियं !" उ० २८/३३ ।

आत्मा मे कर्म का कचरा, मिथ्यात्व, प्रमाद और मोह के द्वारा संचित होता रहता है; जिन्हें रिक्त करने के लिये प्रयास की आवश्यकता है। किसी कमरे की खिड़की खुली रखकर छोड़ दी जाय तो कमरा कचरे से भर जायेगा। बिना श्रम के ही यह कचरा कुछ दिनों में जमा हो जायेगा, जो दो-चार बार साफ करने पर भी बड़ी कठिनाई से साफ हो सकेगा। विद्यालय, धार्मिक स्थान या निवासयोग्य भवनो मे यदि दो-चार दिन कचरा साफ नही किया जाये, तो देखते-देखते कचरे का ढेर इकट्ठा हो जाता है, जो मन को ग्लान और दुःखी बनाता है। फिर आत्मा मे अनेक द्वारों से आकर कर्म का कचरा जो भरता रहता है, अगर समय पर उसको साफ नही किया गया तो वहा आत्मदेव कैसे विराजमान रह सकेंगे। अत. देवाधिदेव आत्मा के

निवास स्थान को कर्म रज की गन्दगी से बचाने के लिये स्वच्छता और सफाई की आवश्यकता है।

जैसे अज्ञानावस्था म शिशु मल के मर्म को बिना समझे उसम रमते हुए भी ग्लानि और दुख का अनुभव नही करता और वही फिर होश होने पर मल से दूर भागता एव नाक भौं सिकोडता है, वैसे ही सद्ज्ञान प्राप्त नहीं होने तक आत्मा अबोध बालक की तरह मल लिप्त बनी रहती है किन्तु ज्योही सद्गुरू की कृपा से सद्ज्ञान की प्राप्ति हो गयी फिर क्षण भर भी वह मल को अपने पास नही रहने देता। साथ ही मानसिक दुर्बलताओ को भी दूर हटाते जाता है। आनन्द श्रावक को भी प्रभु महावीर की कृपा से ज्ञान की ज्योति प्राप्त हो गई। अब उसकी सोई आत्मा जाग उठी। वह पाप का कचरा निकाल फेंकने के लिये उद्यत हो उठा और आने वाले कचरे को रोकने के लिये प्रथम ही आस्रव का दरवाजा बन्द कर दिया।

मानव जितनी ही अधिक अपनी आवश्यकता बढायेगा उतना ही अधिक उसका पाप भी बढेगा। अतएव आनन्द ने स्नान के पश्चात् अपने व्यवहार योग्य वस्त्र की सीमा निर्धारित करली। जैसे–वस्त्र विधि– स्नान के पश्चात् लोक वस्त्र परिवर्तन करते है जो कई प्रकार के होते है। जैन-शास्त्र म वस्त्र की प्रमुख पाच जातिया बताई है

(१) जांगिक– जगम जीवो से निष्पन्न यथा भेड बकरी आदि के बाल से बना कपडा।

(२) भृग के तात स बने वस्त्र– रेशमी और कोसा का वस्त्र जो कीडों के तात से बनाये जाते है। शहतूत आदि वृक्ष म कीडे पाले जाते है। य कीड तारों का घर बनाकर भीतर घुस जाते है। इन कीडो को गरम पानी के कडाह म डालकर नष्ट किया जाता है। करीब चालीस हजार कीडा के नष्ट करन से एक गज रेशमी कपडा बनता है। इस प्रकार महाहिंसा से निर्मित वस्त्र सद्गृहस्थ का धारण करना कहा तक उचित है ? आजकल नकली रेशम क वस्त्र भी बनने लगे है, जिनम किसी की हिंसा नहीं करनी पडती ।

(३) पाट (सन) स बना वस्त्र ।

(४) मूज घास, अम्बाडी केतकी आदि से बना वस्त्र ।

(५) कपास क रेशे तथा आक क झाड के रेशे का वस्त्र । इसक अतिरिक्त नाइलान आदि क वस्त्र रासायनिक विधि क द्वारा बनाय जाते है। नाइलान क वस्त्रो म आग लगने स बचाव नहीं हो सकता है ।

आजकल के उद्योगपति धन प्राप्त करने के लिये नवीन-नवीन डिजाइन (ढग) के कपड़े निकालते रहते है। रंगीन कपड़े आजकल अधिक पसन्द किये जाते है। इनमे चालबाजी भी चलती है। आज का मानव धन का इतना गुलाम बन गया है कि उसके लिये वह नैतिकता और प्रामाणिकता को भी भुला देता है । किन्तु आनन्द ने वस्त्र धारण का उद्देश्य प्रदर्शन और विलास नही माना उसने शीतातप से शरीर रक्षा एवं लज्जा निवारण मात्र ही वस्त्र धारण का उद्देश्य समझा। रेशमी वस्त्र मे जीव हिसा होती है जो सूती वस्त्र में नही होती। अतः हिसक रेशमी वस्त्र का आनन्द ने त्याग किया। कुछ लोग जीव हिसा वाले रेशमी वस्त्र को पवित्र तथा सूती वस्त्र को अपवित्र मानते है । इस विलक्षण कल्पना के मूल मे सम्भवतः रेशमी वस्त्र मे बिजली का असर होने से रोगाणु का असर कम होने की धारणा का असर होना सिद्ध होता है ।

आनन्द के जमाने मे एक वस्त्र पहनने एव एक के ओढ़ने का रिवाज था। बिहार एव बगाल मे आज भी लोग खुले शिर रहते और पछेवड़ा (चादर) ओढ़ कर चलते है। पगड़ी तो समय विशेष पर ही धारण करते है। भगवान् महावीर ने अन्न-जल की तरह अल्प वस्त्र धारण करने को भी तप कहा है। मनुष्य यदि अधिक सग्रही बनेगा, तो उससे दूसरो की आवश्यकता पूर्ति में कमी आयेगी। फलस्वरूप आपस मे बैर-विरोध तथा सघर्ष की स्थिति उत्पन्न होगी। सग्रही पुरुष को रक्षण की उपधि और ममता का बन्धन रहेगा, जिससे वह शान्तिपूर्वक गमनागमन नही कर सकेगा। अतः व्रती को सादे जीवन का अभ्यास रखना चाहिये। धार्मिक स्थलो में खासकर बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणो को दूर ही रखना चाहिये, क्योंकि धर्म स्थान में धन-वैभव का मूल्य नहीं, किन्तु साधना का महत्व है।

पुराने समय की बात है, एक बार एक राजा अपने मन्त्री के साथ बैठा विनोद कर रहा था । राजा ने मन्त्री से पाच प्रश्न पुछे। पहला प्रश्न था कि रोशनी किसकी अच्छी ? दूसरा प्रश्न-दुध मे कौनसा दुध अच्छा ? तीसरा प्रश्न-पुत किसका अच्छा ? चौथा प्रश्न-बल किसका अच्छा ? और पाचवा प्रश्न-फूल कौनसा अच्छा ? मन्त्री ने खूब सोच समझ कर उत्तर दिया । १. "रोशनी सूर्य की अच्छी" ग्रह-नक्षत्र, चन्द्र और प्रदीप की रोशनी इसके सामने कुछ भी नही । २. दूध गौ का अच्छा, क्योंकि वह पौष्टिक भी है और नीरोग भी । ३. पूत राजा का अच्छा, जो हजारो का पालन कर सके। ४. बल भाई का अच्छा, जो समय पर सहायता दे । ५. फूल गुलाब का अच्छा, जिसमे रूप भी है और खुश्बू भी। नीचे छाया में एक गड़रिया उनकी बाते सुन रहा था। उसको मन्त्री के उत्तर अच्छे नही लगे। और वह सबसे पीछे चलने वाली लगड़ी बकरी को यह कहते हुए वहां से चल पड़ा कि "चल

री टूटी ये सब बाते झूठी'। राजा ने गडरिये की बाते सुन ली और तत्काल आदमी को भेजकर उसको बुलवाया एव पूछा– 'क्यो रे तूने लगडी बकरी से क्या कहा था ? सच सच बता हम तेरा अपराध माफ करते है।'

यह सुनकर गडरिया बोला कि महाराज। आपके वजीर ने जो बाते कही है वे केवल आपको प्रसन्न करने के लिये कही है। इसलिये मैंने कहा कि ये सब बाते झूठी है। इस पर राजा बोला कि तुम अपनी राय बताओ। यह सुनकर गडरिया बोला कि महाराज। सूर्य की रोशनी उसके काम की है, जिसके आख मे रोशनी है। इसलिये आख की रोशनी सबसे अच्छी। दूध गौ का नही मा का अच्छा है जिसने मा का दूध नही पिया उसके लिये गौ का दूध क्या करेगा। महाराज पुत्र राजा का नही अपना अच्छा क्योकि अपना पुत्र नही होने से राजा का पुत्र हमारे किस काम का ? इसलिये पुत्र अपना अच्छा कहना चाहिये। चौथी बात मन्त्री ने भाई का बल अच्छा बतलाया किन्तु जगल मे अकेले मे कोई शत्रु मिल गया तो वहा भाई का बल क्या काम देगा। जो अपनी भुजा मे बल होगा तो वही काम देगा। इसलिये बल अपनी भुजा का अच्छा। पवे मे फूल गुलाब का अच्छा बतलाया किन्तु गुलाब का फूल तो श्रीमन्तो के नाज नखरे तथा शौक के लिये ही काम आता है परन्तु कपास का फूल तो अमीर-गरीब सबकी लाज रखता है। इसलिये कपास का फूल सबसे अच्छा है। यह सुनकर राजा प्रसन्न हुआ और गडरिये को ईनाम देकर विदा किया। यह है भारत की प्राचीन दृष्टि। आनन्द ने भी मात्र कपास के वस्त्र की मर्यादा की।

आनन्द के समान आप लोग भी वस्त्र की मर्यादा रखे यह आवश्यक है। पहले भारतवर्ष की जनसख्या कम थी तथा आकर्षण के इतने साधन भी नही थे। जबकि आज जनसख्या के साथ भौतिक आकर्षण भी बढ गये है। आज निम्न श्रेणी के लोगो तथा गरीबो ने भी अपनी-अपनी आवश्यकताए बढाली है– फलत असन्तोष भी बढ गया है। आज गरीबो का मन अमीरो की ओर लगा है पर वे भूलकर भी गरीबो की ओर दृष्टि नही डालते। यदि आनन्द के समान सभी अपनी-अपनी आवश्यकताए कम करले तो अनेक सकट टल जावेगे तथा आनन्द एव शान्ति की लहर सब ओर दौड जायेगी। साथ ही वैर विरोध एव सघर्ष की मात्रा भी कम पड जायेगी। शासन का खर्च भी कम हो जायेगा और लोग सभी दु खो से मुक्त हो जायेगे। वस्तुत मर्यादित जीवन मे शान्ति है तथा अमर्यादित जीवन मे अशान्ति। पण्डित वररुचि के नित्य मुहर पाने से शकटार के हृदय पर विपरीत प्रभाव पडा। खजाना खाली होते देखकर शकटार को दु ख हुआ। उन्होने राजा को सावधान करने की सोची।

एक दिन अवसर देखकर महामन्त्री ने राजा से निवेदन किया कि– महाराज! नित्य मुहर दान की अपेक्षा पण्डित को जागीर देना अच्छा है। यह सुनकर राजा बोला कि तुमने ही तो पण्डित की प्रशंसा की थी । मन्त्री ने कहा– "राजन् ! मैने मूल रचनाकार की प्रशसा की थी । पण्डितजी तो मात्र अच्छा सुना देते हैं । ये उनकी अपनी रचनाए नही है । आप जानना चाहे तो ये श्लोक मेरी लड़किया भी सुना सकती है ।"

महामन्त्री शकटार की सात कन्याएं थी, जो एक से वढ़कर एक प्रतिभाशालिनी थी । उनमे यह खूवी थी कि पहली लड़की किसी वात को एक वार सुनकर स्मरण में रख लेती । दूसरी लड़की दो वार सुनकर याद कर लेती । इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाचवी, छठी एव सातवी लड़की क्रमशः तीन, चार, पाच, छः और सात वार सुनकर किसी वात को याद कर लिया करती थी । वे रील की पट्टी पर पड़ी हुई प्रतिच्छाया के सदृश वातो की अविकल पुनरावृत्ति कर सकती थीं । इन वालिकाओ को प्रतिभाशालिनी बनाने में आदर्श माता लाछल दे का वड़ा हाथ था, जिसने इनमे भजन, स्मरण और स्वाध्याय के सुसंस्कार डाले थे । जीवन का विकास तभी सभव है जब शरीर श्रृंगार, व्यर्थ वातचीत एवं तेरी-मेरी के विवाद से ऊपर उठकर साधना समय का उपयोग किया जाये।

अगले दिन इसका निर्णय करना सोचा गया। पण्डितजी ने राजदरवार मे आठ श्लोक सुनाये। उसी समय वालिकाओ से पूछा गया– उनमे क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पांच, छः और सात बार सुनकर उन श्लोको को याद कर लिया और सभी ने एक-एक कर के श्लोको की पुनरावृत्ति कर दी । फिर क्या था ? राजसभा में पण्डितजी की रचना के मौलिक होने मे शका हो गयी । वररुचि अवाक् रह गये और बड़े शर्मिन्दा हुए। अतिलालच ने पण्डितजी की प्रतिभा और इज्जत को मिट्टी मे मिला दिया। जैसी वररुचि की स्थिति हुई, ऐसी हमारी भी दशा नही हो, इसके लिये हर व्यक्ति को सजग रहना चाहिये । हम कृषक के समान हृदय रूपी खेत में पाप कर्म रूपी घास को हटाकर आत्मा का कल्याण करें, अन्यथा पाप की भारी गठरी सिर पर धारण करके अपनी जीवन-यात्रा सफलतापूर्वक तय नही कर सकेंगे।

———

[२३]

मानव के तीन रूप

मनुष्य जीवन को उच्चता की ओर उठाने तथा अधमता की ओर ले जाने का प्रमुख साधन आचार है । ससार मे तीन प्रकार के प्राणी होते है । १ निकृष्ट (जघन्य) २. मध्यम और ३. उत्तम ।

जिन व्यक्तियो मे सदाचार तथा सद्गुणो का सौरभ नही होता वे ससार मे आकर यों ही समय नष्ट कर चले जाते है । क्योकि मनुष्य जीवन की प्राप्ति परम दुर्लभ है और ऐसे दुर्लभ नर-जीवन को व्यर्थ मे गवाना अज्ञानता की परम निशानी है। ऐसे व्यक्तियो को निकृष्ट प्राणी समझना चाहिये । मध्यम श्रेणी के प्राणी अपने जीवन निर्वाह के साधन में लगे रहते है तथा स्व पर का उत्थान नही कर सकते तो अधिक बिगाड भी नही करते । तीसरी कोटि के प्राणी अपने जीवन की सुरभि तथा विशेषता द्वारा अमरत्व प्राप्त करते है तथा सासारिक लोगो के जीवन सुधार मे सहयोग दिया करते है । ऐसे प्राणी उत्तम या प्रथम श्रेणी के माने जाते है ।

मनुष्य अपने जीवन को चाहे जितना ऊचा उठा सकता है क्योकि महानता प्राप्ति के सारे साधन उसके हाथ मे है। देवताओ के पास भोग और सुख-प्राप्ति के साधन है किन्तु जीवन को उज्ज्वल बनाने का जितना अच्छा साधन उनको चाहिये उपलब्ध नही है।

जीवन के अनमोल समय को व्यर्थ ही नष्ट कर डालना मानव की महान् जडता है। जहा साधारण मनुष्य धन, जन सत्ता कोठी बगला और वैभव की सामग्रिया प्राप्त करने मे प्रयत्नशील रहते है वहा विचारवान और विवेकी पुरुष- उन्हे नश्वर और क्षणिक मानकर आध्यात्मिक जीवन बनाने मे तत्पर रहते है। ससार की समस्त नश्वर वस्तुए बनाने पर भी विनष्ट हो जाती है किन्तु उत्तम जीवन एक बार बना लिया जाये तो वह फिर कभी बिगडता नही । शासन मे उच्च से उच्च पद पाकर भी लोग बिगड जाते है तो साधारण पद की तो बात ही क्या ? अतएव

आनन्द ने विचारवान का नही, आदर्श-जीवन का निर्माण किया। यही कारण है कि आज ढाई हजार वर्षों के बाद भी हम उनकी गुण-गाथा गाते नही अघाते है।

ससार मे तीन प्रकार के उत्तम पुरुष होते है, १. कर्म उत्तम पुरुष २. भोग उत्तम पुरुष एव ३. धर्म उत्तम पुरुष। चक्रवर्ती राजा भोग उत्तम पुरुष है । उससे बढ़कर भोग-सामग्री वाला ससार मे और कोई दूसरा नही होता। तीर्थंकर धर्म उत्तम पुरुष है। उनके समान स्व पर हितकारी धर्म-साधना अन्य जन नही कर पाते । यह पूर्ण सत्य है कि अपने पुरुषार्थ के बल पर उन्होने अपना जीवन पूर्ण बना लिया । साधारण साधक कितना भी ज्ञानवान क्यो न हो, तीर्थंकर के सदृश नही हो पाता । कर्म उत्तम पुरुष लोकनायक वासुदेव होते है। वे अपने बल से विजय मिलाकर ससार में अमर कीर्ति पाते है।

इन त्रिविध उत्तम पुरुषो मे से एक कर्म उत्तम पुरुष श्री कृष्ण चन्द्र भी है। उन्होने ससार मे जन्म लेकर यह बतला दिया कि– सत्कर्मों द्वारा मनुष्य पुरुषोत्तम बन सकता है । श्री कृष्ण चन्द्रजी तीन खण्ड के भोक्ता लोकनायक थे । लोकनायक का प्रधान दृष्टिकोण समाजनीति, अर्थनीति और राजनीति में सुधार करने का होता है । अतः लोकनायक धर्म नायक से भी अधिक जनप्रिय हो जाता है; क्योंकि गरीब से लेकर श्रीमन्त तक का स्वार्थ पोषण होता रहता है । कृष्णाष्टमी उसी लोकनायक की जन्मतिथि है जो प्रतिवर्ष वसुन्धरा पर आकर ससार को बोध का पाठ पढ़ाती एवं कृष्ण की जीवन-महिमा तथा सद्‌गुणो से जन-मानस को प्रेरित कर–आदर्शोन्मुख बनाती है ।

जिस समय हिसा और सत्ता का घमण्ड लेकर कस और जरासघ जनता को उत्पीड़ित कर रहे थे, उस समय उनसे मुक्ति दिलाने हेतु मानो कृष्ण का जन्म हुआ । कस ने भविष्यवाणी मे सुन रखा था कि वासुदेव की सातवीं संतान से उसका वध होगा । इसलिये उसने वासुदेव की सब सन्तानो को जन्म लेते ही मार डालने की सोची । वासुदेव भी विवश हो कर उसकी बात मान गये, मगर विधि का विधान कैसा विचित्र है कि श्री कृष्ण ने जन्म ग्रहण किया और पहरेदारो की आंखो मे धूल झोक कर वासुदेव के द्वारा वे नन्द के घर सकुशल पहुंचा दिये गये और कस के आदमियो को इसकी खबर तक नही लग सकी । श्री कृष्ण के जन्म पर एक कवि ने कहा है कि– "कृष्ण कन्हैया आए आज भारत भार हटाने" । वस्तुतः सत्ता के वैभव मे गुणी अकिचन पुरुषो का मान बढ़ाने का आदर्श रखने को उनका जन्म हुआ। श्री नेमनाथ के प्रति तो उनके मन मे इतनी श्रद्धा एव भक्ति थी कि जब-जब भी नेमनाथ का द्वारिका मे पदार्पण हुआ तब-तब श्रद्धा के साथ उन्होने

धर्म की प्रभावना की। पूर्ण त्यागी की कौन कहे सर्व साधारण गुणवान व्यक्तिया का भी वे उचित सम्मान करते थे। सुदामा का उदाहरण ससार-प्रसिद्ध है जिसके लिये रहीम कवि ने ठीक ही कहा है कि–

जे गरीब पर हित करें ते रहीम बड लोग ।
कहा सुदामा बापुरो कृष्ण मिताई जोग ।।

श्रीकृष्ण की सहनशीलता बडी प्रसिद्ध है। महामुनि भृगु ने एक बार उनकी सहनशीलता की परीक्षा लेने के लिये उनके वक्षस्थल पर लात मार दी। मगर इस घटना से वे आपे से बाहर नही हुए, उल्टे भृगु से पूछने लगे कि कही आपके मृदु चरणो मे मेरे शरीर के द्वारा कुछ चोट तो नही आयी ? इससे भृगु शर्म के मारे पानी-पानी हो गये। उनकी क्षमाशीलता के लिये कहावत प्रसिद्ध है कि–

क्षमा बडन को उचित है ओछन को उत्पात ।
कहा कृष्ण को घटि गयो, जो भृगु मारी लात ।।

आज हम क्षमाशीलता को बिल्कुल भूल गये है। आज का साधारण मनुष्य यह सोचता है कि राख बनने के बजाय अगारे बनो, ताकि चीटी पैरो तले नही कुचले तथा तेज को देख कर हाथी भी डर जाय । श्री कृष्ण ने क्षमा का उत्तम आदर्श रखा । सचमुच कृष्ण की सहनशीलता अनुकरणीय है । आज दूसरो को झगडते देख मनुष्य उपदेश देता है किन्तु स्वय सहनशीलता को जीवन मे नही अपनाता सयम और विवेक से काम नही लेता ।

श्री कृष्ण का बाल्यकाल ग्राम के प्राकृतिक वातावरण मे बीता। गरीबा तथा पशुओ से प्यार करना उनका प्रमुख दृष्टिकोण रहा। अमीरी पाकर वे अहभाव से नही भरे पशु-पालन पौरुष और सेवा आदि सद्गुण उनके महामहिम जीवन की विशेषता थी। आपका सेवाव्रत जन-जन मे प्रसिद्ध है। श्री कृष्ण चन्द्र जी त्रिखण्ड का अधिनायक पद पाकर भी– गरीबो की सेवा करना नही भूले। एक बूढे ब्राह्मण की सहायता मे उनका ईंट उठाना जगत प्रसिद्ध है। आज तो सेवा प्रदर्शन की वस्तु बन गयी। कुर्सी के नीचे का कचरा नही टलता और लोग जन-सेवी होने का स्वाग रचते और ख्याति के लिये फोटो तक खिंचवाते है।

श्रीकृष्ण की गुणग्राहकता दयालुता अपसग्राहिता, लोकोपकारिता और आत्मीयता सराहने योग्य है। मनुष्य की तो बात ही क्या ? पशु-रक्षा एव पशुपालन उनकी दयालुता के ज्वलन्त उदाहरण है। जिसके चलते आज तक लोग उनका गोपाल नाम से भी पुकारा करते है यदि श्री कृष्णचन्द्रजी आज का पशु सहार दख तो

निश्चय ही तिलमिला उठेंगे और इस देश वालो को अपना भक्त हर्गिज स्वीकार नही करेंगे।

उनका शैशव गौ – वत्सपालन और गौचारण मे कटा और यौवन मे उन्होने नीतियुक्त पौरुष का प्रदर्शन किया। युद्ध मे वे सदा धर्मनीति का विचार रखते थे। उनकी युद्ध-प्रणाली मे हिंसा मे भी अहिसा का लक्ष्य था। यही कारण था कि महाभारत का सघर्ष टालने के लिये उन्होने कौरवो से पाण्डवो के लिये सिर्फ पांच गाव मागे और दुर्योधन के द्वारा सुई की नोक बराबर भी जमीन नही देने पर भी पक्षपात का पल्ला नही पकड़ा । उन्होंने दुर्योधन के मागने पर अपनी सेना उसे अर्पित की और अर्जुन की इच्छा के अनुकूल उसके सारथि बने । अन्तर मे एक के प्रति गहरी प्रीति भले ही रही हो, परन्तु व्यवहार मे उन्होने अपने को उज्ज्वल बनाये रखा ।

आज श्रीकृष्ण सदृश विनयशीलता लोगो मे नही रही। शिक्षा का स्वरूप ही दूषित हो गया है, लोगो मे अह भाव बढ़ गया है तथा माता-पिता की ओर से सन्तान को मिलने वाले सुसंस्कार मे भी अतिशय कमी हो गई है । इन सब कारणों ने समष्टि रूप से जनमानस को विकृत कर दिया है ।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध मे जो कदाचार के आरोप लगाये जाते है, वे वस्तुतः नासमझी और मस्तिष्क विकार के परिणाम हैं । दुनिया की हर वस्तु को हम अपने दिल के गज से ही नापने का प्रयास करते है और हर व्यक्ति को अपने जैसा ही समझने लगते है । हमारा हृदय यह स्वीकार करने के लिये कतई तैयार नही कि कोई हमसे भी अच्छा हो सकता है । डेढ़ अक्ल की कहावत जगत प्रसिद्ध है । गोपी वास्तव में भक्त-जन का प्रतीक है जो श्रीकृष्ण रूपी आत्म स्वरूप की ओर आकर्षित है अथवा श्रीकृष्ण को भक्त प्यारा है– अतः वे उसकी ओर तल्लीन से दिखाई देते है। काव्यो मे गोपी वस्त्रहरण प्रकरण आता है, जिसके साहित्यिक-सौन्दर्य और मर्म को समझने में कुछ लोगों ने भारी भूल की है । यही कारण है कि कुछ लोग श्रीकृष्ण को श्रृंगार-रस प्रिय अथवा विषयी समझ बैठे है, जो नितान्त तथ्यहीन है ।

श्रीकृष्ण-आत्म स्वरूप है और विषय विकार-वस्त्र है तथा इन्द्रियां-गोपियां है। इन्द्रियों से विषय विकारो को हटा कर आत्म स्वरूप का दर्शन किया जाना, यह है उनका यथार्थ चित्रण, जिसे एकदम गलत रूप दे दिया गया है । वस्त्र-रूपी विषय यदि धारण करे तो आत्मा बिगड़ जायेगी। आत्मा रूपी कृष्ण, वस्त्र रूपी विषय को हटावे; यह इसका आध्यात्मिक अर्थ है ।

जैन-शास्त्रो में लोक-नायक के रूप मे श्रीकृष्ण का चित्रण हैं, भगवान् तथा धर्म-नायक के रूप में नही। श्रीकृष्ण ने साधको की रक्षा की । यदि उनमे त्याग की

वृत्ति नही होती, तो ऐसे महान् एव पवित्र कार्यो की ओर वे प्रवृत्त नही होते। उनका चरित्र उनका व्यवहार एव उनकी आदर्श वृत्तिया इसका सबूत है कि मनुष्य-जीवन मात्र आमोद-प्रमोद एव विलास के लिये नही अपितु जीवन को आदर्श उज्ज्वल और अनुकरणीय बनाने के लिये है । अपने सत्कर्मो के द्वारा मनुष्य नर से नारायण बन सकता है । यह श्रीकृष्ण के जीवन वृत्त से भली भाति हृदयगम किया जा सकता है। यदि श्री कृष्ण के गुणो को ग्रहण करे तो मानव दानव नही बन कर अमरत्व देवत्व का उच्च अभिलषित पद पा सकता है।

मानव जीवन भोग प्रधान नही साधना-प्रधान और सुकर्म-प्रधान है । यदि हम ज्ञान साधना और त्याग, तप का जीवन बितायेंगे तो जीवन मे आनन्द मिलेगा तथा लोक परलोक दोनो मे कल्याण होगा ।

---

[२४]

जीवनोत्कर्ष का मूल

साधना के मार्ग मे प्रगतिशील वही बन सकता है, जिसमे संकल्प की दृढ़ता हो । जिस साधक मे श्रद्धा और धैर्य हो, वह अपने सुपथ से विचलित नही होता । ससार की भौतिक सामग्रिया उसे आकर्षित नही करती; बल्कि वे भौतिक सामग्रिया उसकी गुलाम होकर रहती है । यद्यपि शरीर चलाने के लिये साधक को भी कुछ भौतिक सामग्रियो की आवश्यकता होती है; किन्तु जहां साधारण मनुष्य का जीवन, उनके हाथ बिका होता है, वहा साधक उनके ऊपर प्रभुत्व करता है। एक भूतो के अधीन है, तो दूसरा उनको अपनी अधीन रखता है। इसी विशेषता के कारण साधक जीवन की महिमा है।

आनन्द ने भी सभी भौतिक पदार्थों को लात नही मार दी; किन्तु उनके उपभोग, परिभोग मे नियन्त्रण किया । वस्त्र धारण के पश्चात् उसने अलकरण का परिमाण किया । प्रायः स्नान के बाद मनुष्य वस्त्र धारण कर ललाट पर चन्दन आदि का विलेपन करते है । आनन्द ने अनेक विध विलेपनो का त्याग करके केवल अगुरु, कुंकुम और चन्दन आदि मिश्रित एक विलेपन रखा जो मगल सूचक था और श्रृगार और विलास का सूचक नही था । यह आठवां विलेपन विधि का परिमाण है। आनन्द का लक्ष्य हर काम मे हिसा घटाने का था । इसलिये भोग-सामग्री और शोभा के लिये वह अल्पारंभी एव आरोग्यदायी वस्तु का ही चयन करता ।

विलेपन के पश्चात् माल्य-धारण विधि की बात आती है। भोगी लोग— इन्द्रिय पोषण के लिये विविध प्रकार के फूलो का उपयोग करते है और उनके हार तथा गजरे बनाकर धारण करते है । और तो क्या ? शरीर को अत्यधिक आराम देने के लिये वे फूलो पर लेटते और उसकी खुश्बू मे मस्त होकर अपने को कृतकृत्य मानते है । पर, आनन्द उन खिले फूलो के जीवन से बेकार खिलवाड़ कर उन्हें

कुचलना नही चाहता । उसने माल्य धारण का उद्देश्य प्रतिकूल हवा के प्रवेश को रोकना भर समझकर पद्म (कमल) और मालती के फूल के अतिरिक्त सब प्रकार से माल्य धारण का त्याग कर लिया ।

मुनष्य जाति मे हिंसा बढाने का बडा कारण अज्ञान है। अज्ञानवश मानव अमगल को मगल मान लेता है। स्पष्ट है कि दूसरो को रुलाने का कार्य मगलकारी नही होता। शादी, व्याह अथवा धार्मिक उत्सवा मे भी किसी जीव को मारना तथा शोभा के लिये केले आदि वृक्षो की डालिया काटकर लगाना, मगलजनक नही होता । इससे तो उन जनहितकारी वृक्षो का अकारण नाश होता है। प्राचीन समय मे घर की शोभा बढाने के लिये आगन मे कदली आदि के वृक्ष लगाये जाते थे । प्राचीन काव्यो मे इसका महत्व वर्णित है । किन्तु आज की तरह केले के खभे और आम की डालिया काटकर लगाना यह कैसी शोभा ? वृक्ष को उजाडा और घर मे कचरा किया। विवेकीजनो के लिये सोचने की बात है कि आम के पत्ता का वन्दनवार लगाकर जो आनन्द मानते है वे लोग वृक्षो के अग भग का दुःख भूल जाते है । आनन्द ने महारभी से अल्पारभी का जीवन स्वीकार किया और अपनी आवश्यकता को कम कर व्यर्थ की हिंसा से अपने आप को बचाया।

समाज के अधिकाश लोग अनुकरणशील होते है। वे अपने से बडे लोगो की नकल करने मे ही गौरव अनुभव करते है। इस प्रकार देखा देखी से समाज मे गलतिया फैलती रहती है। गीता मे भी कहा है—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तद् तदेवेतरो जन ।
सायत् प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

आत्मा का स्वरूप जगत् के समस्त प्राणिया मे विराजमान है। विश्व-परिवार के साप, बिच्छू, चूहे आदि भी सदस्य है किन्तु आज के मानव उनसे डरते और रोषवश उन्हे मार डालना चाहते है । मगर उन्हे समझना चाहिये कि जैसे एक परिवार मे गरम, नरम स्वभाव के अनेक लोग रहते है और उनके स्वभाव वैभिन्य के होते हुए भी पारिवारिक परम्परा मे कोई आच नही आने पाती वैसे ही प्राणी जगत् म भी विभिन्न स्वभाव के प्राणी रहते है और उन्हे रहने का अधिकार भी होता है । परिवार मे क्रूर स्वभाव के लोगो से दूर रहा जाता है या अधिक हुआ तो उनको अलग कर दिया जाता है, पर मारा नही जाता । ऐसे हिसक प्राणी को भी डराकर दूर भगाया जा सकता है ।

मनुष्य इन क्रूर स्वभाव वाले प्राणिया से मैत्रीभाव रखने लगे तो सात्विक स्वभाव के बल पर इनकी भी क्रूर वृत्ति बदली जा सकती है। प्राचीन समय के

ऋषि-मुनियो के चरणो मे शेर-चीते शान्ति से पड़े रहते थे । खादी वाले जैन सत श्री गणेशीलाल जी म० के पास भी कहते है कि साप बैठा रहता था । म० गाधीजी की कुटिया मे एक बार सर्प निकल आया । सब लोग भाग गये पर गाधीजी बैठे रहे। साप शान्तिपूर्वक उनके चरणो के पास से निकल गया । फ्रास के एक महात्मा पशु पक्षियो के बड़े दुलारे थे । उनके नाम पर आज भी ४ ता० को प्राणी-दिवस मनाया जाता हे। महात्मा गांधी ने सम्मान देने के प्रतीक फूल-माला की जगह सूत की आटी, माला के रूप मे पहनाने की प्रथा चालू की थी । इससे बनस्पति जगत् की व्यर्थ हिसा का बचाव होता तथा वस्त्र के लिये सूत भी बचने लगा ।

आज धर्म और कानून की उपेक्षा कर मनुष्य व्यर्थ की हिसा बढ़ा रहा है। फलतः देश का पशुधन और शुद्ध भोजन नष्ट होता जा रहा है । एक ओर वन-रक्षण एव वन्य पशु-पक्षी रक्षण के कानून बनते है और दूसरी ओर हजारो की सख्या मे उनका निरपेक्ष विनाश होता है । सचमुच मे यह बुद्धिमत्ता नही है ।

ज्ञान का सार विरति है। आनन्द श्रावक ने ज्ञानपूर्वक विरति धारण कर अपनी इच्छाओ को सीमित किया। सम्यक् दृष्टि होने के कारण उसके और एक साधारण जन के भोग मे कुछ विशेष अन्तर नही था। भोगी मनुष्य भोग मे अपने को डुबा लेता है और वह कभी भी उससे बाहर निकलना नही चाहता। किन्तु भौरा एक फूल से दूसरे फूल मे विचरण कर रसपान करता है। मधुमक्खी फूलों का रस लेकर उड़ जाती है। वह रस का कण-कण ग्रहण करती है, फिर भी बन्धन में नही रहती। दूसरी मक्खी नाक के मल मे बैठकर उसमे फस जाती है । मनुष्य को मधु-मक्खी की तरह बनना चाहिये किन्तु मल ग्रहण करने वाली मक्खी के समान नही। भोग-सुख को छोड़ने वाला त्यागी छोड़ते हुए सुख का अनुभव करता है, जबकि बिना मन भोग के छूटने पर अतिशय दुख होता है । अब वररुचि की बात सुनिये—

पण्डित वररुचि को आठ श्लोक सुनाने पर नित्य दरबार मे आठ मुहरें मिलती थी । उसे लोभ ने आ घेरा और शकटार के कारण उसे इस लाभ से वंचित होना पड़ा । अतएव वररुचि का महामन्त्री शकटार के प्रति कुपित होना स्वाभाविक था । वररुचि लड़कियो की श्लोक सुनाने की प्रतिभा से अतिशय प्रभावित हुआ । यदि हिप्नोटिज्म या जादू से ऐसा कार्य होता, तो उसे दुःख नही होता । पर, लड़किया स्वय स्मृति से सब श्लोक सुना गयी, यह उसके लिये चिन्ता और आश्चर्य का विषय था । लड़कियो मे सुसस्कार डालने वाली माता लाछल दे सचमुच प्रशसनीय थी । काश ! भारत मे आज भी ऐसी नारिया होती तो देश की दशा ही कुछ और होती।

पुत्र की अपेक्षा पुत्रियो मे सुशिक्षा और सुसस्कार इसलिये आवश्यक है कि उन्हे अपरिचित घरो मे जाना तथा वही जीवनपर्यन्त रहना है । बालक किसी से नही 'बनाव' होने पर अपने को स्थानान्तरित कर सकता है किन्तु लडकिया दूसरे घर मे जाती है तो यह बल लेकर जाती है कि मै घर के लोगो को अपना बना लूगी । लडकी यदि सुशीला और सस्कारवती होगी तो परिवार को प्रेम के बल पर अविभक्त और अखण्ड रख सकेगी । लडकी मे यदि सस्कार का निर्माण नही किया गया है तो घर को बिखेर कर वह प्रतिष्ठा को धूल मे मिला देगी । अत लडकी मे ये उदार सस्कार जमाने आवश्यक है कि वह जहा भी रहे उसको अपना घर समझे और इस तरह पितृ एव पति कुल दोनो को सुन्दर तथा स्वर्ग तुल्य बना दे ।

भारतीय सस्कृति के अनुसार विवाह के बाद लडकी पराई हो जाती है। उसको पिता का घर छोड कर एक नया घर बसाना पडता है। इसके लिये आवश्यक है कि वह उत्तम सस्कार वाली और मृदुभाषिणी हो। साथ ही सबके साथ मिल कर चलने वाली हो। आज की माताए बालिका से काम तो बहुत लेती है किन्तु उसे सुसस्कार सम्पन्न बनाने का यत्न नही करती। वह दहेज मे पुत्री को बहुत सारा धन देगी मगर ऐसी वस्तु गाठ बाध कर नही देती जो जीवन भर काम आवे। जिस लडकी को श्रद्धा प्रेम सुशीलता सदाचार प्रभु भक्ति और मृदुव्यवहार की गाठ बाध दी जाती है वह असली सम्पत्ति लेकर पराये घर जाती है ।

महामन्त्री की कन्याओ की बुद्धि के चमत्कार से सभी सभासद् प्रभावित हो गये। लोग इस रहस्य से अपरिचित थे कि ये लडकिया क्रमश एक दो तीन बार सुन लेने से किसी भी वस्तु को कण्ठस्थ कर लेती है। इस राजकीय अपमान से शर्मिन्दा होकर वररुचि के हृदय मे प्रतिहिसा की ज्वाला धधक उठी उसने इसका बदला लेने का निश्चय किया । कुछ दिन तक तो समय की प्रतीक्षा करता रहा कि अवसर पाकर इस अपमान का प्रतिशोध लिया जाये। रहिमन कवि ने ठीक ही कहा है—

रहिमन चुप हो बैठिये देखी दिनन को फेर ।
जब नीके दिन आइहे बनत न लगिहे देर ।।

वैर का बदला वैर से लेना कितना भयकर है इसके लिये निम्न उदाहरण पर्याप्त है । एक आदमी का अपने किसी गाववासी से वैर था । एक दिन सहसा ही वैरी से मुलाकात हो गयी और उसने बदला लेना चाहा । मन मे कुभावनाआ के आने से जब कुभावनाए बहुत बलवती हो जाती है तो अन्य अग प्रत्यग भी उसको सहकार देने लगते है। वैरी को सामने पाकर उसकी प्रतिहिसा की भावना उत्तेजित हो गई और वहा उसे बदला लेने के लिये पत्थर लकडी या अन्य ऐसी कोई वस्तु नही

मिली, जिससे वह चोट कर सकता । वह क्रोधान्ध था ही, झट सामने लुहार की दुकान से एक तपा हुआ लोहे का गोला उठा लिया । आवेग मे उसने गोला उठा तो लिया मगर प्रहार नही कर सका क्योंकि तप्त लोह ने उसके हाथ को जला दिया और उसे प्रहार के लायक नही रहने दिया । इसी प्रकार विरोध से विरोध को दबाने वाला पहले स्वय जलता है । जो विरोधाग्नि का मुकाबला शान्ति के शीतल जल से करते है, वे विरोधी को भी जीत लेते है ।

वररुचि विद्वान था, परन्तु उसके मन में प्रतिहिसा की आग जल रही थी । अनन्त काल से मनुष्य, इसी प्रकार के विकारों से जलता आया है। दीपक पर जलने वाले पतगो के अनन्य प्रेम की तो संसार तारीफ भी करता है किन्तु विकार-दग्धो पर आंसू बहाने वाला या उनकी प्रशंसा करने वाला आज तक एक भी उदाहरण सामने नही है। वस्तुतः ज्ञानवान् तो वह है जो काम क्रोधादि विकारो को अपने मन से दूर हटा दे, क्योकि इसने हमारा बहुत अहित किया है, हमारी आत्मा इन्हीं के द्वारा कलुषित होती आई है । रावण, कौरव, कंस का उदाहरण हमे सचेष्ट करने के लिये पर्याप्त है, और यदि हमने इनसे कुछ हासिल किया तो न सिर्फ मन को अत्यन्त शान्ति मिलेगी वरन् लोक और परलोक दोनो उज्ज्वल हो सकेंगे ।

---

[२५]

साधना की ज्योति

ससार के सभी पदार्थ मनुष्य के लिए अनुकूल या प्रतिकूल निमित्त वनकर कार्य करते है । जो मनुष्य अज्ञान मे सोए हो उनके लिए ये वस्तुए, अधःपतन का कारण वन जाती है । पर जिनके हृदय मे ज्ञान-दीप का प्रकाश फैला हुआ है उन्हे ये पदार्थ प्रभावित नही कर सकते । जागृत मनुष्य इन पतन के कारणो को प्रभावहीन कर देते है। द्रव्य, क्षेत्र और काल की तरह भाव भी मानव के भावो को जागृत करने के कारण बनते है किन्तु 'पर' सम्बन्धी भाव मे जैसा अपना अनुकूल प्रतिकूल भाव मिलेगा, उसी के अनुसार परिणति होगी ।

अजाग्रत मानव पानी की धार मे तिनके के समान भावना के प्रवाह मे वह जाते है, जबकि जाग्रत मानव मछली के समान ऊपर की ओर तैर जाते है । यदि छोटी मछली हो तो भी धारा मे ऊपर की ओर चढती है उसी प्रकार छोटी साधना वाला मानव भी हमेशा ऊर्ध्वगामी होता है । तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ हीन तिनका वह जाता है और कर्त्तव्य शील मछली विपरीत परिस्थितिया का भी सामना कर लेती है। तृणवत् तुच्छ पुरुषार्थ हीन मनुष्य जमाने की प्रतिकूल धारा मे वह चलेगा वह घूघरू की साधारण ध्वनि और रूप सौन्दर्य के साधारण झाके मे वह जायगा किन्तु गभीर मन वाला मेरु के समान निश्चल भाव से, भयकर से भयकर प्रतिकूल परिस्थिति मे भी अडिग रहेगा ।

मछली की तरह स्वाभाविक शक्ति मनुष्य मे है परन्तु कर्मशीलता चाहिये । विवेक शक्ति पर पर्दा पडने से मानव तिनके की तरह वह जाता है किन्तु जो ज्ञानी होकर स्वय जागृत है जड पदार्थ उसे अपनी धारा मे नही वहा सकते । ज्ञानी मनुष्य उनको अपने रग मे रँग लेते है । ये भौतिक तुच्छ वस्तुए, साधारण मनुष्य के मन को हिलाकर अशात कर देती है पर ज्ञानी पर इनका कुछ भी प्रभाव नही पडता। उल्टे वह इन्ही पर अपना प्रभाव जमा लेता है ।

जड़ वस्तु पर प्रभुता जमाने या उन्हे स्ववश मे करने के लिए ही साधना की जाती है । साधक आनन्द ने भोग-विलास तथा अन्य कामनाओं पर सचमुच ही नियत्रण कर लिया । अतएव वह ससार मे स्मरणीय एव वन्दनीय बन सका। कहा भी है–

आशाया दासा:, ते दासा: सकल लोकस्य ।
आशा येषा दासी, तेषां दासायते सकला:जना: ।।

अर्थात् जो आशा का दास है, वह सारे ससार का दास है । और जिसने आशा पर विजय प्राप्त कर ली , उसके लिए सारा ससार ही दास है ।

इन सबके बाद आनन्द ने आभरण विधि का परिमाण किया । आभरण खासकर प्रदर्शन की वस्तु है । लोग सुन्दर आभूषणो से लोक दर्शको का आकर्षण करते है । देश की सम्पन्न दशा मे भले ही आभूषण धारण करना, उतना अहितकर नहीं रहा हो; पर आज की स्थिति मे आभूषण, जनमन मे विविध प्रकार की विकृतिया उत्पन्न करने वाला ही प्रमाणित हुआ है । सर्वप्रथम तो आभूषण-धारण से दर्शको के मन में ईर्ष्या और लालसा जागृत होती है; दूसरे मे संग्रह और लोभवृत्ति का विकास होता है । वासना जगाने का भी आभूषण एक महांन कारण माना जाता है । वस्त्राभूषणो से लदकर चलने वाली नारिया अपने पीछे आखो का जाल बिछा लेती है और स्थिर प्रशान्त मन को भी अस्थिर एव अशान्त कर देती है । विशेषज्ञो का कथन है कि नारी का तन जितना रागोत्पादक नही होता, ये वस्त्राभूषण उससे अधिक राग-रगवर्द्धक होते है। यही कारण है कि आदिम-समाज मे, जबकि वस्त्राभूषणो का रीतिरिवाज नही था आज की अपेक्षा वासना का उभार अत्यन्त कम था । समाज मे जब से यह प्रथा जोर पकड़ती गई है, विकार का बल बढ़ता गया है ।

आभूषण धारण करने वाले यद्यपि दर्शक को कुछ नही कहते, तथापि उनका प्रदर्शन दर्शक की भावना को उभारने मे निमित्त तो जरूर बनता है । यदि सादा वस्त्राभूषण हो तो दूसरो मे सादगी का आदर्श उपस्थित करेगा और लोभजन्य ईर्ष्या की मात्रा कम रहेगी । वस्त्राभूषणो की तरह सादगी का भी असर कुछ कम महत्व वाला नही होता । राजमहल का विराट वैभव प्रदर्शन, यदि दर्शको को अपनी ओर आकृष्ट करता है तो एक सादी-पावन कुटिया भी चित्त को चकित किये बिना नही रहती ।

आनन्द ने अपनी नामांकित मुद्रिका और कुण्डलो के अतिरिक्त अन्य सभी आभूषणो का त्याग कर दिया । इस तरह सादगी अपना कर उसने समाज धर्म को

पुष्ट करने का कार्य किया । जिस देश मे समाज धर्म पुष्ट नही होता वहा व्यक्ति धर्म भी कुशल नहीं । समाज धर्म को व्यवस्थित रूप देने वाले व्यक्ति ही होते है । व्यक्ति जागरण के बिना समाज धर्म पुष्ट नही होता । कारण व्यक्तियो का समूह ही तो समाज है ।

आभरण विधि के बाद अब आनन्द ने धूपन विधि की सीमा निर्धारित की । घरो मे कीटाणुओ तथा जन्तुओ से बचाव करने के लिए आजकल लोग फिनाइल आदि कीटनाशक दवाओ का उपयोग करते है किन्तु पूर्वकाल मे इसके लिए धूपन विधि का उपयोग होता था । इससे रोग फैलाने वाले कीटाणु की वृद्धि नही होती । इन दोनो प्रयोगो मे एक मे हिसा भाव है तो दूसरे मे वायु-शुद्धि के द्वारा अशुभ वायु मे पलने वाले जन्तुओ को भगाकर आवास-स्थान को शुद्ध बनाना है । जब धूप का प्रयोग किया जाता है तो वहा से डास मच्छर आदि जन्तु भग जाते है । किन्तु मरते नही ।

भारतीयो मे आज कल नकल करने की प्रवृत्ति बहुत बढी हुई है और इसीलिए पश्चिम की पद्धति यहा भी आख मूँद कर अपना ली गयी है । फिनाइल आदि जिन दवाओ का प्रयोग किया जाता है उनमे विषाणु (जहर) होने से कीटाणुओ का नाश हो जाता है । और उन विषाणुओ से दूषित वायु हमारी श्वास नली मे प्रविष्ट होती रहती है जो भविष्य के लिए हानिकारक है । फिर दवाओ के भरोसे लोग गफलत करने लग जाते है । यदि नियमित सफाई रखी जाय तो निश्चय ही कीटाणु नही बढ सकते और न उनकी हिसा की जरूरत ही पडेगी ।

बहुत दिनो तक कमरो को नही सभालने और सफाई नही करने से कीटाणु बढा करते है । यह निश्चित है कि मानव के प्रमाद, भूल और गलती के कारण ही घर मे विषैले जन्तुओ की वृद्धि होती है । मनुष्य इस प्रकार अपनी भूल से उत्पन्न शूल को दवाओ से समाप्त नही कर सकता । आनन्द ने धूपन विधि मे भी अमर्यादितपन को मिटाने के लिए परिमाण कर लिया । उसका दृष्टिकोण महारभ से बचकर अल्पारभ से कार्य चलाने का था ।

शुद्ध, बुद्ध और निष्कलक पद को पाने के लिए आनन्द ने जीवन म सयम तथा असीम आवश्यकताओ को मर्यादित करना आवश्यक समझा । शारीरिक कौटुम्बिक सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक आदि अनेक विध आवश्यकताए होती है जो मानव के द्वारा घटाई बढाई भी जा सकती हैं । जैसे–शारीरिक आवश्यकता में तेल, साबुन, पान सुपारी, बीडी आदि बाह्य आवश्यकता है । आवश्यकता पर नियन्त्रण करने वाला अपने मन की आकुलता मिटा लेता है । जैसे–पृथ्वी की गोलाई पर कोई कितना ही

घूमता रहे पर उसका अन्त नही पाता । इसी तरह इच्छाओं का चक्र भी कभी युग युगान्तर मे पूरा नही होगा । इसीलिए शास्त्र मे कहा है कि–

"इच्छाहु आगास समा अण तिया,"

अर्थात् इच्छाए आकाश के समान अनन्त है ।

भोगो के द्वारा इच्छा की तृप्ति चाहना, यह तो ईंधनो या घृत से आग वुझाने जैसा है । गीताकार श्रीकृष्ण ने भी ठीक ही कहा है–

न जातु काम. कामाना-मुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवमिव व एवमिववर्द्धति ।।

अर्थात्–इच्छा कभी काम के उपभोग से शान्त नही होती । इस प्रकार तो यह घृताहुति से आग की तरह और वढ़ती है । इस वढ़ते हुए वेग को रोकने के दो उपाय है । एक दमन करना और दूसरा, शमन करना । साम्प्रदायिक उपद्रवो के समय पुलिस के शक्ति वल से उपद्रव रोक दिए जाते है । इससे तात्कालिक का दमन तो हो जाता है पर रोग की स्थायी दवा नही होती और समय पाकर वह दवा हुआ जोश फिर अचानक भड़क उठता है । इसके लिए शमन की अपेक्षा है । कारण, दमन का काम बलात् रोकना है और शमन का मूल से निकाल देना है भीतर की आग को अच्छी तरह वुझा देना है ।

राजनीति दमन प्रधान है, वहां शमन की ओर लक्ष्य नही रहता यही कारण है कि वर्षों तक कारावास का कठोर दण्ड भोग कर भी अपराधी अपराध कर्मों से अलग नही हो पाते । सजा काट कर निकलते ही वे फिर वैसे ही उत्पात चालू कर देते है । सरकार की ओर से कड़ी कारवाई होने पर भी, आखों मे धूल झोंक कर अपराधी निकल जाते है । नगरों मे गली-गली पर पुलिस चौकियों का प्रवन्ध होते हुए भी छुरे भोक दिए जाते हैं और बड़े-वड़े नगरो मे कारो तक की चोरी हो जाती है । यह शमन की कमी का ही फल है । गावों मे संस्कारवश दुर्वृत्तियो का शमन होता है, अतः वहां चोरी एव गुण्डागर्दी के केस कम होते हैं ।

शमन मे वृत्तियां जड़से सुधारी जाती है–रोग के वजाय उसके कारणों पर ध्यान दिया जाता है । इसलिए उसका असर स्थायी होता है । सूई आदि से रोग को दवा दिया जाय पर रोग का कारण मिटाकर शमन नहीं किया जाय, तव तक रोगी को स्थायी शान्ति नही मिलती । धर्म नीति शमन पर अधिक विश्वास करती है। फिर भी तत्काल की आवश्यकता से कही दमन भी अपेक्षित रहता है । प्रवल विकारों को रोकने के लिए कुछ उपवास कराए जाते है, कलह करने वाले को प्रायश्चित्त देकर

कुछ समय के लिए अलग कर दिया जाता है । यह दमन है, किन्तु वहा सत् शिक्षा से उसकी वृत्तियो को सुधारना ही उद्देश्य है । इस प्रकार दमन पूर्वक भी शमन से मन निर्विकार बनाया जाता है ।

आनन्द ने अपनी भोग सामग्री को ज्ञानपूर्वक मर्यादित किया जो कि शमन है। क्योंकि यहा बलपूर्वक किसी के द्वारा दमन नहीं है । अज्ञान दशा मे दमन का उपयोग होता है किन्तु ज्ञानी के लिए इसकी जरूरत नही रहती । अबोध बालक को चोरी या बीडी आदि की कुटेव पड जाय और माता-पिता उससे पैसे छीनकर उसे वैसा नही करने दे, कुसगति मे नही बैठने दे, यह दमन का रूप है परन्तु जब वस्तु के हानि लाभ समझा कर सन्मार्ग का भान कराकर, उसकी रुचि बदल दे तो यह शमन होगा और इसका प्रभाव भी स्थायी होगा ।

दमन मे बाह्य बल की अपेक्षा है तो शमन आन्तरिक बल से किया जाता है। उससे आत्मा को स्थिर शान्ति का अनुभव होता है । दमन से शान्ति प्राप्त नही होती, जैसा कि वररुचि के उदाहरण से स्पष्ट है । सम्राट नन्द के दरबार से आठ मुहरो का मिलना बद हो गया यह वररुचि की तृष्णा का दमन हुआ । इसके बदले समझाकर मुहरे देनी बन्द की जाती तो वह शमन होता । स्वेच्छा से उपवास करना शमन है किन्तु व्यक्ति के आगे से परोसी हुई थाली खीच लेना दमन है । पंडितजी ने गगा तट पर यह स्वाग बना रक्खा था कि गगा माई मुझे मुहरे देती है । इस बात की भी कलई खुल गई । वररुचि कही का न रहा । फिर भी उसने भाग जाने मे अपना अपमान समझा । उसको अह हुआ कि मुझ जैसे पंडित को एक साधारण मन्त्री ने अपमानित कर दिया । इसलिए वह प्रतिशोध के लिए चिन्तित रहने लगा । शास्त्र और शस्त्र इनमे शास्त्र विद्या अधिक महत्त्वपूर्ण है । शस्त्र विद्या का उद्‌गम भी शास्त्र से ही है । अत शस्त्र विद्या से शास्त्र विद्या बडी है । पंडित ने सोचा कि शास्त्र को लज्जित नहीं होने दूगा वरन् प्रतीकार कर शास्त्र को विजयी बना दूगा ।

वररुचि अपमानित होकर प्रतिहिसा के लिए वैसे ही तडपने लगा जैसे कोई घायल साप अपने विरोधी से बदला लेने के लिए तडपता हो । कुछ मानव भी साप की प्रकृति के होते है वररुचि भी इसी प्रकृति का था । उसने सोचा मन्त्री बडे है मगर इससे क्या ? इसकी बुद्धि को ठिकाने तो लगाना ही है । इस प्रकार सोचते सोचते वह पागल सा हो गया । मानव मे अर्थनाश और मान भग आदि से भी कभी-कभी उन्माद आ जाता है और कभी प्रिय वियोग एव अप्रिय सयोग से

भी। पंडित उन्मत्त की तरह मंत्री के महल की ओर घूमता रहता ताकि कुछ भेद मिल सके ।

अर्थ, काम, सत्ता और मान भग का उन्माद अनन्त काल से मानव को सताता आ रहा है । इस प्रकार से बेसुध मनुष्य यदि प्रभु भक्ति मे लग जाय तो बेड़ा पार हो सकता है । मीरा का मन भोग, विलास, दास-दासी एव ऐश्वर्य में नही लगा । वह प्रभु भक्ति मे ही उन्मत्त-सी हो गई । जैसे किसी वस्तु के गुम होने पर मनुष्य दुःखानुभव करता है, वैसे ही यदि व्रत भंग होने पर पीड़ा मानने लगे तो परलोक सुधर जाय । मीरा कहती है—

एरी मैय्या ! मैं तो राम दीवानी, मेरा दर्द न जाने कोय ।
घायल की गति घायल जानै, और न जाने कोय ।।

मीरा राणाजी से कहती है—तुम लोगों को मेरी बीमारी का पता नही है । तुम लोग डॉक्टर-वैद्य बुलाते हो, पर मेरी बीमारी को नही समझ रहे हो । काम और अर्थ के दीवानो के अनेक उदाहरण देखे गए है, अब तो मनुष्य को भगवद् भक्ति का दीवाना बनना चाहिए ।

मानव जीवन मे पर्व का महत्वपूर्ण स्थान है । ये केवल खाने-पीने और मनोरंजन के लिए ही नही, वरन् साधना के लिए भी है । पर्व या त्यौहार अतीत काल से ही हमे जीवन-निर्माण का पाठ पढ़ाते आए है और पढ़ा रहे हैं तथा भविष्य मे भी पढ़ाते रहेगे । अच्छा निमित्त पाकर भी यदि मनुष्य प्रमादी बन जाय, तो पर्व उसका साथ कहां तक दे सकेगा । अपने साथ सदा अहिसा, सत्य, संयम की सुवास लेकर चलना चाहिए, ताकि वातावरण सुरभित रह सके।

आज तो देश मे अपना राज्य है । आप चाहे जैसा विधान बनाएं, नक्शे बनाएं और देश को सजाएं या सवारे । राष्ट्रपिता बापू ने सत्य और अहिंसा के चमत्कार के द्वारा देश को आजाद करके दिखा दिया और आप लोगो के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया कि आप चाहें वैसा देश को बनावें । परतंत्रता के दिनो में भी अहिंसा सत्य के विपरीत कार्य होने पर लोग शासकों का आसन हिला देते थे । किन्तु आज हिसा उग्ररूप धारण कर रही है और आपका मुह बन्द है । इससे तो मालूम पड़ता है कि अब अहिंसा में लोगों का विश्वास नही रहा जो पहले था । नहीं तो अपनी सरकार के द्वारा जिसकी नीव सत्य और अहिसा पर आधारित है, बड़े-बड़े कत्लखाने खोले जाय ! और जनमत उसको बन्द नही करा सके । अंग्रेजो

की पाशविक शक्ति के आगे भी जो जनमत झुक नही सका वह अपने भाइयो के सामने मौन रहे इससे बढकर दुख की बात और क्या हो सकती है ?

आज लोगो मे सबसे बडा रोग आस्थाहीनता का घर कर गया है और जन मानस आध्यात्मिक भाव से शून्य हो उठा है । वह सत्य अहिसा का चमत्कार देखकर भी विश्वास नही कर पा रहा है कि इससे न सिर्फ इस लोक का वरन् परलोक का पथ भी प्रशस्त होता है । लोगो के हृदय मे घर की गई इस शून्यता को भगाना है और उन्हे फिर से विश्वास दिलाना है कि सत्य अहिसा के द्वारा सिद्धि मे देर भले ही हो किन्तु उसका असर स्थायी और अमिट होगा । मनुष्य आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्त होकर ही अपना तथा समाज का कल्याण कर सकता है ।

---

[२६]

जैन संस्कृति का पावन पर्व : पर्यूषण

पर्यूषण त्याग, तप और साधना का आध्यात्मिक पर्व हे । यह पर्व मानव-मन को सांसारिक प्रपंचो से अलग होने तथा उज्ज्वल भावो की ओर वढ़ने की प्रेरणा प्रदान करता है । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, साधना के प्रमुख चार साधन है । अनुकूल शरीर-द्रव्य और भूमि जैसे क्षेत्र को पाकर सभी व्यक्ति साधना के मार्ग मे बढ़ सकते है। खासकर साधक को यदि विशेष साधन मिले, तो वह जीवन-निर्माण में और भी द्रुतगति से प्रगति कर सकता है । पर्वाधिराज एक ऐसा ही विशेष साधन है, जो आध्यात्मिक वातावरण का निर्माण कर सत्कर्मों की ओर प्रवृत्त-व्यक्ति को साधना के पथपर प्रोत्साहित करता तथा उसमे दृढ़ता, साहस, लगन और वल का अधिकाधिक सचार करता है ।

पर्व के द्वारा सामूहिक साधना का पथ प्रशस्त होता है एव इससे समुदाय को साधना करने की प्रेरणा मिलती है, जिससे राष्ट्रीय-जीवन का सतुलन बना रहता है। मनुष्य यदि अपनी वृत्ति, विवेक पूर्ण नही रक्खे तो वह दूसरों के लिए घातक भी बन सकता है । असयत मानवता, पशुता और दानवता से भी बढ़कर बर्वर मानी जाती तथा 'स्व-पर' के लिए कषाय का कारण हो जाती है । अतएव वाणी, व्यवहार और क्रियाकलाप सभी को सयत रखना हर एक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है । यह पुनीत पर्व जन-जन के लिए कल्याणकारी बने, यह लक्ष्य हमारी दृष्टि से ओझल नही होना चाहिए ।

पर्यूषण शब्द के पीछे गभीर रहस्य और मर्म की बाते छिपी हुई है । अपने अन्य कार्य विना हेतु के भी हो सकते है, किन्तु सच्छास्त्र की कोई भी बात अहेतुक नही होती । आज के माता-पिता अपने पुत्र का नाम राजेन्द्र और जिनेन्द्र आदि रख देते है किन्तु वे उसे उस नाम के अनुरूप बनाने का प्रयास नही करते ।

वीतराग की वाणी मे गभीर रहस्य और मर्म भरा रहता है । यहा बिना किसी अर्थ के शब्द का प्रयोग नही होता । पर्यूषण शब्द के विधान का स्रोत साधु साध्वी की मण्डली से है जिनका जीवन अहिसा एव सयम प्रधान होता है । वे आठ माह भ्रमण मे व्यतीत करते हैं और वर्ष के शेष चार मास मे एक जगह स्थिर रहते है । इस एकत्र स्थिर वास का नाम चातुर्मास प्रख्यात है ।

आज की तरह पूर्वकाल मे चातुर्मास वास की सुविधा सुलभ नहीं थी । भ्रमण करते-करते साधुगण वर्षाकाल आने पर किसी स्थान पर रुक जाते और वही चातुर्मास व्यतीत करते थे । चाहे वहा के निवासी जैन हो या अजैन वे ५५ दिन की अनुमति बढाते हुए चातुर्मास का काल पूर्ण कर लेते थे ।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से पर्यूषण शब्द परि और उषण इन दो शब्दो के मेल से बना है । जिसमे परि=अच्छी तरह और उषण का अर्थ रहना होता है । अच्छी तरह से रहना पर्यूषण का तात्पर्य है । 'परि समन्तात् वसति आत्म सकाश इति पर्युषण' याने आत्मभाव मे अच्छी तरह रहना इसको पर्यूषण कह सकते है ।

यह दुष्कर्मों की होली जलाने का पर्व है । अनन्तकाल के पूर्व संचित दूषित कर्मों के कचरे को जला देने का यह विशिष्ट काल है । इस पर्व मे पाप कर्मों की विशाल ढेरी को साधना तथा प्रभुभक्ति से जलाने का लक्ष्य सन्निहित है । यदि साधना का सच्चा रूप पकड लिया जाय और मनोयोग लगादे तो पापो की विशाल ढेरी भी अल्पकाल मे जलाई जा सकती है । प्रभु के नाम की तेज अग्नि पाप पुज को जलाने के लिए पर्याप्त मानी गई है वह चिनगारी का काम करती है कविवर भक्त विनयचन्दजी ने कहा है—

पाप पराल को पुज बन्यो अति
मानो मेरु आकारो ।
ते तुम नाम हुताशन सेती
सहजा प्रज्वलत सारो रे
पदम प्रभु पावन नाम तिहारो ।

पदम प्रभु सचमुच प्रभु का नाम पाप-पराल के लिए अग्नि के समान है। सयम और तप मे पापो को विनिष्ट कर दने की अजब शक्ति है । साधक का एक काम पाप न बढने देना और दूसरा संचित पापा को मिटाना है । जब तक पापा की वृद्धि नही रुकती तबतक संचित का सफाया दुष्कर है । अतः जीवन को पाप रहित एव निर्मल बनाने के लिए साधक को उपरोक्त बाता को ध्यान मे रखना आवश्यक है ।

यों तो पाप कर्म की निर्जरा और आत्म शुद्धि के लिए कोई समय निर्धारित नही किया जा सकता, किन्तु भूले-भटके लोगो को मार्ग प्रदर्शन करने हेतु आचार्यों ने पर्व की स्थापना की है, जो हर वर्ष जागरण का सदेश दे जाता है । ससारी आत्मा को आठ कर्म के बन्धन होते है, उसके अनुरूप साधनाए भी आठ रख दी है। गुणों की साधना से ये कर्म के बन्धन कटते हैं । यह पर्वाधिराज आत्मा के आठ गुणो-दर्शन, ज्ञान, सामायिक, तप, दान, सयम, शुद्धि और अहिंसा की साधना का एव आठ कर्मों के खपाने का पर्व है । अतएव इन आठ दिनो को अष्टाह्निक या लोकवाणी मे अट्ठाई भी कहते है, जो प्रथम दिन में रूढ़ है ।

जीवन को ऊपर उठाने के लिए ज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता है । ज्ञान हीन नर संयम, साधना, व्रत और नियम के महत्व को समझ नही पाता किन्तु ज्ञान तब तक ज्ञान नही जब तक सम्यक् श्रद्धा-विश्वास नही हो । केवल जानना ज्ञान नही है। जानना तो प्राणी मात्र का स्वभाव है । जानने का गुण न हो, तो वह जीव ही नही है । मगर ज्ञान का मतलब है, सही विश्वास के साथ यथार्थ जानना । जिनका जानना गलत विश्वास के पाये पर है, या उल्टी दृष्टि पर है, उनका वह सब जानना अज्ञान है और व्यर्थ है । अतः ज्ञान का दर्शन या सम्यक्त्व से युक्त होना अत्यन्त आवश्यक है ।

जैसे बास मे पर्व-पोर या गाठ का होना उसकी मजबूती का लक्षण है, वैसे ही जीवन रूपी बास मे भी यदि पर्व न होगा, तो जीवन पुष्ट नही होगा । जीवन-यष्टि की संधि में पर्व लाना, उसे गतिशील बनाना है । इससे साधना का वर्ष भी पर्व से दृढ़ होता है । अन्य पर्वों से विशिष्ट होने के कारण इसे पर्वाधिराज माना गया है । यह महापर्व वर्ष मे एक बार आता है । अवस्थानुसार हर मनुष्य के अनेक पर्व बीत गए होंगे, किन्तु आज हमे यह सोचना है कि क्या हमे इसे आमोद-प्रमोद मे ही बिता देना है, या इसमे सच्चा प्राण भी फूंकना है । यदि इसे सप्राण बनाना है या पर्वाराधन सही ढग से करना है और सामाजिक एव आध्यात्मिक बल बढ़ाना है, तो बच्चे और बूढ़े सभी मे साधना की जान डालनी होगी । विषय कषाय को घटाकर मन के दूषित भावो को दूर भगाना, इस पर्व का पुनीत सदेश है। कवि लोग कहा करते है—"यह पर्व पजूसण आया सब जग मे आनन्द छायाजी" इस तरह इस पर्व की महिमा का यह गान सहस्रमुख से भी होना सभव नही है ।

इस पर्वारम्भ के पूर्व आदिकाल मे सूर्य की प्रखर किरणो के कारण भूमि पर जो जलन थी तथा भीषण गर्मी से जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी, वहां वर्षा से अब सब शीतलता कर अनुभव कर रहे है । चारो ओर से भूमि की ऊसरता दूर हो

गई और चारो ओर हरियाली छा गई । प्राणी मात्र मे शात स्थिति दिखाई देने लगी। ऐसे अवसर मे यह पर्व मन की आकुलता को दूर कर शाति लाता है ।

हिंसा बचाने का उत्तम काल यही है । विकारो के चक्र से जब मनुष्य मुक्त होता है तो मन मे शाति आती है । ऐसी स्थिति मे ज्ञान साधना के द्वारा विषय कषाय घटाया जा सकता है । समय का चक्र चलता ही रहता है । प्रमादी ऐसे सुअवसर को भी गवा देता और जीती बाजी हार जाता है । अतः निश्चय बल को दृढ करना चाहिए । साधना के मार्ग मे लगकर यदि-साधक प्रमाद मे पड जाय, तो कुछ भी हाथ नही लगेगा । उपासना मे तन्मयता अपेक्षित है अन्यथा 'माया मिली न राम' की स्थिति होगी ।

पर्व के मगलमय समय मे सभी प्रकार के गृह जजाल को छोडने का तात्पर्य उपासना मे लगना और अधिक समय आध्यात्मिक लाभ के लिए देना ही है । इस आयोजन का मूल उद्देश्य दूसरो के निमित्त से स्वय लाभ लेना सतो को सुनाने का और श्रोता को सुनने का लाभ मिलना तथा दूसरे के निमित्त से साधना के मार्ग मे वृद्धि करना है ।

सम्यग्दर्शन को पुष्ट करना है तो यह ध्यान रखना होगा कि सतत उसकी आराधना की जाय । ज्ञान बिना दर्शन पुष्ट नही होगा । दर्शन का वास्तविक अर्थ विश्वास है । यदि देव गुरु और धर्म पर विश्वास न हो, तो कुछ भी कार्य सिद्ध नही होगा । अत दर्शन ही सभी साधनाओ की जड है । गुरु के वचना पर विश्वास कर बडे-बडे राजाआ ने त्याग के मार्ग पर पैर रक्खा । जैसे त्याग वीर साधक श्रद्धा के बल पर अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु को छोड देता है उसी तरह सबके हृदय मे श्रद्धा आ जाना और टिक जाना सहज सौभाग्य की बात नही है ।

पैसे कीमती वस्त्र और आभूषणादि पर लोगा को प्रेम रहता है परन्तु ये सब सासारिक शोभा के उपकरण, उपासना के बाधक तत्व हैं अतः इस महापर्व म बन पडे जहा तक इनसे दूर रहना चाहिए । धर्म स्थान भी कभी इन मोहकी वस्तुआ से अपवादित हा जाता है और कोई हाथ फेरू आकर धार्मिक स्थलो को बदनाम कर देता है । अतएव इन वस्तुओ को विश्वस्त स्थाना मे रखकर शान्त मन से उपासना करनी चाहिए ।

एक समय की बात है कि जयपुर के एक जौहरी उपासना करने के लिए धर्म स्थान म आये और सोने का कठा उतार कर कपड में रखा एव उपासना करने लगे। सयोगवश पास बैठ एक भाई की दृष्टि उस पर पड गइ । वह बहुत दिना स

गरीबी के कारण तग था, अतः अवसर का लाभ लेने की सोचने लगा। उसने रात्रि के समय कठे पर हाथ फेरा और वहा से चल पड़ा। सेठजी ने जान लिया कि कठा हाथ से जा रहा है फिर भी कुछ नही कहा। उनके मन में आया कि मै लखपति और यह भूखपति है।

इधर उस चुराने वाले व्यक्ति ने कठे को गिरवी रखकर व्यापार करना शुरु किया। धधे में उसे अच्छा लाभ हुंआ और कुछ ही दिनो मे दश-बीस हजार रुपये कमा लिए। तो उसके मनमें विचार आया कि अव सेठजी की रकम लौटा देनी चाहिए। वह कंठा लेकर सेठजी के पास आया और बोला—"सेठ साहव ! उस दिन मेरी मति ठिकाने नही थी, इसलिए मैने आपका कंठा उठा लिया था। अव आप अपना कंठा सभालिए और मुझे क्षमा कीजिए।" इस पर सेठजी ने कहा कि यह कंठा मेरा नहीं है, तुही ले जा। मै गलती से तेरे जैसे भाई की ओर ध्यान नही दे सका, जिससे तुझे ऐसा करना पड़ा। वह बड़ा गद्‌गद हुआ और नम्र शब्दों में बोला—"मुझे अधिक पाप में न डालिए।" उसे श्रद्धा थी कि पाप बुरा है, इसलिए चुराया हुआ गुप्त माल भी उसने वापिस कर दिया।

श्रद्धा की दृढ़ता न होने से ही मनुष्य अनेक देवी देव, जादू टोना और अधविश्वास मे भटकते रहते है। अगर सम्यग्दर्शन हो तो इधर-उधर चक्कर खाने की जरूरत नही होगी।

एक बार किसी सेठजी के यहां एक ठग आया और उसने सेठानी से कहा कि हांडी में जितना भी सोना और जेवर हो,रख दीजिए, मै रातभर मे मंत्र द्वारा दूना कर दूंगा। सेठानी ने लालचवश सब सम्पत्ति बटोर कर हंडी मे रख दी। ठग ने भी कुछ तांबा मगवाया और हडी को चूल्हे पर रख कर कमरा बन्द कर दिया और अवसर देखकर रात में धन लेकर भाग गया। सेठानी ने सुबह ताला खुलवाया और हडी को उघाड़कर देखा तो तावा भरा था और मंत्रवादी का कहीं पता नहीं था। वह तो रात मे ही नौ दो ग्यारह हो गया था। अंध श्रद्धा में पड़कर हजारो लोग इस प्रकार ठगाते है। यह सत् श्रद्धा के अभाव मे सेठजी की स्थिति हुई। उन्होने ठग की बात पर विश्वास कर लिया। इस प्रकार की बातो पर विश्वास के बदले यदि धर्म और गुरु पर श्रद्धा करें तो लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन सुधर जायेंगे।

पर्वाधिराज हमको आठ गुण प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। इसके लिए प्रमाद छोड़ना होगा। क्योंकि प्रमाद साधना को नष्ट कर देता है। सैकड़ो साधक प्रमाद के कारण साधना के उच्चतम शिखर से नीचे गिर गए। निद्रा, विहार, वाणी

के प्रयोग मे प्रमाद करने से साधक गिर जाता है । क्षमा सहिष्णुता सत्य, शील सतोप और विनय आदि सद्‌गुणो की आराधना करना, पर्व का प्रमुख कर्त्तव्य है ।

ज्ञान गगा मे डुबकी लगाने धर्म की मल हरणी म हाथ धोने, ज्ञान की ज्योति मे जीवन का धागा पिरोने, सतो की वाणी श्रवण करने, सत्सग और सदाचार के द्वारा गुणो के आदान-प्रदान करने, मन मे सुभावना उत्पन्न करने, अहकार को मन से हटाने और क्रोध, माया, मोह, लोभादि को घटाकर अन्तरग साधना करने का यह सुअवसर है । इस अवसर पर आत्म-साधना समाज साधना एव सघ साधना अनायास ही हो जाती है ।

---

[२७]

ज्ञान का प्रकाश

प्रभु ने ज्ञान की खुराक देते हुए साधको की स्थिति पर बड़ी गंभीर दृष्टि रक्खी है, जिससे कि सामान्य स्थिति वाला साधक भी उससे अच्छी तरह लाभ उठा सके। बहुत से लोग सोचा करते है कि धर्म स्थान मे साधना करना, वृद्धो का काम है, किन्तु ऐसा सोचना गलत है और इसी भ्रम के कारण, सर्वसाधारण का मन, इस ओर नही बढ़ पाता। इतिहास साक्षी है कि राज घराने के लोगो ने भरी जवानी मे राजवैभव, सुख-विलास, आमोद-प्रमोद आदि को छोड़कर, साधनाए प्रारम्भ की। लोग इसे भूल जाते है।

मनुष्य मोहनी-माया की प्रबलता से, ससार के रमणीय-भावो मे लुभा कर, क्षण-भंगुर भोगो मे इतना मस्त हो जाता है कि उसे निज-गुण की कोई सुध ही नही रह जाती, आप देखते है कि वर्षाकाल मे बच्चे, मिट्टी का घर बनाने मे, इतने तल्लीन हो जाते है कि खाना-पीना भी भूल जाते है और मा-बाप के पुकारने पर भी ध्यान नही देते। यदि कोई राहगीर उसके घर को तोड़ दे तो वह झगड़ बैठता है। वह मिट्टी के घरोदे मे राजमहल जैसा आनन्द का अनुभव करता है।

यद्यपि मिट्टी वाला घर कोई उपादेय नही है और सयाने लोग बच्चे के इस प्रयास पर हसते है, फिर भी वह किसी की पर्वाह किए बिना कीचड़ मे शरीर और वस्त्र खराब करते नही झिझकता। ठीक यही स्थिति मद-मति ससारी जीव की है। वह बच्चे के घरोंदे की तरह नाशवान कोठी, बगला और भवन बनाने मे जीवन को मन-मलिन करता रहता है। घरोंदे के समान ये बड़े-बड़े बगले भी तो बिखर जाने वाले है। क्या आज के ये खडहर, कल के महलो के साक्षी नही है ? जिनके निर्माण मे मनुष्य ने अकथ श्रम और अर्थ का विनियोग किया था।

पक्षी के घोसले के समान, सरलता से नष्ट होने वाले घर के पीछे मनुष्य रीति, प्रीति और नीति को भूलकर, काम-क्रोध लोभ के वशीभूत होकर पाप करता, कई

की हानि करता और परिग्रह की लपेट मे अपने को लाता है । इस तरह द्रोपदी के चीर की तरह मनुष्य की आकाक्षा चढती जाती है । अपने विवाह की मस्ती का नशा उतरने पर वह पुत्र-पुत्रियो के विवाह के चक्कर मे पड जाता है । वह ससार की नश्वरता एव जीवन की क्षणभगुरता को अहर्निश देखते हुए भी विश्वास नही कर पाता कि एक दिन उसे भी चिता के रथ पर चढकर कही और दूर देश के लिए प्रस्थान करना है ।

राजकुमार नमि जब सन्यास लेने को उद्यत हुए तब ब्राह्मण रूप धारी इन्द्र ने उनसे कहा कि–

पासाए कारइत्ताण वड्ढमाण गिहाणि य ।
वालग्गपोइयाओ य, तओ गच्छसि खत्तिया ।।

राजन् । पहले भव्य भवन और प्रासाद बनवालो फिर इसके बाद साधु बन कर त्याग का मार्ग अपनाना । यदि प्रासाद नही बनवाओगे तो पुत्र कलत्र और परिवार के लोग जो तुम्हारे आश्रित है दुख पाएगे और तेरी कटु आलोचना करेगे। इस तरह जिनके बीच आजतक तुम बडे समझे जाते रहे हो अब छोटे समझे जाओगे । गीता मे श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि–"येषा च त्व बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्" राजर्षि नमि ने प्रत्युत्तर देते हुए इन्द्र को कहा कि–

ससय खलु सो कुणइ, जो मग्गे कुणइ घर ।
जत्थेव गतुमिच्छेज्जा तत्थ कुव्विज्ज सासय ।।

मुझे स्थायी प्रासाद बनाना है जो आधी वर्षा और बवण्डरो के बीच मे भी सुदृढ तथा ठोस बना रहे । जिसपर काल और परिस्थिति का प्रभाव नही पड सके और जो हर दृष्टि से अनुपम तथा अद्वितीय हो । मजिल की जगह पर ही घर बनाना बुद्धिमानी है । रास्ते मे वही घर बनाएगा, जिसको यात्रा की पूर्णता मे सशय है अथवा ज्ञान का साथ सदा नही मिलता । जिसका लक्ष्य पर पहुँचने की शका न हो, वह बीच म डेरा क्यो डालेगा । मेरा घर तो मोक्ष धाम है फिर नश्वर घर बनाने की आवश्यकता क्या है । इन्द्र समझ गया कि यह दृढ विचारो वाला महापुरुष है जिस पर सासारिक-प्रलोभन का कोई असर नही पड सकता ।

जीवन निर्माण म ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है । ज्ञान के बिना दर्शन स्थिर नही होता और वृद्धि भी नही पाता । दर्शन को व्यवहार दशा म लाने तथा पुष्ट करने का साधन ज्ञान ही है । महावीर स्वामी ने साधु साध्विया तथा अन्य साधकों को ज्ञानपूर्वक क्रिया साधना का उपदेश दिया है । शास्त्र म कहा है–

जो जीवे वि न याणेइ, अजीवे वि न याणेइ ।
जीवाजीवे अयाणतो, कहं सो नाहिइ सजमं ।।

जो जीव अजीव, बन्ध मोक्ष एव पाप पुण्य को नही जानता, वह संयम को कैसे जान सकेगा ? यहा भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग मे विवाद छिड़ जाता है। यदि भक्ति मार्गी ज्ञान मार्ग को और ज्ञान मार्गी भक्ति मार्ग को ठुकरा दे, तो साधना मे प्रगति नही हो सकेगी । भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग दोनो मिलकर चलें, तभी सब कार्य ठीक चल सकता है । भगवान् महावीर स्वामी ने विवेक की आखों से काम लेने का आह्वान किया है ।

ससार के अनन्त पदार्थों और चतुर्विध पुरुषार्थ मे यदि सार है, तो मोक्ष । ससार के सभी धर्मों ने एक स्वर से जीवन का लक्ष्य मोक्ष्य को स्वीकार किया है । कविवर विनयचन्दजी ने ठीक ही कहा है–

जीवादिक नवतत्व हिये धर, हेय ज्ञेय समझी जे ।
तीजी उपादेय ओलख ने, समकित निर्मल कीजे रे ।।

यहां ससार के तत्व पदार्थों को ९ प्रकार का बतलाया है । वैज्ञानिक ९२ तत्व बतलाते है । आजकल इसकी संख्या कुछ और बढ़ गयी है । जो मौलिक हो, जो दूसरो द्वारा न बनाया जा सके, उसे तत्व कहते हैं । जिसमें चेतना, ज्ञान तथा सुख-दुख को अनुभव करने की शक्ति हो । जो घटता, बढ़ता और ज्ञान दर्शन की चेतना से युक्त हो, वह जीव तत्व है । इससे विपरीत जड़ तत्व है ।

बाहर के कोई तत्व हमारा बिगाड़ नहीं करते, वरन् भीतर रहे हुए अपने ही विकारों से हमारा बिगाड़ होता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आत्मा के विकार ही वस्तुतः आत्मघाती है । इनमे से एक का भी जब हृदय मे प्राबल्य होता है तो मनुष्य बेभान बनकर क्या से क्या कर बैठता है । ससार के समस्त अनर्थों की जड़ ये ही है । जहा ये सबके सब जोर पकड़ ले तो फिर ज्वालामुखी के मुख पर बैठे रहने की स्थिति हो जाती है । उस भयंकर स्थिति से बचना असभव है । काल के मुख मे पड़कर आदमी जी सकता है किन्तु काम, क्रोधादि के पूरे चपेट में पड़कर बचना सरल नही है ।

ससार में देखा जाता है, कांच को काटने के लिए हीरे की कणी काम आती है, अन्य कोई औजार उसको काट नही सकता । इसी प्रकार आत्मा की विभाव परिणति ही आत्मा को काटती है । हमारे आत्मगुणो को हीरा, स्वर्ण और भूमि आदि नही ढकते, वास्तव मे हमारा मोह और आसक्ति ही आत्म-गुणो को ढकती

है । अज्ञान और मोह के दूर होने पर भीतर म आत्मवल का तेज जगमगाने लगता है । जैस श्यामघन के दूर हो जाने से सूर्य का विम्ब दैदीप्यमान हुआ दिखाई देने लगता है ।

आज वास्तविक ज्ञान-प्राप्ति का लक्ष्य लोगो के सामने नहीं है । अधिकाश लोग आज अर्थोपार्जन के ज्ञान मे ही पक्के होते जा रहे है । इसके लिए वे किसी भी प्रयास को अनायास सर आखो चढा लेते है । दुर्गम खानो की अतल गहराइयो मे से स्वर्ण, समुद्र के गर्भ से मोती और सर्प मस्तक से मणी तथा गज के माथे से मुक्ता निकालने मे वे जरा भी नही हिचकते । ऐसे द्रव्योपार्जन के हजारा असमव कार्यो म अपने जीवन को तिल तिल कर जलाते हुए भी प्राणी कष्ट का अनुभव नही करते । और तो क्या ? जर्जर वृद्धावस्था मे भी नये वाट और दशम प्रणाली का ज्ञान मनुष्य सीख लेता है जिससे व्यापार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आने पावे, पर आत्म-कल्याण के लिए काम आने वाले ज्ञान की ओर ध्यान ही नही जा पाता । इस तरह "मुहर लुटाकर कोयले पर छाप' वाली कहावत को हम अक्षरशः सत्य करने पर तुले हुए है । भला । इससे भी बढकर आश्चर्य की कोई और बात हो सकती है ।

आज धर्म के लिए ज्ञान सीखना'भारी माना जाता है । लोगो की धारणा वन गई है कि नवकार मन्त्र से ही वेडा पार हो जायगा । प्राचीन समय की कथा है कि एक चोर फासी पर लटक रहा था उस समय उसे जोरो से तृषा सता रही थी । उसके प्राण छटपटा रहे थे । सयोग से एक सेठजी उस रास्ते से निकले । उसने सेठजी से पानी के लिए प्रार्थना की तो सेठजी दयालु होन से उसको आश्वस्त करते हुए वोले "मै जल्दी पानी लाता हूँ तव तक तू नमो अरिहताण नमो अरिहताण' का पाठ करता रह ।' सेठजी पानी लाने को गए और इधर चोर विश्वासपूर्वक नमो अरिहताण' के वदले "नमो हन्ताण सेठ वचन प्रमाण' कहने लगा । सेठजी पानी लेकर आए, तवतक उसका प्राण पखेरु काया का पिजरा छोड कर उड चला था । शुभ विचारो के कारण वह मरकर देवगति का अधिकारी वन गया ।

यह कथानक अपवाद रूप है । चोर की तरह हर आदमी ऐसा सोचे कि चलो जीवन भर कौन खट-खट करे, अन्त समय सव ठीक कर लेंगे तो एसा होना सम्भव नहीं है । चोर को पुण्योदय से सत्-वाक्य म श्रद्धा हो गई किन्तु ससार के सर्वसाधारण मानव जो आकण्ठ मोह माया म निमग्न है उनके लिए ऐसा नही होता। अतः पहले से कुछ ज्ञान मिलाकर अभ्यास करना आवश्यक है । अवसर पाकर जो आत्म-साधना म प्रमाद करते है व स्वर्ग मे देव होकर भी पश्चात्ताप करते है । जैसे कि कहा है-

धन प्राप्य दत्तं मया नो सुपात्रे, अधीत न शास्त्रं मया भूरि बुद्धौ ।
तपः सद् बले नो कृतश्चोपवासो, गतं हा ! गत हा ! गत हा ! गतं हा !

अर्थात् धन पाकर मैने सुपात्र को तथा शुभ कार्य के लिए दान नही दिया, बुद्धि पाकर शास्त्र का अध्ययन नही किया, और बल पाकर तप साधन नही किया, इस प्रकार हाय ! मैने सब गवा दिया ।

ससार में ऐसे व्यक्ति को लोग चतुर नहीं कहते । किसी ने ठीक ही कहा—

"ऊगे जह बोवे नही, बोवे जहं जल जाय ।
ऐसे पापी जीव का, माल मिसखरा खाय ।।"

आजकल आध्यात्मिक-शिक्षा की ओर लोगो की प्रवृत्ति छूटती सी-जा रही है। जीविकोपार्जन के लिए मा, बाप अपने बच्चो को, लॉ, कॉमर्स, इंजीनियरिग आदि की ऊँची-ऊँची उपाधियाँ प्राप्त कराने के लिए शिक्षा दिलाते है, किन्तु धर्म शिक्षा की ओर ध्यान नही देते । वे सोचते है कि धर्म शिक्षा लोक-जीवन में काम नही आती। इसके द्वारा जीवन की आवश्यकता पूरी नहीं की जा सकती, किन्तु यह भूल है । यदि ज्ञान का धन अच्छी तरह मिलाया जाय तो आवश्यकता की कोई पीड़ा नही सतायगी। फिर उसकी पूर्ति के लिए छटपटाने की तो आवश्यकता ही क्या ? सोना-चादी आदि के धन से धनी रहने वाले को सदा खतरा बना रहता है किन्तु ज्ञान धनी अजात-शत्रु एव सबका प्रेम पात्र होने के कारण निर्भय और निश्चिंत रहता है ।

आध्यात्मिक शिक्षा देने से ज्ञान दर्शन आदि के प्रति नई पीढ़ी की प्रवृत्ति रहेगी और इससे वे धर्म-विमुख होने से बचेंगे । यदि सुशिक्षा नही मिली, तो ये बच्चे गृहस्थो का कौन कहे साधु तक का माथा कुतर्क द्वारा मूड लेंगे तथा आत्मा परमात्मा तक को भूल बैठेंगे । इस प्रकार उनका उभयलोक बिगड़ जायेगा ।

इसीलिए सतो ने जीवन मे सफलता की कुजी यह बतलाई है कि अज्ञान का पर्दा दूर हटाओ तथा आत्मा का दर्शन करने के लिए श्रुत वाणी का पाठ करो एवं नित्य ज्ञान-गगा मे डुबकी लगाओ । ज्ञान द्वारा तप साधना और स्वाध्याय की ओर प्रवृत्ति होगी और इससे लोक तथा परलोक मे कल्याण के भागी बन सकोगे, जो मानव जीवन का परम लक्ष्य है ।

---

[२८]

पर्व की आराधना

आज नये आध्यात्मिक-वर्ष का प्रवेश दिन है । यह नव-वर्ष हमारे लिए एक नूतन सन्देश लेकर आया है कि हम प्रमाद को छोडकर, आत्म-कल्याण के पथ पर दृढतापूर्वक बढते चले तो असभव नही कि मंजिल पर न पहुँच जाये । इतिहास साक्षी है कि जिन्होने, पूर्ण उत्साह और लगन के साथ जीवन निर्माण के शुभलक्ष्य की ओर कदम बढाया, वे उसे हासिल करने मे सफल हुए।

अनेक विध विशेषताओ के होते हुए भी मानव मे भूल का बडा स्वभाव है। वह सोचते सोचते भी वस्तुस्थिति को भूल जाता है । और यही कारण है कि मानव जैसा श्रेष्ठतम जीवन पाकर भी वह इधर-उधर भटकता रहता है । माया का प्रभाव उसको मदिरा की तरह प्रमत्त बना देता है । इसी से पर कल्याण की क्षमता होते हुए भी, वह आत्मकल्याण के योग्य भी नही रह जाता ।

यदि मनुष्य अत करण मे वीतरागो के विचारो का चिन्तन करे उनमे गहरी डुबकी लगावे आत्म कल्याण के लक्ष्य पर ध्यान बनाए रहे और सदाचार मे किसी प्रकार की आच नहीं आने दे तो निश्चय ही उसका अन्त करण दिव्यभावो भरा चमत्कृत हो सकता है, किन्तु इसके लिए सच्ची साधना की अपेक्षा है जो वैर विरोध, ईर्ष्या और द्वेषादि दुर्गुणो को मन से दूर कर उसे दिव्य बना सके । साधक सकल्प वल से सरलतापूर्वक ऐसा कर सकता है । बाधा और विघ्नों से नही डरनेवाला यात्री लडखडाते हुए भी मंजिल तक पहुँच सकता है । सकल्प की दृढता अदम्य पौरुष, उत्कट उत्साह अटल निश्चय एव अटूट लगन वाले लक्ष्य तक स्वय ही नहीं पहुँचते वरन् अपने पीछेवालो के लिए भी चरण छोड जाते हैं जिससे कि वे भी सरलता-पूर्वक अपना लक्ष्य प्राप्त करले ।

पशु एकाकी प्राणी है, मनुष्य सामाजिक । पशु किसी से लेन-देन नहीं करता और मात्र अपने बल का भरोसा रखता है । वह अज्ञानता के कारण राह चलतों से भी टकराता और टकराने की जगह भय-कातर होकर कतरा जाता है । उसे जीवन-निर्माण की न तो कोई कला मालूम है और न मालूम करने की कोई इच्छा ही। तन-पोषण ही उसकी साधना एव जीवन का महान लक्ष्य है । मगर मानव एक निराले प्रकार का प्राणी है । उसके सामने सिर्फ अपनापन का ही प्रश्न नही, बल्कि कौटुम्बिक सम्बन्ध और सामाजिक जीवन का भी सवाल रहता है । वह शांति के संकल्प के संग चलते हुए भी परिस्थितिवश मन में अशान्ति बसा लेता है । उसके जीवन में परीक्षा और चुनौती के अनेक प्रसग आते है, जो एक से बढ़कर एक लुभावने, मनोरम, कटु तथा उद्वेगवर्द्धक होते हैं । ऐसे प्रसंगो मे साधक को पूर्ण सावधानी की जरूरत रहती है । यदि साधक भ्रमवश उच्च्य भावों की आनन्दानुभूति भुलाकर साधना मार्ग से विचलित हो जाय, तो वह साधक पथभ्रष्ट कहा जाएगा ।

वस्तुतः लड़खड़ाने या डगमगाने का कारण संकल्प-बल की कमी है । यदि साधक के मन में बाधाओ से पराजित नही होने का निश्चय है, तो वह कभी विचलित नहीं होगा । विपदाओ और बाधाओं से जूझनेवाला ही शूर या साहसी कहा जाता है और ससार में उसकी पूजा होती है तथा इतिहास उसी का सुयशगान करता है ।

आवश्यकताओ के अनवरत चक्र मे पड़कर मोहवश और अज्ञानतावश मानव प्रतिकूल परिस्थितियो के साथ टकराता है किन्तु विविध विघ्नों की परिस्थिति मे भी साधक को आगे बढ़कर चलना है और दीपक की बाती की तरह जल-जलकर जग को जग-मग करना है । पशुओ मे स्वार्थवश टक्कर होती रहती है । किन्तु मनुष्यों मे आवश्यकता की पराधीनता व अज्ञान नहीं है तो वह नहीं टकरायेगा और अपने को पशुता से बचाए रक्खेगा ।

ज्ञानवान मनुष्य अशान्ति के कारणों को नियन्त्रित कर लेता है । आवश्यकता तो प्राणी मात्र को रहती है । अन्तर इतना ही है कि एक आवश्यकता को बांध लेता है और दूसरा आवश्यकताओ से बंधा रहता है । परिणामतः पहला उतना दुःखी नही होता और दूसरा अशांत तथा दुःखी हो जाता है । मूल को नहीं समझने पर संघर्ष होना स्वाभाविक है । मनुष्य आवश्यकता मे इतना बेभान बन जाता है कि उसे थोड़े में सन्तोष ही नही हो पाता । जरूरत की चीजें अधिक मात्रा में होते हुए भी उसे और की जरूरत बनी रहती है । इस प्रकार जरूरत की पूर्त्ति नित नयी जरूरत का आरम्भ करती रहती है ।

ससार सागर के पार जाने वाले यात्री को वाहनापेक्षी न होकर पैदल चलने को भी तैयार रहना चाहिए । कौन जानता है कि किस घडी मे महाप्रयाण का नगाडा बज उठे और एकाकी सुविधाओ से मुख मोडकर चलना पडे । ससार की अन्य सारी बाते अनिश्चित और संदिग्ध भी हो सकती है किन्तु मृत्यु तो निश्चित है। आए है तो जाना पडेगा ही यह अटल सिद्धात है । अत आनन्द ने आवश्यक वस्तुओ का परिमाण कर लिया ।

भोगोपभोग परिमाण मे उसने पेय विधि का परिमाण किया जैसे वह लघु भोजन की सामग्रियो मे घी आटा से बने हुए पटोलिया के अतिरिक्त कोई पेय वस्तु ग्रहण नही करेगा, उसके घर मे दूध की कमी नही थी साथ ही अर्थ व्यय के डर से भी ऐसा नहीं करता था क्योंकि वह उस समय का एक जानामाना समृद्धिवान पुरुष था । फिर भी उसके परिमाण का लक्ष्य था कि आत्म-गुणो का व्यय न हो, लालसा की डोर लम्बी न हो तथा आवश्यक वस्तुओ की गुलामी न बढे ।

आज मानव ने अपने जीवन मे कृत्रिमता बढाली है और जानबूझकर अपने गले मे आवश्यकता की डोरी डाल ली है फलत इस फदे से चाहकर भी वह गला छुडाने मे समर्थ नही हो पाता । जाले की मकडी की तरह वह अपनी इच्छा के जाल मे उलझा रहता है । किन्तु जो व्रत का अकुश स्वीकार कर लेता है, वह भरपूर साधन होने पर भी सीमित भोजन से स्वस्थ तथा सन्तुष्ट बना रहता है । त्यागमय जीवन वाला स्वादिष्ट तथा रुचिवर्धक वस्तु के मिलने पर भी उसे ग्रहण नही करता । क्योंकि शुभ सकल्प के द्वारा उसने वासना की तरग को नियंत्रित कर लिया है । इस प्रकार का सयत जीवन, मधुर एव आनन्ददायक होगा । वहा यह प्रतीत होगा कि आत्मा मे अमृत बिन्दु नही किन्तु सिन्धु समाया हुआ है ।

सयमशील जीवन मे विषय-कषाय का विष कहा से आए, वहा तो शील-सतोष का अमृत छलकता है जो आत्मा का निज गुण या स्वभाव है । काम-क्रोधादि विकार तो परगुण है जो आत्मा की शोभा व निर्मलता को मलिन बनाते है। मानव निज गुणो को भूलकर ही अशाति पाता है इस तत्व को भलीभांति समझना ही ज्ञान की प्राप्ति है । पुस्तक पढने मात्र से मनुष्य ज्ञानी नही होता । बहुत अधिक वक्तृत्व शक्ति होने या लेखन आदि से चारित्रहीन व्यक्ति ज्ञानवान् नहीं माना जाता । इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अनपढ है किन्तु उसे आत्मानुभूति है समिति और गुप्ति का ज्ञान है तो वह ज्ञानी है और पढा-लिखा भी आत्मानुभूति हीन अज्ञानी है ।

पठित अज्ञानी का एक नमूना देखिये-

प. वररुचि लालच के वशीभूत होकर निज पतन के लिए तत्पर हो गए। महामत्री शकटार के प्रति उनका क्रोध भाव था। अतः उनके मन मे व्यग्रता की स्थिति बढ़ने लगी। वह महामत्री से प्रतिशोध लेने की सोचने लगा। और नगर के चौराहो में विक्षिप्त-सा घूमने लगा।

इधर शकटार का बड़ा पुत्र स्थूलभद्र रूपकोषा के यहां बस गया था, अतः छोटे पुत्र श्रीयक को महामंत्री विवाह संबंध में बांधकर रखना चाहते थे ताकि वह बड़े का अनुगमन नही कर पाये और न कुमार्गगामी ही बन सके। वयस्क पुत्र को उपालभ देना या अनुचित-उचित कहना नीति के विरुद्ध है और जवानी अन्धी होती है, वह भले-बुरे को अच्छी तरह नही देख पाती। अतः जवान पुत्र कुल मे कलक तथा अपने उभरते व्यक्तित्व पर धब्बा न लगा ले, एतदर्थ पुत्र को विवाह-सूत्र मे बाधना ही महामत्री को उचित जचा।

अशिक्षित और मध्यम परिवारो को छोड़कर आजकल बाल विवाह की प्रथा कम हो गयी है। जैसे बाल-विवाह करने से बल, वीर्य और जीवन-क्षय की समावना रहती है, वैसे ही पूर्ण आयु होने पर विवाह नही करने में भी भय रहता है। शकटार का पुरा परिवार शिक्षित था अतः वह इस तत्व को अच्छी तरह जानता था। उसने श्रीयक का विवाह खूब धूमधाम से करने की सोची। विशिष्ट निमंत्रित व्यक्तियो और निजी अतिथियो के अतिरिक्त उसने राजा नन्द को भी निमंत्रित करने का विचार किया। आगत अतिथियो के भव्य स्वागत के अतिरिक्त उन्हे भेट या उपहार देने की भावना भी महामंत्री के मन मे पैदा हुई। ज्येष्ठ पुत्र के वियोगजन्य दुःख को इस उत्सव से दूर करने की इच्छा भी रखते थे। राजा को सवारी, अस्त्र, शस्त्र आदि प्रिय होते हे, इसलिए उन्होंने कर्मचारियो को आदेश दिया कि भेट देने योग्य, उत्कृष्ट सवारिया तथा अस्त्र-शस्त्र बनवाए जावें।

मनुष्य सुख-दुःख के अवसरो मे ही ठगा जाता है। कारण सुख दुःख के आवेग मनःस्थिति को असामान्य बना देते है, जिससे विवेक का सन्तुलन बिगड़ जाता है। वररूचि ने जान लिया कि महामत्री के द्वारा अस्त्र, शस्त्र बनाने की तैयारी चल रही है। उसने तत्काल निर्णय लिया कि अब इस अवसर का लाभ न उठाना, उसके पाण्डित्य में बट्टा लगाना होगा। क्योंकि प्रतिहिसा की आग उसके दिल मे धू धू कर जल रही थी, इस भेद को जानकर उसे संतोष हुआ। उसने राजा के द्वारा शकटार को दण्ड दिलाने का अच्छा अवसर देखा। वह इस प्रयत्न मे पूर्णरूप से लग गया।

---

[२९]

भोगोपभोग   नियन्त्रण

बाह्य विकारो से मन को दोलायमान नही होने देना साधक का परम कर्तव्य है । अशुद्धाचरणो का परित्याग कर जीवन को शुद्ध बनाना एव बाह्याकर्षणा और राग-रगो से दूर रहना साधक जीवन के लिए आवश्यक माना गया है । भोगोपभोग की वस्तुओ का परिमाण करना देखने मे तो बाह्य नियन्त्रण है, किन्तु इसका मन पर भी गहरा प्रभाव पडता है । द्रव्य त्याग, अन्तरग त्याग को पुष्ट करता और सद्भावना का कारण बनता है ।

अन्न पेय के पश्चात् भक्ष्य का प्रसग आता है । भक्ष्य विधि मे-आनन्द ने भगवान् के चरणो मे सकल्प किया कि आस्वादन या रसना तृप्ति के लिए मै भोजन नही करूगा । इस प्रकार भक्ष्य के अन्तर्गत सभी खाने की वस्तुए आ जाती है । आज तो मनुष्य इस बात का विचार ही नही करता कि खाद्य वस्तु मे कौन सन्मतिकारक और कौन बुद्धि-विनाशक एव विकारी है । आज का मानव सुपाच्य एव सुस्वाद को ग्राह्य मानता है । सदोष आहार के कारण आज का तन-मन दोषपूर्ण बना हुआ है । नित्य नये-नये रोग, दवा और दवाखाने बनते जा रहे हैं । समाज एव राष्ट्र की औसत आयु नीचे गिरती जा रही है । आनन्द लघु आहार मे मीठा पदार्थ ग्रहण करता जो शर्करा और घृत सयुक्त होता । प्रचलित भाषा म घृतपूर्ण खाजे के अतिरिक्त शेष सभी मिष्ठान्नो का उसने परित्याग कर दिया ।

इस प्रकार परिमाण कर लेने से रसना की माग कम हो जाती और मन की आकुलता मिट जाती है । ग्रामीण क्षेत्र मे अतिशय श्रीमन्त होते हुए भी उसने आहार विहार और निवास मे अन्य लोगो के समान ही अपनी स्थिति बना रखी थी । इससे लोगो म किम्नाजन्य ईर्ष्या क बदले श्रद्धा और सम्मान के भाव जागृत हो गए । इच्छा को सीमित करना और वासना की आग का बढाने म अपने को निमित्त

न बनाना, बल्कि घटाने मे निमित्त बनाना, यही आनन्द का आदर्श था । इसे लोक-नीति और आध्यात्मनीति का समन्वय कह सकते है ।

सुधरा व्यक्ति अपने जीवन को ऊपर उठाने के साथ ही साथ सामाजिक जीवन को ऊचे उठाने का भी कारण बनता है । मनुष्य यदि ममता और वासना को न घटावे, तो महारभ के बड़े-बड़े कारणो से नही बच सकता । प्रत्येक गृहस्थ आनन्द के समान यदि व्रत धारण कर अपनी आवश्यकताओ को घटाले तो समाज का विषाक्त वातावरण आसानी से बदल सकता है । आनन्द का जीवन सीधा, सादा, सरल एव सामान्य नही था । उसका मनोबल मजबूत तथा प्रवाह मे बहने वाला नही था । प्रवाह मे बहने वाला नीति-धर्म का निर्वाह कर पाप नही घटा सकता तथा नीति और धर्म को सुरक्षित रखने मे भी समर्थ नही होता ।

संसार मे तीन प्रकार के पुरुष होते हैं – (१) नदी की धारा मे बहने वाले (२) दृढ़ मूल वृक्ष की तरह अडिग रहने वाले और (३) धारा के अभिमुख चढ़ने वाले । खभे की तरह अड़े रहने वाले स्थिति स्थापक होते है । सत्वहीन या बलहीन प्राणी, तिनके के समान बहने वाले होते है, किन्तु जो प्रवाह का सामना करते वे पराक्रमशील, साहसी, बलवान, सामर्थ्यवान व कुशल कहलाते है । वे मछली के समान प्रवाह का सामना करने वाले होते है । भले, नदी के वेग में हाथी बह जाय, परन्तु मछली सामने बढ़ती चलती है। कारण उसको अपने आपको सतुलन का अभ्यास है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

जो जाके शरणे बसे, ताकी ताको लाज ।
उल्टे जल मछली चढ़े, बह्यो जात गजराज ।।

इसी तरह मनुष्य ऐसा प्राणी है, जो अभ्यास के बल पर ज्ञान और विवेक की ज्योति पा ले, तो अज्ञान, मोह एव रूढ़ि प्रवाह के मुकाबले आगे बढ़ सकता है, लक्ष्य तक पहुँच सकता है । नया या पुराना कैसा ही प्रवाह हो, जिस व्यवहार से अज्ञान की पुष्टि हो, धार्मिकनीति नष्ट हो, ज्ञानवान उसमे आंख मूंद कर नही बहेगा, बल्कि विवेक से काम लेगा । नयी हो या पुरानी, जिसमे स्वपर का हित हो, उसी परम्परागत व्यवहार का विवेक पूर्वक अनुशीलन करेगा । अहितकर को छोड़ देगा । जैसे कहा है–

पुराणमित्येव न साधु सर्वं, नचापि सर्वं नवमित्यवद्य ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरत् भजन्ते, तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ।।

नये और पुराने व्यवहार में कौन हानिकारक तथा कौन लाभदायक है यह विवेक तथा परीक्षण से ही समझा जायेगा ।

लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार की हानिया होती है । लौकिक हानियो के अन्तर्गत द्रव्य, बल बुद्धि, मान आदि की हानिया आती है और ज्ञान दर्शन चरित्र नीति एव भावनाओ की हानि लोकोत्तर हानिया है । बुद्धिमान मनुष्य सोच-समझकर निर्णय लेता है कि किस कार्य मे हानि है या लाभ । समाज मे जन्म मरण एव मृत्यु पर अनेको गलत रूढिया चल रही है, चाहे वे हानिकारक ही हो किन्तु साधारण मनुष्य इस पर विचार नही करते । महिलाए तो गलत रीति रिवाजो मे और भी अधिक डूबी रहती है । जलवा पूजना, चाक-पूजन जात देना तावीज बाधना देव और पितर की पूजा करना, मरे हुए के पीछे महीनो बैठक रखना और रोना ये सब कुरीतिया है, जो समाज मे दृढता से घर बनाए हुई है ।

मनुष्य देवाधिदेव भगवान् को तो भूल जाते और तमोगुणी देवो की महिमा करने लगते हे । जन्म से मरण तक शुभकर्मों मे लग सकना मुश्किल होता परन्तु हवन अनुष्ठान आदि चक्कर मे लोग धन खर्च कर देते और जरूरत की जगहो म मुह देखते रहते है । विवेक से इतना तो सुधार सकते है । गावा मे सद्‌गुणो एव नीति धर्म की शिक्षा के लिए प्रबन्ध करते लोग हिचकिचाते है परन्तु भोज मे अधिक लोगो को खिलाना शासन के विरुद्ध होते हुए भी अधिकारियो से साठ-गाठ कर जीमणवार करने मे गौरव का अनुभव करते है । जो रकम अधिकारियो को नियम विरुद्ध काम करने के लिए दी जाती है उसकी किसी को कानो-कान खबर तक नही हो पाती, किन्तु किसी असमर्थ छात्र की पढाई मे, कभी थोडी भी सहायता की गई, तो उसे सहस्र मुख से कहते फिरेंगे । अधिकारियो को गुप्तदान बडी चतुराई से दिया जाता है । उसमे राज नियम की चोरी और समाज का अहित होता है इसकी भी परवाह नही की जाती । यह कार्य उस कृषक के कार्य के समान है जिसके कुए का पानी तो नाली मे बहे और क्यारिया सूखी रहे ।

गरीब छात्र वृद्ध, अपग और विधवाओ की, जो असहाय एव परमुखापेक्षी है सहायता नही की जाती । ऐसे साधनहीन जन तो सरकार का मुह ताके और समाज की सम्पदा रिश्वतो के प्रवाह मे लाखो की सख्या मे खर्च हो जाय । यह कैसी बुद्धिमत्ता और कैसा धन का उपयोग है ? आत्मा से पाप छिपाया नही जाता । समाज मे एक तरफ तो लड्‌डू कलाकद का भोग उडाया जाता और दूसरी ओर लोग भूख से तडप कर दम तोडते है । विवेकशील धनिया को इस तथ्य से आख मूद कर नही चलना चाहिए ।

मनुष्य के ऊपर माता पिता देश जाति, सघ और धर्म-गुरुआ का भी ऋण है जिससे उसे उऋण होना है । समाज म एक आदमी दुःखी है ता समाज के

धनी व्यक्तियो पर यह दायित्व है कि वे उसकी योग्य सहायता करे । दान यदि दान के रूप मे, सहायता के रूप मे दिया जाता हो तो ठीक है, किन्तु देने में दृष्टिकोण दूसरा होता है । अज्ञान या मिथ्या भावना से दिया गया दान, पाप बढ़ने का कारण हो सकता है । माता-पिता की मृत्यु के बाद लोग मृत्यु-भोज करते और समझते है कि इससे बुड्ढे की गति हो जायेगी, यह समझना ठीक नही । ब्राह्मण-भोज मे धर्म समझना भी मिथ्या है । काम-क्रोध या ईर्ष्यावश होकर देना, तामस दान है, व्यवहार मे जिसमें सहयोग प्राप्त होता हो, उन्हे देना राजस दान है । ये दोनो दान, दान के फल पाने मे सहायक नही होते यह निश्चित है ।

आडम्बर और वाहवाही में हजारो फूकने की अपेक्षा समाज में सत्‌शिक्षा का प्रसार, दीन-दु:खियो की अपेक्षित सहायता तथा समाज-हित के अन्यान्य कार्य, जिनसे समाज सबल और पुष्ट बनता हो, धन लगाना श्रेयस्कर है । नैतिक धार्मिक शिक्षा की वृद्धि से पितृ-ऋण और समाज-ऋण दोनो से मुक्त हो सकते हैं । बुद्धिशील समाज के वृद्धो को ऐसी कुरीतियो और परम्पराओ को यथाशीघ्र समाप्त करना चाहिए, जिनसे समाज के धन और समय का अपव्यय होता तथा निष्कारण पाप माथे चढ़ता है । कीचड़ लगा कर धोने की अपेक्षा तो कीचड़ न लगाना ही अच्छा है । ऐसे ही पाप-कर्म करने के बाद धर्मादा देना उसकी अपेक्षा पहले ही पापो से दूर रहना अधिक अच्छा है ।

कई लोग यह तर्क उपस्थित करते है कि प्याऊ, सदावर्त, धर्मशाला और अन्न-क्षेत्र आदि कैसे चलेंगे, यदि अर्थोपार्जन न किया जाय? इस प्रकार तर्क उपस्थित करने वालो को मन में भले ही सतोष हो, पर आत्मा को सतोष नही होगा ।

जैसे कोई नहाने जा रहा था । रास्ते मे ठंडा कीचड़ देखकर वह उसका लेप लगाने लगा । दूसरे लोगो को यह देखकर हंसी आयी, तो उसने हसने वालों से कहा—भाई ! हंसते क्यो हो ? नहाना तो है ही, उस समय इस कीचड़ को भी धो लूंगा । इस पर लोगों ने कहा—लगाकर धोओगे तो पहले लगाते ही क्यों हो ? उसी प्रकार पाप का कीचड़ लगाकर उसे बाद में दान या तप से धोना, सराहनीय बुद्धि का नमूना नही कहा जा सकता । एक कवि ने ठीक ही कहा है—

"माता-पिता के जीते जी, सेवा भी कुछ ना बन पड़ी ।
जब मर गए तो श्राद्ध या तर्पण, किया तो क्या हुआ ।।

जगदीश गुण गाया नहीं, गायक हुआ तो क्या हुआ ।
पितु-मातु मन भाया नहीं, लायक हुआ तो क्या हुआ ।।

वस्तुतः जीवित पिता का आदर न कर बाद मे लोगो को खिलाना यह स्वय और समाज को धोखा देना है । हो सकता है कि किसी समय मे इन परम्पराओ का भी उपयोग रहा हो, किन्तु आज उनका उपयोग नही है । आज मरण के बाद खाने और खिलाने की अपेक्षा अच्छे कार्य मे पैसे खर्च करना अच्छा माना जाता है।

भारतीय परम्परा यह है कि मनुष्य का व्यवहार ऐसा हो कि दूसरे को नही अखरे । पैदल, साईकिल, गाडी और मोटर सभी सडक पर चलते है, किन्तु वे जब अपनी लाइन छोडकर दूसरे की जगह मे अनधिकार प्रवेश करते है तब दुर्घटनाए होती हैं । वैसे ससार मे रोगी त्यागी व्रती और अव्रती सभी चलते है किन्तु अधिकतर वे टकराते नही । वेग से टकराने वाला या बुराइयो से न बचने वाला बुद्धिमान नही कहा जा सकता । विकार की टक्कर मन को विक्षुब्ध बना देती है । देखिये उदाहरण – वररुचि लोभ के कारण शकटार से टकरा गए थे और वे प्रतिशोध की ताक मे घात लगाए बैठे थे । शकटार के प्रदर्शन से उन्हे कुछ लाभ की आशा थी, अत वे खुलकर इस अवसर का लाभ उठाने की धुन म थे ।

ज्ञानी का मन पानी की सतह के समान होता है । बडे जलाशय के पानी मे–भैंसे डूबी बच्चो ने पत्थर फेके धोबी ने कपडे धोए, पानी मे तत्काल जरा हलचल हुई और फिर वैसा का वैसा पानी की सतह ज्यो की त्यो हो गई । ज्ञानी भी उसी प्रकार हलचल के पश्चात् पूर्ववत् शान्त और गम्भीर बने रहते है । पत्थर या लोहे पर रेखा खीची जाय तो निशान हो जाता है परन्तु पानी मे निशान नही पडता । प. वररुचि भी अपने को पानी की तरह रखता तो शकटार उसे दोलायमान नही कर सकते थे । ज्ञानी सज्जन की सदा अन्तरग नीति होती है कि–

कोई बुरा कहे या अच्छा लक्ष्मी आवे या जावे ।
लाखो वर्षों तक जीऊ या, मृत्यु आज ही आ जावे ।।

अथवा कोई कैसा ही, भय या लालच देने आवे ।
तो भी न्यायमार्ग से मेरा कभी न पग डिगने पावे ।।

नीति की बातो को जीवन-व्यवहार मे लाना और उनको शब्द मे दुहराना, दोनो मे अन्तर है । हम लोग इसी आशा से लम्बे-लम्बे वक्तव्य देते है कि कोई न कोई भाई-बहिन इनमे से तत्व ग्रहण कर अपना जीवन उन्नत बनावे ।

प. वररुचि को शकटार से सकारण या अकारण पीडित होने से रोष है किन्तु विरोध का विरोध से और गाली का गाली से प्रतिकार करने पर सघर्ष बढता है।

यह याद रखना चाहिए कि आग पानी से शान्त होती है, किन्तु आग से आग नहीं बुझती । गधा लात मारता है पर ज्ञानी उससे बचकर निकल जाता है । वह लात का जवाब लात से नही देता । इसी प्रकार ज्ञानी वैर-विरोध से बचकर चलता है । वह अज्ञानी के साथ अज्ञानी बनकर प्रसन्न नही होता । गधे की दुलत्ती का मुकाबला करने वाला मनुष्य भी गधा कहलाता है । जैसे समझदार आदमी गधे से दूर रहता है, वैसे ही ज्ञानवान् काम, क्रोध लोभ, मोह आदि अन्तरग गधो से दूर रहता है और विवेकपूर्वक स्वपर का कल्याण करता है । ज्ञानी को सदा ध्यान रखना चाहिए कि–

जा पै जैसी वस्तु है, वैसी दे दिखलाय ।
वाका बुरा न मानिये, वो लेन कहां पे जाय ।।

इस प्रकार जो विषय-कषाय से बचेंगे, उनका कल्याण होगा ।

---

[३०]

दो धाराए

अनन्त काल से मानव-हृदय मे दो धाराए प्रवाहित होती दीख रही है—एक शुभ विचारधारा और दूसरी अशुभ विचारधारा। इनमे से शुभ धारा जो ज्ञान विरागमय है वह स्वभावाभिमुख होने से निजधारा तथा विषय कषाय की परिणति विभावाभिमुख होने से यह आत्मा के लिये पर धारा है। एक ही भूमि मे आस-पास दो तरह के कुए मिलते है जिनमे एक का पानी मीठा और दूसरे का खारा होता है। मीठे पानी के स्रोत को नही पहिचानने के कारण ही मनुष्य उसे नही ले पाता और अनायास खारा पानी निकल आता है। ऐसे ही हृदय की भूमिका मे भी दुर्भाव और सद्भाव रूप दोनो तत्व मौजूद है। सद्भाव मधुर पानी का स्रोत तथा दुर्भाव खारे पानी का स्रोत है।

सद्भाव रूपी मधुर पानी के लिए प्रयास करना पडता है किन्तु खारे पानी के लिए श्रम नही करना पडता। ऊची भूमि से जैसे नीची भूमि मे पानी बहता है तो नल लगाने की आवश्यकता नही होती वैसे दुर्भाव के लिए प्रयास नही करना पडता, सुमेरु पर्वत का पानी भी नीचे भूतल पर आ जाता है, पर भूतल से सुमेरु पर जल चढाना हो तो बडी कठिनाई होगी, बडे साधन और शक्ति की आवश्यकता होगी। सद्गुरु सत्सग, सद्-अध्यवसाय और योग्य आहार-विहार के द्वारा विचार नीचे से मुडकर ऊचे चढते है। यदि सहारा न मिले तो वे स्वत नीचे गिर जाएगे।

ससार को आध्यात्मिक सन्देश देने वाले महापुरुषो का कथन है कि दुख का कारण आवश्यकताओ को वश मे नही करना ही है। एक महात्मा ने एक राजा को थोडे मे ठीक ही कहा है—

'आपदा कथितः पन्था इन्द्रियाणामसयम,।
तज्जय सम्पदा मार्गो येनेष्ट तेन गम्यताम्॥'

सचमुच मे शास्त्र सिन्धु को आचार्य ने विन्दु में भर दिया है, यही विन्दु विस्तार पाकर सिन्धु हो जाता है । इस श्लोक से विन्दु मे सिन्धु भरने का चमत्कार दिखाया गया है कि इन्द्रियो को वश मे नही रखना आपत्ति का मार्ग और उनको वश में रखना सम्पदा का मार्ग है । इन दोनो में से जो इष्ट हो उस पर चलो ।

वासनाओ के कारण मनुष्य पाप करता है और परिणामतः संताप पाता है । अतः संताप घटाने के लिए मनुष्य को अपनी आवश्यकताएं घटानी चाहिए । शरीर की आवश्यकताए तो कुछ सीमित है, पर मानस की आवश्यकताए वहुत विस्तृत है । उस अनन्त आकाश से भी अधिक विस्तृत कहे, तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी । प्रतिक्षण आवश्यकता की तरगो से मानस–सिन्धु–क्षुब्ध और आन्दोलित होता रहता है । एक के बाद दूसरी लहरे उठ-उठकर मानस-सागर को हलचल मे डालती रहती है । इस तरह मानव-जीवन अशान्त और दु खित हो उठता है ।

श्रद्धा का निवास दिल मे होता है, दिमाग में नही, मन हमेशा कुछ न कुछ घड़ा घड़ी करता है । यदि मनुष्य विवेकशील हो, तो वह मस्तिष्क का गलत उपयोग नहीं होने देगा । वस्तुतः दिल और दिमाग दोनो का साहचर्य एव समन्वय होना चाहिए, किसी का दिमाग बड़ा हो, किन्तु दिल यदि छोटा है तो वह शान्ति से कुल, जाति देश और ससार में सहिष्णुता एव सम-रसता नही ला सकेगा । विस्तृत दिमागवाला बड़ा विज्ञानी, इतिहासविज्ञ, वक्ता, राजनीतिज्ञ एव लेखक हो सकता है, किन्तु दयालु अथवा सहिष्णु नहीं हो सकता । बड़ा दिमाग मनुष्य की शान्ति में सहायक नही होता । दिल यदि बड़ा बनता है तो दिमाग के सदुपयोग का कारण हो सकता है । इसलिए भारतीय संस्कृति ने हृदय को विशाल रखने का सदा लक्ष्य रखा है । यदि मनुष्य का दिल विकसित हो, तो वह विचारो या मस्तिष्क मे इतना नही बंधता कि दूसरों का अहित कर डाले ।

आज का मानव यदि पहचान ले कि दुःख का कारण क्या है और तदनुकूल कार्य करे, तो भौतिक और आध्यात्मिक स्थिति ठीक बन सकती है । चित्त वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर लेने से शान्ति मिलती है । तभी तो कहा है—

यही है महावीर सन्देश ।
सादा रहन सहन भोजन हो, सादी भूषा वेश-यही है०
विश्व प्रेम जागृत कर उर में, करो कर्म नि.शेष-यही है०

जीवन को यदि आनन्द के उपभोग योग्य बनाना है, तो मनुष्य को जीवन से निरंकुशता हटा लेनी होगी । मनुष्य और पशु मे यही अन्तर है कि एक का जीवन जहां सयमित वहां दूसरे का निरकुश । राज समाज और धर्म के नियम मानव

पर लागू है मगर वन्य जातिया समाज नियम तथा धर्म-नियम से करीब-करीब शून्य है । अत उनका जीवन हल्का माना जाता है । ग्रामवासी से नगरवासी कुछ सुधरे व सभ्य माने जाते है । नगरवासियो का नैतिक, भौतिक और आध्यात्मिक जीवन विकसित है । उनके जीवन मे समाज नीति के अतिरिक्त राजनीति का सम्बन्ध है । अत प्रमाणित होता है कि मनुष्य जीवन मे नियमो के पालन का महत्व है । पशुखाद्य-अखाद्य पेय-अपेय गम्य-अगम्य और जीव-अजीव का भेद नही जानता । धर्माचरण की तो पशु जीवन मे चर्चा ही व्यर्थ है । वह तो आकाश-कुसुम की तरह असम्भव है ।

कई मनुष्य तरंगित होकर सोचते है कि नियमो से परतन्त्रता आती है । जीवन की स्वच्छन्द सरिता-सी प्रवृत्ति मे रुकावट या बाधा उपस्थित होती है । जीवन की निसर्गता मे कृत्रिमता का समावेश हो जाता है और वह बोझिल बन जाता है मगर ऐसा सोचना भूल है । नियम बन्धन नही बन्धन वे है जो दूसरो के द्वारा लादे जाते है किन्तु नियम मनुष्य स्वय बनाता है जो पशुता और मानवता का अन्तर प्रगट करते है । परकृत बन्धन छोडने लायक है, परन्तु स्वय के लिए बनाया गया नियम हितकर और अत्याज्य होता है । घर मे चारो तरफ घेरा होने पर भी हम बन्दी जीवन का अनुभव नही करते । यदि घर के सभी दरवाजे खुले रखे, तो चोर-पशु और जीव-जन्तु भीतर घुसेगे, अतः घर के सभी दरवाजे अपनी भलाई के लिए बन्द रखे जाते है । फिर भी यह स्वेच्छा से होने के कारण उसे बन्धन नही माना जाता। जेल के दरवाजे बन्द करने से हम बन्दीपन का अनुभव करते है, किन्तु घर का दरवाजा बन्द होने पर सुरक्षा का ।

ऐसे ही उन्मत्त दिमाग वाला नीति नियम और अध्यात्म-नियम को बन्धन समझेगा परन्तु विचारवान् उन्हे मुक्त-जीवन की निशानी मानेगा । यदि आध्यात्मिकता न रहे, तो मानवता दानवता का रूप धारण कर लेगी । दानवता से मानवता की ओर जाने का मार्ग नियमन का ही है अत बुद्धिमान मानव धर्मनीति और राजनीति का पालन व प्रसारण करता है क्योकि उससे व्यक्तिगत तथा सामाजिक सुरक्षा है । अतरग जीवन को बदलने का काम धर्म का है । राजनीति या शासन केवल तन को नियन्त्रित कर वृत्ति बदलना चाहता है परन्तु अपराधियो को यातना देते-देते युग बीत गए, उनकी वृत्ति नही बदली । दण्ड के द्वारा तन को मोडा गया मन को नही । मन को बदलने से ही वृत्तिया सुधरती और मानव कुकर्म करने से बचता है । अतः धर्मनीति का महत्व और उसका जन-जन मे उपयोग है ।

अपराधियों को जेल में वन्द कर कहा तक उन्हे अपराध करने से रोका जा सकेगा तथा मनुष्य कव तक यो पशु की भांति वाध कर रखा जायेगा । सुरक्षा का सुदृढ प्रवन्ध होने पर भी दिल्ली, वम्वई सरीखे नगरो में कारे चुरा ली जाती है और दिन-दहाड़े सड़कों पर छुरे भोंके जाते है । न्यायाधीशो के समक्ष गोलियां चला दी जाती है और पहरे मे से सरकारी द्रव्य लूट लिए जाते है ।

दण्डनीति मानव को भयभीत करती है, किन्तु भय से रुकने वाला पशु है । दण्ड का उपयोग तो पशु-प्रकृति वाले मनुष्य के लिए ही हो सकता है । सच्चे इन्सान के लिए हृदय परिवर्तन आवश्यक है, जो ज्ञान से संभव है । जो दण्ड से माने, वह आदमी नही, पशु है । दण्ड के द्वारा भयभीत करके मनुष्य को अल्पकाल के लिए अपराध से बचाया जा सकता है, किन्तु हृदय परिदर्तन के अभाव मे वह पुनः छिपे-छिपे या प्रगट अपराध करना प्रारम्भ कर देता है । यदि दण्डनीति के साथ धर्म-नीति का समन्वय कर दिया जाय, तो सुपरिणाम निकल सकता है । दण्डनीति वाले भी यदि धर्मनीति का सहारा लिया करे, तो वाछित सफलता मिल सकती है ।

पूर्वकाल मे भारतीय सस्कृति ने एक को दूसरे का पूरक माना था । दण्डनीति अज्ञानी को भयभीत करती और धर्मनीति मानव मे विवेक को जागृत कर उसे ठीक रास्ते पर लगा देती है । दण्डनीति केवल पशु-प्रकृति के मानव के लिए आवश्यक है, परन्तु स्थायी सुधार के लिए उसे भी मानवीय प्रकृति का ज्ञान देना आवश्यक होगा । एक माता मारपीट कर वालक को सुधारती है, और दूसरी मा समझा-वुझाकर प्रेम-पूर्वक सुधारती है, दूसरी मा का असर स्थायी होगा । समझाकर तथा कारण वताकर वालक से काम लेने वाली मा वच्चे का जीवन सुधार सकती है । पर, मारने वाली नहीं । मारने-पीटने से सुधारने का उद्देश्य सफल नही होगा, क्योंकि वह जीवन मे गहरी उतारने वाली बात नही है ।

मारने से बच्चे मे ढिठाई बढ़ती है । अधिकांश मार के आदी बच्चे चोरी तथा अन्य कुचाल की प्रवृत्तियों में निर्भय हो जाते है । वाल-मन्दिरो मे एक महिला अनेक बच्चों को एकसाथ संभालती है, संकेत के द्वारा ही उनसे काम लेती और उनमें अच्छी आदते डालती है । वहा छुट्टी होने पर भी बच्चे शोर नहीं करते । उनमे अनुशासनप्रियता उत्पन्न कर देती है । खेद की बात है कि जन्म देने वाली मां अपने बच्चों को सुसंस्कृत एव अनुशासित नही कर पाती । जबकि बाल निकेतन मे झुण्ड के झुण्ड बच्चो को एक अपरिचित महिला अनुशासित रखती है । उसके पास केवल भय नही है, किन्तु जीवन बनाने की कला है । जीवन वही महत्वशाली होता है, जहा विवेकपूर्ण नियन्त्रण है । नियमन के अभाव मे जीवन पतित हो जाता है ।

यह भारतीय सस्कृति की धरोहर है और हमे विरासत के रूप मे प्राप्त है । यह श्री ऋषभदेव राम, कृष्ण और महावीर की धर्मभूमि है । यहा जीवन मे न्याय नियम, सदाचार एव ज्ञान क्रियापूर्वक आदर्श के पालन की परम्परा है ।

यदि कोई रक्षक दल का पुरुष ही मोहवश भक्षण करने लगे, तो जीवन महान् पतितावस्था को पहुँच जाएगा । मनुष्य अपन को मुक्ति मार्ग का पथिक या देव नही बना सके तो कम से कम दानव तो नही बने ।

चार बाते मनुष्य को पशु की कोटि मे उतार देती है । (१) झूठ (२) कपट (३) कूट माप तोल एव (४) आर्त्तभाव । पशुता से बचने के लिए इन कारणो का परित्याग आवश्यक है । ऐसी ही चार बाते नरक योनि मे ले जाने वाली है–जैसे–१ महा हिंसा २. महा परिग्रह ३. मनुष्य एव पशु हत्या और ४ मास भक्षण । ज्ञान मनुष्यो को अत्याचार, मायाचार आदि से बचाकर सन्मार्ग के अभिमुख करता है क्योंकि धर्मनीति से प्रेरित मानव अनायास ही स्व-पर के लिए सुखदायी हो सकता है ।

राजनीति मे दण्ड के द्वारा जीवन सुधार की बात भ्रामक है क्योकि कुप्रवृत्तियो के स्थान मे सद्वृत्तियो को जागृत करने का वहा कोई व्यावहारिक प्रयास नही होता। गलत और झूठी आवश्यकताओ को लेकर आदमी अनीति करता है । नियमो से यदि जीवन सयमित होगा तो वह स्वतः कुमार्ग से बच सकेगा ।

अपने वैभव प्रदर्शन हेतु, प्रीतिभाजन बनने के लिए अथवा अपने ओछे स्वार्थ हेतु व्यक्ति को कर्त्तव्यच्युत करने के लिये भी अनेक लोग, राजकर्मचारियो, मन्त्रीगणो या अन्य लोगा के सम्मान मे प्रीतिभोज एव स्वल्पाहार आदि का आयोजन करते है। जीवन म यदि नियमन को स्थान दे दिया जाय तो अधिकारी और सामान्य व्यक्ति दोनो गडबडाने से बच सकेंगे । आज भली बातो का मनुष्य पालन नहीं कर रहा है इसका कारण इन्द्रियो पर विजय प्राप्त नही होना और दिखावे मे तथा स्वार्थान्धता मे पड जाना ही है ।

आनन्द महावीर स्वामी की अमृतवाणी से प्रभावित होकर सादे जीवन और आध्यात्मिक विचार का अनुयायी बन गया । उसने अपनी आवश्यकता सीमित कर लौकिक एव परलौकिक दोनो जीवन को सुधार लिया ।

आज का समाज यदि अपनी बढती हुई आवश्यकताओ को कम नहा करके धन सग्रह की प्रवृत्ति पर जार लगाता रहा, ता वह दिन अधिक दूर नहा जब मनुष्य नीति मार्ग स च्युत होकर पतन क गहरे गर्त म गिर जायेगा । भारत का प्राचीन

सस्कृति के अनुसार यदि मानव अपनी इच्छाओ पर नियन्त्रण रख कर चले, तो बचे हुए धन से दान तथा अन्य पारमार्थिक कार्य शान्तिपूर्वक कर सकता है । इस प्रकार अपनी आवश्यकताओं के बढ़ते वेग को रोक कर मनुष्य अपना तथा दूसरों का भी आसानी से भला कर सकता है । मानव यदि इस आदर्श को ग्रहण कर ले तो दण्ड-नीति का विस्तार अथवा उसका दुरुपयोग कम हो सकता है । इसके विपरीत जब तक मानव-जीवन मे सुनियमो का पालन नही हो, तो दण्डनीति का हम कितना ही विस्तार क्यो न कर ले, समाज मे शान्ति एव सुव्यवस्था नही आ सकती ।

प्राचीन काल में वाहन वाले विना वाहन वालो को हेय दृष्टि से नही देखते थे, वरन् उनकी पद-यात्रा के साहस को सराहनीय और प्रशसनीय समझते थे, किन्तु आज धारणा बदल गई है और वाहन वाला पद-यात्री को निम्न स्तर का समझता है। आज के भौतिकवादी युग मे यान्त्रिक वाहनो का बहिष्कार तो संभव नही फिर भी सद्भावना से मनुष्य साधनहीनो को अपना साथी बना सकता है । पूजनीय के प्रति सम्मान और नम्रता पहले के समान अब नही रही, क्योकि शिक्षणालयों मे धर्म-शिक्षा के लिए कोई स्थान नही है ।

आज मानव सादा कपड़ा, सात्विक भोजन एव रहने को सुरक्षित मकान की जगह कीमती वस्त्र, तामसी भोजन और बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं को आवश्यक मानता है तथा उनकी अप्राप्ति में दु:खानुभव करता है । जैसे मकड़ी स्वयं अपने ही मुह की तात से उलझ कर अपना प्राण दे देती है, वैसे मानव अपनी वासनाओ की तात मे उलझ कर अपना अहित करने मे भी नही हिचकिचाता और पशु-पक्षी तो क्या मानव तक की भी हत्या करने को तत्पर हो जाता है ।

प्राचीन समय की बात है—चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र तथा बिन्दुसार का पुत्र कुणाल उज्जयिनी में राज का उत्तराधिकारी मानकर रखा गया । जब उसकी उम्र आठ वर्ष की हुई तो सम्राट को खबर दी गई, ताकि राजकुमार की शिक्षा-दीक्षा के संबध मे उचित आदेश मिल सके । सम्राट ने प्रत्युत्तर में लिखा—'अधीयता कुमार:' । पत्र लिखकर राजा शारीरिक चिन्ता निवारण हेतु बाहर चले गये । इस बीच वह पत्र कुणाल की विमाता के हाथ लगा । उसने सोचा कुणाल बड़ा है अत: वही बडा होने पर राज्य का अधिकारी होगा तो मेरे पुत्र को राज्य नहीं मिलेगा । कोई उपाय करना चाहिये । बस क्या था, उसके मन में स्वार्थ ने आसन जमाया और पुत्र-सुख के लिए 'अधीयता' पद के 'अ' पर बिन्दी लगा दी और "अधीयता" का "अंधीयता" कर दिया। केवल एक बिन्दी लगाने से पत्र की भावना में आमूल परिवर्तन हो गया । पत्र उज्जयिनी भेज दिया गया ।

उज्जयिनी के राजदरबार मे पत्र पढा गया । पता की आज्ञा शिरोधार्य है कह कर कुणाल ने आदेश दिया कि राजाज्ञा का पालन तत्काल किया जावे । गरम शलाका मगवाकर कुणाल ने स्वय ही उससे अपनी आखे फोड ली । अधा हो जाने से कुणाल अब राज्य का उत्तराधिकारी नही रहा । रानी को पत्र मे बिन्दी लगाकर कुणाल को अधा बनाने की क्या आवश्यकता थी ? अपने पुत्र की राज्य प्राप्ति तो राजा के आदेश से यो भी हो सकती थी, फिर भी ऐसा कलुषित कृत्य करने से वह नही चूकी । यह स्वार्थ की महिमा है ।

आज मानव के मन मे इसी प्रकार कुवृत्तियो का भूत नाच रहा है । दूसरे का धन छीन लेना अपने अधीनस्थ व्यक्ति को नौकरी से अलग करवा देना और दूसरो को सताना आदि न जाने कितने कुकर्म, मानव अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए करता है । दूसरो के धन, जन और भवन आदि छीन कर ले लेने की अनेको घटनाए नित्य सुनी जाती है । इन अनावश्यक मानसिक दुर्वृत्तिया को दबाकर अपनी आवश्यकताओ को यदि सीमित कर दिया जाय तो मनुष्य की अशान्ति और आकुलता मिट जायेगी । प्रदेश-प्रदेश मे देश देश मे एव सम्प्रदाय सम्प्रदाय मे झगडे चलते है नेतृत्व के लोभ मे पडकर सत्य पर पर्दा डालकर उसे असत्य मे बदल दिया जाता है। इन सबका मूल कारण स्वार्थ-वासना और मन की विकृत लालसा ही तो है ।

सत्सग, भगवत्भजन आदि शात दशा मे होते है और शान्ति सन्तोष के बिना अर्थात् अपनी आवश्यकताओ को सीमित किए बिना प्राप्त नही होती । अत नियमन द्वारा जीवन मे सयम लाइए । चक्की मे हजारो दाने पिस जाते है किन्तु कील से चिपका हुआ दाना बिना पिसे रह जाता है सर्वथा बच जाता है । सीमा रहित अनन्त आवश्यकता वाले मनुष्यो को तो चक्की मे पिसे जाने वाले दाने के सदृश्य समझना चाहिए और कील के पास सुरक्षित दानो के समान उन साधकों को समझना चाहिए जो अनन्त ज्ञानी वीतराग प्रभु की शरण मे लीन हो जाते है तथा अपनी वृत्तिया पर अकुश रखते है । साराश यह है कि यदि आकुलता और अशात स्थिति से बचना है तथा लोक और परलोक दोनो सुधारना है तो अपनी आवश्यकताओ और रागात्मक वृत्तिया का सयम कीजिए जिससे सहज निर्दोष आनन्द की प्राप्ति हो सके ।

---

[३१]

चिन्तन की चिनगारियाँ

साधना के मार्ग पर चलने वाला साधक, जब तक अज्ञान का पर्दा दूर नहीं कर लेता, तब तक कर्तव्य और अकर्तव्य का वह भेद नहीं कर पाता। उसे टकराने तथा कुमार्ग में गिरने से बचाने के लिए, शास्त्रों के माध्यम से प्रेरणा दी जाती है ताकि वह सुमार्ग पर चलता रहे और लक्ष्य से गिरने नहीं पावे।

शास्त्रो में साधना-पथ पर चलने वालो के लिए चार साधक तथा चार ही बाधक बाते बताई गई हैं। बाधक बातें इस प्रकार है—१. बार-बार चार प्रकार की विकथा करते रहना २. विवेक से आत्मा भावित नही करना ३. पिछली रात मे धर्म-जागरण नही करना और ४. निर्दोष आहार की सम्यक् प्रकार से गवेषणा नहीं करना।

जो साधक आहार-शुद्धि की गवेषणा नही करेगा। वह स्वाद तथा पेट भरने के चक्कर मे पड़कर आत्म-कल्याण से विमुख हो जाएगा। आहार मे भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार नही करने वाला अशान्ति प्राप्त करता है। उसे सच्चा ज्ञान नहीं मिल सकता।

आत्म-हित के विपरीत कथा को विकथा कहते है अथवा अध्यात्म से भौतिकता की ओर तथा त्याग से राग की ओर बढ़ाने वाली कथा विकथा कहलाती है। विकथा साधना के मार्ग में रोड़े अटकाने वाली और पतन की ओर ले जाने वाली है, अतः साधक को उसमें सभल कर पांव रखना चाहिए।

कितना भी महान् से महान् पढ़ा लिखा क्यों न हो, यदि वह शान्त समय में चिन्तन नही करे, तो आत्म-स्वरूप को पहिचान नही पाएगा। आकाश और पाताल की दूर-दूर की बातों की ओर मानव का ध्यान जा रहा है, पर अपने स्वरूप की

तरफ वह नही देख पाता । सूक्ष्म दृष्टि से मनुष्य को भी अपनी आख से रज कण निकालने के लिए दूसरे का सहारा लेना पडता है । पास मे रहने वाल रजकण वह नही देख पाता । चर्म-चक्षु की दर्शनशक्ति इतनी सीमित है कि वह अपने आपको भी नही देख पाती यद्यपि वह दूर की वस्तु देख लेती है । इसी कमी को दूर करने के लिए महापुरुषो ने प्रेरणा दी है कि अपने आपको जानो । पापो मे डूबा हुआ मानव यदि धर्म-जागरण करे रात को आत्म-स्वरूप का चिन्तन करे, तो अपने आपको ऊपर उठा सकेगा और जीवन धन्य बना सकेगा ।

सद्‌गृहस्थ आनन्द ने चिन्तन का आधार लिया और वह ऊपर उठ गया । वीतराग की अमृतवाणी श्रवणकर वह अमृतमय बन गया । श्रवणेन्द्रिय का स्वभाव ध्वनि को पकडना है, किन्तु उसे ग्रहण करना बुद्धि का काम है जो बुद्धि पूर्वक सद्‌गुरु से पूछकर अपनी शका का समाधान प्राप्त करता और धर्म मार्ग पर चलता है वह आगे बढता है ।

जीवन-निर्माण के लिए आनन्द ने अपने नित्य की आवश्यकता मे कमी करली। उसने घृत ओदन दाल एव साग आदि का परिमाण किया । घृत के सम्बन्ध मे उसने शरत् कालीन गोघृत के अतिरिक्त सब का त्याग किया । साग मे पालक चदलीया और मडूक याने मडवा को छोडकर शेष गोभी मूली चना और अफीम आदि सभी भाजी का उसने परित्याग किया ।

पत्तीदार सब्जियो तथा भिडी, भटटा आदि बन्द सब्जियो मे कीट रहते है इस पर लोगो का ध्यान नही जाता । आज के मानव का यह स्वभाव हो गया है कि विटामिन युक्त वस्तु कहने पर, वे उसे ग्रहण करने के लिए उतारू हो जाते है । लाल टमाटर विदेशी वस्तु है, किन्तु डाक्टरो की छाप लगी होने से आप उसे व्यवहार मे लेने लग गए है और देश की अनेक अच्छी वस्तुओ को भूल गए । आवला मेथी और पालक मे भी यदि डाक्टरो की छाप लग जाय तो क्या ये लाभकारी सिद्ध नही होंगे ।

सम्यक दृष्टि आनन्द स्वाद के लिए भोजन नही करता, वरन् शरीर सरक्षण के लिए करता था । वीतराग होने पर भी मानव को शरीर रक्षा के लिए भोजन ग्रहण तो करना ही पडता है । हा ज्ञानी के खाने का दृष्टिकोण दूसरा होता है और अज्ञानी का दूसरा । भाजी मे क्षार पदार्थ होते हैं और क्षार पदार्थ की कमी होने से शरीर मे अनेक विध रोग न हो जाय अत आनन्द प्रकृति तथा अपने जीवन के अनुभवो द्वारा निर्णय लेना चाहता था ताकि शरीर का समुचित सरक्षण हो सके और आरभ का दोष भी कम लगे ।

आज मनुष्य की वृत्तियो में कमी नही, बल्कि विस्तार ही विस्तार है । लोग आक के पत्ते का भी अचार बनाते है और पशु की खुराक पर भी हाथ फेरना आरम्भ कर रहे है । घास तो पशुओ का भक्ष्य है, मगर मानव उसे भी नही छोड़ता। फल, फूल, पत्ती तो मानव खाता ही था, अब वह रस मिलने पर घास भी आत्मसात् करना चाहता है । आनन्द ने सोचा कि जीवन मे हिंसा घटने के साथ यदि वृत्ति में सीमा आ जाएगी, तो अन्य प्राणियो के प्रति ईर्ष्या, दुर्भावना, सघर्ष और घृणा आदि नहीं होगी । दुर्भावनाए प्रायः तभी होती है, जब दूसरे की रोटी पर कोई हाथ फेरता है । वस्तुतः ऐसी वृत्ति जीवन को अशान्त तथा दुःखद बनाती है ।

मानव-जीवन मे कृत्रिमता बहुत बढ़ गई है, इससे जीवन भार भूत बनता जा रहा है । समाज के सीधे-सादे किसान भाई भी आज बनावटीपन के चक्कर मे फंसते नजर आते है । सादे जीवन की जगह आज उन्हे भी भड़कीलेपन से प्यार होता दिखाई देता है । शहर की कृत्रिमता धीरे-धीरे गांव की ओर फैलती जा रही है। साधारणतया नमक-मिर्च से ही सब्जी बन जाती है । किन्तु जीरा-मेथी आदि की बघार डालकर आज उसे अधिक सुस्वादु बनाने की चेष्टा की जाती है । इस तरह मनुष्य महारम्भी बनकर अखाद्य वस्तुओ को भी ग्रहण करने मे आज सकोच नहीं करता । इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य अपना जीवन मात्र खाने के लिए समझने लगा है ।

तालाब के पानी को बाहर जाने से पाल रोकती है, उसी प्रकार वृत्तियो के जल को रोकने वाला नियम है । यदि जीवन मे नियम नही होगा तो मनुष्य अपनी वृत्तियों को इतना बढ़ा लेगा कि वह प्रलयकारी रूप ग्रहण कर लेगा ।

मनुष्य जिन कारणो को सुख के साधन मान रहा है, वे ही उसके दुःख के कारण बन जाएगे । जिन बाधों ने बाढ़ो का रूप धारण कर लिया, उनमें कही कमजोरी अवश्य रह गई होगी । इसी प्रकार नियम की कमजोरी से जीवन का पाल भी टूट जाएगा । सदाचार, सद्गुण और सुभावना के लिए नियम की दृढ़ पाल चाहिए अन्यथा जीवन गड़बड़ा जाएगा और सचित आध्यात्मिक धन नष्ट हो जाएगा ।

नियम का महत्व हर काल में अक्षुण्ण रहता है । देश काल का कोई भी प्रभाव उस पर नही पड़ता । चाहे अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व का आनन्द वाला काल हो या आज का, नियम पालने की जरूरत तब भी वैसी ही थी और आज भी वैसी ही है । शारीरिक दृष्टि से भी यदि खान-पान मे सयम नही होगा तो शरीर मे विकार उत्पन्न होंगे ही । फल, सब्जी एवं वनस्पति मे भी अनेक बीमारिया होती है । ऋतु कृत या अन्य कारणो से ककड़ी के मुह पर तथा तरोई मे कड़वापन आ जाता है

जो खाने से रोग उत्पन्न करता है । साथ ही कुआहार से मन मे अनीति के विचार उठते है और मनुष्य अन्य प्राणियो के साथ मैत्री भाव नही रख पाता । गाय भैस से दूध लेने वाले इतना अधिक दूध दूह लेते है कि उनके बच्चे को भी दूध नही बच पाता । कुआहार वाले व्यक्ति मे सग्रह वृत्ति बढ जाती तथा कुभावना जागृत होती है। फलाहार अन्नाहार तथा पत्ती के आहार मे भी मनुष्य निर्दोषिता का लक्ष्य रखे, तो अपना जीवन सौम्य बना सकता है ।

आनन्द ने नियम बनाया कि वह आवले के अतिरिक्त अन्य फलो को रुग्णावस्था छोडकर ग्रहण नही करेगा । इस तरह उसने ससार के अन्य सभी फलो को जो रस एव माधुर्य युक्त होकर मन को ललचाने वाले होते है त्याग कर दिया । फल त्याग से मन मे यह तर्क उठता है कि आखिर इन फलो को कौन खाएगा ? और इनसे मिलने वाले बल एव पौष्टिकता से मानव समाज वचित रह जाएगा । परन्तु मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि ससार कुछ छोटा तो नही है और सब के सब कोई एक ही फल तो नहीं छोडेंगे । फिर वस्तु के लिए उठने वाला सघर्ष त्याग से ही तो कम होगा । आहार विहार ठीक रखने वाला विषम परिस्थितियो मे भी दिमाग सतुलित रख पाता है । हानि-लाभ और सयोग-वियोग मे वह आतुर, अधीर नही होता और मन तथा मस्तिष्क को सतुलित रखता है ।

अब वररुचि की जो बात चल रही है । उसे देखिये–

प वररुचि के प्रयत्न से महामन्त्री शकटार सम्राट नन्द के कोप भाजन हो गए और उनके आमोद-प्रमोदमय जीवन मे अकस्मात् विपदा की काली घटा घिर आयी । हाथी पर सवारी करने वाला पैदल चलने की स्थिति मे आ गया । महाराज उसकी ओर कडी दृष्टि से देखने लगे क्योंकि वररुचि ने महाराज को जचा दिया कि महामन्त्री राज्य का तख्ता उलटने के लिए अस्त्र-शस्त्रो का निर्माण करवा रहा है । राजा वो चर चक्षु होता है और चरो ने इसे सही पाया कि महामन्त्री की ओर से अस्त्र शस्त्र बनवाए जा रहे है । फिर तो महामत्री की एक भी बात नही सुनी गयी और उन्हे राज्य मन्त्री पद से च्युत कर कडी सजा का पात्र माना गया । वररुचि को अपमान का बदला चुकाने का स्वर्ण अवसर हाथ लग गया ।

महामन्त्री शकटार राजा के सामने से हटकर गभीर चिन्तन करने लगा ताकि परिवार की रक्षा का उपाय कर सके । उसने पुत्र श्रीयक को बुलाकर कहा कि आज तुमको एक मुद्दे की बात कहनी है । आज तक नन्द की कृपा से हमारा घर फूला फला है । अब मेरा तन तो राख की ढेरी बनकर उनके चरणा म पड जावेगा तुम अपनी चिन्ता करो । मेरे चलते पारिवारिक जीवन सुखमय हो यही कामना है ।

मुझे ऐसा लगता है कि "रूठा काल नाश करता है ।" राजा के रूठने पर बचाव का उपाय है, किन्तु काल से बचना कठिन है । हजारो वारन्ट वाले भी राजा को कोप दृष्टि से बच जाते है पर काल से कोई नही बच सकता । यह सुनकर श्रीयक ने कहा कि महाराज प्रमाण देखकर न्याय करेंगे या न्याय छोड़ देंगे । आपके जीवन पर सकट आया देखकर मै अपना प्राणोत्सर्ग कर दूगा । यदि चूक न हो तो महाराज से न्याय की माग करूगा । इस तरह श्रीयक इस बात पर अटल रहा कि वह अपने जीते-जी पिता के जीवन पर किसी तरह की आच नहीं आने देगा ।

शकटार बुद्धिमान था और आज तक राजा तथा प्रजा दोनों का प्रेम भाजन बना हुआ था जो कि एक असमव-सी बात है । प्रजा का प्रिय राजा का शत्रु और राजा का प्रिय प्रजा का शत्रु समझा जाता है । शकटार ने श्रीयक से कहा कि तुझ मे अभी जवानी का जोश है । जब स्वामी और सेवक के बीच मे लड़ाई हो, तो उसका परिणाम क्या निकलेगा ? जो कुछ भी थोड़ी मधुरता है, वह भी मिट जाएगी । यदि लड़ाई मे आपसी समझौता हो जाय तो मधुरता रहेगी, परन्तु लड़कर बलात् अधिक भी प्राप्त किया जाय, तो वह लामदायक नही होगा । समझदार व्यक्ति पैसे को महत्व नही देकर मानव को महत्व देता है । आज समाज मे फैले अनेक झगड़ों का मूल कारण मानव से अधिक धन को महत्व देना ही है ।

शकटार ने कहा कि राजा से बराबरी दिखाने पर तीन हानिया होंगी— (१) स्वामी सेवक सम्बन्ध नहीं रहेगा (२) घृणा बढ़ेगी और मधुरता मिटेगी तथा (३) लोक निन्दा होगी और जीत मे भी हार होगी । श्रीयक भी समझदार था । उसने राजा के कोप से बचने का पिताजी से रास्ता पूछा । महामन्त्री ने कहा कि सत्ता बल वाले से अपराध नही पूछा जाता । सत्ता से उलझने से कोई लाभ नही होता। तन, धन और इज्जत मिट्टी मे मिल जाती तथा व्यवहारिक हानियां भी होती है । मेरा आयु बल समाप्त हो रहा है—अतः इसके लिए घबराना उचित नही, यह निश्चय है कि कोई भी प्राणी आयु बल क्षीण हुए बिना नही मर सकता ।

शकटार मे सत्सगति से सुसस्कार थे । अतः वह भयंकर विपत्ति की घड़ी में भी शान्त तथा अडोल बना रहा । उसने धैर्य नही खोया और आत्मबल बनाए रखा । उसका जीवन सासारिकजनो के लिए प्रेरणादायक है ।

---

[३२]

आहार शुद्धि

आत्म-पतन से भयभीत मानव अपने स्वरूप के सम्बन्ध मे निरन्तर चिन्तन करता रहता है । मै कौन हूँ कहा से आया हूँ और कहा जाऊगा आदि बाते साधनशील के मन मे उठती रहती है और वह जीवन-निर्माण के लिए सतत् सचेष्ट बना रहता है । किन्तु जिसके मन मे भविष्य का भय नही वह जीवन के सुधार-बिगाड को कुछ नही समझता । साधक को चाहिए कि वह आत्म-सुधार के लिए प्रथम जीवन-सुधार और फिर मरण-सुधार करे ।

यह मानी हुई बात है कि पूर्वभव का पुरुषार्थ सचित कर्म के रूप से काम करता है और यही कारण है कि आज कोई अल्प-श्रम मे भी सुखी और कोई महान् श्रम करते हुए भी दुखी बना रहता है । यदि पूर्व भव का पौरुष काम नही करता, तो कर्म फल मे यह अन्तर दिखाई नही देता । जीवन कभी कभी बदल जाता है एक तपातपाया साधक बिगड जाता तथा सस्कारवश कोई बिगडा हुआ व्यक्ति भी साधक बन जाता है । कभी-कभी तो जीवनभर बिगडा रहकर अन्तिम समय कोई-कोई सुधर जाता ऐसे नमूने भी देखे गए है । परमार्थ दृष्टि से देखने पर पूर्व सचित कर्म ही इसका बीज है । जहाँ जीवन सुधर रहा है वहाँ पूर्व के सुकर्म का फल है । पूर्व जीवन मे अच्छी करणी होने से बिगडा मानव सुधर जाता और जहाँ पूर्व के अशुभ कर्म का जोर है वहाँ शुभ निमित्त मिलने एव सुधार का प्रयत्न करने पर भी जीवन सुधर नही पाता । फिर भी वातावरण और पुरुषार्थ का असर अवश्य होता है। इस तरह मरण सुधार के लिए जीवन सुधार और जीवन सुधार के लिए वृत्तियो पर सयम करना आवश्यक है ।

श्रुत धर्म जीवन मे ज्ञान और श्रद्धा उत्पन्न करता है और जब श्रुत धर्म से साधक मे विश्वास उत्पन्न हो जाता है तब चारित्र व्रत नियम के द्वारा साधक अपना

जीवन सुधार का कार्य करता है । वस्तुतः जीवन को वनाने या बिगाड़ने का सारा दायित्व चारित्र पर ही निर्भर है । शास्त्रो का ज्ञान, वक्तृत्व कला निपुणता और प्रगाढ़ पाण्डित्य आदि व्यर्थ है, यदि मानव मे सच्चरित्रता का वल नही हो ।

जीवन धारण मे भोजन का महत्वपूर्ण स्थान है अतः ससार का समस्त उद्योग भूख मिटाने के लिए ही चल रहा है । शरीर रचना के साथ यदि भूख का सम्बन्ध नहीं होता, तो आज आप ससार का जो स्वरूप देख रहे है वह हर्गिज इस रूप में नही देख पाते । लड़ाई, कलह, द्वेष या ईर्ष्या की विभीषिका, जन-मन को व्यथित नही कर पाती । इस प्रकार जीवन में भोजन का महत्व होते हुए भी मानव जगत में, खासकर भारतवर्ष मे खाने का समय निश्चित है । पशु की तरह मनुष्य हर समय खाते नही रहता। बार-बार खाने से दांत में भोजन के कण रह कर सड़ जाते, जिससे दर्द होने लगता और अत मे दांत निकालने की नौबत आ जाती है । किन्तु समय पर सात्विक भोजन करने से मन स्वस्थ और प्रसन्न रहता है । कहा भी है–

"जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन ।
जैसा पीवे पानी, वैसी निकसे वाणी"

आनन्द ने आगार धर्म का पालन करते हुए भोजन विधि मे दही-वड़े के अतिरिक्त अन्य अम्ल पदार्थों का परित्याग कर दिया । भोजन से भी बढ़कर जीवन मे जल का स्थान होता है । अतः आनन्द जल का परिमाण करता है । नदी, तालाब, कुआ, बावड़ी और नल-कूप आदि जल प्राप्ति के अनेक साधन है । कुए के पानी की अपेक्षा तालाब के जल में अधिक जीव जन्तु होते है । पानी यदि छानकर नही पीया जाय, तो जीव-जन्तु पेट मे चले जाएगे, जिससे शरीर की भी हानि होगी तथा अकारण अधिक हिसा का पाप सर पर चढ़ेगा । चाणक्य ने भी अपने नीति-शास्त्र मे कहा है–

दृष्टि पूतं न्यसेत्पाद, वस्त्रपूतं जलं पिवेत् ।
सत्य पूतं वदेत् वाक्यं, मनः पूतं समाचरेत् ।।

अर्थात्–देखकर पैर रखना उत्तम है । वस्त्र से छना पवित्र जल पीवे । सत्य से पवित्र वाणी बोलें और पवित्र मन धारण करे यह नीति है । वस्त्र से छाने जाने पर जल पवित्र हो जाता है । उसकी पवित्रता के अन्य विचार तो देश कालानुसार लोगो के कल्पित है । उसमें अपनी सुविधा का ही मुख्य लक्ष्य है । घड़े मे थूक दिया जाय तो पानी अपवित्र मानकर फेंक दिया जाता है । ग्रहण मे घर का जल फेक दिया जाता है पर मरुप्रदेश मे या जलाभाव में कुश डालकर पवित्र मान लिया जाता है । जलाशयो को स्वय अपवित्र करने, उसमे नहाने, धोने और दत

प्रक्षालनादि करने मे लोग सकोच नही करते, बल्कि पुण्य मानते है । अधिक जल होने से वहाँ मन का समाधान कर लेते है कि जल राशि विशाल है । अतः वह राशि अपवित्र नही होती ।

आनन्द ने पीने के पानी के लिए सकल्प किया कि वह वडी टकी मे सगृहीत आकाश का पानी ही पियेगा । चातक की तरह उसने भी जमीन के समस्त जल को अपने लिए अपेय मान लिया । इस प्रकार उसने अपनी आवश्यकता को सीमित किया ।

आहार शुद्धि की आवश्यकता पर महावीर स्वामी ने वहुत अधिक वल दिया है । हित नियमित परिमित शुद्ध आहार से जीवन चलाने वाले व्यक्ति का शरीर हल्का रहता है पराधीनता से मुक्त होता तथा रोग रहित रहता है। यदि भोजन मे नियमन न हो तो गृह लक्ष्मी को हमेशा चूल्हा जलाए रखना पडता है । ऐसे घरो मे पति-पत्नि मे टकराने तथा मनोमालिन्य का भी अवसर उपस्थित हो जाता है । दिन-रात चूल्हा जलने वाले घर मे जीव-जन्तुओ की हिसा अनिवार्य होगी और गृह लक्ष्मी के उसमे उलझे रहने से बच्चो को माँ के प्यार एव सुसस्कार से भी वचित रहना पडेगा।

जब माताओ का समय भोजन श्रृगार आदि मे चला जाय और पतियो का वाजार, ऑफिस, सिनेमा और क्लव आदि मे तो ऐसे घरो के वच्चो का भगवान् ही मालिक है । वे सुधरे या विगडे दूसरा कौन देखे ? जिन वच्चो को वचपन म धर्म शिक्षा की घूटी नही मिलती, वडे होने पर उनमे धर्म रुचि कहा से आएगी ? श्रीकृष्ण गिरि उठाकर गिरिधर वन गए, पर आज मानवो को ज्ञानाराधना भी भार स्वरूप लग रही है । सुसस्कार के तीक्ष्ण धार से मजा हुआ मनुष्य सकट के पहाड को भी तिनका समझकर पार कर जाता है । राम, कृष्ण और महावीर स्वामी सरीखे महापुरुषो की वात छोड भी दे, तो साधारण मानवो ने भी वचपन के सुसस्कार वश भयकर से भयकर विपत्तिया पार कर ली हैं ।

कथा भाग मे महामन्त्री शकटार की वात चल रही है । उसमे वताया गया कि वुद्धिमान व्यक्ति जोश मे भी कैसे होश से काम लेता है । महामन्त्री के पुत्र श्रीयक ने जोश मे राजा से कानूनी लडाई लडने की वात कही परन्तु महामन्त्री शकटार अनुभवी तथा विचारवान् व्यक्ति थे । अतः क्षणिक जोश मे आकर होश गवाने वाली पुत्र की वात से प्रभावित नही हुए और अपनी नीति उसके सामने रखते हुए वोले कि–

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत् ।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे सकल त्यजेत् ॥

अर्थात् कुल की रक्षा के लिए एक का त्याग कर दो, ग्राम के लिये कुल का, देश के लिए ग्राम का और आत्मा के लिए सबका त्याग कर दो, पर आत्मा का अहित न होने दो। श्रीयक की चिन्ता यह थी कि किसी तरह राजा के कोप से पिता बच जायं। पुत्र के जीतेजी किसी दूसरे के द्वारा पिता पर आने वाली आच उसके लिए खुली चुनौती है। जिसका सामना प्राण देकर भी पुत्र को करना ही चाहिए। अतः महामत्री की नीतिपूर्ण उक्ति से पुत्र का जलता-भुनता मन सन्तुष्ट नही हुआ, पर कुछ शान्त जरूर हो गया।

शकटार ने कहाः- "पुत्र ! मेरे कारण कुल का नाश न हो। इसका उपाय यह है कि दरबार मे जब राजा मुझे उपस्थित देखकर अपना मुख मोड़ले, उस समय तुम अपना खड्गमेरी गर्दन पर चला देना। जब राजा पूछे तो यह उत्तर देना कि आप राष्ट्र के पिता है और ये मेरे पिता है, अतएव राष्ट्र के पिता की आज्ञा सर्वोपरि है। आपके कोप भाजन की सजा मृत्यु से कम क्या हो सकती है—इसलिए मैने इन पर खड्ग का प्रहार किया है। इस तरह नीति तथा कुटुम्ब दोनो का रक्षण होगा और न्याय की मांग किए बिना ही कार्य सिद्ध हो जायेगा। मेरे मान को बचाने की चेष्टा से कुटुम्ब की हानि होगी। जो परिवार नीति का रक्षण करेगा, वह सत्य और सदाचार की प्रीति के कारण कुल का वातावरण शुद्ध रख सकेगा।"

यदि कोई व्यक्ति यह सोचे कि भले ही पुत्र वेश्यागामी या शरावी क्यो न हो, आखिर वह मेरा लड़का है। कैसे उसका तिरस्कार या अपमान कर उसे घर से बाहर जाने दू ? तो उस एक के चलते सारा घर गड़बड़ा जाएगा, अतः घर के सुधार का यही एक प्रशस्त मार्ग है कि या तो उस लड़के को सुधारो या उससे किनारा करो। यदि कुमार्गगामी पुत्र को सुधारा न जाय और किनारा भी नही किया जाय तो घर भर का अहित हुए बिना नही रहेगा।

राजनीति और धर्मनीति दोनों में त्याग का महत्व है। एक मे यह त्याग केवल अपने स्वार्थ साधन मान, मर्यादा, पद और नामवरी आदि के लिए है, पार्टी या राजनीति को सबल बनाने के लिए भी त्याग किया जाता है किन्तु धर्मनीति में त्याग परमार्थ के लिए किया जाता है। बड़े-बड़े राजे महाराजे जिनके वैभव का कोई पारावार नहीं था, धर्माचरण हेतु भोग-विलास से पराङ्मुख ही नहीं हुए वरन् अनेकों कष्ट भी सहे है। पर धर्माचरण पर डटे रहे जिसका अन्तिम परिणाम अत्यन्त सुखद रहा।

मनुष्य अर्थनीति मे जितना समय लगाता है, यदि उसका आधा समय भी धर्मनीति मे लगावे, तो उसका उद्धार हो सकता है। आज का मानव व्रत नियम की

बात सुनकर घबरा जाता है किन्तु अपने सासारिक जीवन की कठिनाइयो को लक्ष्य मे नही रखता । वह अर्थ लाभ के लिए सर्दी गर्मी, वर्षा भूख, प्यास आदि सभी सहन करता है किन्तु धर्म पालन के नाम पर थोडा भी कष्ट पाकर चचल-चित्त हो जाता है । भगवान महावीर स्वामी कहते है कि हे ससार रत मानव । वसुधा को चीरकर छोटे छोटे बीज बोकर अधिक की आशा क्या करता है ? तू अपने हृदय की खेती कर, जहा चाहे तो कल्प वृक्ष उगा सकता है और मनवाछित फल पा सकता है । इसमे आक धतूरे जैसे जहरीले पौधे तथा कटीले झाड-बबूल आदि उगाकर अपने श्रम को व्यर्थ क्यो बनाता है ?

खेत के झाड-झखाड कभी भी उखाडे जा सकते है किन्तु हृदय मे उगे कटीले झाड आसानी से नही उखड पाते । जीवन मे तम्बाखू, शराब, जुआ एव वेश्यागमन आदि की कुटेव पड गई तो जहरीला झाड लग गया समझो । उन्हे उखाड़ फेकना कोई आसान काम नही होगा । व्यसन की पराधीनता इतनी बलवती है कि रिक्शे वाले रिक्शा खडाकर भी शराब पीने लगते तथा जुआ खेलने लगते है । यद्यपि यह गैर कानूनी काम है पर एक बार आदत पड जाने के बाद फिर धर्म और कानून की याद नही रहती । हृदय रूपी क्षेत्र मे सत्य अहिसा और प्रभु भक्ति का वृक्ष लगाइए जिससे हृदय लहलहाएगा, मन नि.शक, निश्चिन्त एव शान्त रहेगा । देखिये कविवर चिमनेश क्या कहते है–

मजबूतिपनो रखना मन मे, दुःख दीनपनो दरसावनो ना ।
कुल रीत सुमारग मे बहनो रहनो उर आन अभावनो ना ।।
चिमनेश हसी खुश बोलिये मे यहा काहु से वैर बसावनो ना ।
पर उपकार करो ही करो मर जावनो है फिर आवनो ना ।।

कितनी अच्छी बात है यदि यह नीति अपनाई जाय तो जीवन सुन्दर बनेगा तथा लोक और परलोक दोनो का हित साधन हो सकेगा ।

---

[३२]

ज्ञान का सम्बल

अनन्त आनन्द, ज्ञान और शक्ति के रूप में आत्मा सबमें विराजमान है, जिसमें जीवन है जो गतकाल मे जीया वर्तमान में जीता है और भविष्य में जीता रहेगा। किन्तु मोहजन्य जीवन के कारण आत्मा पर अज्ञान रूपी पर्दा पड़ जाने से वह शुद्ध रूप में दिखाई नही देता। महापुरुषों की वाणी का उद्देश्य अज्ञान के पर्दे को दूर कर, आत्मा के शुद्ध रूप को प्रगट करना है। जब पर्दा दूर हो जाय तो मनुष्य को अशान्ति और आकुलता नही रहती और आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होती है। शुद्ध जीवन तब तक संभव नही, जब तक आत्मा अज्ञान से आवृत्त है। सद्गुरु या सत्सग का निमित्त पाकर साधक जीवन सुधार लेता और उनके अनुभव का लाभ लेकर प्रकाश पाता है। अतः प्रकाश पाने के लिए सत्संग आवश्यक है।

शास्त्र मे ज्ञान प्राप्ति के मुख्य दो मार्ग बतलाए हैं—एक निसर्ग और दूसरा अधिगम। सत्संगति या बिना गुरु के सहज ज्ञान पाना निसर्गज है, इसके पीछे, पूर्व जन्म की करनी छिपी होती है। ऐसे व्यक्ति प्राक्तन-बल से छोटा निमित्त पाकर भी अज्ञान का पर्दा हटा लेते है। अपने आप मे अनुभव मिलाने का जिसको सौभाग्य प्राप्त नही है, वह भी सत्संग के द्वारा ज्ञान की किरण जगा लेता है। ज्ञानी मनुष्य सभी दृश्य जगत्, परिजन, भोग्य वस्तु और सोना-चादी आदि को पराई वस्तु समझता है। उसके मन में यही नाद गूंजता है कि—"मेरे अन्तर भया प्रकाश, ना अब मुझे किसी की आस।" अन्तर मे ज्ञान का प्रकाश होने से वह सोचा करता है कि तन, धन, दौलत, मे मेरा रूप नही है, अतः उस पर से उसका अनुराग हट जाता है। परायी वस्तु पर वह प्रीति नही होती, जो अपने पर होती है। जैसे अपना छोटा बच्चा या मित्र या परिजन आ जाय तो उससे मिलने की आकांक्षा होती है और दूसरे सैकड़ो के प्रति नही होती। यह अपनेपन के कारण है। उसे 'पर' समझ लेने पर वैसा आकर्षण नही रहता। भौतिक पदार्थों के प्रति भी इसी प्रकार उन्हे 'पर'

समझने स निवृत्ति हो जाती है यद्यपि आवश्यकतावश उनका उपयोग किया जाता है । फिर भी उन्हे 'पर' समझने पर बडे-बडे बगले सोने-चादी के बर्तन या हीरे जवाहरात के आभूषण मन को आकृष्ट नही कर सकते ।

श्रावक आनन्द विशाल सम्पदा पाकर भी त्याग की ओर बढ गया, इसका कारण उसका 'स्व पर' का ज्ञान ही था । उसने भोग का लक्ष्य जीवन निर्वाह मात्र माना । खाना पीना और वस्त्र आदि निर्वाह के साधन है आत्म-पोषण के साधन नही है । शरीर भी तो पराया और क्षण भगुर है । शरीर के घटने-बढने से जो अपना घटना बढना समझता है, वास्तव मे उसे अपने सही रूप का पता नही है । सही रूप समझने पर मनोवृत्ति एकदम बदल जायेगी । आनन्द ने आत्म साधना के लिए तन रूपी गाडी को सभाले रखना आवश्यक समझा । जैसे साइकिल या गाडी के गडबडाने पर हवा, मरम्मत या तैल की खुराक दी जाती है । सवार गाडी मे गतव्य स्थान पर पहुँच कर, हवा पानी आदि तेल नही देखता किन्तु यात्रा के प्रारम्भ मे ही देखा करता है । हवा एव तैल की खुराक शौक के लिए नही दी जाती किन्तु इसलिए दी जाती है कि वह सवारी यात्रा का साधन है । इसी प्रकार शरीर आत्म साधना की यात्रा मे साधन है अत इसकी रक्षा भी आवश्यक है ताकि-पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति मे वह सहायक बन सके । यदि शरीर रूपी गाडी गडबडा गई, तो आत्म स्वरूप प्राप्ति की यात्रा मे बाधा आयेगी और लक्ष्य पर पहुँचना कठिन होगा ।

एक बार गौतम स्वामी और केशीमुनि का समागम हुआ तो केशी ने पूछा-गौतम । विशाल भवसागर मे तुम्हारी नाव बेछूट दौड रही है इससे तुम कैसे पार होते हो ? यह सुनकर गौतम ने कहा-महाराज । नाव दो प्रकार की होती है एक अछिद्र और दूसरी सछिद्र वाली । इनमे जो छिद्र रहित नाव है वह पार हो जाती है । मेरी नौका छिद्र रहित है अत मै विशाल सागर से निर्विघ्न पार हो रहा हूँ । फिर पूछा-नाव किसको कहते हो तो उत्तर मे गौतम ने कहा कि शरीर नाव है, जीव नाविक है और ससार एक समुद्र है। सछिद्र नौका से छोटा नाला भी पार नही किया जा सकता । इसी प्रकार शरीर मे यदि इच्छा कामना और वासना के छेद होंगे तो शरीर रूपी नाव डुबो देगी, अतएव शरीर के छेद काम, क्रोधादि को बिना बन्द किए ससार सागर पार नही किया जा सकता । यदि नाव को सभालकर नहीं रखा गया तो यह निश्चित रुप से डुबा देगी । इच्छा वासना एव कामनाओ के छिद्र से नाव मे जो कर्म का पानी भर गया है, उसे बाहर निकालना होगा-अन्यथा यात्रा पूरी नही होगी । रावण, ब्रह्मदत्त आदि अपनी यात्रा पूरी नही कर सके क्योंकि उन्होंने अपनी नाव मे पाप का जल भर लिया था । कीमती नाव होने पर भी यदि उसम जल

भरता गया, तो वह डूबे बिना नही रहेगी । कांतिवान् एवं बलवान शरीर भी काम, क्रोधादि के छिद्र होने से तिर नहीं सकता । छिद्र हो जाना उतना चिन्तनीय नहीं है जितना कि उन छिद्रों को नही रोकना और यात्रा चालू रखना ।

इच्छा को परिमित रखने के लिये आनन्द मुखवास का परिमाण करता है । इस त्याग में स्वाद नियन्त्रण की भावना है । स्वाद की सीमा यदि खुली छोड दी जाय तो उसका कभी अन्त नही होगा । इस प्रकार उल्लनिया विधि से परिमाण करते-करते मुखवास तक की आनन्द ने मर्यादा करली । यदि मानव आनन्द के समान अपनी इच्छाओं, आकाक्षाओ एव आवश्यकताओं का परिस्थिति के अनुकूल संयम द्वारा नियन्त्रण कर ले, तो जीवन का भारी बोझ हल्का होगा और मन की चचलता कम हो जायेगी तथा दूसरो से मांगने की आवश्यकता नही रहेगी । मन मे सन्तोष होगा, तो भीतर से आत्मिक सुख लहलहाने लगेगा ।

पशु जीवनभर दो-चार ही वस्तुएं ग्रहण कर लम्बी जिन्दगी काट लेते हैं, तो क्या कारण है कि कोई मनुष्य १०-२० वस्तुओं से जीवन-निर्वाह करना सोचले, तो उसका शरीर साथ न दे ? वन में रहने वाले ऋषि मुनि दो-चार वस्तुओ से भी गुजारा कर दीर्घायु रहते थे । नागरिक जीवन की परिस्थिति भिन्न है फिर भी वहा सीमा की जा सकती है । गृहस्थ जीवन मे रहने वाले लोग भी सीमित वस्तुओ से अच्छी तरह काम चला सकते है । जैसी सगति और अध्ययन होगा, वैसा ही मनुष्य अपना जीवन भी अच्छा बुरा बना सकेगा । भारत के लोग तामसी भोजन को क्यो अग्राह्य समझते है क्योंकि उनमे सुसस्कार हैं और वे वस्तु की हेयोपादेयता को समझ कर इनका उपयोग करने का ज्ञान रखते है । भगवद् भक्ति तथा चिन्तन को कई लोग ढकोसला समझते है क्योंकि उन्हे जो सग मिला तथा जो अध्ययन की सामग्री मिली, उसी के अनुसार उनके विचारों का पोषण हुआ । यदि हम चाहते हैं कि हममें तथा हमारी भावी-पीढी के लोगो मे सुसस्कार आवे, तो संगति और पठन-पाठन की सामग्री सुधारनी होगी । सन्तजनो की वाणी कुछ समय काम देगी, परन्तु उसमें स्थायित्व के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता है ।

अशुद्धि से शुद्धि की ओर जीवन को मोड़ लाने का काम कोई जादू से नही हो सकता । यह ह्दय की चीज है । हो सकता है कभी स्थिति परिपक्व हो गई हो तो कुछ प्रेरक वाक्य निमित्त रूप मे काम कर जाय, पर इसके पीछे पूर्व जन्म का संस्कार होना आवश्यक है । परिपक्व स्थिति मे छोटे कारण भी जादू-सा प्रभाव कर जाते है, परन्तु आम तौर पर ऐसा नही होता । ज्ञान का सम्बल ही एक ऐसा साधन है जिससे मानव अपनी जीवन-यात्रा सुचारु रूप से पार कर सकता है ।

आनन्द ने सत्सग, शास्त्र श्रवण, स्वाध्याय और मनन के बल पर अपना जीवन सुधार लिया । इस प्रकार गृहस्थ जीवन की आदर्श दशा का नमूना हमे आनन्द के जीवन से मिलता है । ससार के पदार्थों मे रति अनुभव नही करने की वृत्ति यदि मन मे जग जाय और चिन्तन का बल मिलता रहे तो साधक अपने जीवन का रूप वदल सकता है ।

अव कथा भाग की बात देखिये–

महामन्त्री शकटार महाराज नन्द के रोष का पात्र बन गया इसलिए उसके हृदय मे आघात लगा । फिर भी वह उतना आकुल नहीं हुआ जितना कि इस परिस्थिति मे दूसरे हो सकते थे । वह आज तक महाराज नन्द के मन्त्रित्व के पद को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझता था और सारे राज्य एव उसकी प्रभुता को अपनी मानता था किन्तु उसे अब मालूम हुआ कि यह उसका भ्रम था । यदि वह स्थायी होता तो राजा का विश्वास क्यो खोता और विश्वास खोकर भी इतना दयनीय क्यो बनता जितना कि उसे बनना पडा । उसने वास्तव मे निज को निज नही समझा पर को निज समझता रहा यह समय आने पर उसे भान हुआ । यदि यह बात उसको पहले ही समझ मे आ जाती तो उसका जीवन ही दूसरा होता ।

अज्ञानता और मूर्खता के कारण मनुष्य दूसरे मनुष्य से सघर्ष कर जाता है । सघर्ष की घडी मे उसे यह भान नही रहता कि जीवन क्षण भगुर और नाशवान है । हम जिस वस्तु के लिए सघर्ष रत होते है न तो उसका स्थायित्व है और न अपना ही । यहा सब कुछ चचल और चलायमान है । जिस नन्द के राज को शकटार अपना मानता था आज वही उसके लिए दुःखदायी बन गया । जैसे साधारण मनुष्य अपने छोटे परिवार के लिए झूठ बोलता मामले मुकदमे चोरी ठगी आदि करता है वैसे ही शकटार ने भी राज्य के लिए ऐसे काम किए जो आज उसके हृदय मे शूल की तरह सिहरन पैदा करते है । आज मनुष्य कितनी भूल मे पडा है जो छोटे से परिवार के लिए अहर्निश अनेक-अनेक पाप कर्म करता है । विवेक रूपी पुत्र तथा सुमति रूपी सखी से जो मनुष्य प्यार नहीं करेगा, वह भटक जायेगा । यदि यह समझ मे आ जाय तो मानव स्वय का और समाज का भी हित कर सकता है । राजा के क्रोध ने शकटार के मन मे सुमति पैदा कर दी । उसने श्रीयक को कहा – बेटा । जैसा कि मैंने तुम्हे पहले बताया है कल मेरे दरबार में उपस्थित होने पर तुम वैसा ही करना । इसी से अपना सब काम बन जाएगा ।

जीवन म जब तक स्वार्थ नही छूटता, तब तक मानव जीवन को शुद्ध बनाने म समर्थ नही होता । साधारणतः भौतिक वस्तुओ म रति-राग का नाम स्वार्थ

समझा जाता है । स्वार्थ अपने शुद्ध रूप में अच्छा है, पर आज उसका प्रयोग गलत अर्थ मे हो रहा है । मनुष्य अल्प धन-लाभ को स्वार्थ समझ कर इसके लिए झूठ, धोखा आदि का सहारा ले रहा है क्या यह वास्तविक स्वार्थ है ? वास्तव मे तो इससे स्वार्थ बिगड़ रहा है, प्रामाणिकता उठती जा रही है तथा लोक और परलोक दोनो बिगड़ रहे है । यह अशुद्ध स्वार्थ है । अशुद्ध स्वार्थ या भौतिकता का प्रेम आत्मोन्नति को बिगाडने वाला है । शुद्ध स्वार्थ जिसको आत्मा का कार्य अर्थात् आत्महित कहना चाहिए, ही अपनी उन्नति करने वाला है। इस प्रकार सुमार्ग मे चलने वाले अपनी आत्मा को शुद्ध करते तथा परलोक में भी कल्याण के भागी बनते है ।

---

[३४]

अनर्थ दण्ड और ज्ञान साधना

सक्षेप मे कहा जाय तो ससार के मनुष्यो के दो ही प्रकार होगे । एक भूतवादी या नास्तिक और दूसरे आत्मवादी आस्तिक । इनमे से जो आस्तिक है वे ही साधना मार्ग मे लग सकते है । जो स्वर्ग, नर्क, बध मोक्ष और आत्मा परमात्मा आदि को नही मानता, उसके पाव साधना पथ पर कैसे बढेगे ? साधना के मार्ग मे चलने के पूर्व यह निर्णय कर लेना होगा कि मै कौन हूँ भूतवादी (भौतिक वादी) या आत्मवादी । विश्वास और श्रद्धा नहीं होगी तो मानव न तो सही मार्ग पर चल सकेगा और न जिज्ञासु ही बन सकेगा । अज्ञान का पर्दा दूर करने से ही आत्म-स्वरूप का भान होता है और साधक जीवन सुधार के मार्ग पर लगता है । जिसके पास आत्मवाद या अध्यात्मवाद की कुजी है वह चिन्तन करेगा विचारेगा और आगे बढने के लिए प्रवृत्त होगा । साधक चाहे देश विरति वाला हो या सर्व विरति वाला, श्रावकधर्मवाला हो या श्रमण धर्म वाला वह आत्म-स्वरूप को प्राप्त करने की चेष्टा अवश्य करेगा । उसके मन मे तरग उठेगी कि पाप हमारे जीवन को बिगाडने वाला है, अत उसका त्याग करू । वह पूर्ण त्यागी नही तो देश त्यागी याने श्रमणोपासक बनने की चेष्टा अवश्य करेगा ।

आख्यान के पीछे प्रति' लगाने से प्रत्याख्यान बनता है । प्रत्याख्यान का अर्थ निषेध होता है । ज्ञानी मनुष्य दुष्प्रवृत्तियो का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है मगर जब कारणवश वह उनका सर्वथा त्याग नही कर पाता, तब देश विरति मार्ग अपनाता है । यह मार्ग पूर्ण प्रत्याख्यान की तरह सर्वथा शुद्ध नहीं है फिर भी एक दम कुछ नही करने के बजाय कुछ करना अच्छा है और शनै पन्था शनै पन्थाः, शनैः पर्वत लघनम्' की उक्ति को चरितार्थ करने वाला है । आवश्यकता घटाकर पाप को कम करना उसका लक्ष्य है ।

अणुव्रत और भोग वस्तुओ के परिमाण के नियम तभी सार्थक होंगे, जब अनर्थ दण्ड का परित्याग किया जाय । अनर्थ दण्ड छोडने वाला, अर्थ दण्ड की भी कुछ सीमा करता है । द्रव्य, क्षेत्र और काल से वह त्याग कर सकता है । बिना मतलब के हिंसादि पाप का सेवन अनर्थ दण्ड है । अनर्थ दण्ड से अणुव्रतो की मर्यादा सुरक्षित नही रहती । अतः आनन्द ने भी अनर्थ दण्ड का त्याग किया ।

अनर्थ दण्ड के प्रमुख कारण १. मोह २. अज्ञान तथा ३. प्रमाद है । भगवान महावीर ने अनर्थ दण्ड के चार प्रकार किए है जैसे (१) अपध्यान–दूसरे का नाश या बिगाड़ सोचना, ईर्ष्या करना, रोना, पीटना आदि ये अपध्यान है । सेनापति देश की रक्षा के लिए युद्ध की योजना बनावे, तो यह कार्य अर्थ दण्ड है, क्योकि उसके लिए वह आवश्यक है । लेकिन हमले की नीति से किसी पर बिना कारण आक्रमण करना अनर्थ दण्ड है । नौकरी छूटने या व्यवसाय मे हानि होने से आर्त्तभाव होना स्वाभाविक है । इस प्रकार अपध्यान के भी दो प्रकार हो जाते है–एक रौद्र रूप अपध्यान और दूसरा आर्त्तरूप अपध्यान । द्वेष या लोभवश किसी दूसरे पर आक्रमण करना, यह रौद्र रूप है । इष्ट वियोग से आर्त्त करना किसी गृहस्थ के यहाँ जाकर उसके दुःख को पुनः जागृत करना यह आर्त रूप अपध्यान है, यह अनर्थ दण्ड है । जहाँ मतलब हल नही होने वाला हो, वहाँ व्यर्थ विषाद करने से क्या लाभ ?

भगवान महावीर स्वामी ने मन को निराकुल स्थिति मे बनाने का उपदेश दिया है । हिंसा, चोरी आदि पाप का बाह्य रूप है । तो अपध्यान भीतरी रूप है। अपध्यान करने वाले का पाप नहीं दीख पड़ता; परन्तु इससे उसके आत्म गुण का हनन अवश्य होता है । वह मन को निर्मल नहीं रख सकता । धन, जन पर यदि तीव्र आसक्ति नही रहेगी, तो आर्त्त नही होगा । जहाँ अपध्यान रहेगा, वहाँ शुभध्यान नही रहेगा और शुभ भाव नही आएंगे तो बुरे भाव बढ़ेंगे । जब अपध्यान तीव्र होगा, तो आवेश में मनुष्य बडे-बडे कुकर्म भी कर डालेगा । वह उत्तेजित होकर विष-पान कर डाले या दूसरों की हत्या भी कर डाले तो कोई आश्चर्य नहीं । परीक्षा मे अनुत्तीर्ण या नौकरी से निकाले गए नवयुवक अपध्यान तथा महा आर्त्त अवस्था मे, रेल की पटरी पर गिरके या जल मे डूब कर आत्म हत्या कर लेते है । वियोग वाला आर्त्त के चक्कर में तथा सताया हुआ रौद्र भाव मे रह कर, अपना नाश पहले कर लेता है ।

अतएव प्रत्येक कल्याण-कामी मनुष्य का यह कर्तव्य होता है कि वह अपध्यान से होने वाला अनर्थ दण्ड छोड़ दे । अर्थ से होने वाले अपध्यान का

परित्याग अगर सभव न हो तो अनावश्यक अपध्यान का त्याग तो उसे करना ही चाहिए । अनर्थ मे मनुष्य अपध्यान का ताला लगाए रहता है । चोट खाया हुआ साप जैसे बदला लेने को आतुर रहता है उसी प्रकार मानव प्रति हिसा की भावना मे चक्कर काटते रहता है यह अज्ञानता है । अज्ञानी भूल जाता है कि प्रति हिसा से हिसा घटती नही पर बढती है ।

जैसे साधक को अपध्यान से बचना नितान्त आवश्यक है उसी प्रकार प्रमाद से बचना भी जरूरी है । अपध्यान से प्रमाद की सीमा विस्तृत है । बडे मच्छ के मुख मे अनेक छोटी मछलिया प्रवेश पाती रहती है और उसकी आँख पर बैठा तदुल यह सब तमाशा देखता है । वह अपध्यान के वश मे होकर सोचता है कि इसके मुख मे अनेक मछलिया आती और लौट जाती है । यह मच्छ बडा मूर्ख है । मेरा मुख इतना बडा हो तो एक को भी नही लौटने दू । इसी प्रकार मानव भी सोचता है और वाणी तथा मन से दुर्भाव करते रहता है । इस प्रकार के हवाई किलो से बेमतलब मन काला होता है। इन हवाई कल्पनाओ से मनुष्य तीव्र अशुभ भावनाओ मे बह जाता है, फिर उसकी सीमा नही रह पाती । अतः यह अनर्थ दण्ड है । आनन्द ने भगवान् महावीर के चरणो मे रह कर साधना की पण्डिताई सीख ली यद्यपि उसमे अध्ययन की बडी पण्डिताई नही थी । फिर भी पाप पर नियन्त्रण करने से वह पण्डित कहलाया कहा भी है– 'यस्तु क्रियावान्, पुरुषः स विद्वान् ।

वररुचि मे अध्ययन की पण्डिताई थी किन्तु साधना की पण्डिताई नही होने से वह महामन्त्री शकटार के प्रति प्रतिहिसा की बात सोचने लगा । दूसरो की आँख से काम करने वाले सम्राट नन्द ने शकठार को दण्ड देने का सोच लिया । शकटार ने भी कुटुम्ब को सर्वनाश से बचा लेना उचित समझा । क्यो कि एक जीवन नाश से अनेको का जीवन रक्षण श्रेयस्कर है । नित्य कर्म से निवृत्त होकर शकटार अपने पुत्र श्रीयक के साथ प्रातःकाल राजदरबार मे पहुँचे । उन्होने दिल से गम को भुला दिया क्योंकि गम करने से मनुष्य अपने को गवा देता है, अतः शकटार प्रसन्न मुख दिखाई पडता था । शकटार को देखते ही सम्राट नन्द ने उसकी ओर से अपना मुख फेर लिया । श्रीयक अपने प्राण-प्रिय पिता पर खडग चलाने को कडा हृदय नही कर पा रहा था, किन्तु शकटार ने वश की भलाई के लिए श्रीयक को अपने कर्तव्य -पालन का अवसर नहीं चूकने को कहा अतएव विवश होकर उसने भी दुःखित हृदय से महामन्त्री पर खडग चला दिया । इस रोमाचकारी दृश्य से सभा मे हाहाकार मच गया और सभा मडप मे रक्त की धारा बह चली । राज सभा की स्थिति स्वप्नवत् हो गई । सारी सभा मे सन्नाटा छा गया ।

लोगो ने शकटार को महामन्त्री के रूप मे भी देखा और आज उनकी यह दशा भी देखी । पुत्र भी ऐसा काम कर सकता है, इस घटना से लोग आश्चर्य-चकित थे । यों तो राजा का हृदय कठोर होता है । वह हजारो की लाशो पर चलकर भी कड़ा दण्ड देने में दुखानुभव नहीं करता, परन्तु इस समय शकटार की हत्या से नन्द की स्थिति बदल गई । वे चकित हो गए और सोचने लगे कि बात क्या है? राज सभा के लोग चिन्तित हो गए । राजा ने श्रीयक से महामन्त्री के वध का कारण पूछा । श्रीयक ने रुद्ध कण्ठ से कहा-"स्वामिन् ! यह सेवक का धर्म है कि मालिक जिसे पसन्द नहीं करे, सेवक के लिए वह प्यारी से प्यारी वस्तु भी छोड़ने योग्य होती है । आप के मन से जो उतर गया वह बाप होते हुए भी मेरा दुश्मन हे । महामन्त्री को देखकर आपने मुँह मोड़ लिया, इसलिए मैंने उचित समझा कि ऐसे व्यक्ति का जीना व्यर्थ है और यही सोच कर स्वामिभक्ति के नाते मैंने ऐसे व्यक्ति का वध कर दिया ।" श्रीयक की बातो से राजा के मन में पूर्ण विश्वास की स्थिति बन गई ।

यह लौकिक स्वामिभक्ति का हमारे सामने उदाहरण है । यदि इसी प्रकार भगवान् के प्रति लोगो की स्वामिभक्ति हो जाय, तो क्यों न मनुष्य प्यारी से प्यारी भौतिक वस्तु को छोड़ सकेगा । महावीर स्वामी ने आरम्भ परिग्रह और विषय कषाय से मुँह मोड़ लेने का उपदेश दिया । नजर मोड़कर राजा नन्द ने शकटार के लिए कुछ नही कहा था, मगर मुँह मोड़ लेने भर से शकटार ने जीवन का मोह छोड़ दिया। यद्यपि शकटार के जीवन त्याग के पीछे परिवार एवं वंश की भलाई की भावना थी फिर भी उसमें मोह का भाव है । यह मात्र लोक दृष्टि से प्रशंसनीय है ।

किन्तु जो मानव त्रिशलानन्दन वीर को प्रसन्न करने के लिए जगबन्धन से मुक्ति पाना चाहते हैं, उन्हें विषय-कषाय से मुख मोड़ना पड़ेगा । विषय त्याग के संग यदि साधना की रफ्तार धीमी भी रही तो जीवन निर्मल हो सकता है तथा आत्मा का रूप शुद्ध हो सकता है ।

देश की भौतिक रक्षा के लिए जैसे सैनिकों को भरती करना पड़ता है उसी प्रकार देश की नैतिकता व आध्यात्मिक सरक्षण के लिए साधुओं और स्वाध्यायियों की भी आवश्यकता है । देशवासियों के मन में जब तक धर्म के प्रति प्रेम नहीं जागेगा तब तक किसी प्रकार का सुधार स्थायी नही हो सकता । इसके लिए त्यागियों, विद्वानो और गुणवानों को अपेक्षित सहयोग देना पड़ेगा और इनकी सख्या तभी बढ़ सकती है,

जब गृहस्थ जन बच्चो मे अच्छे सस्कार डाले । ज्ञान के रक्षण की समस्या आज बढी हुई है अत गाँव-गाँव मे स्वाध्यायी त्यागी और परोपकारी जनो के निर्माण की जरूरत है । लोगो को सुमार्ग मे चलाने सुचरित्रवान बनाने साधना मार्ग पर चलने तथा सुदृष्टि देने के लिए ज्ञानवान् त्यागवीर सतो की आवश्यकता है । इस समस्या के सम्यग् समाधान के लिए धर्म प्रेमी गृहस्थो को आगे आना होगा। अगर स्वाध्याय के साथ धर्म का प्रचार हुआ तो लोक और परलोक दोनो का निर्माण हो सकता है।

---

[३५]

समय का मूल्य समझो

मनुष्य यदि अपने पुरुषार्थ को वढ़ाकर साधना के मार्ग में अग्रसर हो जाय तो ससार सागर को सरलता से पार कर सकता है। भगवान् महावीर स्वामी की वाणी, सूर्य की किरणो के समान असंख्य प्राणियो के लिए लाभदायक है। वाणी का काम प्रकाश देना है और आदमी का काम उसको ग्रहण करना है। जो उस दिव्य-ज्योति को ग्रहण करेगा, वह ज्योतिर्मय वन जायगा और जो उस प्रकाश का लाभ नही लेगा वह भ्रान्ति मे भटकता रहेगा। जैसे—सूर्य प्रकाश ग्रहण नही करने वाले पर नाराज नही होता फिर भी वह प्राणी अधकार से दिग् मूढ रहता है, वैसे ही भगवान् भी वाणी रूप प्रकाश नही लेने वाले पर रोष नही करते, केवल अज्ञान के कुप्रभाव से वह स्वय ही अपना अहित कर लेता है। अज्ञान यदि जनक है, तो कुमति या कुदृष्टि जननी है। जव तक कुमति और अज्ञान का सग रहेगा, उसकी संतति वढ़ती रहेगी।

अज्ञान को दूर करना मानव का प्रथम कर्तव्य है। इसके दूर नही होने तक मानव पाप-पुण्य को नही पहचान पायगा। वह अर्थ और अनर्थ से उत्पन्न पाप को भी नही समझ पायगा। शिकारी भी यदि अपने काम को अनर्थ समझे, तो बड़ी विडम्बना होगी, महाजन का बच्चा यदि वात-वात मे झुठ और धोखा का अर्थ समझले, तो दुर्भाग्य होगा। अज्ञानी अपनी अज्ञानता के कारण अनर्थ दण्ड को भी अर्थ दण्ड मान लेगा। फिर तो प्रयोजन से युक्त काम जो अर्थ दण्ड है और बिना प्रयोजन का अनर्थ दण्ड, इन दोनों मे कुछ भेद ही नही रहेगा।

प्रमाद से आचरित सभी कर्म अनर्थ दण्ड है। अपध्यान से भी अनर्थ दण्ड होता है। आवश्यक निद्रा अर्थ दण्ड है और अनावश्यक अनर्थ दण्ड। यह प्रमाद कृत अनर्थ है। नहाने, धोने और खाने-पीने आदि की आवश्यकता अर्थ दण्ड है, किन्तु यही सीमातीत अनावश्यक रूप मे अनर्थ दण्ड हो जाता है। यदि प्रमाद पर अकुश नही होगा, तो ज्ञान कैसे मिलेगा तथा साधना की वृद्धि कैसे होगी ?

आवश्यक प्रयोजन से की गई विकथा प्रमाद होकर भी अर्थ दण्ड है । पर बिना विवेक से की गई असम्बद्ध कथा अनर्थ का कारण बन जाती है । अनावश्यक बाता मे निन्दा तथा चुगली भी होगी । आवेगपूर्ण बातो से कई बार मारपीट और समाज मे विष तक प्रसारित हो जाता है । अतः व्रती को व्यर्थ की पटेलगिरी या गप्पबाजी मे नहीं पडना चाहिए । क्योंकि प्रमाद मे मनुष्य का मूल्यवान् समय व्यर्थ चला जाता है । बुद्धि की तुला पर यदि जीवन का तोल करे, तो मालूम पडेगा कि एक युवक के लिए सात घण्टे की निद्रा पर्याप्त है । आवश्यक निद्रा नही लेने से बदन मे सुस्ती और सिर मे भारीपन रहेगा परन्तु खाली समय मे या ही निद्रा मे पडे रहना यह अनावश्यक प्रमाद और मूर्खता की निशानी है । स्नान के समय कघी करना कपडे की तह लगाना और न जाने क्या क्या सजाने मे मनुष्य बहुत सा समय नष्ट कर डालता है । ताश, चौपड, शतरज आदि खेल मे समय नष्ट करना प्रमाद है । खेल की हार-जीत मे लडाई और बिना देखे घूमने मे हिंसा-वृद्धि प्रत्यक्ष है । इसमे मन बहलाने की अपेक्षा यदि कुछ आदमी एकत्र होकर धर्मचर्चा मे जुट जाएँ, तो कितना अच्छा रहे । विनोद के साथ वहा समय काटने का भी उत्तम जरिया होगा और राडन्तकरार से बचकर कुछ ज्ञान-वृद्धि की जा सकेगी । अतः अज्ञान घटाकर स्वाध्याय मे समय लगाना है तो प्रमाद को हटाना ही होगा ।

समाज म ऐसे कुटुम्ब भी मिलते है जिनके सदस्य नित्य स्वाध्याय करते है क्योंकि उन्होंने उसे जीवन का आवश्यक काम समझ लिया है । जैसे-खाना, पीना, शौच आदि नित्य कर्म के लिए हर एक को समय मिल जाता है, अतिथि सत्कार तथा ऐसे ही अन्य कार्यों के लिए भी समय मिलता है तो क्या स्वाध्याय के लिए समय नही मिलेगा ? यदि स्वाध्याय को नित्य का आवश्यक कर्म मान लिया जाय तो सहज ही प्रमाद घट सकेगा । आवश्यकता है स्वाध्याय को दैनिक आवश्यक सूचि मे नियमित स्थान देने की । फिर तो प्रमाद को अवसर ही नही मिलेगा । पूर्व काल के लोग अपने जीवन को नियमित रखते थे । हर एक कार्य के लिए उनका समय नियत होता था, जिससे प्रमाद को वहा अवसर ही नहीं मिल पाता था ।

बहुत से लोग दुर्व्यसन और नशेबाजी म प्रमाद को बढा लेते है जो अनर्थ दण्ड है । नदी, तालाब आदि मे अकारण पत्थर फेंकना वृक्ष के पत्ते बेमतलब नोच लेना, एव खाने-पीने की वस्तु को खुले रखना बीडी सिगरेट या चिलम आदि की आग को इधर-उधर डाल देना, ये सब अनर्थ दण्ड हैं । मनुष्य को इससे बचना चाहिए, जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है ।

कला, विज्ञान कानून राजनीति, अर्थ-शास्त्र और समाज शास्त्र आदि के पण्डित बन जाने पर भी अध्यात्म ज्ञान और जीवन निर्माण के लिए मनुष्य का सत्सग

एवं गुरु की आवश्यकता होती है । समूह मे एक व्यक्ति दूसरे का निमित्त बनता है, अतएव साधना के लिए संघ में रहना आवश्यक माना गया है । जो कौटुम्बिक जीवन के कार्यों से निवृत्त है, आर्थिक निश्चिन्तता और शारीरिक स्वस्थता वाला है, वह स्वाध्याय और साधना की ओर सहज बढ़ सकता है । अशान्त मन मे स्वाध्याय द्वारा ज्ञान नहीं बढ़ाया जा सकता । उसके लिये शान्तमन आवश्यक है ।

विलासी और लोभी मनुष्य प्रमाद तथा व्यावसायिक उधेड़ बुन में लगकर पैसे से पैसा बढ़ाने की चिन्ता में व्यस्त रहते हैं । बढ़े हुए अर्थ की स्थिति मे मनुष्य चैन से नींद भी नहीं निकाल सकता । कभी ऐसा सम्पन्न व्यक्ति लालसा से मन मोड़कर 'स्व-पर' के कल्याण साधन में लग जाय, तो सबका लाभ हो सकता है । करने योग्य समय में यदि सुकर्म नही किया गया, तो कब किया जावेगा ? दयालु सत्पुरुषों ने ठीक ही कहा है कि–

"एक सांस खाली मत खोयरे' खलक बीच,
कीचक कलक अंग धोयले तो धोयले ।

वीतराग का स्मरण और ध्यान तो मानव का प्रारम्भिक कार्य है । पाप का संचय नही हो और पवित्र संस्कार बने रहें, इसके लिए जितना भी समय मिले, मनुष्य को सत्स्मरण करते रहना चाहिए ।

स्थूल रूप से पाप की गणना १८ प्रकार से की गई है, जैसे– १. हिंसा, २. असत्य, ३. चोरी, ४. कुशील, ५. परिग्रह, ६. क्रोध, ७. मान, ८. माया, ९. लोभ, १०. राग, ११. द्वेष, १२. कलह, १३. मिथ्या आरोप, १४. चुगली, १५. निन्दा, १६. रति-अरति, १७. माया मृषा और १८. मिथ्या विश्वास । हर एक पाप को करने के भी ९ प्रकार हैं जैसे–हिंसा एक पाप है, मन, वचन, और काया से हिसा करना, करवाना और हिंसा होने पर खुशी मनाना–इस तरह हिसा के नौ प्रकार हो गये । हम देखते है कि मास खाने वाले अधिक है तथा प्राणियों को मार कर बेचने वाले कम, परन्तु मांस खाना और प्राणि वध करना दोनों में हिसा एवं महान् पाप है । मांस खाने वाला स्वयं हत्या नही करता, पर हिंसा कराने और हिंसाका अनुमोदन करने का पाप उसे भी लगता है ।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच बड़े पाप हैं । पाप कराने से भी कर्म का बंध ऐसे ही होता है जैसे स्वयं करने से। जानकारी प्राप्त होने तथा तदनुकूल आचरण करने से मानव पाप से बचता है । साधक साधु-संतो के पास कुछ अर्थ (धन) लेने नही जाता, वरन् जीवन सुधारने जाता है, ताकि उसका ज्ञान बढ़े, दर्शन बढ़े और चारित्रिक योग्यता बढ़े तथा जीवन-निर्माण की ओर उसकी प्रवृत्ति हो।

ज्ञान द्वारा मनुष्य अपना जीवन मगलमय बना लेता है । ज्ञान ग्रहण करने वाला ऊचा उठता है । महाराज श्रेणिक व्रत ग्रहण नही कर सका, फिर भी सत्सग से उसको सुदृष्टि प्राप्त हो गई । महावीर स्वामी सरीखे ज्ञान-विभूति को पाकर भी वह व्रत की दृष्टि से कोरा रहा और आनन्द ने व्रत ग्रहण कर जीवन सार्थक बना लिया। तो सत्पुरुषो के पास पहुँच कर जो गुण ग्रहण करता है वही ऊँचा उठता है। इस प्रकार ज्ञानादि ग्रहण करने से लौकिक भला होता है, फिर लोकोत्तर का क्या कहना ? लौकिक ज्ञान जीवन के व्यवहार की शिक्षा देता है उसके साथ जो लोकोत्तर ज्ञान भी प्राप्त कर लिया जाय तो जीवन की पूर्णत साधना हो सकती है।

शकटार की कथा इस प्रकार है—

श्रीयक ने महाराज नन्द से कहा कि मैंने महामन्त्री की गर्दन पर खड्ग चला कर, वह कार्य किया है, जो एक सेवक को करना चाहिए । श्रीयक की ओर नन्द विश्वास की दृष्टि से देखने लगे । राजा ने विवाह की तैयारी का हाल पूछा । तो श्रीयक ने प्रत्युत्तर मे कहा कि हम और हमारे पिताजी ने आपके सम्मान मे हथियार भेट करने की बात सोची थी, किन्तु आपकी दृष्टि बदल जाने से वह विचार सर्वथा स्थगित कर दिया है और अब तो पिताजी भी इस ससार मे नही रहे । यह सुन कर राजा सन्न रह गया । उसने सोचा कि दूतो के मुँह से सुनकर मैंने भ्रान्त विचार ग्रहण कर लिया और बडी भूल की जिसका भयकर परिणाम आज यह देखने को मिल रहा है । इससे यह शिक्षा मिलती है कि सुनी-सुनायी बातो पर सहसा विश्वास कर अमली रूप नही देना चाहिए । अन्यथा भ्रान्ति के कारण बडे से बडा अनर्थ हो सकता है ।

इस अप्रत्याशित घटना से सम्राट नन्द को महान् दुख हुआ मगर उससे अब क्या हो सकता था । अन्त मे सम्राट नन्द ने मन्त्रीपद के लिए श्रीयक को आमन्त्रित किया । श्रीयक सम्राट की सेवा मे उपस्थित होकर बोला कि राजन । मेरे बडे भाई अभी घर मे है। वे ही इस श्रेय और सम्मान के वास्तविक अधिकारी है । मन्त्रीपद लेने की बातचीत वे ही जाने । श्रीयक की इस विनयशीलता तथा भ्रातृ प्रेम का राज-सभा मे अद्भुत प्रभाव पडा । राजा के मन मे विश्वास हो गया कि यह सब अच्छे सस्कार के प्रभाव है । राजा ने सोचा कि इस कुलीन वश का बडा भाई भी अवश्य विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति होगा । स्थूलभद्र को राजसभा मे बुलाने का राजा ने आदेश दिया । राज-सभा के सभी सहधर्मी लोगो मे उल्लास का वातावरण छा गया । उनकी मनोभूमिका मे आदर का भाव आया । उनका साधर्मी वात्सल्य-प्रेम जागृत हो गया ।

धार्मिक वात्सल्य मे बदले की भावना नहीं रहती, किन्तु कौटुम्बिक वात्सल्य मे लेन-देन एव आदान-प्रदान का भाव रहता है । धार्मिक वत्सलता में जो राग का अणु रहता है, वह शुभ है, अतएव आत्मा को दुःख सागर में डुबोने वाला नही होकर, यह धर्म के अभिमुख कराने वाला होता है । धार्मिक वात्सल्य की मनोभूमिका में आत्म-सुधार की भावना रहती है । सीहा अनगार महावीर स्वामी के देहोत्सर्ग की आशंका से सिसक-सिसक कर रोने लगा । उस समय उसका वह आर्त्तध्यान शुभ था। उसमें गुरु पर धर्म, राग और जिन-शासन की लघुता न हो, यह शुभ भावना थी। धार्मिक वात्सल्य-वृद्धि शुभ है, इसको सम्यग्दर्शन का आचार माना गया है, क्योंकि वात्सल्य में सद्गुणो का आदर होने से नये साधकों को प्रेरणा मिलती है ।

समुद्र में विशाल सम्पदा है, वह रत्न-राशि को पेट में दाबे रहता है और सीपी घोंघों आदि को बाहर फेंकता है । इस पर किसी कवि ने उसको अविवेकी बतलाया है । वास्तव में यह ललकार समाज को है, जो गुणियों को भीतर दबाकर रखे और वाचालो को बाहर लावे । जो समाज गुणियो का आदर और वात्सल्य करना नही जानता, वह प्रशंसनीय नही कहलाता । ऐसी बेकद्री के लिए कवि कहता है—

"गुण ओगुण जिण गांव, सुणे न कोई सांभले ।
उण नगरी बिच रहणो नहीं भलो रे राजिया ।।"

वास्तव मे कवियों ने समुद्र को इसीलिए अविवेकी कहा है कि वह रत्न और सीप को बराबर नही देखता है । रत्नो को नीचे दाबे रखकर सीपियो को ऊपर लाता है । इसी तरह, जहा विद्वानो को दबाकर रखा जाय और वाचालों को ऊपर लाया जाय, यह अविवेक है ।

आज अनन्त चतुर्दशी का मगलमय पर्व है । सहस्रों वर्षों से यह पर्व सन्देश देता आ रहा हे कि हे मानव ! तू अनन्त आनन्द का संचय कर सकता है, धर्म का धागा वांध कर अपना कल्याण कर सकता है । आज से नव ऋतु का प्रारम्भ हो रहा है, अतः जीवन का दौर भी नवीन होना चाहिए । समय जड़ है । परिवर्तनशील होने से वह शीघ्र बदलता रहता है । उसमें एक-दूसरे के निमित्त से जो भी लेना चाहे, ले सकता है । ज्ञान-दर्शन और चारित्र की वृद्धि भी तभी हो सकती है, जब मनुष्य समय और पर्व समागम का मूल्य करे । समय के चले जाने पर कुछ नही होता । कहा भी है—"समय गए पुनि का पछताए ।"

द्रव्य निद्रा तो छुड़ाई जा सकती है, परन्तु भाव निद्रा सहज मे नही छूटती। द्रव्य निद्रा अचेत अवस्था मे रहती है, पर भाव निद्रा मे प्राणी हलचल मे होता है ।

एव दिमाग से काम लेता है । भाव निद्रा मे प्रमाद या अज्ञानता का जोर होता है। युवक, वृद्ध सभी विविध प्रकार की भौतिक योजनाए बनाते है किन्तु आत्म-साधना का समय आने पर उसे भविष्य के लिए छोडना चाहते है । यह भाव निद्रा का ही रूप है । ज्ञानी कहते है युवावस्था मे शारीरिक शक्ति जैसी बलवान् होती है वैसी आगे नही रहेगी, अतएव शुभ कर्म तत्काल कर लेना चाहिए । किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

जो काल करे सो आज हि कर, जो आज करे सो अब करले ।
जब चिडिया खेती चुग डारी, फिर पछताये क्या होवत है ।

गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वाछा नाहि ।
वर्तमान वर्ते सदा, सो ज्ञानी जग मा हि ।।

एक वृद्ध मुसलमान सज्जन की बात है । उसका ४५० रुपये मासिक कमाने वाला पुत्र रोगग्रस्त होकर चल बसा, जो एकमात्र बुडढे का सहारा था । मियाजी का गाव से भी अच्छा व्यवहार था । अतः उनको सान्त्वना देने को बहुत से लोग आए। एक जैन भाई भी आए । मियाजी ने कहा कि– "मै आप लोगो का आभार मानता हूँ कि आप लोग मुझे पुत्र-वियोग मे सान्त्वना देने आए हैं परन्तु वह तो वास्तव मे भगवान् की धरोहर थी । आपके पास किसी की धरोहर हो तो उसे राजी-खुशी या दुःख से भी लौटाना होता है । जमा रखने वाले ने अपनी वस्तु उठाली तो उसमे बुरा क्या मानना ? यह कितनी सुन्दर समझ की बात है । प्रिय वियोग में लोग जमीन-आसमान एक कर देते है, पर उससे क्या फल मिलता है । आखिर शान्त तो होना ही पडता है । जब मोह मे मनुष्य धैर्य नही खोदे, तभी वह आनन्द पा सकता है । जो मोह और अज्ञानता से दूर रहेगा, वह लोक और परलोक दोनो म कल्याण प्राप्त करेगा यह ध्रुव सिद्धान्त है ।

---

[३६]

प्रमाद जीवन का शत्रु है

जीवन में साधना के लिए मिलने वाले अमूल्य अवसर को व्यर्थ मे खोना बुद्धिमानी नहीं है । शास्त्र और सत्सग, साधना के लिए प्रेरणा देते है, मगर प्रमाद साधक को पीछे घसीट लेता है, जिसे शास्त्रों ने प्रमुख लुटेरा कहा है । सर्व विरति मार्ग के साधक साधु को भी प्रमाद नीचे गिरा देता है और जब इसका रूप उग्र हो जाता है, तब मानव आराधक के बदले विराधक बन जाता है । बंध के पाच कारणो मे प्रमाद भी प्रमुख है । इसके अनेक भेद किए जाते है, परन्तु दो मुख्य है—एक द्रव्य-प्रमाद और दूसरा भाव प्रमाद । खाने-पीने, नहाने-धोने, भोग-उपभोग और खेल-कूद-नाटक आदि देखने में जो समय पूरा किया जाता है वह द्रव्य प्रमाद है । मद्य, निद्रा, विकथा, नशा, मज्जन आदि द्रव्य प्रमाद के कारण है ।

नशे के सेवन से मति में जड़ता आती है, सोचने-समझने की शक्ति मंद पड़ जाती है, इन्द्रिया शिथिल हो जाती है और मनुष्य पराधीन हो जाता है । नशा, लेने के पहिले तथा बाद मे दोनों समय वह मन को शिथिल बना देता है । आजकल की अतिशय लोकप्रिय चाय भी एक नशा है और इसकी टेव पड़ जाने से भी व्रत में बाधा आती है ।

विषय-कषाय भाव प्रमाद के अन्तर्गत आते है । बीमारी की स्थिति में या आर्त्त दशा में क्रोध आने पर मनुष्य किसी को मार देता है या नहीं बोलने योग्य वचन बोलता है तथा अकर्तव्य का आचरण करता है । उस समय बाहर का जोश तो बढ़ ज़ाता है परन्तु भीतर का जोश ठण्डा पड़ जाता है। पूर्वाचार्यों ने कहा है—

"मज्ज विसय-कसाया, निद्दा विकहा य पंचमी भणिया ।
एए पंच पमाया, जीवा पाडंति संसारे ।।

जिसमे या जिसके कारण जीव भान भूले, वह प्रमाद है । शब्द शास्त्र मे कहा है कि– प्रकर्षेण माद्यति जीवो येन स प्रमाद: प्रमाद मे मनुष्य करणीय या अकरणीय का विवेक भूल जाता है उन्मत्त हो जाता है । विषय मे भी प्राणी मत्त हो जाता है तब साधना नहीं कर पाता । क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय रूप प्रमाद है । ये जीवन-निर्माण के बाधक तत्व है, जो विरति भाव को जागृत नही होने देते । सच्चरित्र का पालन नहीं करने देते । ये आत्मा के भान को भुला देते है और जीवन को लक्ष्यहीन बना देते है ।

रूप, गध, रस, स्पर्श और शब्द इन पाचो मे रतिमान होकर मानव हित अनहित को भूल जाता है । इन्द्रियो से रूपादि ग्रहण करना और उनमे आसक्त होना, ये दो भिन्न बाते है । सावधानी या विवेकपूर्वक इनका उपयोग प्रमाद नही है क्योंकि जीवन यात्रा मे पद-पद पर इनकी जरूरत रहती है और इन्द्रिय ज्ञान के लिये इनका उपयोग भी है । किसी वस्तु को देखना प्रमाद नहीं है परन्तु मनोहर रूप को घूर घूर कर देखना, उसमे भान भूल जाना, यह प्रमाद है । सुगन्ध अच्छी वस्तु है, किन्तु उसमे दृढ प्रीति होना या तन्मय होना, प्रमाद का रूप है । पेट भरने के लिए पदार्थों की कमी नही है परन्तु विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए मनुष्य लालायित रहता है । वह विलासिता मे फसकर पशु धन की बर्बादी पर ध्यान नही देता भले दूध-घी की कमी को दीर्घकाल तक सहन करना पडे । स्वाद और लोभ मनुष्य को स्वार्थान्ध बना देता है । यह कषायरूप आतरिक प्रमाद का ही परिणाम है ।

जो कथनीय नही हो तथा जो कथा-श्रोता को स्वभाव से विपरीत ले जाती हो वह विकथा है । विकथा के चार एव सात भेद किए गए है ।

१–स्त्री कथा (पुरुष के लिए) और पुरुष कथा (स्त्री के लिए)
२–भक्त कथा (खान-पान की कथा) ३–राज कथा ४–देश कथा ।

आत्मा को स्वभाव से हटाकर पर भाव में ले जाने वाली विकथा शात रस म रौद्र और श्रृगार का वीभत्स-रस उत्पन्न कर देती है । कथा मे करुण रस या शान्त रस की बातें हो तो अच्छी है । वाचक को कथा कहने में इतनी सतर्कता अवश्य रखनी चाहिए कि उसके द्वारा राग का शमन हो और मन मे शान्ति का अनुभव हो।

उपरोक्त चार विकथाओ से मोह जगता है किन्तु वैराग्य या ज्ञान का जागरण नहीं होता । धर्म-साधना और व्रत के समय राज्य आदि की कथा करना, प्रमाद को प्रश्रय देना है । जैसे मिठास के पीछे मनुष्य घास भी चूस लेता है और मिठास के लालच म सडी-गली चीज भी खा जाता है । खली के साथ पशु पुराने चारे को भी आसानी से खाता है । विकथा भी वैसा ही मीठा कचरा है ।

मीठी-मीठी बाते चल रही हो, उस समय मनुष्य दो मिनट के बदले आधा घटा रुक जाता है। प्रमाद के मीठे कचरे मे मनुष्य ज्ञानादि गुण की हानि नहीं समझ पाता। ज्ञानी यदि प्रमादी बन जायेगा, तो नवीन ज्ञान का रास्ता वन्द हो जायेगा और पुराना ज्ञान भूल बैठेगा। इस प्रकार प्रमादी बनकर मनुष्य अपने दर्शन और चारित्र को भी मलिन कर देता है। गृहस्थ का जीवन विविध प्रकार के प्रमादो मे उलझा होता है, अतः विवेकी पुरुष को उससे जितना बच सके, बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रमाद के मुख्य दो रूप है—एक मद प्रमाद और दूसरा तीव्र प्रमाद। तीव्र प्रमाद सुध-बुध भुला देता है उसमे मानव कर्तव्या-कर्तव्य भूल जाता है, किन्तु मन्द प्रमादी प्रमाद को तत्काल छोड़कर जागृत हो सकता है। मदप्रमादी प्रेरणापूर्वक साधना में लगाया जा सकता है। महा प्रमादी उठाकर बैठाने से भी स्थिर नही हो पाएगा और गिर-गिर जाएगा। स्वाध्याय एव भजन मे उसका मन नही लग पाता, वह घर के लोगो के लिए भी भारभूत होता है। वैसे प्रमादी के लिए एक कवि गृहिणी की भाषा में कहता है कि—

"पालो पाड़ो मति भगवान्, ऐसा कर्म हीण लोगा सुं।
पोर दिन आया सूतो ऊठे, आलस ने नहिं छोड़े।
ले बीड़ी मूडा में वो तो, ट्टी सामो दौड़े। पा. ।9।

प्रभुजी! ऐसे लोगो के मुझे पल्ले मत डालना जो देरी से सोकर पहर दिन चढ़े उठते है और उठते ही मुह मे बीड़ी सिगरेट लेकर टट्टी घर संभालते हैं। ऐसे अनावश्यक समय नष्ट करने वाले व्यक्तियों से क्या उम्मीद की जाय? ऐसे शोचनीय दशा वाले, उग्र प्रमादी जन अपना जीवन सार्थक नहीं बना सकेंगे। अत्यन्त प्रमादी हिम-अजगर भी समय पाकर जागृत हो जाते है तो अनन्त शक्तिवाला नर सत्कार्य में क्यो प्रमाद करता है। प्रमाद तो बुरे कर्म में करना चाहिए जो लाभकारी सिद्ध होगा।

आचारांग सूत्र मे भगवान् महावीर ने सतो से कहा कि "आज्ञा पालन में प्रमाद न करो और आज्ञा के बाहर उद्यम न करो" क्योंकि ये दोनो अवांछनीय है। आज्ञा के भीतर पुरुषार्थ और आज्ञा के बाहर आलस हितकर है। इससे जीवन का धन बचेगा। अनुभवी कवि ने ठीक ही कहा है—

"क्रोध न छोड़ा, लोभ न छोड़ा,
सत्य वचन क्यों छोड़ दिया?
'खालस' इक भगवान् भरोसे,
यह तन, मन, धन क्यों न छोड़ दिया?
प्रभु-नाम जपन क्यों छोड़ दिया?"

मानव मन का उलट चक्र सब गड्बडा देता है । वह लडाई करने अपशब्द बोलने एव क्रोध करने मे प्रमाद नही करता और उपदेश सुनकर त्याग, विराग का रग आ जाय, तो प्रमाद मे समय टालता है । यही उलटापन है, जिससे मनुष्य को बचना चाहिए । धार्मिक राजकीय व सामाजिक कार्यों मे उग्रता के समय यदि कुछ समय टालकर जवाब दिया जाय और बीच मे भगवान् का भजन कर लिया जाय, तो अच्छा होगा । उत्तेजना के समय किये जाने वाले काम मे प्रमाद करना अच्छा है, किन्तु जीवन को उन्नत बनाने वाल कामो मे प्रमाद से दूर रहना अत्यन्त आवश्यक है । ऐसे प्रमाद मे पडने वाला स्वय अपने को तथा दूसरो को भटका देता है । मनुष्य प्रमत्त बनकर मार्ग भूल जाता है और धोखा खाता है किन्तु सयम वाला धोखा नही खाता । ज्ञान पाकर बडे-बडे चक्रवर्तियो ने राज्य सिहासन और वैभव छोड दिए, क्योंकि उन्हे हिताहित का बोध हो गया था ।

शकटार प्रमाद के कारण ही विनाश के मुख मे चला गया । फिर भी अन्त समय मे प्रमाद छोडकर उसने परिवार को बचा लिया अन्यथा प्रमाद से सपरिवार नष्ट हो जाता । महाराज नन्द अपना पाप धोने के लिए या कृतज्ञतावश श्रीयक को मन्त्री बनाना चाहते थे पर श्रीयक ने अपने बडे भाई को आमन्त्रित करने को कहा जैसा कि कहा जा चुका है ।

उधर स्थूलभद्र रूपकोषा के घर उन्मत्त रूप से जीवन बिता रहा था । वह शिक्षा लेते-लेते विलास मे डूब गया था । स्थूलभद्र और रूपकोषा का जीवन ऐसा बन गया था जैसे काया और छाया । दोनो एक दूसरे को छोड नही सकते थे । राजा नन्द ने स्थूलभद्र के लिए मत्री पद देना स्वीकार किया । जब राज कर्मचारी रूपकोषा के घर स्थूलभद्र को बुलाने गये, तब रूप कोषा ने भी एक प्रजा के नाते राजा के बुलाने पर स्थूलभद्र को जाने का परामर्श दिया और शीघ्र लौट आने को निवेदन किया । रूपकोषा ने चलते समय मधुर शब्दो मे कहा कि बारह वर्ष का स्नेह न भूल जाइएगा ।

स्थूलभद्र भी स्वेच्छा से जाना नही चाहता था किन्तु वह राजाज्ञा एव रूपकोषा के परामर्श को नही टाल सका अतः राज दरबार मे उपस्थित हुआ । स्थूलभद्र को देखते ही सभासद प्रसन्न हो गए । राजा नन्द ने भी कहा कि महामन्त्री के असामयिक अवसान के दुःख को दूर करो और मन्त्री का पद ग्रहण कर उसे खूबी के साथ निभाओ ।

कभी कभी साधारण बात मन को जागृत कर देती है । स्थूलभद्र सोचने लगा कि जिस कुर्सी ने पिता के प्राण लिए, उस अनर्थ मूलक कुर्सी को मै ग्रहण करू

तो मेरा भी वही हाल होगा । उसने राजा से सोचने के लिए कुछ समय मांगा और चिन्तन किया । चिन्तन के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कुर्सी के ही फेर ने मनुष्य को आज तक भुलाया है और धोखा दिया है । यदि मुझे मन्त्री बनना है तो भगवान् का ही क्यो न बनू ?

स्थूलभद्र ने राजा नन्द को प्रत्युत्तर दिया कि राजन् ! मेरा विचार आत्म साधना का है । अब मै भोग को रोग और धन-दारा को कारा मानता हूँ । अतएव मैं मन्त्रीपद के बन्धन मे बंधना नहीं चाहता । कृपया आप किसी अन्य को इस पद पर नियुक्त कर देवे । लोगों ने स्थूलभद्र को मूर्ख समझा और उसे समझाया कि उत्तराधिकार के रूप मे मन्त्रीपद मिल रहा है, अतः उसे ठुकराना योग्य नही है । किन्तु स्थूलभद्र ने सत्य को समझ लिया था तथा विरतिमार्ग का पथिक बनने का संकल्प भी कर लिया था । उसके दृढ़ निश्चय को देखकर लोग अधिक दवाव नहीं डाल सके । इससे प्रमाणित होता है कि महान् कार्य करने के लिए प्रमाद-त्याग आवश्यक है । जो विषय-कषाय का त्याग करेगा वह अपना उभयलोक सुधार लेगा, यह सुनिश्चित है ।

---

[३७]

वध का कारण और मनोजय

ससार मे वध के प्रमुख दो कारण है-एक अज्ञान और दूसरा मोह । अन्य विभिन्न कारण इसमे अन्तर्निहित हो जाते है । अज्ञान से मिथ्यात्व आता है और विषय-कषाय एव प्रमाद मोह मे गर्भित हो जाते है । अज्ञान तथा मोह से ससार के दुःख सागर मे डूबा हुआ मानव जब ज्ञान का प्रकाश पा लेता है तो प्रमाद छूट जाता है और आत्मा ऊर्ध्वमुखी हो जाती है । अज्ञान और प्रमाद पुरुषार्थ से दूर हो सकते है । ये मानव की निष्क्रियता के दुष्परिणाम है । यदि योग्य पुरुषार्थ से काम नहीं लिया गया, तो कोई ऐसी शक्ति नही है जो आपके प्रमाद को दूर कर सके । जैसे काई, शैवाल आदि जलाशय के जल की सतह को ढक लेते है किन्तु वायु के झोके से जब शैवाल हट जाते है, तब जल का खुला भाग प्रगट हो जाता है । इसी प्रकार यदि मनुष्य ज्ञान की आधी चलावे और पुरुषार्थ करे, तो अज्ञान एव मोह की काई दूर हो सकती है ।

आनन्द श्रावक ने जीवन शुद्धि का सकल्प लेकर प्रभु महावीर के चरणो मे नियम लिया कि मै प्रमाद द्वारा होने वाले अनर्थ दण्ड से अलग रहूगा तथा विषय कषाय के वेग मे कोई काम नही करूगा । साथ ही मन और आत्मा को उलझाने वाली विकथा से यथा शक्य दूर रहूगा । इस तरह नियमों के घेरे मे मन को डालकर उसने अपने को सयत बनाया ।

वह जानता है कि मनुष्य के जीवन मे यदि प्रमाद ने प्रश्रय पा लिया तो वह त्याज्य को ग्राह्य और ग्राह्य को छोडने योग्य समझ लेगा । प्रमाद से आचरित अनेक अनर्थ उसके द्वारा हो सकते है तथा असत्य वचन बोलने मे भी वह नहीं हिचकिचाएगा । किसी को चोर, बेईमान आदि कह देगा तथा अकारण सबसे द्वेष और वैर बढा लेगा । इस परिस्थिति मे आदमी नही बदला मगर बात बिलकुल बदल गई ।

आवेग मे कोई भले आदमी को नालायक आदि कटु वचन कह देता है, यह वाणी का प्रमाद है । कषाय के प्रमाद को मस्तक मे धारण कर मानव वाणी तथा व्यवहार दोनो को असयत बना लेता है । क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय तथा शब्द स्पर्शादि विषय रूप प्रमाद के कीटाणु साधक के मन में घुसकर उसे भटका देते है और धीरे-धीरे लक्ष्य से गिरा देते है । अतः साधक को चाहिये कि वह सावधानीपूर्वक दैनिक व्यवहार करे और आवेश में कोई काम नही करे । आवेश मे आकर किया हुआ कोई भी काम स्व पर का हितकारक नही होता । पागल की बातो को जैसे हम बुरी नही मानते, वैसे क्रोधादि से पराधीन व्यक्ति की बातों को भी बुरी नही मानना चाहिए, क्योकि वह परवश एवं दया का पात्र है । शान्त चित्त वाला कभी ऐसे असंयत या मदमत्त की बातो को बुरी नही मानता । विषय कषाय के वेग से स्वय बचते हुए दूसरे के ऊपर भी दया दिखाने मे संकोच नही करना चाहिए, जो कि उसका शिकार बन गया है । इस प्रकार प्रमाद से उत्पन्न अनर्थ से बचाव हो सकता है ।

जब द्रव्य प्रमाद होता है, तो वह हिसा का कारण होता है । रात को या अन्धेरे मे खाना, हिसात्मक है, क्योंकि उस समय खाद्य वस्तु स्पष्ट देखने मे नही आती । पानी छानते समय कपड़े का ध्यान नही रखना प्रमाद है और बिना छाने पानी पी लेना अनर्थ दण्ड है । प्रमाद के कारण मनुष्य वस्तु बिगाड़ने के साथ ही साथ शारीरिक हानि भी करते है । दीवाली के लिए रात को घर झाड़ना, सफाई करना आदि अनर्थ दण्ड हैं । बिना ढके पानी आदि रखना भी अनर्थ दण्ड है ।

विवेकी साधक को गृहस्थ-जीवन मे पद-पद पर सावधानी की आवश्यकता है। आटे, दाल, मिर्च आदि मे कीटाणु लग जाते है । दूध में शक्कर डालकर एक खुली कटोरी मे उसे रख दिया जाय तो जंतु पड़ सकते है । कण्डे तथा लकड़ी हर एक घर मे जलाने पड़ते है परन्तु बिना देखे यदि इनका उपयोग किया जाय तो अनेक जीव जन्तुओ की हिसा हो सकती है जो कि अनर्थ दण्ड हे । धर्म सभा मे जहां कहीं प्रमाद वश थूक देना एव विषय कषाय रूप अपध्यान करना भी अनर्थ दण्ड है। गृहस्थ जीवन मे हर वस्तु का विवेक से उपयोग किया जाय तो जीव हिसा से बचना कोई कठिन नही है ।

मनुष्य का प्रमाद आज इतना बढ़ गया है कि तन का भरण पोषण भी शायद कुछ दिनो के बाद भूलने जैसा हो जाय, तो कुछ आश्चर्य नही । लोग प्रमाद वश घर के आस पास मल डालते तथा गन्दी वस्तुए इकठ्ठी करते है । इससे कीटाणु बनकर विविध रोगो का प्रसार होता है तथा पड़ोसियों से आपसी सम्बन्ध

बिगडते है । इसी तरह जलाशय और सार्वजनिक स्थानों मे भी प्रमाद से ही गन्दगी बढती है । लोग मलेरिया उन्मूलन आन्दोलन चलाते जाते हैं पर रोग वृद्धि के कारण-भूत प्रमाद को नही घटाते । घर और गली म नाली सडती रहे वैसी स्थिति मे दवा छिडकने मात्र से क्या हो सकता है ? अतः बुराइयो तथा प्रमाद को हटाकर उसके स्थान मे अच्छाई और पौरुष को बढाना होगा, अन्यथा खाली जगह देखकर प्रमाद डेरा डाल देगा । अगर किसी को हटाना है तो निश्चय ही दूसरे को वहां बैठाना होगा । कहा भी है–' खाली मन शैतान का घर ।

सूने मन मे विकार घर कर लेते है । मन के सूनेपन को हटाने के लिए इन्द्रियो को सत्कार्य मे, मन को प्रभु स्मरण, धर्म ध्यान और शुभ चिन्तन म तथा वाणी को स्वाध्याय मे लगाया जाय तो प्रमाद को स्थान नही मिलेगा । इन्द्रिया को अच्छे कामा म, इधर-उधर भटकने वाले मन को सद् अध्यवसाया मे तथा वाणी को स्वाध्याय म लगाने से उसकी बेकारी का कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा । धर्म साधना करने से साधक का बेकार मन काम मे लग जाता और शारीरिक सुस्ती भाग जाती है । प्रवचन धर्म कथा आदि सुनने से श्रोता की सुस्ती भाग जाती है । चित्त वृत्ति की एकाग्रता से कभी-कभी भयकर व्याधिया भी मिट जाती है क्योकि मन के शुभ अध्यवसाया मे लग जाने के कारण रोग की कल्पना मन मे नही आएगी । प्रमाद को दूर करने के लिए शारीरिक और वाचिक सयम कर लेने से मन आसानी स ध्यान मे लग सकता है । भगवान के भजन मे मन को लगाने के लिए शारीरिक और वाचिक सयम चाहिए । पवित्र साधना एवं पुरुषार्थ के बिना यह समव नही है । बीज का अकुरित होने का स्वभाव है पर किसी कोठी या पात्र मे बद रखने से अकुर नही निकलता । इसके लिये किसी छोटे मिटटी के पात्र मे बीज डालकर खाद पानी व धूप उसे दिया जाय तो अकुर निकल आएगा । जैसे वस्तु म मूल रूप से अकुरित होने का गुण होते हुए भी निमित्त के बिना वह बाहर प्रकट नही होता उसी प्रकार आत्मिक शक्तियो को प्रगट करने के लिए भी योग्य निमित्त चाहिए । निमित्त पुरुषार्थ को गतिशील करता है । कभी-कभी परिपक्व क्षण म साधारण सा निमित्त पाकर भी वह गुण विकसित हो जाता है जो बडे-बडे उपदेश से भी समव नहीं होता ।

उदाहरण स्थूलभद्र का हमारे सामने है । स्थूलभद्र को यदि शिक्षा देकर कोई रूपकोशा का सग छुडाना चाहता, तो सभव है छूटता या नहीं परन्तु यह भान होते ही कि जिस मन्त्री पद ने पिता की जान ले ली यह सुख का मूल नहीं, दुःख का कारण है स्थूलभद्र ने राजा के अधीन रहना स्वीकार नहीं किया । लोकोक्ति भी प्रचलित है– जरा रहना वहां हाजी हाजी कहना । उसने निश्चय किया कि उस

त्याग का मार्ग लेना है, राग का नही, क्योंकि राग की आदि अच्छी है परिणाम अच्छा नही; जबकि त्याग के मार्ग की आदि कठोर है किन्तु उसका परिणाम अच्छा है। बुढापे के लिए धन सचय करना सभी गृहस्थ ठीक मानते हैं। मकान किराए पर देना, पेन्शन हेतु दो वर्ष अधिक सेवा करना, ब्याज पर रुपया लगाना आदि से व्यवस्था जमाते है। इसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग में भविष्य की शान्ति के लिए मनुष्य सत्कर्म रूपी धन संचित करने की व्यवस्था की बात क्यो नही सोचता।

श्रीयक को मन्त्री पद के लिए योग्य बताकर स्थूलभद्र त्याग मार्ग ग्रहण करता है। राजा, प्रजा सभी उसे मन्त्री पद ग्रहण करने के लिए आग्रह करते है परन्तु बदले हुए मन को कौन मोड़ सकता है । स्थूलभद्र ने वैराग्य मार्ग ग्रहण कर लिया। दृढ़ निश्चयी मूल वस्तुतत्व को समझ लेने वाले अपने निश्चय पर अडिग रहते हैं। रूपकोषा को जब पता चला कि उसका प्रेमी मन्त्रीपद को छोड़कर त्याग का मार्ग ग्रहण कर रहा है तब उसका उमंग और उत्साह गल गया, जैसे हिमपात से कमल गल जाता है। मगर क्या करती, कोई चारा नही था, क्योंकि शूरवीर एव संकल्प बली व्यक्ति की वाणी हाथी के दांत के समान परिपक्व होने पर ही बाहर निकलती है। वे फिर उसे भीतर नही मोड़ सकते। वे कछुए की गर्दन के समान अपनी वाणी को बार-बार बाहर भीतर नही करते। कहा भी है—"दंति दन्त समान हि, महतां निर्गतं वचः।" परिपक्व वाणी की तुलना परिपक्वावस्था के हाथी दांत से की गई है।

बैताल कवि ने मर्द के लक्षण बताते हुए बड़े ही सुन्दर ढग से अपनी बात कही है—

मर्द करे उपकार , मर्द जग मे यश लावे।
मर्द देत अरु लेत, मर्द खावे औ खिलावे।।

परे मर्द में भीड़, मर्द को मर्द छुड़ावे।
मर्द नवावे सीस, मर्द तलवार बजावे।।

सुजान नर जाणों तुम्हे, सुख दुख साथी दर्द के।
'बैताल' कहे विक्रम सुनो, ये लच्छन हैं मर्द के।।

इसके विपरीत चलने वाले का पुरुषों के लिए भी बैताल ने चुभती बात कही है—

पहर ऊजला झाबा, पाग ऊची सिर बाधे।

घर मे तेल न नून, प्रीत राजा सा साधे ।।
पनघट घाट बैठ, त्रियामुख रोटिया लेखे ।
बात मे गढ लेय जुद्ध–नयणा नहि दीठे ।।

सुजाण नर जाणों तुम्हे, सुख दुख साखी दर्द के ।
बेताल' कहे विक्रम सुनो ए लच्छन का–पुरुष के ।।

जहा पौरुष और साहस नही हो, केवल वाणी की शूरता हो, वह सम्माननीय मर्द नही होता । घर मे बैठे रहने से कोई शूरवीर नही बनता । युद्ध भूमि मे या अवसर की जगह साहस दिखाने वाला ही खरा वीर कहलाता है ।

स्थूलभद्र सकल्प बली थे । साथ ही उनमे काम करने की दृढता थी । जब जिधर मुडे पूरे तन मन की एकता के साथ मुडे । अन्त मे उन्हे त्याग मार्ग के लिए त्रिवेणी की तरह तीन निमित्त मिल गये, रूपकोषा का सग, शकटार की मृत्यु और महामुनि सम्भूति विजय का आगमन व उनका सत्सग । परिग्रह मे एक का नाश देखकर फिर उसे दूसरा ग्रहण करना चाहे, तो यह अज्ञानता और अविवेक का ही कार्य कहा जायेगा । जैसे एक पतिगा दीपक मे जलकर राख हो गया और फिर दूसरा उसमे उडकर जाना चाहे तो यह अज्ञानता की ही निशानी है । जो प्राणी अपने विवेक को जगाकर अज्ञानता को दूर भगाएगा, वह उभय लोक मे कल्याण का भागी होगा ।

---

[३८]

धर्म साधना और स्वाध्याय

अनन्त काल से पाप जल में गोते खाने वाले ससारी-जीवों को भगवान् महावीर ने पार पाने का मार्ग दर्शाया । उन्होने कहा—इस विशाल भवसागर में जो साधक सावधानी नही रखता, उसका जीवन खतरे से गुजरता है । नाव की मजबूती और नाविक की तत्परता के बाद भी पार जाने के लिए बीच में विश्राम-स्थल द्वीप अपेक्षित रहता है, जहां नाविक अपनी और नाव की देखभाल कर आगे का मार्ग निश्चित करता है । शास्त्र में विचार आता है कि—संसार सागर में ऐसा द्वीप कौन है, जिस पर स्थिर होकर टिका जा सके ? केशी श्रमण के पूछने पर गौतम ने कहा— वह धर्म द्वीप है, जो निराला, अविनाशी और पर उपकारी है । सागर का द्वीप कभी जल में डूब भी सकता है किन्तु यह कभी डूबने वाला नही है । यह साधक को दोनों ओर से सुरक्षित रखता है । मै भी उसी के सहारे निर्भय टिका हूं । जैसा कि शास्त्र मे कहा है—

जरा मरण वेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ।।

जरा और मरण के वेग से बहने वाले प्राणियो के लिये धर्म द्वीप है । धर्म की चार विशेषताएं है—१. प्रतिष्ठा, २. गति, ३. शरण, ४. द्वीप । धर्म का सहारा लेने से प्रतिष्ठा प्राप्त होती है । अतः इसे प्रतिष्ठा कहा गया है । "स्वरूपे गमन गतिः" अर्थात् स्वरूप की ओर गमन के कारण इसे गति कहा है । शरण से तात्पर्य रक्षक है और राग-द्वेष के रूप दोनों बधो से बचाने के कारण इसको द्वीप भी कहते है । द्वीप समुद्र से ऊंचा मस्तक किए खड़ा रहता है । वह मूक भाषा मे मानो कहता है कि मेरी सेवा ग्रहण करो । बचना हो तो मेरी शरण में आ जाओ । जिस प्रकार आकाश अपनी विशालता से चिड़िया, गरुड़, पतगा और अतरिक्ष यात्री सबको गति

देता है, उसी प्रकार धर्म भी सब की रक्षा करता है । कोई भिखारी, साधारण गृहस्थ, राजा, साधु, श्रीमत और वीतराग हो धर्म सभी को गति देता है किन्तु धर्म गगन मे स्वैर विहार करने वाले तो वीतराग अनगार ही है । जो क्षण पल मे सारे विश्व की ज्ञान यात्रा कर लेते है ।

जब तक आत्मशक्ति का विकास नही हो जाय तब तक यह आश्चर्य लगने वाली वस्तु प्रतीत होगी । मनोबल एव अनुभव की कमी से ऐसा होना कुछ असभव नहीं, मगर यह सर्वथा सत्य है । आज का मानव भौतिक साधनो की वृद्धि और जोडे हुए के रक्षण की चिन्ता कर रहा है किन्तु अनन्तकाल के सचित ज्ञान कोष को बेहोश होकर लुटा रहा है । भला । इससे बढकर आश्चर्य की बात और क्या होगी कि हम भौतिक वस्तुओ को अपना समझ कर उसके लिए तो चिन्ता करते है पर आत्म-धन की चिन्ता नहीं करते । भूमिगत खजाने की खोज के पीछे हम मन-कोष को भूल से गए है । वस्तुतः मानव इस आन्तरिक धन ज्ञान प्रकाश की चिन्ता न कर अपनी मूर्खता का इजहार कर रहा है ।

जैसे दरिया मे ककर या पत्थर पटका जाय तो एक लहर उठती है जो किनारे जाकर टकराती है वैसे ही हमारी वाणी जब प्रसारित होती है तो परमाणुओ मे लहर उठती और वह सारे लोक मे फैल जाती है । शास्त्र के इस सिद्धान्त पर वैज्ञानिको ने खोज की और रेडियो का आविष्कार किया । आज घर घर म रेडियो का कार्यक्रम सुनकर आप फूले नहीं समाते है और विज्ञान की भूरि भूरि प्रशसा करते है । जीवन मे आरभ और परिग्रह को सीमित करें तथा ज्ञान का सचय करें तो आत्मिक प्रकाश से जीवन झकृत हो उठेगा और बिना रेडियो, टेलीविजन के ही सारा विश्व हस्तामलक की तरह दिखाई देगा ।

आवश्यकतावश होने वाली हिसा से यदि आप अपने को बचा नहीं सकते, तो अकारण होने वाले पाप कर्मों से तो अपने को जरूर बचाइए । जो अनावश्यक पाप नहीं छोड सकता, वह अर्थ दण्ड स उत्पन्न पाप कैसे घटा सकेगा ? आनन्द ने नियम के द्वारा अपने को इन सबसे बचा लिया उसे भगवान् की सगति का लाभ मिला फिर भला वह कैसे अपने को निर्मल नही कर लेता ? जैसे निर्मल जल से वस्त्र की शुद्धि होती है उसी प्रकार सतसग से जीवन पवित्र होता है । निर्मलता शीतलता और तृषा निवारण जल का काम है । सत्पुरुषो का सतसग भी ऐसे ही त्रितापहारी है । वह ज्ञान के द्वारा मन के मल को दूर करता सन्तोष स तृष्णा की प्यास मिटाता और समता व शान्ति से क्रोध की ताप दूर करता है । काम एव लाभ की आग कभी शान्त हान वाली नहा । जैसा कि श्रीकृष्ण ने भी कहा है–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव, भूय एवाभिव वर्धते ।।

आग में घी और पुआल डालने से वह बढ़ती है, शान्त नही होती । ऐसे ही काम लोभ की अग्नि भी भोग एवं कामना से शान्त नही होती बल्कि अधिक प्रज्वलित होती है। मनुष्य यदि शान्ति चाहता है तो उसे कामना की आग को सीमा से अधिक नही बढ़ने देना चाहिए । धर्म-रूपी प्रसाद के दो विशाल स्तम्भ है—१. संघ और दूसरा श्रुत। यदि इन दो का सहारा नही रहेगा, तो धर्म नही टिकेगा और धर्म अगर नही टिका, तो निश्चय ही यह धरा भी नही टिकेगी। किसी ने ठीक ही कहा है—

"हैं उसे कहते धरम, जिस पर टिकी है यह धरा ।"

साधु-साध्वी एवं श्रुत का सहारा भोजन और हवा की तरह समाज के लिए उपादेय है । भोजन से भी अधिक महत्व हवा का है, जिसके बिना जीवन धारण असम्भव है । भोजन और हवा इन दोनो में प्राण रक्षण की शक्ति है । यह तो शरीर धारण सम्बन्धी द्रव्य जीवन की बात हुई । वैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र का रक्षण यह भाव जीवन की बात है । सत्सग भोजन की खुराक के समान है । इसके वाद श्रुत ज्ञान का महत्व है । श्रुताराधन वायु सेवन की तरह है । दूषित वायु के सेवन से काम नही चलेगा । ऑक्सीजन वायु से मनुष्य दीर्घायु बनता है । और दूषित गैस के सेवन से आयु क्षीण होती है । कल-कारखानों मे काम करने वाले मजदूर इसी दूषित वायु सेवन के कारण क्षीण काय और अल्प आयु वाले होते है ।

आध्यात्मिक जगत मे जड़वाद नास्तिकवाद और भौतिकवाद की दूषित हवा है । वहां यदि श्रुत ज्ञान द्वारा शुद्ध हवा नही मिली, तो आध्यात्मिक जीवन आगे नही बढ़ सकेगा । अतएव श्रुत ज्ञान को मजबूत बनाना चाहिए । मन का उत्साह और श्रद्धा, श्रुत के अभाव मे पानी के बुदबुदे के समान विलीन हो जायेंगे । यदि कुछ भाई इस दशा मे प्रेरक बनें, तो आध्यात्मिक जीवन सुधर सकता है । जीवन बनाने के लिए मन मे आई हुई शुभ लहरों-उमंगो को स्थायी रूप देने का प्रयत्न किया जाय, तो विशेष लाभ हो सकता है । इसके लिए धर्म के द्वीप को सुरक्षित रखने के लिए इस प्रकार की प्रेरणा सतत होती रहे, यह आवश्यक है । प्रार्थना तथा स्वाध्याय का रूप चलता रहे, तो उत्तम है । हर एक सघ को दीपक बनकर दूसरो को ज्ञान की ज्योति देने का काम करना चाहिए । यदि दीपक मे तेल और बत्ती है किन्तु लौ बुझ गई है तो जलता हुआ दूसरा दीपक उसे जला सकता है । जीवन में विचार एव प्रेम का तेल और बुद्धि की बात है परन्तु ज्ञान की रोशनी जल नही रही है ।

इसलिए दीपक दीपक की महिमा नही पाता । वहा सद्‌गुरु रूप दीप के सग की आवश्यकता है ।

धर्म सरक्षण के लिए श्रुत धर्म की आराधना निरन्तर की जानी चाहिए । श्रुत धर्म वह ताकत है, जो वासना तथा भौतिकवाद की गति को मोड कर शान्तता और स्थिरता लाने का काम करता है । इससे हमारे पूर्वजो का भूतकाल मे जीवन बना और हमारा भविष्य भी बनेगा । शास्त्रो का लेख वाचन करके हमारे पूर्वजो ने अपने मन को स्थिर कर शान्त बनाया । उनके मन मे ज्ञान की ज्योति जली । समाज के भ्रान्त विचार रूप कचरे को उन ने दूर करने की चेष्टा की जो मानव जीवन को असस्कृत बनाए हुए था । ज्ञान की ज्योति जगमगाने से जीवन मे मोड आता है और व्यक्तित्व दमकता है । यह भ्रम ठीक नही कि गृहस्थ ज्ञानियो के वर्ग के बढने से साधुओ की कद्र कम हो जायेगी । विद्वान ही विद्वत्ता की कद्र करेगे । सामान्य श्रोता कथा कहानी या गायन मे अधिक प्रसन्नता मानता है किन्तु वक्ता मुनि की विद्वता तथा योग्यता की खरी इज्जत विद्वान श्रावक ही भली भाति कर सकते है । श्रुत ज्ञान जीवन का प्रमुख सहारा है । इतिहास साक्षी है कि श्रुतबल स्वाध्याय तथा ज्ञान ने लाखो मनुष्यो के जीवन को सुधार दिया है । वास्तव मे जिन्दगी उसी की सफल है जिसने अपना जीवन ऊचा उठाया । किसी कवि ने ठीक ही कहा

'हस के दुनिया मे मरा कोई कोई रोके मरा
जिन्दगी पायी मगर उसने जो कुछ होके मरा ।

युवको का नारा होना चाहिए कि—

"हम करके नित स्वाध्याय ज्ञान की ज्योति जगाए गे ।
अज्ञान हृदय का धोकर के उज्ज्वल हो जाए गे ।।

युवक सघ की सामूहिक आवाज होनी चाहिए कि हम धर्म ध्वज को कभी भी नीचा नहीं होने देंगे तथा नित स्वाध्याय करके ज्ञान की ज्योति जगाएगे, ऐसे सकल्प लेने वाले अनेक साधक हो गए है । श्रुत ज्ञान के बल से शासन को बल मिला । धन की दृष्टि से अनेको बने हुए बिगडे और बिगडे हुए बन गए, इसके उदाहरण भरे पडे है । धन को ताले मे बन्द करो या जमीन मे गाड दो, फिर भी वह नष्ट होगा, अनेक बडे-बडे बैक फेल हो गए । जमीन मे भी कभी-कभी फसल नही आती । ब्याज मे लगा धन भी नष्ट हो जाता है । अतएव उसकी चिन्ता व्यर्थ है क्योकि वह नाशवान् है और लक्ष्मी चपला है । अत: श्रुत [illegible] चिन्ता करो जो जीवन के लिए परम धन है ।

कहावत है कि—आप अपना धन गवाते हैं तो कुछ नही गवाते, कारण धन आता और जाता है । स्वास्थ्य गवाते है तो कुछ गवाते है क्योंकि सब कुछ स्वास्थ्य पर ही निर्भर है और यदि ज्ञान या चरित्र गवाते है, तो सब कुछ गया समझिये । जैसे किसी वृक्ष को काट दे तो वह नष्ट हो जाता है । फल, फूल और डालिया गईं तो कोई खास हानि नही, क्योंकि पत्ते, एव फल फिर लग जाएंगे । किन्तु मूल काट देने से सब वेकार है । ऐसे धर्म या चारित्र मूल हैं जिसे बचाना आवश्यक है ।

जितना श्रुत बल घटेगा, उतना ही चारित्र वल कमजोर होगा । आज श्रद्धा बल को तो विज्ञान ने छीन लिया है, उस पर आक्रमण कर दिया है । अतः फिर से उसे जागृत कीजिए । जीवन श्रुत वल से ही पुष्ट हो सकता है । श्रुत बल से या ज्ञान बल से साधारण मानव ही नही अच्छे-अच्छे सत को भी प्रेरणा मिलेगी । उपाश्रय या मन्दिर को सि र्फ इने गिने वृद्ध और कार्य निवृत्त पुरुषो के लिए ही सुरक्षित न रखिये, किन्तु सर्वसाधारण उपासकों के लिए उनको ज्ञान एव साधना का केन्द्र बनाया जाना चाहिए । अन्यथा वहा धूल जमेगी । उपाश्रय और मन्दिरो मे सामूहिक श्रुत चिन्तन और आत्म-साधन होना चाहिए । यदि श्रुतवल का आधार लेकर चारित्रबल मजबूत बनाया गया तो, साधक अपना लोक एव परलोक दोनो को कल्याणकारी बना सकेगा ।

---

[३९]

निश्चय और व्यवहार

भगवान् महावीर स्वामी ने केवल लोगो को ही कल्याण का सन्देश नही दिया किन्तु अपने जीवन मे भी आत्म-शुद्धि का पाठ अपनाया । उनकी कथनी और करनी मे एकरूपता थी । यही कारण है कि ससार ने उन्हे शिक्षा देने का अधिकारी माना । वस्तुत जो शिक्षा को जीवन मे उतार ले वही दूसरो को शिक्षा देने का पूर्ण अधिकारी होता है । वे गतस्पृह और वीतराग थे । विश्व के समस्त प्राणियो के प्रति उनके हृदय मे असीम वात्सल्य और करुणा थी । उनने जीवन का साक्षात्कार किया और जग जीवो को दुख से छुटकारा दिलाने का मार्ग बतलाया । तथा कहा कि दुःख कृत्रिम है अपने बनाए है अत इनका अन्त कुछ कठिन नही है । जैसे स्फटिक मणि मे विभिन्न रगो की झलक दीख पडती है । सफेद, लाल और काली वस्तु के अनुसार उसमे रग दीखते है, ऐसे ही आत्मा भी स्फटिकमणिवत् निश्चय म शुद्ध है परन्तु कर्मजन्य उपाधि से वह अशुद्ध एव मलिन बना हुआ है ।

भगवान् ने निश्चय दृष्टि और व्यवहार दृष्टि दोनो का तल स्पर्शी बोध कराया । शिक्षा मे उन्होने व्यवहारिक मार्ग बतलाया कि मनुष्य कैसे दुख मुक्त हो सकता है । गृहस्थ जीवन मे रहते हुए, पूर्ण विरति का पालन नहीं करते हुए, सर्वथा पापो से मुक्त नही हो सकने पर भी साधक सयमित जीवन व्यतीत कर सकता है । सभी मनुष्य स्त्री पुरुष, किसान व्यापारी और अधिकारी विवेकपूर्वक पाप से बच सकते है तथा सरलता से अपने जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त कर सकते है ।

भगवान का कथन है कि सर्वप्रथम स्वरूप पर श्रद्धा करे फिर निर्णय करो कि हम अपने सग लगे दोषो मे कितने को आसानी से छोड सकते है और कितना नही ये दो विकल्प है । जो अनर्थ पाप है उन्हे त्याग करो फिर धीरे धीरे अनिवार्य पापो के कारणो को घटाओ । कारणो को घटाने से पाप स्वय घट जाएगा ।

पाप कुछ कारणो को लेकर होते है । हिसा के कारणो को घटाने से हिसा स्वय घट जाएगी, बिलकुल कम हो जाएगी । मनुष्य प्रायः दो पैसे मिलाने के लिए झूठ बोलता है और जीवन को अप्रामाणिक बनाता है । दण्ड से बचने के लिए, मजाक के लिए लोभ या क्रोध के वश में होकर भी मनुष्य आत्म रूप सफेद चादर में असत्य का काला धब्बा लगता है । यदि कारणों को पूर्ण रूप से घटा दे, तो कोई कारण नही कि झूठजन्य पापो से न बचा जा सके ।

महावीर स्वामी ने आनन्द से कहा कि जो अनर्थ दण्ड है उन पर पहले प्रहार कर । आनन्द ने भगवद्वाणी पर श्रद्धा रख कर भोगोपभोग प्रमाण के बाद अनर्थ दण्ड छोड़ा । अपध्यान, प्रमाद, हिसाकारी पदार्थ दूसरे को देना और पाप कर्म का उपदेश ये अनर्थ दण्ड है । तलवार, छुरी, रिवाल्वर आदि घातक अस्त्र घर मे रहते है, पर बिना विचारे किसी के मांगने पर दे देना यह अनर्थ दण्ड है । क्योंकि इनके द्वारा दूसरो की हिसा हो सकती है । ऐसे हिसाकारी वस्तुओ को किसी और को दे देने के पहले मागने वाले की विश्वस्तता तथा उसका प्रयोजन मालूम कर लेना चाहिए, यह दृढ़ निश्चय हो जाने पर कि उनका अशुभ कार्यों में उपयोग नही होगा, फिर देने का विचार करना चाहिए । ऐसे ही विष या नशीले पदार्थ भी बिना खास स्थिति के समझे किसी को देना श्रेयस्कर नही है । औषधि के रूप मे रखी विषैली वस्तु, यदि सावधानी से न रखी जाय, तो उनसे महान् अनर्थ हो सकता है ।

खान-पान की उत्तेजकता को देखते हुए आज उत्तेजना की संभावना अधिक बढ़ गई है । उत्तेजना मे आकर आज लोग विष पान करने पर उतारू हो जाते है क्योंकि दिमागी उष्णता दिन व दिन सीमातीत होती जा रही है । आए दिन समाचारपत्रों में इस सम्बन्ध की दुर्घटनाएं प्रकाशित होती रहती है । आज समाज में ज्ञान बल क्षीण हो गया है । यही कारण है कि मानसिक उत्तेजना का क्षेत्र व्यापक हो गया है । ज्ञान को तो कतई हटा दिया गया है और विज्ञान ही विज्ञान का सर्वत्र चमत्कार दिखाया जा रहा है । पाक, श्रृंगार वस्तु सजावट और आमोद-प्रमोद का विज्ञान बढ़ रहा है परन्तु जीवन-निर्माण का ज्ञान नहीं दिया जाता । नीति कहती है—वे माता-पिता अपराधी है जो बालक को सच्चे ज्ञान से वंचित रखते और उसे आरम्भ से ही उन्नत जीवन का पाठ नही पढ़ाते । क्योंकि बालक का दायित्व पालक पर है, बच्चे तो अबोध और अज्ञानी होते है ।

आनन्द ने किसी को भी हिसाकारी पदार्थों को नही देने का सकल्प कर लिया । आज तो बहुत व्यक्ति औजार, दारू, पटाके आदि रखकर अनर्थ करते है । दीवाली, दशहरे में अपने सम्बन्धियो और मित्रों को फल एव मिठाई के साथ पटाखे

और बारूद भी भेजते है । यह निश्चय म अनर्थ दण्ड है जो सर्वथा त्याज्य है । इसस पैसे की बर्बादी, हिसा को प्रोत्साहन और तन की हानि सुनिश्चित होती है । अत हर सद्गृहस्थ को अपने घर मे इसका उपयोग वर्जित करना चाहिए । विवेकी को चाहिए कि वह कोई भी हानिकारक वस्तु किसी को देते समय उस पर पूर्ण विचार करके ही दे । अन्यथा उस दी हुई वस्तु से होने वाले पाप का भागी दाता को भी बनना पडता है ।

आज अनर्थ दण्ड का प्रसार जोरो पर है । जीव हिसा के साधन नित नए नए बनते जा रहे है । खटमल और मच्छरो को मारने की दवा, मछली पकडने के काटे, चूहे बिल्ली को मारने की गोली और न जाने क्या-क्या हिसा वर्द्धिनी वस्तुओ को बनाने मे मानव मस्तिष्क उलझा हुआ है । ये सारे अनर्थ दण्ड है, जिनसे भर सक बचने मे ही जीव का कल्याण है । पूर्वकाल मे शादी की मनुहार मे दूध, दही फूल फल पान सुपारी आदि उपहार रूप मे लाए जाते थे परन्तु आज बीडी, सिगरेट के डिब्बे भेजे जाने लगे है । आज का मानव धूम्रपान को गौरव का रूप मानता है। यह सचमुच दु खद और शोचनीय स्थिति है । शादी करने वाले श्रीमत सिगरेट बीडी आदि नशीली वस्तुए बाराती के डेरे पर भेजे इसकी अपेक्षा धर्मोपकरण की वस्तु भेजी जाय तो कैसा अच्छा रहेगा ? तम्बाखू जैसे जहरीले पदार्थो का पीना पिलाना या देना यह सामाजिक बुराई है। कोई भी भला आदमी किसी को जहर देकर प्रसन्न होवे, इससे बढकर और आश्चर्य हो ही क्या सकता है। पाप कर्म का उपदेश देना यह भी अनर्थ दड है। यदि कोई आदमी बुरी लत म पडा है और दूसरो को पापाचार की शिक्षा या प्रेरणा देता है तो यह भी अनर्थ दड है।

आनन्द ने कहा कि मै पाप कर्म का उपदेश नही दूगा, अच्छे कर्म मे लगने की प्रेरणा देना न्याय एव धर्म सगत है । स्वजन-परिजन एव समाज कोई भी क्यो न हो को इससे लाभान्वित कराना अपना परम कर्तव्य है किन्तु किसी को बुराई के पक म फसाना या उसकी प्रेरणा देना मानवता का महान् अभिशाप है । रसोई के पूर्व चूल्हा साफ करना, भोजन बन जाने के बाद भी आग को निरर्थक जलते नही रखना आदि अल्पारम्भ की शिक्षा बालिकाओ को देना बुरा नही है, किन्तु बलात् बिना पूछे किसी को पाप रत होने का परामर्श देना अनर्थ दण्ड है ।

भगवान् आदिनाथ ने उस समय के युगल मानवो को बर्तनादि बनाने भोजन पकाने एव कृषि आदि करने का ज्ञान दिया जिसस आहार विहार की सामग्री के अभाव स मानव सघर्ष और महा हिसा का मार्ग अपनाने स बच । उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था । उन्होंने लोकोपकार के हेतु कृषि, मसि, लेखन, गणित और

शस्त्र कला–ये सब विद्याएं दायित्व के कारण बतलाईं । यदि कोई अनधिकारी इस प्रकार उपदेश देता तो गड़बडा जाता किन्तु वे अधिकारी थे, अतः ससार को सीख देकर भी अपने सिद्धान्त पर सदा अटल रहे ।

आनन्द ने पाप कर्म के उपदेश का त्याग कर दिया, इस प्रकार उसने पांच मूलव्रत और तीन गुणव्रत ऐसे आठ व्रत धारण किए । इन व्रतों के धारण करने से उसका जीवन सुरक्षित ही नही हुआ वरन् निर्मल एवं प्रकाश पूर्ण हो गया । यदि सिंचन बराबर है तथा बाढ़ नही आती तो खेत की फसल सुरक्षित रहती है । अन्यथा उसे नष्ट होने से कोई बचा नही सकता । व्रत नियम की साधना स्वीकार करने पर काम-क्रोध आदि आत्म गुणापहारी प्रथम तो मनमन्दिर में घुस नही पाएंगे पर कदाचित् भ्रमवश घुस भी जायें तो टिक हर्गिज नही पाएंगे ।

संसार में पापी तो हजारों है पर धर्मियों की संख्या कुछ अधिक नही है । ऊंचाई की ओर चढ़ने मे सबको स्वभावतः कठिनाई होती है किन्तु फिसलना बड़ा आसान होता है और यही कारण है कि अच्छे से बुरो की संख्या अधिक है । धार्मिक-जन का जीवन सफेद चादर के समान है । यदि रगीन काली चादर हो तो कोई दाग नही दिखेगा, किन्तु उजली चादर पर छोटी-सी स्याही की बूंद भी खटकती है । किन्तु कीचड़ सने मे छोटा-मोटा धब्बा क्या दिखेगा ? कोयले की तरह जिसका जीवन काला है वहा दाग की क्या बात ? साधु सन्त और भक्त गृहस्थ सफेद चादर की तरह है, उनमें छोटा-मोटा दोष भी खटकता है । जीवन के मार्ग में कदम बढ़ाते हुए उन्हें अधिक सतर्क रहना चाहिए । अधर्मीजन काले कम्बल के समान है, उस पर भला दागो का क्या असर होगा ? चावल मे से कंकर और मिट्‌टी के कण निकाले जाते है परन्तु उड़द की भरी थाली में से काली वस्तु क्या निकाली जाय ? अतएव व्रती जीवन शुद्ध रखने की आवश्यकता है । जो अधर्म या पापाचारो से अपने को सुरक्षित रख लेगा वह संसार की माया के असर से बच पाएगा ।

महामुनि स्थूलभद्र का जीवन भी इसी प्रकार का बन गया है । यद्यपि उसने पूर्ण व्रती जीवन अगीकार नही किया है, परन्तु राग से विराग की ओर मुह मोड़ लिया है, भोग की जगह योग से उसका सम्बन्ध दृढ़ होता जा रहा है । इसी कारण उसने महामन्त्री के पद को ठुकरा दिया । अब वह भौतिकता से दूर रहकर आध्यात्मिकता की शरण पकड़ना चाहता है। विराग की ओर प्रवृत्ति वाले के लिए महामन्त्री का रागी पद आकर्षक नही रहा। रूपकोषा का उपासक स्थूलभद्र मोक्ष का उपासक बन गया । स्थूलभद्र ने राजा नन्द से कहा कि मै अब अलख को लिखूंगा । जिसे चर्म चक्षु से नही देखा जा सकता उसे ज्ञान दृष्टि से देखने का प्रयास करूंगा। अब मुझे

करूगा। अब मुझे भोग नहीं चाहिए, विरति से रति को जोडना है । मैंने सोने-चादी तथा अन्य सुन्दर कहे जाने वाले पदार्थों को भरपूर देखा, पाया और जी भर कर उनका उपभोग भी किया किन्तु अन्तत अतृप्त ही बना रहा । मेरी कामना अधूरी की अधूरी ही रही । अतः अब ऐसे को अपनाना चाहता हूँ जिसे पाकर पाने की कुछ कामना मन मे शेष नही रह जाय । अलख, निरजन, निराकार का साक्षात्कार ही अब इस जीवन का एक मात्र आधार व लक्ष्य होगा ।

लोगो ने तरह-तरह से स्थूलभद्र को समझाया कि ससार को परित्याग कर केवल अपना हित कर पाओगे, परन्तु मन्त्री पद ग्रहण करने से पूरे देश का हित करने मे समर्थ रहोगे । यह सुनकर स्थूलभद्र ने कहा कि राजनीति और धर्मनीति मे महान् अन्तर है । राजनीति मे कहो कुछ और करो कुछ की नीति अपनायी जाती है । योजना कुछ बनायी जाती है एव क्रियान्विति कुछ की जाती है । इस प्रकार राजनीति का स्वरूप अस्थिर, दोलायमान और चचलतामूलक है किन्तु धर्मनीति स्थिर और सुदृढ है। अतएव मै धर्मनीति का पल्ला पकडना चाहता हूँ ।

राजनीति और धर्मनीति का समन्वय हो तभी वह लाभकारी हो सकती है । यदि राजनीति मे धर्म का प्रवेश न हो तो मनुष्य अपने जनो को भी पराया मानने पर उतारू हो जाता है । अर्थनीति और राजनीति मे महान दुर्गुण है कि वह अपने उत्कर्ष के लिए अन्य सबका सफाया करने पर उतारू हो जाती है । अतएव अर्थनीति और राजनीति कुटिल कही गई है । राजनीति मे दया, पाखड की तरह प्रदर्शन भर की वस्तु मानी जाती है । वास्तव मे निष्ठुरता और कुटिलता ही राजनीति की सहचरी है । धर्मनीति सीधी चाल वाली है – उसमे छल कपट का कोई स्थान नहीं है । यही कारण है कि राजनीति वाले धर्मनीति वालो को अपना शिकार बनाने म नही चूकते । उसके लिए तर्क दिया जाता है कि जगल के सीधे झाड काटे जाते है और टेढे मेढे वृक्ष कम कटते है लोक मे भी राजनीति द्वारा सीधो की दुर्गति होती है । यही कारण है कि आजकल कुटिल को होशियार माना जाता है । आज तो सविधान का भी गलत अर्थ लगाया जाता है और लोग धर्मनिरपेक्षता की वकालत करते हुए कहते है कि धर्म से धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता बढेगी । अतः धर्म अफीम की तरह त्याज्य है। किन्तु स्थूलभद्र कहता है कि राजन् । मुझे राज्य और अर्थ से कोई प्रयोजन नहीं मै तो महामुनि सभूति विजय के चरणो म जाकर धर्मनीति की शरण ग्रहण करूगा । राजनीति और अर्थनीति के मोहक पाश म आज तक उलझ कर मैंने अपना जीवन और यौवन व्यर्थ गवाया । इस प्रकार यदि हम धर्मनीति अपनाएगे, तो लाक एवं परलोक म अपना भला करग ।

---

[४०]

हेयोपादेय का विवेक

प्रभु महावीर स्वामी ने बतलाया कि यदि पाप से बचना है तो बन्ध के कारणो का परित्याग करो । हेय, उपादेय का परिज्ञान कर, ग्रहण योग्य का ग्रहण तथा छोड़ने योग्य का परित्याग करने से ही मानव अपना कल्याण कर सकता है । परिज्ञान नहीं है तो मोह का झोका आने पर उसका पतन तथा स्खलन हो जायेगा, वह ऊपर नहीं उठ सकेगा । परिज्ञान का माध्यम स्वाध्याय तथा सत्सग है ।

समझ में नही आने से मनुष्य ग्रहणीय का ग्रहण नही कर सकेगा और विद्या द्वारा वस्तु तत्व का निश्चय नहीं हुआ, तो परिज्ञान की सम्यक् परिणति भी नहीं होगी। आनन्द आज सम्माननीय है, क्योकि उसने हेयोपादेय का परिज्ञान कर छोड़ने योग्य का परित्याग कर दिया है । अनर्थ दण्ड का त्याग करने से आनन्द को हल्कापन मिला और उसकी आत्मा सर्वथा सबल एवं स्वस्थ हो गई । इस आत्मिक हल्केपन को कायम रखने के लिए व्रत ग्रहण आवश्यक है जिसके लिए आनन्द ने आठ व्रत धारण कर लिए जैसा कि कह चुके है । अब शिक्षा व्रत की बात आती है । शिक्षाव्रत समय पर आराधन किया जाता है । जब जिसका समय आवे उस समय साधक उसको धारण करे ।

शिक्षा व्रत चार है—(१) सामायिक (२) देसावगासिक (३) पौषध और (४) अतिथि संविभाग । भोजन के समय किसी साधु सन्त या व्रती का योग पाकर विधि से दान देना यह अतिथि संविभाग है । सामायिक में पाप को हेय समझ कर उसका परित्याग करना पड़ता है । जानना यह ज्ञ-परिज्ञा है । और प्रत्याख्यान से तात्पर्य निषिद्ध कथन है । नहीं चाहिए कहकर पाप का निषेध करना प्रत्याख्यान है । यह अल्पकालिक और आजीवन ऐसे दो प्रकार का होता है ।

भगवान महावीर ने व्रत की निर्मलता के लिए श्रमणोपासक आनन्द को बताया कि जो जीव अजीव, बन्ध, मोक्ष तथा पाप-पुण्य का जानकार है तथा श्रमणो की उपासना करता है, वह श्रमणोपासक है । उपासक का दृढ विश्वास होता है कि सुख-दुख अपने कर्मानुसार प्राप्त होते है । विना पुण्य के न तो कोई सुख दे सकता है और न विना अशुभ कर्म के कोई दुख लाद सकता है।देवो से घिरा हुआ भी ब्रह्मदत्त जीवनान्त होने पर सातवे नरक मे गया । पाप का उदय होने पर कोई भी देव उसको नरक से नहीं बचा सका । क्योंकि मनुष्य को अपने पुण्य पाप का फल स्वय भोगना पडता है । राम-लक्ष्मण और सीता के साथ पुण्योदय थे अतएव वनवास के कष्ट भोगकर भी वे सुख के भागी बन गए किन्तु रावण का पाप का उदय था अत सहस्रो रक्षक और राजभण्डार के होते हुए भी उसे दुख सागर मे गोता खाना पडा । गम्भीर प्रकृति का मानव सुख मे अतिहर्षित और दुख मे गमगीन नही होता । कठिन समय मे दुख की स्थिति मे, मन को अविचल रखने वाला ही गम्भीर कहलाता है ।

ज्ञानवान मनुष्य आर्त्त स्थिति मे अपनी मनःस्थिति को भगवच्चरणो की ओर मोड लेता है । वह मन मे सोचता है कि आर्त्तभाव बढाकर मन को भारी क्यो बनाया जाय ? भगवान् ने जो कुछ नियत भाव देखे है उसमे कोई कमी आने वाली नहीं । ज्ञानियो ने कहा है—'राई घटे न तिल बढे, रह रे जीव निशक । वर्षों तक भी यदि रोते रहे तो गए हुए बन्धु, बाधव, पति पिता, पुत्र और खोया हुआ धन कोई नहीं पा सकता और न इस प्रकार रोने से उस मृत आत्मा को किसी प्रकार की शान्ति ही मिल सकती है । यदि उस मृत आत्मा की प्रिय साधना मे उसके परिजन बैठे हो तो मृतात्मा को शान्ति मिलेगी एव स्वय का भी कल्याण होगा ।

बहुत से अज्ञानी लोग शोक प्रसग पर नहीं रोने वाले की निन्दा करते है ऐसा करना अज्ञानता मूलक एव पापवर्द्धक है, समझदार व्यक्ति को रुदनकर नये पाप का बोझ नही बाधना चाहिए । शास्त्र कहता है कि रुलाने वाला पाप बन्ध का भागी बनता है और समझाकर रुदन छुडाने वाला धर्म का निमित्त बनता है ।

चक्रवर्तियो मे आठवा स्वयभू चक्रवर्ती हुआ है । भरत क्षेत्र का सम्पूर्ण राज्य पाकर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ । उसने अपना बडप्पन दिखाने को सातवां खड लेने का निश्चय किया । छः खण्डमय भरत खड के सम्पूर्ण राज्य से अधिक एक चक्रवर्ती का क्षेत्र नहीं होता । 'कोई भी चक्री सात खण्ड का स्वामी नहीं बना, अतः यह असम्भव काम है राज पुरुषों द्वारा इस प्रकार निवेदन करने पर भी उसने किसी की बात नहा मानी और कहा—

लीक लीक गाड़ी चले, लीकहि चले कपूत ।
लीक छोड़ तीनो चले, शायर, सिंह, सपूत ।।

पुरानी लीक पर चलना कायर एवं कपूत का काम है । रेलगाड़ी, वैलगाड़ी आदि बंधी-बधाई लीक पर चलती हैं और कपूत भी लीक पर चलता है । कवि, सिंह, सपूत तीनो लीक छोड़कर चलते है । तर्क-दलील करने वाला उसका भला और बुरा दोनों उपयोग ले सकता है । तर्कवान अपनी भावना के अनुसार तर्क करता है । गाड़ी के नीचे कुत्ता पूंछ उठाकर चलता है—वह सोचता है कि गाड़ी मेरे वल पर चल रही है । वह अज्ञानी यह नही जानता कि यह गाड़ी वैल के सहारे चल रही है। इसी प्रकार चक्रवर्ती ने देवों को कहा—जहाज तुम्हारे सहारे नही चलता, तुमको अपनी शक्ति का गर्व हो तो चले जाओ । ऐसा कहने पर देवों ने उसका जलयान समुद्र पर छोड़ दिया । नवकार मन्त्र के प्रभाव से जहाज चलता रहा । चक्रवर्ती ने अहंकार से उसे भी मिटा दिया । फिर क्या था, समुद्र मे भयंकर तूफान आया और जलयान के साथ चक्रवर्ती भी समुद्र में डूब कर मर गया । देव उसकी सेवा मे थे फिर भी वे उसे बचा नही सके । उसके पुण्य वल समाप्त हुए और पाप बल बढ़ गए, अतएव उसकी मृत्यु हो गई ।

श्रद्धालु श्रावक दु.ख आने पर भी श्रद्धा से दोलायमान नहीं होता । श्रद्धा को शिथिल करने वाले पाच बाधक तत्व है । साधना मार्ग में चलने वालो को इनसे सदा सावधान रहना चाहिए । ज्ञान और आत्म गुण की साधना मे जिसने मन को निश्शंक बना लिया, वह दु:ख मे भी विचलित नही होता । जो भौतिक और रमणीक पदार्थों से मन नही मोड़ सकता, वही दुःख आने पर विचलित होता है ।

स्थूलभद्र के चरणों पर पाटलिपुत्र का महामन्त्रित्व का पद लोट रहा है परन्तु वह उसे ठोकर मारता है । वह कहता है, मुझे अब समझ आ गई और मेरा भ्रम दूर हो गया, अतएव मै सासारिकता में लिप्त नही होऊगा । बाल्यावस्था मे बालक मिट्टी का घरौदा बनाता है, किन्तु बड़ा होने पर वह ऐसा नहीं करता । बचपन मे मां-बाप तो अपने बालक को कपड़े खराब करने के कारण डांटते हैं । यह समझ का परिणाम है । इस प्रकार संसारी मनुष्य भी नादान बालक की तरह कोठी बंगले आदि के बड़े-बड़े घरौंदे बनाते रहता है । ज्ञानीजन के लिए संसार के समस्त आरम्भ घरौंदे तुल्य है, परन्तु धन सचय करने वाले भोगी जीव बालक के समान इसे नही जानते बल्कि इनको ही अपना वास्तविक घर मानते है ।

स्थूलभद्र को सभी परिजनो, हितैषियों एवं लाछलदे मां ने भी बहुत कुछ समझाया परन्तु वह अपनी बातो मे दृढ़ रहा । फलतः श्रीयक को महामन्त्री पद का

दुपट्टा दे दिया गया । महाराज नन्द को बड़ा आश्चर्य हुआ । ठीक उसी समय महामुनि सम्भूति विजय का शुभागमन हुआ और स्थूलभद्र को उनके आगमन का सद्यः लाभ मिला । वह उनके चरणो मे दीक्षित हो गया । गोस्वामी तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है–

जाके जेहि पर सत्य सनेहू,
सो ते हि मिलत न कछु सन्देहू ।

दीक्षा के उपरान्त स्थूलभद्र ने महामुनि सम्भूति विजय के चरणो मे रहकर शिक्षा ग्रहण की और इस तरह कल का भोगी लोगो के देखते-देखते आज का परम योगी बन गया । चरण करण की शिक्षा प्राप्त करने के बाद स्थूलभद्र ने तपःसाधना की इच्छा गुरु के समक्ष प्रकट की । मन मे पालन करने वाले व्रतादि को चरण और करने वाले को करण कहते है ।

काम करने का समय तरुण और युवावय ही है । इस उम्र म उत्साह और साहस मन मे हिलोरे लेते रहता है । जवानी की उपमा साहित्यिको ने उस गिरि नदी से दी है जो एक बार पर्वत छोड़ने पर तब तक रुकने का नाम नही लेती जब तक सागर मे न मिल जाय । कोई भी काम क्यो न हो जवानी उसम जूझने को सतत् तैयार रहती है। विघ्न बाधाओ से जवानी कतराती नही वरन् सतत् टकराती रहती है । कवि दिनकर ने ठीक ही कहा है–

डरने लगे आग से तो फिर चढ़ती हुई जवानी क्या ?

जवानी बीतने पर मनुष्य म नये काम की क्षमता उतनी नही रहती। फिर तो आवश्यक जानकर करना पड़ता है चाहे काम पारमार्थिक हो या व्यावहारिक । अर्थ का उपार्जन, विद्या का अर्जन धर्म, योग, तप और सयम की साधना–ये सब युवावस्था मे ही अधिक सभव है। इस अवस्था मे इन्द्रियाँ स्वस्थ और दुरुस्त रहती है। अतः कोई भी काम मन मे ग्लानि उत्पन्न नही करता उल्टे काम करने की खुशी से तन मन पुलकित होता रहता है । वस्तुतः जवानी ही जीवन का मूल्यवान् क्षण और अनमोल धन है। इसके जाने के बाद जीना स्वासो का ढोना मात्र रह जाता है।

स्थूलभद्र भी अपनी युवावस्था की शक्ति को योग, तप की साधना म लगाना चाहता है । वह सोचता है कि जो साधना करे वही साधक और उसी को सिद्धि प्राप्त होती है–अतः समय पर ही साधना करने से वह फलवती हो सकती है । साधु जीवन का एकमात्र उद्देश्य यह है कि वह साधना के द्वारा स्व और पर का जीवन समुन्नत बनावे । इसी प्रकार यदि हम सब भी साधना के क्षेत्र म अपना तन मन लगाए ता अपना कल्याण कर सकत है ।

---

[४१]

श्रद्धा और साधना

जो शासन करे या सूचना दे, उसको शास्त्र या सूत्र कहते है । धर्म शास्त्र का काम कल्याण मार्ग की सूचना देना और अकल्याण मार्ग से बचाना है । हिताहित का सन्देश पाकर आगे जीवन में गति करना, स्पन्दनशील और हलचल वाला बनना, यह साधक के अधीन की बात है । ज्ञान पाकर साधक हेय-त्याज्य कर्मों से विरत तथा ग्रहण योग्य में प्रवृत्त होगा । केवल प्रवृत्ति या निवृत्ति ही जीवन के लिए उपादेय नही है, वरन् दोनों का उचित सामंजस्य ही जीवन मे निखार लाता और उसे चमकाकर लोकोपयोगी बनाता है । इसके लिए अनुभवी, ज्ञानियो की संगति विशेष लाभदायक होती है । बिना सत्संग के स्वयं सत्य की खोज करना सर्वसाधारण के लिए न तो संभव है और न लाभदायक ही । कारण जीवन छोटा है और ज्ञान अथाह, अतः लघुतरनी से जैसे अथाह समुद्र के पार पाने में कठिनाई होती है वैसी ही कठिनाई मार्ग दर्शक के बिना ज्ञान प्राप्ति में भी समझनी चाहिए ।

व्रत, दर्शन और चारित्र के मार्ग में श्रद्धा सहायक है । श्रद्धा ही सम्यक्त्व है । मिथ्या और सम्यग्दर्शन दो श्रद्धा के रूप है । सम्यग्दर्शन टकराने से बचाने वाला, भवसागर से पार करने वाला तथा उलझनो को सुलझाने वाला है और मिथ्यादर्शन सन्मार्ग गामी को भी भटकाने तथा कुपथ पर ले जाने वाला है । भगवान् महावीर आनन्द के समक्ष यह विचार रखते है कि व्रत और दर्शन को ठेस पहुँचाने वाले मिथ्यात्व से साधक को बचे रहना चाहिए ।

जिससे व्रत की सीमा का उल्लघन हो उसे अतिचार कहते हैं ।वनवास काल मे श्रीराम की सहायता के लिए श्रीलक्ष्मणजी सेवा मे चल रहे थे । एक समय पंचवटी में उसने कुटी के आस-पास चारो ओर रेखा खीच दी और सीताजी को लकीर के अन्दर रहने को कहा । उसी समय रावण संन्यासी बनकर वहा आया तो

अतिथि धर्म पालन के हेतु सीताजी भिक्षा लेकर आयी और रेखा के भीतर से ही उसे भीख लेने को बोली इस पर रावण ने कहा कि–लकीर के बाहर से दो तो ही भिक्षा ले सकता हूँ, यह मेरी मर्यादा है । विवश होकर सीताजी रेखा से बाहर आयी और उनका हरण हो गया । भगवान महावीर ने भी ज्ञानादि को सुरक्षित रखने के लिए व्रत की लकीर खीच रखी है । यदि श्रद्धा रूपी लकीर के बाहर साधक पैर रखेगा तो खतरे का सामना करना होगा और निश्चय ही उसकी मुक्ति रूपी सीता उससे हर ली जाएगी । श्रद्धा द्वारा काम क्रोधादि विकारो से साधक अपने आप को बचा लेता है। उनका उल्लघन करना यह अतिचार है। श्रद्धा गुण को बाधा पहुँचाने वाले पाच अतिचार है जैसे–१. शका २. काक्षा ३. विचिकित्सा ४ पर पाषड प्रशसा ५. पर पाषड सस्तव ।

श्रद्धा हृदय की वस्तु है और वह वाणी द्वारा प्रकट होती है तथा काया के व्यवहार से फैलती या लोक जगत मे दृष्टि गोचर होती है । इस प्रकार इसके तीन रूप है–१. श्रद्धा २. प्ररूपणा और ३. स्पर्शना ।

जब अज्ञान, मोह और चाहना मन को घेर लेती है तो श्रद्धा विचलित हो जाती है तथा मानसिक निर्बलता जोर पकड लेती है । श्रद्धा मे आत्म-विश्वास ज्ञानी तथा ज्ञानी के वचना पर विश्वास करने वाला ही भली भाति टिक सकता है । वक्ता यदि विश्वसनीय न हो तो उसकी वाणी पर हर्गिज विश्वास नही होगा और वचन पर अविश्वास से श्रद्धा विचलित हो जाएगी वास्तव मे वक्ता पूर्ण विश्वसनीय वह है जिसमे अज्ञान, मोह एव असत्य नही है साथ ही वह भी विश्वसनीय हो सकता है जिसमे अज्ञान मोह और स्वार्थ का पूर्ण नाश न हो पर वे उपशान्त स्थिति मे हो एव जो स्वार्थ और लोभ से परे हो गलत मार्ग और असत्य भाषण से समाज को गलत मार्ग मे ले जाने मे भय खाता हो तो उस पर भी विश्वास किया जा सकता है ।

मोह के कारण मनुष्य अपने को पीछे खीचता या सशय उत्पन्न करके अनेक प्रकार का तर्क करता है शका करके आत्मा-परमात्मा के विषय मे शकाशील रहना पाप-पुण्य और बन्ध मोक्ष पर अविश्वास करना आदि तत्व विचारणा मे अनुचित माने गये है । शास्त्र मे इस स्थिति को शका रूप दर्शन का प्रथम अतिचार कहा है । विश्वास को लेकर जो शकाशील रहेगा वह आत्म-साधना मे आगे नहीं बढेगा । दवा यदि बेशकीमती हो किन्तु उस पर यदि रोगी का विश्वास नही हो तो उससे लाभ नही हो सकता । शिक्षक के पास छात्र पढने जाता है पर यदि वहा वह शकाशील बना रहता है तो सफलता प्राप्त नही करता । शिक्षक पर बिना विश्वास रख उसकी वाणी

का लाभ नही उठाया जा सकता है । हम देखते है, वालक अध्यापक की वात पर विश्वास करता है और उसके मुकावले मे मां-वाप या अन्य स्वजनो पर विश्वास नही करता, चाहे उनकी वात सही हो । अध्यापक की वात से ही वह अपने अभिभावक की वातो पर विश्वास करता है और गुरु वचन मे श्रद्धा रखने वाला छात्र निश्चय ही सफल होता है । ऐसे ही विज्ञान, नीति, अर्थशास्त्र या धर्म आदि कोई भी विषय हो, सब मे गुरु की वातो पर विश्वास लेकर चलने में ही कल्याण है ।

भगवान महावीर के वचनों पर विश्वास हो, तो कोई कितना भी वहकावे वह श्रद्धा में विचलित नही होगा । निशकता गुण को दर्शन का पहला आचार वतलाया गया है । व्यवहार मार्ग में भी जटिलता रहती है फिर तत्व मार्ग तो और अधिक जटिल है । इस मार्ग मे कई वातें इन्द्रियगम्य नही हैं । यदि श्रद्धा न हो, तो साधक इस मार्ग में आगे नही वढ़ सकेगा ।

हीरे-जवाहरात को तौलने और गुड़-शक्कर को तौलने के वाट अलग-अलग रखे जाते है । हीरे-जवाहरात मे वारीक तौल रहता है । यहा तक कि रत्ती के १/१०० वे भाग का भी तोल होता है । परन्तु गुड़ शक्कर में इतनी वारीकी नही होती । सूक्ष्म वस्तुओ को देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिए किन्तु स्थूल वस्तुओं के लिए उसकी आवश्यकता नही होती । एक्सरे की आख से शरीर के भीतरी भागो को देख लिया जाता है । ऐसे ही अध्यात्म क्षेत्र का निर्णय प्राप्त करने के लिये चर्म चक्षु से नही वरन् मानस चक्षु से देखना पड़ता है ।

'शका' के बाद 'काक्षा' रूपी अतिचार का त्याग करना होगा । भौतिक वस्तुओ से श्रद्धा का माप करने वाला विश्वास पर नही टिकेगा । क्योंकि कभी-कभी सत्य मार्ग पर चलने वाला दु.खी प्रतीत होता है और असत्य मार्ग पर चलने वाल पूर्णतः सुखी दिखाई देता है । व्यवहार मे ऐसा दिखाई पड़ने से साधारण मनः स्थिति वाला भले ही अपने को सत्य मार्ग से मोड़ ले, पर उच्च हृदय वाला सत्य पर दृढ़ रहेगा। बदली में चाद के छिप जाने भर से चाद विषयक उसकी प्रतीति और प्रीति कुछ कम नही पड़ती ।

व्यवहार जगत में दूसरे का माथा मूंड लेने वाला भले ही चालाक कहलावे, परन्तु यह कला, कला नही, वरन् भीतर-बाहर दोनों ओर से काला ही है। इसके आश्रय से जीवन कभी ऊपर नहीं उठ सकता और न लोक मानस में विश्वास ही प्राप्त हो सकता है । पुण्य पाप को समझने वाला व्यक्ति जालसाज लोगों को सुखी देखकर भी दोलायमान या चंचल चित्त नही होगा, क्योंकि मनुष्य सुख-दुःख कई जन्मो के कर्म के कारण पाता है । एक श्रीमन्त या जमीदार का लड़का शरावी, जुआरी

और वेश्यागामी होकर भी सुखी है और एक सज्जन और दयालु पुरुष का पुत्र सदाचरण रखते हुए भी दुःखी दीन और सनस्त है । यह अन्तर शुभ कर्म की स्थिति तक ही कायम रहेगा फिर तो अंधेरी रात" वाली बात होकर रहेगी सत्पुरुषो ने कहा है–

जब लग तेरे पुण्य का पहुँचे नही करार ।
तब लग तुझको माफ है अवगुण करो हजार ॥

किसी व्यक्ति का संचित शुभ कर्म नहीं है और वह यदि शुभ कर्म कर रहा है तो अपने जीवन का निर्माण कर रहा है । यदि कोई अनुसुचित-निम्न कहे जाने वाले वर्ग का भी व्यक्ति है पर वह यदि सुमार्गी है तो वह समाज मे इज्जत पाएगा, लौकिक दृष्टि से मान पाएगा और जीवन सुधार सकेगा । आम का झाड लगाने से तुरन्त ही नही फलता उसे वर्षों की प्रतीक्षा करनी पडती है किन्तु अफीम धतूरा उससे जल्दी फल जाता है । ज्ञानी यह समझ कर विचलित नही होता । कुमार्गी यदि सुख पा रहा है तो वह सदा सुख पाता ही नही रहेगा । कौआ और हस दोनो एक साथ रहे और भले ही कौआ उडकर थोडी देर के लिए गिरि शिखर पर बैठ जाय तब भी सम्मान हस को ही मिलेगा ।

स्थूलभद्र ने राजमन्त्री का पद छोडकर गुरु सेवा म जीवन अर्पित कर दिया। शिष्य और सेवक का कर्तव्य है कि वह स्वामी के मन के अनुकूल रहे । तदनुकूल स्थूलभद्र ने भी गुरु सम्भूति विजय के चरणो मे रहकर सेवक के समान जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया । वह रागी के बदले विरागी और परिग्रही के बदले अपरिग्रही बन गया । सेनापति के सकेत पर चलने वाला सैनिक-दल दुर्दान्त सेना से भी विजय प्राप्त कर लेता है । स्थूलभद्र ने गुरु चरणा मे रहकर ज्ञान ध्यान मे मन लगाया । जीवन का रूप बदल कर उसने रूपकोषा को भुला दिया जिसके लिए कभी अपना जीवन अर्पण किए हुए था । उसने ज्ञान ध्यान मे पूर्ण तन्मयता लगा दी । सम्भूति विजय मुनि के चरणा मे लगकर उसने साधना के कठिन मार्ग मे दृढता से पैर बढाया। सम्भूति विजय के विविध शिष्यो मे साधना की स्पर्द्धा थी । पवित्र भावना के साथ ज्ञान ध्यान की वृद्धि हो तो मुनि जीवन की गुरुता का क्या कहना है ।

एक बार सम्भूति विजय के चार शिष्य चातुर्मास की आज्ञा लेने गुरु के पास आए । एक शिष्य ने शेर की गुफा के पास चार माह तपस्या करने की अनुमति मागी । जब शिष्य इस प्रकार कठिन साधना करने की अनुमति मागे तो गुरु का यह काम है कि वह शिष्य की क्षमता जाने, अन्यथा शिष्य के साथ गुरु की भी बदनामी होगी । योग्य समझकर उस शिष्य को गुरु ने तपस्या की अनुमति दे दी ।

दूसरे शिष्य ने कुए की पाल पर चार माह तपस्या करने की अनुमति मागी। धर्म महाजनी सौदा नही है । साधक शूरवीर होता है । वह जिस साधना के मार्ग पर पैर डालता है वहां अडिग रहता है । कई दिनो का भूखा सर्प भी जैसे पूगी की आवाज पर नाचने लगता है वैसे ही भक्त भी भगवान की वाणी पर नाच उठता है। कुएं पर ध्यान लगाने वाले को अप्रमादी होना चाहिए । इन्हे भी गुरु ने योग्य समझा और साधना की अनुमति दे दी ।

तीसरे शिष्य ने कहा कि मै साप की बावी पर तपस्या करना चाहता हू । इसको भी गुरुजी ने अनुमति दे दी । अब तक स्थूलभद्र यह सब रंग देखते रहे । तीन शिष्यो को स्वीकृति मिल गई तब स्थूलभद्र आए और बोले, "गुरुदेव ! आपकी आज्ञा हो तो मैं चार माह रूपकोषा के यहा रहकर तपस्या करना चाहता हूँ ।" स्थूलभद्र की गंभीरता तथा धैर्य को देखकर सभूति विजय ने कहा—"साधु का मूलधन साधना एव सयम प्रधान है, इसको लक्ष्य मे रखते हुए, जाओ साधना को सफल कर आओ ।"

इस प्रकार महामुनि सम्भूति ने चारो शिष्यो को कठिन साधना की अनुमति दे दी । इस प्रकार यदि हर एक मनुष्य जीवन मे पवित्र साधना को अपनावेगा, तो वह अपना जीवन ऊंचा उठा सकेगा ।

---

[४२]

साधना के बाधक कारण

साधक को अपने आचरण के द्वारा भीतर और बाहर दोनो रूपो से साधना को सभालना पडता है । भीतरी साधना काम-क्रोधादि से सम्बन्धित है तथा वचन और काया का साधन यह बाह्य रूप है । मानसिक आचार यह भीतर का साधन है । मन मे कौन कैसा विचार रख रहा है यह किसी और को पता नही चलता किन्तु कोई वाणी से गलत बोले तो पता चल जाता है । मन का आचार सूक्ष्म है । अत आचार्यों ने सोचा कि पहले दीखने वाले चोर को पकडा जाय तो भीतर के सूक्ष्म को पकडने मे सुविधा होगी । मुखिया जब पकड मे आ जाता है तब उसका गिरोह पकडाये बिना नही रहता ।

वाणी और शरीर के दोषो को काबू कर लेने पर मानसिक दोष धीरे धीरे नियन्त्रण मे आ सकते है । मन आखिर वाणी और शरीर के माध्यम से ही तो दौड लगाता है । यदि काया को वश मे कर लेंगे तो मानसिक पाप स्वय कम हो जावेंगे। कभी किसी के मन मे गलत इरादा आया किन्तु व्यवहार मे वाणी से झूठ नही बोलने का सकल्प होने के कारण उच्चारण नही किया व्रत मे पक्का रहा तो वह मानसिक तरग धीरे धीरे विलीन हो जाएगी । इसलिए बाहर के आचारो का नियन्त्रण पहले करने की आवश्यकता बतलाई है ।

आनन्द को अपना जीवन सुधारना है अतएव वह पहले बाह्य सुधार करता है और फिर धीरे धीरे मानसिक सयम बढाता है । विश्वास और श्रद्धा को स्थिर रखने के लिए दो बात कही गई है (१) शका से बचना (२) कांक्षा मिथ्या दर्शन या भौतिक इच्छा से दूर रहना क्योंकि इन दोनो के होते हुए साधक श्रद्धा विश्वास पर दृढ नही हो सकता । (३) तीसरा दोष विचिकित्सा-विद्वत् जुगुप्सा है । साधना के मार्ग मे लगकर यदि दृढ विश्वास नही तो सफलता नही मिलती श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।"

अर्थात् कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, फलों मे कभी नही ।

साधना करते हुए क्रियाफल मे सदेह नही करना चाहिए, धर्म के फल मधुर होते है, पर मिलेगा या नही ? सत्य का फल भी अच्छा है पर मिलेगा कि नही ? इस प्रकार सशय करना दूषण है शास्त्र मे बात आती है–किसी खेत की बाड़ के पास एक मयूरी अडे दे रही थी । दो मित्रो ने मयूर के पालने की इच्छा से उनके दोनो अण्डे रख लिए । दोनो ने मुर्गी के बच्चो के साथ अडे पोषण को रख दिए, ताकि सेवन विधि मे कोई कमी नही रहे । एक व्यक्ति अडे पर दृष्टि रखता, पर दूर से ही देख लेता । किन्तु दूसरा विकलता वश उस अण्डे को नारियल के समान हिलाता रहता । प्रथम मित्र के अण्डे से बच्चा निकला, उसने उस बच्चे का उचित पोषण किया और बड़ा होने पर उसके नाच से मनोविनोद करने लगा । पर दूसरे मित्र के अण्डे से बच्चा नही निकला । बार-बार हिलाने से उसका अण्डा गल गया, यद्यपि मुर्गी से बराबर सेवा करायी गई । फिर भी शका से हिलाने के कारण उसका अण्डा नष्ट हो गया ।

व्रत या करणी अण्डा है और मिलने वाला फल बच्चा है । इसी प्रकार धर्म, व्रत या करणी द्वारा यदि बच्चा रूपी आनन्द का गुण प्राप्त करना है तो उसे संशय द्वारा हिलाना-डुलाना ठीक नही, व्रत को ले लेने मात्र से पाप कर्म नही कटेगे, वरन् उसको पूर्ण निभाने से ही फल मिलेगा । तो आनन्द ने महावीर स्वामी के समक्ष इस 'शका' दोष को भी त्याग दिया ।

जो किसान भूमि की तैयारी में बीज, खाद, सिचन आदि समुचित प्रकार से करता है, वह फसल के बारे मे विश्वस्त रहता है । यद्यपि वह उसकी सुरक्षा के लिए सजग रहता है फिर भी उसे फसल के बारे मे कोई शका नही रहती । द्रव्य लाभ में जैसे परिश्रम द्वारा किसान सफल होता है, उसी प्रकार भाव लाभ के लिए साधक को भी कर्मठ होने की आवश्यकता है । सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि सभी जैसे द्रव्यलाभ के लिए मनुष्य सहता है, वैसे भाव लाभ के लिए यदि हर्षित मन से कठिन श्रम सहन करे तो कल्याण हो सकता है ।

भौतिक साधना मे भी कठोर श्रम के परिणाम स्वरूप थोड़ा लाभ मिलता है, तब आध्यात्मिक साधना मे जो हम बड़ा लाभ अक्षय-आनन्द चाहते है, वह बिना परिश्रम के कैसे प्राप्त होगा ? जरा-सा कष्ट पहुॅचने पर दूर भागना चाहेंगे तो सिद्धि कैसे मिलेगी ? छोटी-मोटी जमीन्दारी या गढी पाने वालो को उसके पीछे बहत मूल्य चुकाना पड़ा, कई गर्दनें देनी पड़ी और बड़े-बड़े घाव सहने पड़े थे तभी उनके

पूर्वजा को जागीर मिली थी । जमीन का लाभ भी जब कठिन त्याग और बलिदान चाहता है तो आत्मानन्द के लाभ के लिए कठोर त्याग करना पडे तो इसमे आश्चर्य किस बात का ?

जो लोग धर्म को धर्मस्थान मे छोडकर जाते है उसे ग्रहण नही करते वे दुख और विपदाए भोगते है । दुख हमारे पापो का फल है यह सभी सस्कृतिया ने समवेत स्वर मे स्वीकार किया है । आधि दैविक आधि भौतिक और आध्यात्मिक त्रयताप सभी भूतकाल के कुकर्मों का फल है । दैविक-ताप तो सामूहिक पापा का फल है । जैसे अपने बाल-बच्चा को क्रीडा करते देख माँ-बाप को आनन्द आता है उसी प्रकार अन्य छोटे-छोटे प्राणियो तथा उनके बच्चो के खेलकूद के प्रति सहनशीलता और आनन्द का व्यवहार न रखा जाय तो यह कैसा मानवीय व्यवहार है? नरभक्षी जानवर जब मानव पर आक्रमण करते है तो मानव शोर करता है । तब यदि पशु-पक्षियो के परिवार मे से किसी प्राणी को कोई मानव ले जाय तो क्या उनमे खलबली नही मचेगी ?

मोर नाच कर क्या आनन्द की सृष्टि करता है तथा कोयल की मीठी तान और तोते की बोली कितनी सुहावनी लगती है ? यदि ऐसे सुन्दर पक्षियो को नष्ट कर दिया जाय तो उनके नृत्यादि का आनन्द मानव को कैसे प्राप्त हो सकेगा ? सुरक्षित वनो के पशु पक्षिया के मारने पर प्रतिबन्ध रहता है । किसी जाति विशेष का पशु-पक्षी हो तो उसे ध्यानपूर्वक पाला जाता है । जो जानवर दूसरे देशो मे नही पाए जाते वह देश उन पशु-पक्षियो के लिए गौरव मानता है । वे पशु पक्षी और मछली आदि मनुष्य से न तो स्थान और न दाना ही मागते है वे कोई क्षति भी नही पहुँचाते फिर भी मानव उनसे मैत्री भाव न रख कर दुश्मनी क्यो निकालता है ?

कोई दूसरो की जान लेकर सुखी रहना चाहेगा तो वह कैसे सुखी रह सकेगा ? कहा भी है कि—

करे बुराई सुख चहे कैसे पावे कोय ।
रोपे पेड बबूल का आम कहा से होय ।।

हिन्दू धर्म मे तो चौबीस अवतारो मे मत्स्यावतार कश्यपावतार आदि रूप से मत्स्य आदि को भी आदर दिया है । श्रीकृष्ण ने गौआ के बीच रहकर गोपालन किया, वे पशुआ के दुलारे थे । आज के कृष्ण भक्ता को इस पर सोचना चाहिए।

आज मनुष्या म स्वार्थपरता आई हुई है । खान वालो म रसना लोलुपता बेचनेवाला म लोभ और नही खाने वाला म दब्बुपन आ गया है । जैस कोई

अपनी पत्नी के गले मे हाथ डालकर बाजार में चले, तो यह असामाजिक कार्य है, उसी प्रकार सामूहिक रूप से मास भक्षण भी असामाजिक कार्य है । मास खाने वाले यदि चुपचाप घर मे खालें, तो वह बुराई अपने तक ही रहेगी, पर खुले रास्ते मे लाना, वेचना और प्रचार करना समाज मे बुराई फैलाना है, यह नीति विरुद्ध है । इस प्रकार अहिसक जनता और सात्विक लोगों के मन पर चोट पहुँचाई जाती है । यह न्याय संगत नही कहा जा सकता ।

अगर किसी का पड़ोसी धर्मशून्य और अत्याचारी है, तो उसके पास से आया हुआ धन भी धर्म शून्य ही रहेगा । उससे चाहिये जितना आनन्द आना तो दूर, बल्कि कष्ट ही बढ़ेगा और मन उलझनो मे फसेगा । यदि माता-पिता अपने बच्चों के माध्यम से चोरी करवावे या हिंसात्मक कार्य करवावे, तो यह भी महान् पाप है । नगर की खराबियो के साथ ऑख-मिचौनी नही की जानी चाहिए । भाई, बच्चो को समझाने मे जैसे हितभावना रहती है, वैसे ही पड़ोसी को समझाने मे भी हित भावना होनी चाहिए । हिसा घटने से समस्त संसार की भलाई होगी । लोगो का परस्पर प्रेम बढ़ेगा और आपस मे शाति तथा सौमनस्य का प्रादुर्भाव होगा । ईर्ष्या, कलह, द्वेष और विरोध का दमन होगा तथा पराये-वत् प्रतीत होने वाले लोग आत्मीयवत् दिखाई देंगे ।

देखा जाता है कि अधिक उपजाऊ भूमि के स्वामी दु.ख पाते हैं और रेगिस्तान के थली के किसान सुखी रहते हे । इसका कारण यह है कि जीवन को मांजने वाला हमेशा सुखी रहेगा, चाहे वह रेगिस्तान मे ही क्यो न रहता हो ? उनमें अहिसा वृत्ति है ।

मोटी चीज पकड़ने मे आसानी रहती है और सूक्ष्म चीज पकड़ने मे कठिनाई होती है । ऐसे ही आवश्यकता पर नियन्त्रण होने से अन्य गुणो की धारणा में सुगमता होगी । अतएव जीवन सुधार के लिए प्रथम आवश्यकताओ को कम किया जाना चाहिए ।

स्थूलभद्र ने राजमंत्री के विभव विलास को ठोकर मार दी और परम-आनन्द का अनुभव किया । साधना के मार्ग मे चलने से मनुष्य में निर्भयता आती है और यही कारण है कि स्थूल भद्र ने रूपकोषा के घर चातुर्मास करने की हिम्मत की । उनका यह काम साधारण नही था । आग के पास यदि घी जाय, तो विना पिघले नही रह सकता । किन्तु गुरु ने अच्छी तरह जान लिया था कि यह धीर, वीर और गंभीर है । इसमें इतना आत्मवल है कि यह सभल कर कदम रखेगा और स्वय अमल धवल रह कर गुरु के नाम को भी प्रशस्त बनाएगा । गुरु की आज्ञा पाकर

स्थूलभद्र का मन मयूर आनन्द से नाच उठा । स्थूलभद्र की साधना दिखने मे कोमल होते हुए भी निराले प्रकार की कठोरता लिए हुए थी । गुरु से मिले ज्ञानवल, आत्मवल और तपोवल को ग्रहण कर साधक ने उसे भली भांति चमकाया है । इसी प्रकार यदि हर एक व्यक्ति साधना के मार्ग मे अग्रसर होगा, तो अपना उभय लोक मे कल्याण कर सकेगा ।

---

[४३]

आन्तरिक परिवर्तन

शास्त्रकारो ने कहा है कि द्रव्य की तरह साधक जीवन भी परिवर्तनशील है सदा एकसी स्थिति नही रहती। उसमें आन्तरिक और बाह्य परिवर्तन होते रहते है। आहार, विहार एवं भाषा से बाह्य परिवर्तन होता है जो देखा जा सकता है, क्योंकि उसमे बाह्य साधनो का संयोग रहता है। किन्तु आन्तरिक परिवर्तन में बाह्य साधनो का हाथ नही रहता। सोकर उठने तथा बाहर निकलने मे तेल, कघा और साज-सज्जा आदि ने सहायता दी, इसलिये परिवर्तन आया। इसी प्रकार क्रोध, मान, स्नेह, लोभ, हर्ष, शोक आदि का रूप सहेतुक और अहेतुक तीव्र मन्द होता रहता है। भावना मे परिवर्तन होने से बाह्य आचार मे भी परिवर्तन हो जाता है। इसी से प्राणी उच्च से नीच और नीच से उच्च बनता है।

जीवन परिवर्तन में प्रमुख कारण काल, कर्म सयोग, परिस्थिति और अध्यवसाय माने गये हैं। ससार मे जीवन परिवर्तन का चक्र हर क्षण चलता ही रहता है। जब तक शरीर है, शरीरधारी के इस चक्र का भी अन्त नही होता। भगवान महावीर ने कहा है–

"एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहि गच्छइ" ।।

अर्थात्-जीव कभी स्वर्ग में कभी नरक में तो कभी कर्मानुसार असुर योनि में जाता है।

मनुष्य कर्म के कारण ऊपर चढ़ता है, जैसे वायु के संग से धूल का कण ऊपर चढ़ता है और अशुभ कर्म से नीचे आता है मगर स्वर्ण कण ऊपर नही जाता। धूलि कण ऊपर चढ़कर आकाश मे सूर्य को ढक देता है और वर्षा से नीचे आ गिरता है। इसी तरह शुभ कर्म रूपी हवा से जीवन भी चढ़ता है। जिन निमित्तों से वह गिरता है, उनको हटाने से वह ऊपर चढ़ता है, यह एक मानी हुई बात है।

पानी के समान खराव कर्म के भार से मानव का भी पतन होता है और हवा रूपी सुकर्म को पाकर ऊपर उठता है।

स्थावर जन्तुओ म कुछ शुभ और अशुभ दोनो प्रकार के जीव है। एक हीरे के रूप मे मुकुट मे जडा जाता है तथा दूसरा फर्श मे या उससे भी गयी गुजरी जगह मे लगाया जाता है। हीरे को पैर तले देखकर लोग सहर्ष उठा लेते है और सुरक्षित रूप मे रखते है परन्तु पत्थर को पैर तले आने पर बगल में फेंक देते है । नागरिक लोगों की सगति मे आया हुआ किसान भी हीरे को परख लेता है। एक ही पार्थिव जाति के होकर एक सम्मान पाता है और दूसरा तिरस्कार। इसका कारण स्थावर जन्तुओं मे भी पाप-पुण्य है।

मनुष्य गति पुण्य प्रकृति का फल है परन्तु इसमें भी पाप प्रकृति वाले लाखो नर है। मनुष्य गति की दृष्टि से देखा जाये तो पुण्य प्रकृतियो की अपेक्षा जब पाप प्रकृतिया प्रबल हो जाती है तो काम, क्रोध, लोभ अहकार असाता आदि ताण्डव नाच करने लगते है।

धन एव बाल-बच्चे पाने मात्र से ही पूर्ण पुण्योदय नहीं होता। ये तो पुण्य प्रकृति के बाह्य फल है। जब तक ज्ञान विवेक सद्भाव एव शुभ रुचि प्राप्त नही होती मानव बाह्य पुण्य का फल पाकर भी नीचे गिर जाता है। हजारो ऐसे उदाहरण है जिनमे मानव धन जन सम्पन्न होकर भी ऐसे गिरते हैं कि कोई उनका नाम लेने वाला नही रहता। लाखों करोडो की सम्पत्ति तथा भरे पूरे परिवार को जाते क्या देर लगती है। आधी मे तिनके की तरह वे देखते देखते उड जाते है। कल तक जिसके घर मे हर तरह की खुशियाली छायी हुई थी आज वहाँ गम ही गम नजर आता है। ये सब क्या है ? पुण्य की कमी और पाप का उदय, नहीं तो इन्हें क्या कहे।

किसी मनुष्य म क्रोध, मान, अल्प मात्रा म है तो वह रोग ग्रस्त होने पर भी खीजेगा नहीं और धनी व्यक्ति रोग ग्रस्त की दशा म सेवा शुश्रूषा और उपचार की थोडी भी कमी देखता है तो क्रोध से लाल बन जाता है और जो नहीं बोलना चाहिये ऐसी बेतुकि बाते बोल देता है । उसके व्यवहार से साफ पता चलता है कि उसकी आत्मा नीचे गिरी हुई है। ब्रह्मदत्त जैसा बडा राजा भी पाप कर्म करने लगा तो पतित हो गया, इतनी विशाल सम्पदा, अखण्ड प्रभुता और इच्छा भोग पाकर भी वह पाप कर्म के कारण गिर गया।

धन, वैभव, मनुष्य योनि, सुन्दर वर्ण, शुभवाणी और प्रभुता पुण्य कर्म के कारन प्राप्त है परन्तु अज्ञान और मद ने उसे घर रक्खा है। वह पाप प्रकृति प्राणी

को देखते-देखते अदेखा कर देती है, मोह से प्राणी देखते-देखते अदेखा और जानते भी अनजाना बन जाता है।

ब्रह्मदत्त को चित्त मुनि ने समझा कर कहा :—'हे राजन् ! अधिक नही कर सको, तो कम से कम अनार्य कर्म (चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि) को राज्य मे न होने दो, चोरी को रोककर जनता को निर्भय बनाओ तथा व्यभिचार से सदाचार की ओर उन्हें अग्रसर करो ।" परन्तु ब्रह्मदत्त को ऐसी सीधी बात भी समझ मे नही आयी और वह सुमार्ग पर नही चल सका। उसने मुनि से कहा :-"हे महामुनि ! मै सारी बातें जानता हूँ परन्तु काम, भोग और मोह में फसा होने से, मेरी स्थिति तो ऐसी हो गयी है जैसे किसी कम जल वाले, कीचड़ प्रधान जलाशय में पानी की लालसा से गया हुआ हाथी, कीचड़ में फसकर, आगे-पीछे नही जा पाता। वह बीच में ही फंसा किनारे के पदार्थों को देखता तथा उसके सुख को समझकर भी बाहर नहीं आ सकता। इसलिये महाराज ! मै आपके उपदेश पर चलने मे असमर्थ हूँ ।" कहा भी है कि—

नागो जहा पंक जलावसन्नो, दठ्ठुं थलं नाभिसमेइ तीरं ।
एवं वयं काम गुणेसु गिद्धा, न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ।।

अनजान को समझाना आसान है, जानकार ज्ञानी उसे अज्ञानता से निकाल सकते है, परन्तु जो जानते हुए मोह वश अनजान है, उनको समझाना महामुश्किल है। वे अज्ञान के कारण पाप मे फसे नहीं होते, उनके फंसने का कारण मोह होता है। उनमें मोह के कारण ही त्याग की बुद्धि उत्पन्न नही होती। यदि पाप की प्रकृतियो को झकझोर दिया जाये तो पुण्य की प्रकृतियां सहज चमक उठे। शुभमति के उदय से यह जानना चाहिये कि मनुष्य को पुण्य का उदय है। सदाचार और देव-गुरु-धर्म के प्रति प्रीति पूर्व जन्म के पुण्योदय से ही प्राप्त होती है। यह एक प्रकार से मापक यन्त्र है।

बाहर की रमणीक वस्तु को देखकर यदि लालसा की जाये और उसके लिये मिथ्यामार्ग को आदरणीय समझा जाये तथा गुणीजनो की शारीरिक कुरूपता देख कर उनसे घृणा की जाय, तो यह सम्यग्दर्शन का दोष है । पापो से बचने की दृष्टि वाला साधक किसी व्यक्ति मे गुणो को देखकर आदर करता है तो यह सम्यक् दृष्टि है।

मिथिलेश महाराज जनक बड़े आत्म-ज्ञानी थे। गृहस्थ होते हुए भी उनमे आत्म-ज्ञान की विशिष्टता थी। ज्ञानियो के लिये वास्तव मे गृहस्थ का वैभव आकर्षण

का कारण नहीं वरन् उसमे ज्ञान दर्शन, चारित्र के यदि साधना-रत है, तो साधु सत भी उसकी ओर आकर्षित हो जाते है।

ज्ञान वृद्धि के लिये प्रवचन सुनने वाले श्रोताओ को लिखने की आदत रखनी चाहिये। इससे मनन का अवसर मिलेगा और कई बाते आसानी से याद रखी जा सकेगी। आपको अनेकों सत्पुरुषों के उपदेश श्रवण का अवसर मिलता है और उसमें कई बाते तो इतनी असरकारक होती है कि जिनके स्मरण से जीवन की दिशा बदली जा सकती है और आत्मा को ऊचा उठाया जा सकता है किन्तु लिपिबद्ध नही होने से वह थोडे समय मे ही मस्तिष्क से निकल जाता है । विदेशियो मे नोट कर लेने की आदत है, अतएव वे देशाटन और विद्वानो के सग से भी बहुत सी उपादेय बात ग्रहण कर लेते है । तत्व श्रुति के विचारो को यदि नोट करने की पद्धति रखी जाये तो इससे आगे लाभ होगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि गृहस्थी भी यदि ज्ञान का धनी है, तो वह साधु सत के लिये आकर्षण का केन्द्र बन जाता है । महाराज जनक गहन आत्म-चिन्तक तथा अध्यात्म-प्रेमी थे। अतः बडे-बडे ऋषि मुनि उनके यहाँ आया करते थे और वहाँ से कुछ न कुछ आध्यात्मिक ज्ञान लेकर लौटते थे ।

एक बार की बात है राजा जनक की सभा म बडे-बडे ऋषि मुनि आय हुए थे। वहाँ पर एक कुरूप ब्राह्मण भी आया और पास में पडे हुए एक खाली आसन पर बैठ गया। आस-पास के विद्वान् सोचने लगे कि हसो की सभा में यह कौआ किधर से आ बैठा है ? कतिपय लोगो ने समझा कि प्रबन्ध व्यवस्था ठीक नहीं होने से ही यह प्रवेश पा गया है। आने वाला जन्म से ब्राह्मण तन होकर भी शरीर से बहुत बाका टेढा था। अतः सब उसको तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे। जब महाराज जनक आत्म ज्ञान की चर्चा के लिये सभा म उपस्थित हुए, तब सहसा उस कुरूप ब्राह्मण ने उठकर पूछा- 'महाराज ! मैंने बहुत दिनों से सुन रखा था कि जनक की सभा म बडे-बडे आत्मज्ञानी पुरुष आते हैं परन्तु आज साक्षात् देखने पर यह शका हुई कि यह आत्मज्ञानी विद्वानों की सभा है या चर्मकारों की ससद है? क्योंकि चमडे का रग, रूप और उसका मोटापन, पतलापन देखना चमारों का काम है।' यह सुनकर सबके सब एक-दूसरे की ओर चकित झांकते और कहते कि यह कौन है ? जो बडी मर्म की बात कह रहा है कि यदि शरीर को देखकर आसन दिया जाये तो आत्म-ज्ञानियों की सभा कैसी ? ब्राह्मण के वचन और तर्क को सुनकर सब पण्डित चौकन्ने और लज्जित हो गये। परिचय पूछने पर ब्राह्मण कुमार ने कहा कि- 'मेरा नाम क्या बताऊं ? मेरा नाम तो एक है शरीर का अपना नाम बना

रहा है। आठ स्थान से बाका होने से लोग मुझे अष्टावक्र कहते है ।" सबने अष्टावक्रजी को आत्मज्ञान सुनाने के लिये कहा । आत्म-ज्ञानी का काम भीतर देखना है। गुणियो के शरीर को देखकर घृणा करने से पाप लगता है। सस्कृति की दृष्टि से इसका समाज पर भी बुरा असर पड़ता है। फिर गुणो का महत्व भूल कर यदि गुणी का तिरस्कार किया गया तो उसके हृदय को भी चोट लगती है। विदेशी लोग अनाथो तथा कोढ़ियो की व्यवस्था करते है। कभी कोई अनाथ यदि उनके हाथ में आ जाये, तो वे उनका बड़ा आदर करते है। फलस्वरूप लाखो राम, कृष्ण, महावीर के मानने वाले आज अनार्य सस्कृति के उपासक बन गये और बनते जा रहे हैं।

हर एक भारतीय और जैन मे धर्म वत्सलता भी होनी चाहिये। साधु-संतो की उन्नति देखकर प्रसन्न होना यह समूहगत वत्सलता है। संघ में इसी प्रकार स्वधर्मी के प्रति भी वत्सलता बढ़नी चाहिये। प्रेम से साधक कठोर साधना भी कर सकता है। साधक में साधना की ओर लगन हो, और साथ ही समाज की उनके प्रति सद्भावना हो तो मानव सहज ही अपना उत्थान कर सकता है ।

यह कहा जा चुका है कि रूपकोषा के यहा काम विजय की भावना से जाने वाले स्थूलभद्र को गुरु ने चातुर्मास की अनुमति दे दी। गुरु में वत्सलता थी और शुभ प्रेम के कारण वत्सलता जीवन को आगे बढ़ाती है एवं मोह जीवन को गिराता-फंसाता है। गुरु ने स्थूलभद्र से कहा कि काम विजय करके शीघ्र आ जाना। गुरुवाणी से उन्हे बड़ी प्रसन्नता हुई। और साहस द्विगुणित हो गया ।

स्थूलभद्र अपनी साधना के लिये रुपकोषा के घर पहुँचे। रूपकोषा ने जब स्थूलभद्र को देखा तो उसके मन में तर्क-वितर्क होने लगा। उसने आसन छोड़कर स्थूलभद्र का हार्दिक स्वागत किया और कहा :-"प्रियतम ! आइये, आइये, जीवन को सरसाइये पर यह वैरागी का सा अटपटा वेष कैसा ?"

धर्म स्थान में विलास श्रृंगार करके आना दूषण है, परन्तु रिवाज का रूप होने से आज यह साधारण बात हो गई है। धर्म स्थान मे घृणा व्यजक, अस्वच्छ और अशुद्ध मलादि से लिप्त 'वस्त्र' नही हो, वस्त्र तड़कीले-भड़कीले भी नही होने चाहिये। वहाँ के लिये सादा वेष ही भूषण है। परन्तु वेश्या तो रागी ठहरी । अतः उसे वैरागी का वेष खटक गया। लोकनीति के अनुसार राग की जगह मे राग का रूप हो, और वैराग्य की जगह में वैराग्य का तो अच्छा लगता है। वेश्या ने कहा-"आपका आना मुझे अच्छा लगा, परन्तु यह विरागी वेष अरुचिकर जंचा ।"

रूपकोषा स्थूलभद्र को सम्मानित कर रगशाला मे ले जाती है और सुन्दर वस्त्र धारण करने का आग्रह करती है। आज स्थूलभद्र का परीक्षा काल है। कुशल

परीक्षार्थी परीक्षा काल मे आने-जाने वालों की ओर दृष्टिपात नही करता और न भयभीत ही होता है । उसका लक्ष्य होता है कि कही मेरा प्रमाद मे वर्ष खराब नही हो जाये। स्थूलभद्र यदि थोडा भी चूक जाता तो उसका जीवन बिगड जाता। अतएव बडी सावधानी से वह परीक्षा मे लगा रहा ।

साधारण साधक का तो वेश्या के मुहल्ले मे भी जाना शका की दृष्टि से देखा जाता है और बात भी ठीक ही है कि गणिका की मर्म-वेधिनी दृष्टि के सामने अपने को बचाए रखने की शक्ति भी सर्व साधारण जनों मे नही पायी जाती। मगर स्थूलभद्र को तो गुरु की आज्ञा थी। गुरु ने उन्हे योग्य समझकर ही गुरुतम भार उनके कधो पर डाला था। आज यदि कोई साधु एकाकी स्त्री के पास बैठा रहे तो उसकी सयम शुद्धि मे शका उत्पन्न हो जाती है फिर स्थूलभद्र को कैसे आज्ञा दी गयी । साधारण मनुष्य का मन इससे चकरा सकता है, परन्तु सभूति विजय ने उनको योग्य समझा था। भगवान और गुरु की दृष्टि उनके सामने है, अतः उन्हे किसी का भय नहीं। इसी प्रकार गुरु और भगवान पर जो लोग श्रद्धा रखेंगे, तो उन्हे किसी का भय नही रहेगा और वे अपना कल्याण कर सकेंगे।

---

[४४]

साधना की भूमिका

भगवान महावीर ने सबसे पहले अपने जीवन को शुद्ध, बुद्ध एव निष्पाप बनाया और फिर ससार को अनुभव का मार्ग बताया। उन्होंने कहा कि हे मानव ! तू अपने ही बल से सफलता प्राप्त कर सकेगा। जब तक तू अपनी सामग्री का उपयोग नही करता , तब तक शहंशाह होकर भी भिखारी-सा मारा-मारा फिरता रहेगा। जिस दिन तू प्राप्त सुसामग्री का उपयोग करेगा, तेरा तेज ससार मे चमक उठेगा। तू नक्षत्र मण्डल का अपूर्व ज्योतिर्धर रूप है, क्योंकि अन्य ज्योति-धारियो का तो अस्त होने का भी अवसर आता है, किन्तु विवेकपूर्वक काम लेने से तेरा आत्म तेज कभी अस्त होने वाला नही है।

अज्ञानान्धकार के दूर होने पर जो मनुष्य प्रभु के वचन को समझ पाते है, वे अनन्त काल के पाप कर्मों को काटकर मुक्त हो जाते हैं। प्रभु का ज्ञान स्वयं अनुभूत एव दूसरो पर प्रयोग किया हुआ है । उन्होने अनुभव से निश्चित किया कि विचार शुद्धि के बिना आचार शुद्धि सम्भव नही है। विचार शुद्धि के लिये अज्ञान एवं मिथ्यात्व से किनारा करना होगा । मिथ्यात्व और अज्ञान को दूर करने के निम्न उपाय बताए गए है।

"परमत्थ सथवो वा, सुदिट्ठ परमत्थ सेवणं वावि ।"

सर्व प्रथम तत्व-ज्ञान, आत्मा-परमात्मा का ज्ञान अर्थात् जीव-अजीव, पुण्य, पाप एवं धर्म-अधर्म की जानकारी आवश्यक है। जिसने परमार्थ की जानकारी नही की वह उलझ जायेगा तथा उसे शान्ति प्राप्त नहीं होगी। परमार्थ का परिचय करने के लिये १. सच्छास्त्र एवं २. सत्संग दो साधन है । हर एक शास्त्र से परमार्थ प्राप्त नही होगा, क्योंकि काम-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र और

राजनीति शास्त्र आदि अनेक शास्त्र है परन्तु वे जीवन की दुर्वृत्तियो पर शासन करने के शास्त्र नही है । इनसे लोक जीवन का काम चल सकता है आध्यात्म जीवन का नही ।

अर्थ-शास्त्र मानव के मन मे आर्थिक कामना पैदा करेगा और मानव मे आकुलता ला देगा, बाधक तत्वो के आने पर विरोध होगा तथा आय के साधको से मित्रता होगी। इस प्रकार अर्थ-शास्त्र आर्थिक दौड धूप मे और काम शास्त्र कामना बढाने मे उपयोगी हो सकते है। किन्तु धर्म-शास्त्र कामना और प्रपच त्याग करने का उपदेश देता है। अर्थादि शास्त्रो से इसका सिद्धान्त पूर्णतः भिन्न और पृथक है, अर्थ के रग म हम अपना-पराया भूल जाते है और हानि मे मित्र से भी सबध तोड लेते है। इस सम्बन्ध मे तो कई बात सुनी गयी है जैसे दहेज मे इच्छानुसार अर्थ लाभ नही होने पर लडकी ससुराल से कभी पिता के घर नही आ पाती। परस्पर के सम्बन्ध खट्टे हो जाते है और अनपेक्षित वैर-विरोध बढ जाता है।

धर्म शास्त्र तो किसी को भी चोट पहुँचाने का निषेध करता है। धर्म शास्त्र का अनुगामी या सेवक स्वयं हानि उठा लेगा परन्तु दूसरे को धोखा नही देगा और आघात नही पहुचायेगा। कुमार्ग मे जाते समय उसका पैर लडखडायेगा हाथ कम्पित होगा और मन घबरा उठेगा। एक अर्थवान् मनुष्य दूसरे का धन छीनना चाहेगा, परन्तु धर्म शासन वाला व्यक्ति स्वप्न म भी दूसरे के धन पर आँख नही उठायेगा। धर्म-शास्त्र मे अज्ञान और मिथ्यात्व को मिटाने की शक्ति रहती है। यदि अपने आप मे परमार्थ मिलाना है, तो परमार्थ के ज्ञाता लोगो की सगति करनी चाहिये और व्यर्थ की बात करने वाले प्रमादियो से सदा दूर रहना चाहिये।

भक्त सूरदास ने बहुत ही सुन्दर शब्दों मे कहा है—

तजो रे मन, हरि विमुखन को सग ।
जाके सग कुबुधि उपजत है पडत भजन मे भग ।।1।।
कागहि कहा कपूर चुगाये, श्वान नहाये गग ।
खर को कहा अरगजा लेपन, मर्कट भूषण अग ।।2।।

कुसगति मे बैठकर मनुष्य को अपना जीवन काला नहीं करना चाहिये। कुसगति की पहचान के लिये भक्त कवि ने ठीक ही कहा है कि जिसकी सगति से कुबुद्धि उपजती हो मन मे पापवासना जागृत हो एव भजन म बाधा आती हो तो निश्चय ही वह कुसगति है। जिसकी सगति से सुबुद्धि उत्पन्न हो, दुर्व्यसना का परित्याग हो, और अहिंसा, सत्य तथा प्रभु भजन मे मानव की प्रवृत्ति हो, वह सुसगति है। कहा भी है—

दूरी करोति कुमति, विमली करोति, चेतश्चिरंतनमघ चुलकी करोति ।
भूतेषु किंच करुणां बहुली करोति, संगः सतां किमु न मंगलमातनोति ।।

आनन्द श्रावक ने तत्व को पहचान लिया। उसने जीवन की स्थिति अडोल बनाली और संसार में रहते हुए भी वह संसार से सर्वथा अलग हो गया। ज्ञान प्राप्ति के लिये ज्ञानवान की संगति आवश्यक है– इसी प्रकार अज्ञानी और मिथ्यादर्शनी का सग जो दूषण रूप है त्याज्य है। इसके लिये शास्त्रीय शब्द 'पर-पाखण्ड' आता है। शंका होती है कि 'पाखड' तो अपना हो या पराया, है तो बुरा ही फिर पर-पाखंड-प्रशंसा से पर-पाखड प्रशसा की निन्दा और निषेध क्यो ? क्या अपने पाखण्ड की निन्दा नहीं करनी है? नही, वस्तुतः 'पाखण्ड' का सही अर्थ व्रत-नियम है। आत्म-भाव की ओर ले जाने वाला व्रत-नियम स्व पाखण्ड है, इसके विपरीत परभाव–धनदारादि वैभव या मिथ्यात्व की ओर ले जाने वाला पर-पाखंड होने से वर्जनीय है। अथवा सम्यक् दृष्टि 'स्व' है और सम्यक् दृष्टि विहीनता 'पर' है। पर-पाखड प्रशंसा अर्थात् अज्ञान से परिपूर्ण साधना की प्रशसा करना अनुचित है।

पर-पाखड प्रशंसा का फल है संसार और उस संसार का त्याग ही मुक्ति है। राग-भाव तथा अज्ञान भाव से युक्त व्रत साधना जीवन को गड़बड़ा देती है। पर पाषंड प्रशसा का जन साधारण में अनुकरण होता है और इसी पर पाखड की प्रशंसा के कारण साधना के शुद्ध मार्ग में विकृति आने लगती है । महापुरुष तात्कालिक विकृति को अपने सामर्थ्य से दूर करते हैं। भगवान पार्श्वनाथ ने भी अज्ञान करणी का निकंदन किया। पार्श्वनाथ का सिद्धान्त था कि अज्ञानमय को भी प्रेम से सन्मार्ग बताया जाये। धर्म का प्रचार अपशब्द या डंडे के जोर पर करने से सही रूप में प्रचार नही होता। भय का रास्ता गलत है । धर्म प्रसार प्रेम द्वारा किया गया ही स्थायी व हितकर हो सकता है। भगवान पार्श्वनाथ ने साधना से राग-द्वेष दोनों को दूर कर लिया था। उनको तप करते हुए ध्यानस्थ देखकर कमठ ने रोष किया और प्रलय की सी स्थिति निर्मित कर दी । पार्श्वनाथ की गर्दन तक जल ही जल हो गया, फिर भी उनके मन मे रोष नहीं आया। वे अडोल रहे और अपने ध्यान की धुन में मग्न रहे। वे वीतराग हो चुके थे। आत्म स्वरूप को पहचानने वाले के मन से मलिन विचार वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे सूर्योदय से अन्धकार ।

विचार की भूमिका पर ही आचार के सुन्दर महल का निर्माण होता है। विचार की नींव कच्ची होने पर आचार के भव्य प्रासाद को धराशायी होते देर नहीं लगती। धर्मवीर, दानवीर और त्यागवीर का परीक्षा के समय पर ही सही पता चलता है। कहा भी है–

विकार हेतौ सति विक्रयन्ते येषा न चेता सि ते एव धीरा ।

अर्थात् विकार के कारण मिलने पर भी जिनके चित्त मे विकार उत्पन्न नही हो वे ही धीर है।

गृहस्थ वर्ग मे हजारो ऐसे नमूने हो गये है जिन्होने जीवन को निष्पाप बनाये रखा तथा निकाचित कर्मबन्ध नही किया। पुरोहित सोमदत्त का लडका काशी से पढकर जब घर आया तो उसके आगमन के उपलक्ष्य मे सारे नगर मे खुशी मनाई जाने लगी। नगर के प्रमुख जनो ने सम्मान पूर्वक उसका नगर प्रवेश कराया। सबके मुँह से एक ही बात थी कि बाप से बेटा सवाया निकला। पुरोहित पुत्र भी यथा योग्य सबका सत्कार करके घर आया और माता के चरणो मे सिर झुका कर उसने प्रणाम किया, पर सामायिक मे होने से माँ वैसे ही उपेक्षित बैठी रही। माँ के इस उपेक्षित स्वागत से पुत्र को सन्तोष नही हुआ और बोला– माताजी बारह वर्ष से मै विद्या पढ कर घर आया हूँ जिसकी सारे नगर मे प्रसन्नता है पर आपके मुख पर प्रसन्नता दिखाई नही देती। क्या कारण है ? क्या मेरी इस सफलता से आपको सन्तोष नही है ? यह सुनकर माता बोली बेटा । सन्तोष क्या बताऊ ? अभी तो तूने १२ वर्षों मे केवल पेट भरने की विद्या सीखी है आत्मोन्नति के ज्ञान-अध्यात्म विद्या का तो उपार्जन किया ही नही। फिर भला मै सन्तुष्ट कैसे होऊँ ? अपना एव अपने परिवार का भरण-पोषण तो जगल के पशु-पक्षी भी कर लेते है और इसके लिये अपेक्षित श्रम से कभी जी नहीं चुराते। एम ए., बी ए., वकील, बैरिस्टर और आचार्य शास्त्री भी भरण-पोषण मात्र ही करते है। इस प्रकार जीवन निभाने की कला सीख लेने से मनुष्य को सन्तोष नही मान लेना चाहिये।

माता के स्पष्ट और सुघरे वचन ने पुत्र के हृदय को उद्वेलित कर दिया। मातृ भक्त होने के कारण उसने ऐसी शिक्षा लेने का सकल्प लिया, जिससे माता को सन्तोष हो। उसने माता से पूछा तो आदेश मिला कि अमुक आचार्य के पास आगमो का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जाओ । आगम का एव पूर्वों के ज्ञान का अभ्यास करने के लिये वह उन जैनाचार्य के पास गया और ज्ञान प्राप्ति के लिए उनका शिष्य हो गया। आज की देविया यदि इस प्रकार अपने पुत्र को आदर्शोन्मुख बनाये तो देश की काया पलट हो सकती है।

विचार बल की छाप आचार पर पडती है। जिसका विचार बल सूना रहेगा उसमे आचार बल की शून्यता स्वयसिद्ध है। स्थूलभद्र रूपकोषा के यहाँ काम जीतने के लिये पहुँचे है ।

"काजर की कोठरी मे, लाख हु सयानो जाय, काजर की एक दाग, लागे पुनि लागे है", की प्रसिद्ध उक्ति को स्थूलभद्र ने गलत सिद्ध करने की चेष्टा की। विकार के सघन मोहक वातावरण में स्वय निर्मल रहकर, दूसरे को भी निर्मल करना, स्थूलभद्र के सामने ये दो आदर्श थे।

रूपकोषा ने स्थूलभद्र से कहा देव ! भोगभवन में विरागी का स्वाग भद्दा और बेढंगा प्रतीत होता है। आपके जैसे तरुणवय भोगी के लिये योगी का रूप पकड़ना नितान्त हास्यास्पद है। आप अपने पुराने रूप में ही हमारे मनो-मन्दिर मे आसन जमावे और भुक्ति रूपा मुक्ति को हस्तगत करें। यह सुनकर स्थूलभद्र ने कहा, "कोषा ! ये रूप और भोग नाशवान् है। जिस रूप और भोग की लौ पर मनुष्य पतगे की तरह टूटता और खाक होता है वह रूप और भोग तो स्वय समय पाकर निस्सार हो जाता है। क्षण भर पहले जिससे ऑखे हटाते अच्छा नही लगता था, क्षण भर बाद उधर ऑखे उठाकर देखने को भी जी नही चाहता। फूलो की रग-बिरंगी चिकनी कोमल पंखुड़ियां, काल पाकर झुलस कर धूल बन जाती है। ससार का रूप परिवर्तनशील है। यहाँ कोई वस्तु एक स्थिति मे रहने वाली नहीं है, मै इसी सत्य का इस बार तुम्हें दर्शन दिलाने यहाँ आया हूँ ।"

यह सुनकर रूपकोषा बोली, "महाराज ! यहाँ धर्म लाभ या ज्ञान-चर्चा की आवश्यकता नही है। यहाँ तो अर्थ लाभ की आवश्यकता है। अर्थ वर्षाओ या कोई ऐसा मार्ग बतादो जिससे अर्थ से भण्डार भर जाये। मैं आपका अभिनन्दन करती हूँ, आशीर्वाद के लिये नहीं किन्तु अर्थ के लिये । कृपया रंगभूमि के अनुकूल रूप बनाकर हमारे मन को सरसाओ।

जो जैसा होगा वह दूसरो को भी वैसा ही बनाना चाहेगा, यह संसार का नियम है। अपशब्द का बदला यदि अपशब्द से नही देना है, तो अपशब्द के प्रत्युत्तर मे निरुत्तर रहना, यह अपशब्द बोलने वाले को हराने की सर्वोत्तम कला होगी। कांटे का जवाब फूल से देना सज्जनाचार है। अपशब्द कहने वाले को अपशब्द से प्रत्युत्तर नही दिया जाये, तो देखने वाला तृतीय व्यक्ति अपशब्द कहने वाले को ही बुरा कहेगा। स्थूलभद्र ने आत्मबल प्राप्त किया था। उसने रूपकोषा से ठहरने का स्थान मागा और रूपकोषा से कहा कि मुझसे एक हाथ दूर रहकर अपने सभी साधनो का प्रयोग करती रहो। उसने रूपकोषा की आशाओ पर तुषारापात कर दिया। रूपकोषा अपने भौतिक बल पर विश्वास करती थी और पुरुष की दुर्बलता पर विजय

पाना उसने आसान समझ रखा था, पर आज उसका सारा विश्वास गलत सिद्ध हुआ।

जिस धन और साधन से जीवन सुधरे, वास्तव मे वही धन और साधन उत्तम है। जो अपने धन और साधन का सदुपयोग करेगा वह लोक और परलोक दोनो मे सुख-शान्ति का अधिकारी होगा ।

---

[४५]

श्रद्धा के दोष

भगवान महावीर ने श्रद्धा-मूलक धर्म की शिक्षा दी है। जहाँ सम्यग्दर्शन और सुश्रद्धा है, वहाँ चारित्र धर्म को चाहे जितना ऊंचा उठाया जा सकता है। चाहे साधु-धर्म हो या गृहस्थ-धर्म, सम्यग्दर्शन की दृढ़ भूमिका, दोनो के लिये अत्यावश्यक है। भगवान महावीर ने आनन्द को सम्बोधित करके सम्यग्दर्शन के पांच दूषण बतलाए। उनमें 'परपाषड-संस्तव' वह पाँचवा दूषण है।

दूषणो का त्याग सबके लिये आवश्यक है। आनन्द ही क्या संसार के समस्त साधक और श्रावक इस सीख से लाभ उठा सकते हैं। जो गृहस्थ के लिये त्याज्य है, वह श्रमण के लिये तो त्याज्य होगा ही। क्योंकि गृहस्थ देश विरति है, अतएव उसके सामने पाप त्याग की सीमा है, किन्तु श्रमण सर्वविरति है, अतः वह सभी पापो एवं दूषणो का त्यागी है।

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा ये तीनो दोष त्याज्य है। इसका कारण यह है कि जिस परम्परा या दृष्टि से साधना की जाये, यदि उसमें विश्वास नहीं हो तो कभी न कभी उसके साधक उस साधना से डिगमिगा जायेंगे। ऐसे ही परपाषंड-प्रशंसा से मिथ्यामार्ग को प्रोत्साहन मिलता है। साधारण लोग भी प्रशंसा से प्रभावित होकर कुमार्गगामी बन जाते है, अतः सम्यग्दर्शनी को कुमार्ग अर्थात् मिथ्यात्व की भी प्रशंसा से दूर रहना चाहिये।

यहाँ वीतराग वाणी में 'स्व-पर' का मर्म कुछ भिन्न ही बताया गया है। यहाँ पर जाति, कुल-धर्म और वर्ण की दृष्टि से नहीं वरन् परमार्थ दृष्ट्या आत्म-गुणो को 'स्व' और जड़-गुण को 'पर' माना गया है। वीतराग भाव की ओर आत्मा को अभिमुख करना यह स्व-समय है, तथा अपने सिवाय संसार की समस्त भौतिक वस्तुओ के अभिमुख वृत्ति को पर-समय माना गया है। पर भाव की दशा में अर्थात् राग या

मिथ्यात्व मे जब साधक कुछ कह जाता है तो वह परदर्शन है, अज्ञान दशा है। आत्मा के शुद्ध भाव मे जो बात कही जाती है, वही स्वदर्शन है। भगवान ने आनन्द को वधमार्ग पर मार्ग की प्रशसा करने से रोका।

हस्तीतापस नामक एक साधु ने नियम कर रखा था कि मै कन्द, मूल, फल और सब्जी न खाकर एक हाथी को मार कर खाऊगा इससे अधिक जीवो की हिंसा बच जायेगी। हस्ती तापस का यह विचार परभाव है, अज्ञान है। उसने सोचा अनेक अनाज के दानो को नष्ट करने के बदले एक बडे जीव को मार कर खा लेना अच्छा है किन्तु यह तर्क भ्रम पूर्ण है। हिंसा का छोटा-बडा होना जन्तुओ की गणना से नही है। स्थावर जन्तु मे चेतना कम विकसित है, चीटी मे कुछ अधिक पशु मे और अधिक तथा मानव मे सबसे उच्च चेतना का विकास है। पशु हमला होने के बाद अधिक शोर करता है, पर चीटी नही। एक अनार्य किसी सूअर को मारता है तो चारों तरफ हल्ला मच जाता है। बकरे सूअर और मुर्गी आदि की हिंसा मे मनुष्य का मन अधिक कठोर होता है। चीटी के लिये मन को उतना कठोर नही करना पडता जरा पैर गिरते ही वह तडफेगी और चेतना शून्य हो जायेगी। स्थावर जन्तुओ की हिंसा मे तडपन, क्रन्दन आदि स्थूल चेष्टा बिल्कुल नही होगी। जितनी ही अधिक चेतनाशील जीव की हत्या होगी उतनी ही बडी हिंसा समझी जायेगी, यह बाहरी लक्षण है।

वनस्पति की तरह मास जीवन के लिये अत्यावश्यक नही है। मासाहार के बिना मानव जीवन चल सकता है परन्तु वनस्पति के बिना जीवन चलना अशक्य है। शेर का बच्चा महीनो दूध पर गुजारा करता है। जगली जातियो के बच्चे भी प्रारम्भ मे दूध पर ही जीवन चलाते है। जैसे फलाहार जीवन मे अनिवार्य है वैसे मासाहार नही। बेपरवाही या कठोर दिल करके आर्तध्वनि सुनकर भी जो न पसीजे वह क्रूर मिथ्यात्वी या अभव्य होगा। यदि कोई हस्तीतापस की इसलिये प्रशसा करे कि वह हस्ती को मारकर गुजर करता है और अनाज के हजारों जीवो की जान बचाता है, तो यह प्रशसा परपाषड प्रशसा रूप है ।

यदि कोई व्यक्ति व्रत करे और उसमे रोटी एव दूध दही नही खावे किन्तु प्याज लहसुन आदि कन्दमूल खाता रहे तो यह प्रशसनीय व्रत नही है। यह तो एक प्रकार का अज्ञान प्रदर्शन है। व्रत का तात्पर्य उत्तेजक एव नशीली वस्तुओ के त्याग से आत्मा को शुद्ध एव निर्मल बनाये रखना है। कोई शादी नही करे उसका त्याग

करले किन्तु वेश्यावृत्ति को खुला रखे, तो यह नीति के विरुद्ध होगा। इसको सुव्रत नही कह सकते। भारतीय परम्परा के अनुसार २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का नियम रखना अच्छा गिना गया है ।

पाश्चात्य देशो मे सदाचार की ओर बड़ा दुर्लक्ष्य है। वहाँ व्यभिचार का खुला ताण्डव चलता रहता है। ब्रह्मचर्य खण्डन को लोग उतना बुरा नही मानते, जितना कि अन्य नैतिक नियमो को तोड़ने को । किन्तु भारत धर्म प्रधान देश है यहाँ के लोग व्रत नियम करके व्यभिचार से बचने की चेष्टा करते है। बिना विवेक के पाश्चात्य देशो की सचाई की प्रशंसा करना भी परपाषंड-प्रशंसा जैसा हो सकता है। व्यापार मे एक वात रखना उन्होने अर्थलाभ मे सहायक माना है, पर राजनीति मे बड़ा से बड़ा झूठ बोलना और विश्वासघात करना उतना बुरा नही मानते। क्योंकि यह राजनीतिक दांव पेंच है। भगवान महावीर का सन्देश है कि कई बार अस्थिर मति वाले इस प्रकार की पाषंड प्रशंसा से गड़बड़ा जाते है। अतएव सम्यग्दर्शनी को इसका परित्याग करना चाहिये। इसी प्रकार साधक को मिथ्यामार्ग वाले का संग यानि अति परिचय भी छोड़ना आवश्यक है। क्योंकि संग दोष से साधना का रूप भी गलत हो सकता है। कहावत भी है कि—

"तुख्म तासीर, सोहबते असर"

जब पाप कर्म कटेगे तो दुःख स्वयं ही मिट जायेगे। क्योंकि पाप और दुःख इन दोनो में कार्यकारण भाव है। दुःख मिटाने के लिये कुछ गलत रीति रिवाज पाले जाते है। व्रत करके पुत्रादि की कामना की जाती है, ऐसे व्रत प्रशंसा के लायक नहीं है। स्वार्थ की भावना से व्रत करना, व्रत के महत्त्व को कम करना है। कामना को दृष्टि में रखकर तथा राग या मिथ्यात्व में पड़कर किये गये व्रत विष मिश्रित पकवान की तरह हेय है। इस प्रकार की परिपाटी मिथ्यात्व को बढ़ाने में सहायक होगी। आज मनुष्य जिसकी प्रशसा कर रहा है, उसकी कल बुराई करने लगता और जिसकी कल बुराई करता था, उसकी आज प्रशंसा करने लगता है।

राजनीति मे कोई नेता हो गया तो उसके दुर्गुण भी प्रशंसनीय बन जाते है। क्या पद पा लेने से उसका बुरापन दूर हो गया, यह विचारणीय विषय है। धर्मनीति मे ऐसा नहीं होना चाहिये, परन्तु राजनीति का प्रभाव पड़ने से यहाँ पर भी दूषण आ जाता है। कल का ऊँचा आज का हीन बन जाता है, यह वाणी की चचलता, मनुष्य की प्रामाणिकता के लिये खतरा है। जिसकी प्रशसा की, ऊचा माना, उसे शीघ्रता से बुरा न कहिये। हर एक का मूल्य आकने से पहले विचार कीजिये।

सम्यग्दर्शनी को अपना विश्वास निर्मल रखने के लिये परपाषड-प्रशसा से दूर रहना चाहिये। इसके विपरीत उसे स्वपाषड प्रशसा करनी चाहिये। सम्यग्दर्शनी दिखावे से आकर्षित नही होता। क्योंकि दिखावे की ओर झुकने वाला कभी-कभी ठगा जाता है। काइ तपस्वी कल देवता से मिलने की बात कह कर आज बीमार पड जाये, तो लोगो का उस पर से विश्वास घट जायेगा। भीतर का मूल्य जहाँ ज्यादा होगा वहाँ बाह्य दिखावा कम होगा कासे की थाली के गिरने पर अधिक आवाज होती है। वैसी सोने की थाली के गिरने पर आवाज नही होती। मूल्य सोने की थाली का अधिक है अत: उसमे झनझनाहट कम है। कहा भी है-

असारस्य पदार्थस्य प्रायेणाडम्बरो महान्।
नहि स्वर्णे ध्वनिस्तादृग्, यादृक् कास्ये प्रजायते ।।

पुण्य-पाप आत्मा परमात्मा और जीव आदि तत्वो पर विश्वास रखने वाला सम्यग्दर्शनी अपने मार्ग पर अडिग रहता है। निश्चल मन वाला खतरे की जगह पर भी जा सकता है। सर्कस का खिलाडी तार के ऊपर साइकिल चला लेता है, कारण उसका सतत् अभ्यास है। किंतु कविवर आनन्दघनजी कहते है-

धार तलवार नी सोहली दोहली चवदमा जिन तणी चरण सेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगर, सेवना धार पर रहे न देवा ।।धार।।

तलवार की धार पर चलना सरल है पर परमात्मा के चरणो की सेवा मे चलना कठिन है।

अज्ञान एव मोह के दुर्बल भावो से हटकर स्थूलभद्र ज्ञान तथा निर्मल भाव के पथ पर अग्रसर हो रहे है। चार माह के लिये अनिन्द्य सुन्दरी रूपकोषा का अन्त:पुर उन्होंने काम विजय के परीक्षण के रूप मे अंगीकार किया। वहाँ स्थूलभद्र ने श्रद्धा का नगर बनाया, सवर का द्वार लगाया तथा क्षमा याचना का परकोटा तैयार किया और इस तरह स्थूलभद्र रूपकोषा के महल मे अडिग भाव से ध्यानस्थ हो गये।

रूपकोषा वस्त्राभूषण तथा विविध हाव भाव एव सरस भोजन से मुनि के मन को ललचाने लगी। उसका विश्वास था कि नारी के इस आकर्षण के आगे मुनि का झुकना बहुत आसान है। इस तरह बहुतो को उसने अपने आगे नतमस्तक किया था। कुछ दिन पहले स्थूलभद्र भी रूपकोषा के मधुकोष मे भ्रमरवत आलिप्त रह चुके थे। अत: वह समझती थी कि वैसे तरुणवय वाला भोग पदार्थों की ओर शीघ्र आकर्षित होता है। जैसे छोटा बच्चा खिलौने की ओर झुक जाता है। अवस्था

दृष्टि से सारी सामग्रियो के द्वारा रूपकोषा ने स्थूलभद्र को ललचाने का भरपूर प्रयास किया। मगर स्थूलभद्र जरा भी विचलित नही हुए। वे तो नित्य शाश्वत, बुद्ध, निष्कलंक एव शुद्ध भावो मे रमण कर रहे थे।

योगी और भोगी कभी एक नही हो सकते और न शुद्ध एवं अशुद्ध कभी एक रूप हो सकता है। इसी तरह की दशा रूपकोषा और स्थूलभद्र की हो रही थी। रूपकोषा ने सोचा कि गुरु के पास कष्ट पाने या सयम के त्रास से ये यहा आए हुए है । बल से न झुकने पर आर्तभाव आदि से अवश्य पिघल जायेगे, ऐसा सोचकर वह करुण क्रन्दन करती हुई स्थूलभद्र के चरणो में गिर पड़ी और बोली कि यदि आप शरण न देगे तो मुझ अभागिनी का गुजारा कैसे होगा। जिसके लिये मैंने अपना लोक और परलोक दोनो बिगाड़ा, वह भी अगर मेरी नहीं सुनेगे तो मै कही की नहीरहूंगी ?

रूपकोषा की आकुलता देखकर स्थूलभद्र अकम्पित भाव से उसे उपदेश देने लगे, जिसका उसके दिल पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

(प्रथम भाग समाप्तम्)

खण्ड द्वितीय

[४६]

अस्तेय-अतिचार

आत्मा स्वभावत चिन्मय आनन्दघन परमेश्वर रूप और परम विशुद्ध है तथापि अनादिकाल से उसके साथ विजातीय द्रव्यो का सम्मिश्रण हो रहा है । विजातीय द्रव्य का सम्मिश्रण ही अशुद्धि कहलाता है । आत्मा मे यही अशुद्धि निरन्तर चली आ रही है । विजातीय द्रव्यो का यह सम्मिश्रण ही जैन परिभाषा म कर्म बन्ध कहलाता है । भगवान् महावीर ने जिस साधनापथ का स्वय अवलम्बन किया और अपने अनुगामिया के समभ जिसे प्रस्तुत किया उसका एकमात्र लम्य कर्म बन्ध का निरोध करना और पूर्व संचित विजातीय तत्वो से अपने आपको पृथक करना है । इसी मे साधना की सार्थकता है साधना की समग्रता है । जिस साधक ने इतना कर लिया, समझ लीजिये कि वह कृतार्थ हो गया । उसे फिर कुछ भी करना शेष नही रहा । अतएव भगवान् महावीर ने कहा है कि साधना के पथ पर अग्रसर हाने से पहले साधक को दो बात समझ लेनी चाहिए –

किमाह बधण वीरो किवा जार्ण तिउटटई ।' अर्थात्

(१) बध और बध का कारण क्या है ?

(२) बध से छूटने का उपाय क्या है ?

शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार बन्ध के कारण को 'आस्रव' कहा गया है । यदि आत्मा की एक सरोवर से कल्पना की जाय तो उसमें नाना दिशाओं स आने वाले विजानीय द्रव्यों अर्थात् कार्मन वर्गणा के पुद्गलों को जल कहा जा सकता है। जिस सरोवर के सलिलागमन के स्रोत बन्द नहीं होते, उसमें जल निरन्तर आता ही रहता है । उस जल को उलीचने का कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाए, सरोवर रिक्त नहीं हो सकता, क्योंकि नया-नया जल उसमें आता रहता है यही स्थिति आत्मा की है । प्रतिक्षण, निरन्तर, निर्जरा यानि जल निष्कासन का, [illegible] है-पल भर के

लिए भी निर्जरा का प्रवाह वन्द नही होता और अनादिकाल से यह क्रम वरावर चल रहा है, फिर भी आत्मा निष्कर्म नही वन सकी । इसका एकमात्र कारण यही है कि प्रतिक्षण, निरन्तर नूतन कर्म वर्गणाओं का आत्मा मे प्रवेश भी होता रहता है । इस प्रकार 'अन्धी पीसे कुत्ता खाय' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है । एक ओर निर्जरा के द्वारा कुछ कर्म पृथक् हुए तो दूसरी ओर आस्रव के द्वारा नवीन कर्मो का आगमन हो गया ! आत्मा वही की वही, जैसी की तैसी । आत्मा की अनादि कालीन मलिनता का यही रहस्य है ।

तो फिर किस प्रकार कर्म से मुक्ति प्राप्त की जाय ? साधक के समक्ष यह महत्वपूर्ण प्रश्न है । ज्ञानियो ने इस प्रश्न का वड़ा ही सुन्दर और युक्तिसगत उत्तर दिया है । सरोवर के जलागमन के स्रोत निरुद्ध कर दिये जाए, नया पानी आने से रोक दिया जाय और पूर्वसचित जल उलीचने आदि से (निर्जरा द्वारा) वाहर निकल जाने पर सरोवर रिक्त हो जाएगा । कर्मों के आगमन स्रोत यानि आस्रव को रोक दिया जाय और निर्जरा का क्रम चालू रखा जाय तो आत्मा अन्ततः निष्कर्म स्थिति, जिसे मुक्ति भी कहते है, प्राप्त कर लेगा ।

यहा एक वात ध्यान रखने योग्य है । तालाव मे जो जल आता है वह ऊपर से दिखलाई देने वाले स्थूल स्रोतो से ही नही किन्तु भूमि के भीतर जो अदृश्य सूक्ष्म स्रोत है, उन से भी आता है । कचरा निकालते समय हवा की दिशा देखकर कचरा निकाला आता है । ऐसा न किया जाय तो वह कचरा उड़ कर फिर घर में चला आता है । किन्तु घर के द्वार बन्द कर देने पर भी वारीक रजकण तो प्रवेश करते ही रहते है । इसी प्रकार साधना की प्राथमिक और माध्यमिक स्थिति में कर्मों के स्थूल स्रोत बन्द हो जाने पर भी सूक्ष्म स्रोत चालू रहते है और उनसे कर्म-रज आती रहती है । किन्तु जव साधना का परिपाक अपनी चरम परिणति मे होता है तो वे सूक्ष्म स्रोत भी अवरुद्ध हो जाते है और एकान्त निर्जरा का तीव्र प्रवाह चालू हो जाता है।

साधना की वह उत्कृष्ट स्थिति धीरे-धीरे प्रचण्ड पुरुषार्थ से प्राप्त होती है । आज आप के लिए वह दूर की मंजिल है । आपको कर्मास्रव के मोटे द्वार अभी बन्द करने है । वे मोटे द्वार कौन-से है ? शास्त्र में पाच मोटे द्वार कहे गए है—हिसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह । पांच आस्रव भी ये ही कहलाते है ।

प्रश्न हो सकता है कि प्राणातिपात यदि पाप है तो उसे आस्रव क्यों कहा गया है ? पाप और आस्रव में भेद है । जब तक प्राणातिपात की कारण रूप हिसा चल रही है, तब तक वह क्रिया है, आस्रव है और कार्य रूप मे पूरा हो

चुकने पर पाप है । किन्तु पाप और आस्रव मे सर्वथा भेद भी नही समझना चाहिए । आस्रव के दो रूप है शुभ और अशुभ । अशुभ आस्रव पाप रूप है । यहा यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि हिसा आदि अशुभ व्यवहार कर्मास्रव के कारण होने से ही पाप कहलाते है ।

कोई व्यक्ति व्रतादि करके तप तो करे किन्तु हिसा जारी रखे तो उसको पाप आता रहेगा, क्योंकि उसने आस्रव का द्वार खुला रखा है । बहुत बार तो ऐसा होता है कि नवीन बन्ध अधिक और उसकी निर्जरा कम होती है। निर्जरा का परिमाण इतना कम होता है कि आने वाला पाप बढ जाता है। किसी की कमाई प्रतिदिन एक रुपया हो और खर्च आठ रुपया, तो ऐसा व्यक्ति लाभ मे नही रह सकता घाटे मे ही रहेगा । वह अपना भार बढा भले ले पर घटा नही सकता। अतएव यह आवश्यक है कि तप उपवास आदि व्रतो के साथ ही साथ हिसादि आस्रवो का भी त्याग किया जाय। नूतन पाप के आगमन के द्वार बन्द कर दिये जाए ।

श्रावक आनन्द की व्रतचर्या से इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पडता है । उसने व्रतो को अगीकार करके पाप का मार्ग छोटा कर दिया था । तीसरे व्रत के पाच दूषणो मे से दो की चर्चा पहले की जा चुकी है जो इस प्रकार है –

(१) चोरी की वस्तु खरीदना और
(२) चोर को सहयोग देना ।

चोर द्वारा चुराई हुई वस्तु लेना अथवा खरीदना प्रथम अतिचार या दोष है। यह प्रत्यक्ष चोरी न होने पर भी अप्रत्यक्ष चोरी है । ऐसा पाप करने से आत्मा हल्की नही रहती । यह वस्तु चोरी की है अथवा नही यह निर्णय करना कठिन नही है क्योंकि चोरी की वस्तु प्राय कम मूल्य मे मिलती है । जो चुराई हुई वस्तुओ को खरीदते है उनकी लोक मे भी विश्वसनीय स्थिति नही रहती शासन के कानून के अनुसार भी वे दण्डनीय होते है । इस प्रकार लौकिक हानि के साथ उनका आत्मिक पतन भी होता है क्योंकि उनमे आसक्ति एव कषाय की बहुलता होती है । इसी प्रकार लूट या डकैती का माल भी श्रावक को नही लेना चाहिए, क्योंकि अनीति से आया होने के कारण ऐसा द्रव्य शान्तिदायक एव फलीभूत भी नही होता ।

दूसरा दोष है चोर को चोरी करने के लिए प्रेरित करना परामर्श देना उपाय बतलाना आदि । मनुष्य यदि शास्त्र के बतलाये मार्ग पर चले तो उसे किसी प्रकार का खतरा नही हो सकता । जो चोरी सम्बन्धी सब दोषो से दूर रहता है उसे भय का पात्र नही बनना पडता । अतः चोर को किसी भी रूप मे सहयोग नही देना चाहिए ।

तीसरा दोष है योग्य अधिकारी की अनुमति प्राप्त किये विना देश-प्रदेश के हितार्थ किये गये किसी निपिद्ध क्षेत्र विशेष मे प्रवेश करना । ऐसा करने से नागरिक की प्रामाणिकता मे बाधा पहुँचती हे ।

एक देश-प्रदेश की सीमा दूसरे देश-प्रदेश से मिली होती है । किसी देश-प्रदेश मे एक वस्तु का मूल्य अधिक होता है तो दूसरे मे उसी का मूल्य अल्प होता है । ऐसी स्थिति मे कुछ लोभ अथवा धन-लोलुपतावश अवैध रूप से उस वस्तु को वहुमूल्य वाले देश-प्रदेश में पहुँचाया करते है । इस प्रकार का व्यापार आज तस्कर व्यापार कहलाता है । आधुनिक कानून की दृष्टि मे भी यह कृत्य चोरी मे गिना जाता है । जैन-शास्त्र सदा से ही चौर्य-व्यापार गिनाता आया है । यह 'विरुद्ध राज्यातिक्रम' होने से चोरी है और इससे अचौर्य व्रत दूषित हो जाता है । यो भी वैध अनुमति के बिना किसी राज्य-प्रदेश की सीमा का उल्लघन करना अतिचार है, क्योकि वह दूसरे राज्याधिकारियो के लिए शका का कारण बन जाता है । ऐसा व्यक्ति, जो किसी दूसरे देश का प्रजाजन है, यदि किसी अन्य देश मे चला जाय तो उसे गुप्तचर समझ कर गिरफ्तार कर लिया जाता हे । हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सीमा के उल्लघन से आधुनिक काल मे ऐसी सेकड़ो घटनाए घटित हुईं और हो रही है ।

अमेरिका के लिए रूस का और रूस के लिए अमेरिका का गगनमण्डल बिना अनुमति के निषिद्ध क्षेत्र है, अतएव उसमे वायुयानो की उड़ान निषिद्ध है । उसमे भेद लेने की आशका हो जाती है । यही कारण है कि एक देश के गगनमण्डल में बिना अनुमति प्राप्त किये यदि दूसरे देश का विमान उड़ता है तो उसे मार गिराया जाता है। इस प्रकार स्थलगत, जलगत और गगनगत, तीनो सीमाओं का अतिक्रमण करना व्रतो का दोष है । इसी प्रकार कोई स्वार्थ के वशीभूत होकर यदि देश की सुरक्षा के नियमो का उल्लघन करता हे एव राजकीय नियमो के विरुद्ध कार्य करता है तो वह भी तीसरे व्रत का अतिचार-दोष है ।

राजकीय विधान के अनुसार कर न देना, सीमा-प्रवेश का टैक्स न चुकाना, बिना टिकिट रेलयात्रा करना आदि भी इस व्रत के अतिचारों में सम्मिलित है । यह सब चोरी के ही विविध रूप है । ऐसा करने से मनुष्य नैतिक दृष्टि से पतित होता है और जो नैतिक दृष्टि से पतित हो वह धार्मिक दृष्टि से उन्नत कैसे हो सकता है? नैतिकता की भूमिका पर ही धार्मिकता की इमारत खड़ी होती है । अतएव जो नीतिभ्रष्ट है, वह धर्म से भी भ्रष्ट होगा ।

नीतिमान् सद्गृहस्थ इन सब अतिचारों से बचकर रहता है । फिर श्रावक का तो कहना ही क्या ? उसका स्तर बहुत ऊंचा और सम्मानित है । यदि श्रावक

आगम प्रतिपादित मार्ग पर चलता है तो उसके गार्हस्थिक कृत्यो मे किसी प्रकार की कठिनाई भी नही आती और वह राजकीय दण्ड से भी सदा-सर्वदा बचा रह सकता है। वास्तव मे जैन शास्त्रा मे प्रदर्शित श्रावक धर्म किसी भी काल के आदर्श प्रजाजनो का एक सुन्दरतम आदर्श विधान है जिसमे लौकिक और लोकोत्तर श्रेयस् की असीम सम्भावनाए निहित है । भूलना नही चाहिए कि जीवन एक अभिन्न-अविच्छेद्य इकाई है जिसे धार्मिक और लौकिक अथवा परमार्थिक और व्यावहारिक खडो मे सर्वथा विभक्त नही किया जा सकता । ज्ञानी का व्यवहार परमार्थ के प्रतिकूल नही होगा और परमार्थ भी व्यवहार का उच्छेदक नही है । अतएव साधक को चाहे वह गृहत्यागी हो या गृहस्थ हो अपने जीवन को अखड तत्व मानकर ही इस प्रकार के जीवन के समस्त पहलुओ के उत्कर्ष मे तत्पर रहना चाहिए । जैन आचार विधान का यही निचोड है ।

इसका आशय यह नही कि प्रजाजनो को निर्वीर्य होकर राजकीय शासन के प्रत्येक आदेश को नेत्र वन्द करके शिरोधाय ही कर लेना चाहिए । राज्य शासन की ओर से टिड्डीमार चूहेमार या मच्छरमार जैसे धर्म विरुद्ध आन्दोलन या आदेश अगर प्रचलित किये जाए अथवा कोई अनुचित कर भार लादा जाय तो उसके विरुद्ध सत्याग्रह या असहयोग करना व्रत भग का कारण नही है । शर्त यही है कि शासन को सूचना देकर प्रकट रूप म ऐसा किया जा सकता है । इस प्रकार का राज्य विरुद्ध कृत्य अतिचार मे सम्मिलित नही होगा क्योंकि वह छिपा कर नही किया जाता। इसके अतिरिक्त उसमे चौर्य की भावना नही वरन् प्रजा के उचित अधिकार के सरक्षण की भावना होगी । इसी प्रकार अगर कोई शासक अथवा शासन हिसा शोषण, अत्याचार अनीति या अधर्म को बढावा दने वाला हो तो उसके विरुद्ध कार्यवाही करना एक नागरिक के नाते उसका कर्त्तव्य है । इसमे कोई धर्म बाधक नही हो सकता । तो यह कार्यवाही भी विरुद्ध राज्यातिक्रम' मे सम्मिलित नही है ।

राज्य की व्यवस्था का जैसा बाह्य रूप है वैसा ही उसका दायित्व भी सीमित है । साधारण मनुष्य राज्य शासन से लाभालाभ की अपेक्षा रखते है । ऋषि मुनि तो अन्तर के राज्य (मनोराज्य) से अथवा धर्मराज तीर्थकर के शासन से शासित होते है । उनकी साधना निराली होती है । वे धर्म शासन के विधान को मान्य करके चलने वाले एक देश को ही नही वरन् समस्त विश्व को प्रभावित करते है। इन्द्र नरेन्द्र भी उनकी साधना एव साधना प्रसूत अनिर्वचनीय अनाकुलता तथा अद्भुत शान्ति के लिए तरसते है । उनकी अद्भुत प्रभावोत्पादक साधना इन्द्रो को भी चकित कर देती है तो मानवा की तो बात ही क्या है ?

महामुनि स्थूलभद्र ने इस सत्य को अपने साधना-जीवन मे चरितार्थ कर दिया और बता दिया कि साधना मे, यदि वह जीवन का अभिन्न अग बन जाए और साधक का अन्तरतम उससे प्रभावित हो जाय तो कितनी शक्ति है ? वेश्या के विलास एव शृगार की सभी सामग्री से सुसज्जित सदन मे रहकर आत्मबल के द्वारा उस महामुनि ने वह साधना की कि जिससे न केवल उसने स्वय का उद्धार कर लिया, वरन् वेश्या का भी उद्धार कर दिया । स्थूलभद्र ने वेश्या से कहा-"भद्रे ! सासारिक भोगो की आग बड़ी विलक्षण होती है । इस आग मे जो अपने जीवन को आहुति देता है, वह एक बार नही, अनेक बार-अनन्त बार मौत के विकराल मुख मे प्रवेश करता है । अज्ञानी मनुष्य मानता है कि मै ये भोग भोग कर तृप्ति प्राप्त कर लूगा मगर उस अभागे को अतृप्ति, असन्तुष्टि, पश्चात्ताप और जन्म-मरण की एक लबी शृखला के सिवाय अन्य कुछ हाथ नहीं लगता ।"

महामुनि ने रूपकोषा को समझाया-"कोषे ! संसार का यह भोग-विलास प्रधान मार्ग दिखने मे तो अति सुन्दर, सुखद एव लुभावना लगता है, मगर प्रभु उससे दूर होते है । अतः यह मार्ग मुझे प्रिय नही है । जिस मार्ग से भगवान् के निकट पहुँचा जा सकता है, मुझे वही मार्ग प्रिय है ।"

हिंसा झूठ कुशील कर्म से, प्रभु होते है दूर ।
दया सत्य समभाव जहा है, रहते वही प्रभु हुजूर ।।

एक कवि ने ठीक ही कहा है-

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर ।
जो लघुता धारण करो, प्रभु प्रभुता होत हुजूर ।।

मुनि ने रूपकोषा से पुनः कहा-"जो प्रभुता का अहकार करता है, अपने को सर्व-समर्थ समझकर दूसरो की अवहेलना करता है उससे प्रभु दूर होते है । किन्तु जो महान् होकर भी अपने को लघु समझता है, जो अन्तरग और बाह्य उपाधियों का परित्याग करके लघु बन जाता है, जो अत्यल्प साधनो से ही अपना जीवन शान्तिपूर्वक यापन करता है, उसे प्रभुता और प्रभु दोनो मिलते है । ज्यो-ज्यो जितनी-२ जीवन मे लघुता एव निर्मलता आती जाएगी त्यों-त्यो उतनी ही प्रभु के निकट तू होती जाएगी ।"

मुनि के इस प्रकार के उद्‌गारो ने रूपकोषा के हृदयकोश को स्पर्श किया। अब तक उसने जीवन के एक ही पहलू को देखा था, अब दूसरा पहलू उसके सामने आया । उसके हृदय-परिवर्तन को लक्षित करके मुनि ने पुनः कहा-"अगर परिपूर्ण सयम की साधना तुझसे न हो सकती हो तो कम से कम मर्यादित संयम को अगीकार करके श्राविका का जीवन अवश्य व्यतीत कर ।"

राजा की आज्ञा में बल होता है दण्ड का और महात्मा के आदेश में बल होता है ज्ञान और करुणाभाव का। निमित्त अनुकूल मिलने से और मुनि के द्वारा विकीर्ण प्रकाश-पुंज से वेश्या का जीवन आलोकित हो उठा। उसकी सुप्त चेतना जागृत हो गई। क्या वेश्या और क्या कसाई, सभी मूलतः अन्तर में निर्मल ज्योति-स्वरूप होते हैं। सबमें समान चैतन्य घन विद्यमान है। परन्तु आत्मा की वह अन्तर-ज्योति और चेतना दबी हुई एवं बुझी हुई रहती है। पर जब एक प्रकार की रगड़ उसमें उत्पन्न होती है तो वह आत्मा जागृत हो जाती है। मूल स्वभाव को देखा जाय तो कोई भी आत्मा कसाई, वेश्या या लम्पट नहीं होती वह शुद्ध, बुद्ध और अनन्त आत्मिक गुणों से समृद्ध है निष्कलंक है। हीरक कण मूल में उज्ज्वल ही होता है फिर भी उस पर धूल जम जाती है उसमें गन्दगी आ जाती है। इसी प्रकार शुद्ध चिन्मय आत्मा में जो अशुद्धि आ गई है वह भी बाहरी है पर संयोग से है पुद्गल के निमित्त से आई हुई है।

कोशा ने अपने जीवन में परिवर्तन कर डालने का निश्चय किया। वह मुनि के चरणों में गिर पड़ी।

मुनि बोले – 'अधीर न हो भद्रे। साधना में अपूर्व क्षमता है। तेरी साधना अतीत की सारी कालिमा धो देगी। आगे कालिमा नहीं लगने देगी। वेश्या चाण्डाल चोर जुआरी और बटमार जैसे सभी पतितों का उद्धार करने वाले पतित पावन भगवान् हैं। मेरु के बराबर पापों की ढेरी भी भगवान् के नामस्मरण से नष्ट हो जाती है। कवि विनयचंदजी ने कहा है–

वेश्या चुगल छिनाल जुआरी चोर महा बटमारो।
जो इत्यादि भजे प्रभु तोने, तो निवृत्त संसारो ॥
पाप पराल को पुंज बन्यो अति, मानो मेरु अकारो।
ते तुम नाम हुताशन सेती, सहजां प्रज्वलत सारो ॥

–पदम प्रभु। पावन नाम तिहारो।

जिस वेश्या का जीवन भोग के कीचड़ में फंसा हुआ था जिसने भोग के सिवाय योग की बात सोची तक नहीं थी, वही अब मुनि की संगति से आत्मोन्मुख हुई और आत्मा के उद्धार के लिए तत्पर हो गई।

आचार्यों ने भी गुण के दो विभाग किए हैं–

(1) दैवी सम्पत्ति–अहिंसा, अभय सत्त्वशुद्धि, सत्य आदि श्रेष्ठ गुण इस कोटि में आते हैं।

(२) आसुरी सम्पत्ति–हिसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, ममत्व मूर्छा आदि दुर्गुण, जो आत्मा को अध.पतन की ओर ले जाते है, इस कोटि मे गिने जाते है ।

मुनिराज ने रूपकोषा को आसुरी सम्पत्ति के बदले दैवी सम्पत्ति की स्वामिनी बनाया और श्राविकाधर्म की दीक्षा दे दी । उसके हृदय की आकुलता, वासना, अशान्ति और सन्तप्तता दूर हो गई । त्याग मे जो अद्भुत अवर्णनीय आनन्द और तृप्ति है, उसे त्यागी ही अनुभव कर सकता है, वह उसे प्राप्त हो गई । उसका जीवन साधना के पथ पर अग्रसर हुआ ।

रूपकोषा की तरह जो अपने जीवन को आनन्द और शान्तिमय बनाना चाहते हे, उन्हे वासना के पंकिल पथ का परित्याग करके साधना के राजमार्ग की ओर मुड़ना चाहिए और उसी पर अग्रसर होना चाहिए । दुर्बल मनोवृत्ति को त्याग कर सबल और शुभ मनोवृत्ति को जगाना चाहिए । ऐसा करने से ही परम मगल का द्वार खुलता हे और इहलोक तथा परलोक आनन्दमय बनता है ।

---

[४७]

अस्तेय के अतिचार

ज्ञानियो के अन्तकरण मे ससार के लघु से लघु और बडे से बडे जीवो के प्रति करुणा और उनकी मगलकामना का सागर लहराता रहता है । उनका हृदय माता के हृदय के समान वात्सल्य से परिपूर्ण होता है । ज्ञानी और माता के हृदय के वात्सल्य मे यदि अन्तर है तो यही कि माता का वात्सल्य खण्डित होता है—अपनी सन्तति तक ही सीमित रहता है और उसमे ज्ञान अथवा अज्ञान रूप म स्वार्थ की भावना का सम्मिश्रण होता है किन्तु ज्ञानी के हृदय के वात्सल्य मे ये दोनो चीजे नही होती । उनका वात्सल्य विश्वव्यापी होता है । वे जगत् के प्रत्येक छोटे बडे परिचित-अपरिचित उपकारक-अपकारक विकसित-अविकसित या अर्धविकसित प्राणी पर समान वात्सल्य रखते है । उसम किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहा होता ।

जगत् का प्रत्येक जीव ज्ञानी पुरष का बन्धु है । जीवन म जब पूर्ण रूप से बन्धुभाव उदित हो जाता है ता सघर्ष जैसी कोई स्थिति नही रहती वैर विराध के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता । यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष के हृदय रूपी हिमालय से करुणा वात्सल्य और प्रेम की सहस्र सहस्र धाराए प्रवाहित होती रहती ह और वे प्रत्येक जीवधारी को शीतलता और शान्ति से आप्लावित करती रहती है । इससे ज्ञानी का जीवन भी भारी नही, हल्का बनता है ।

ज्ञानी अपने लिए जो जीवन नीति निर्धारित करते है वही प्रत्येक मानव के लिए योग्य और उचित नीति है । प्रत्येक मनुष्य सब के प्रति प्रीति और अहिसा की भावना रखकर अपनी जीवनयात्रा सरलता व सुगमता से चला सकता है । आघात-प्रत्याघात से ही जीवन चलेगा, ऐसा समझना भ्रम है । सावधानी क साथ चलने वाला सभी प्राणिया के प्रति समबुद्धि रख कर जीवन चला सकता है । समत्वबुद्धि ही भावकरुणा है । किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना छेदन भेदन न

करना, यह द्रव्य-दया है । राग-द्वेष उत्पन्न न होना भावदया है । जब अन्त.करण मे राग-द्वेष का उद्भव नही होता, तब कषाय के विषैले अकुर नष्ट हो जाते है अर्थात् जब हृदय भाव-दया से परिपूर्ण हो जाता है तब द्रव्य-दया का सहज प्रादुर्भाव होता है । किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि जीवन को परममगल की ओर अग्रसर करने के लिए केवल द्रव्यदया पर्याप्त नही है, भाव-दया भी चाहिए । भाव-दया के बिना जो द्रव्य-दया होती हे, वह प्राणवान् नही होती ।

राग-द्वेष भावहिसा है । भावहिसा करने वाला किसी अन्य का घात करे या न करे, आत्मघात तो करता ही है—उसके आत्मिक गुणो का घात होता ही है ओर यही सबसे बड़ा आत्मघात है ।

साधको के सामर्थ्य और उनकी विभिन्न परिस्थिति की दृष्टि से धर्म के दो विभाग किये गये है—(१) श्रमण धर्म और (२) श्रावक धर्म । श्रमण धर्म के भी अनेक भेद किये गये है । पर वह मूल मे एक है । साधक आसानी से अपनी साधना चला सके, इस उद्देश्य से चारित्र के पाच भेद कर दिये गये है, यद्यपि इन सब का लक्ष्य एक ही हे और उनमे कोई मूलभूत पार्थक्य नही है । भेद इसलिये हे कि सभी साधको का शारीरिक सहनन, मनोबल ओर सस्कार एक-से नहीं होते, अतएव उनकी साधना का तरीका भी एक नही हो सकता । यही कारण है कि चारित्र और तपश्चर्या के अनेक रूप हमारे आगमो मे प्रतिपादित किये गये हे । इनमे से जिस साधक की जैसी शक्ति और रुचि हो, उसी का अवलम्बन करके वह आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर हो सकता है । मगर अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य ओर अपरिग्रह प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है । इनको देशतः स्वीकार किये बिना श्रावकधर्म का और पूर्णरूपेण स्वीकार किये बिना श्रमणधर्म का पालन नही हो सकता। ये पांच व्रत चारित्र धर्म रूपी सौध (भवन) के पाये है, मूल आधार है । आचारात्मक धर्म का प्रारम्भ इन्ही व्रतो से होता है ।

इनमे से अहिसा और सत्य व्रत के अतिचारो की चर्चा की जा चुकी है । अस्तेय व्रत के भी तीन अतिचारो का निरूपण हो चुका है । यहां शेष दो अतिचारो पर विचार करना है ।

(४) हीनाधिक मानोन्मान– वस्तु के आदान-प्रदान मे तोलने-नापने की आवश्यकता पड़ती है । अनेक व्यापारी लोभ के वशीभूत होकर तोलने और नापने के साधन हल्के या भारी रखते है । देते समय हीन बाटो से तोलते और लेते समय अधिक बाटो से । इस प्रकार का तोल-माप कूट अर्थात् झूठा तोल-माप कहलाता है । यह एक प्रकार की चोरी है । श्रावक को तोलने और मापने में

अनुचित-अनैतिक लाभ लेने की प्रवृत्ति नही रखनी चाहिए । तोलने के बाटो का तिलोकचन्द (तीन पाव) शेरसिह (सेर भर) पचानदास (सवा सेर) किलोचन्द (एक किलोग्राम) आदि नामकरण करके लाभ लेने की प्रवृत्ति अगर कोई व्यापारी रखता है तो वह अपना इहलोक और परलोक बिगाडता है ।

तोलने और नापने के साधन सही न रखना राजकीय दृष्टि से भी अपराध है । मापते-तोलते समय उगली या पाव के अगूठे से अन्तर करने वाला पापी है। छल या धोखा करके तोल नाप मे घट-बढ कर देना पाप की प्रवृत्ति है। जिसने अचौर्य व्रत को अगीकार किया है वह इस प्रकार की प्रवृत्ति से सदा दूर ही रहेगा। कपडा भूमि खाद्य एव पेय वस्तु आदि गजो मीटरो एव किलो आदि से मापे तोले जाते है। इन माप-तोलो म न्यूनाधिकता करना छल कपट करना इस व्रत का दूषण है ।

छल कपट का सेवन करके नीति की मर्यादा का अतिक्रमण करके और राजकीय विधान का भी उल्लघन करके धनपति बनने का विचार करना अत्यन्त गर्हित और घृणित विचार है । एसा करने वाला कदाचित् थाडा-बहुत जड धन अधिक सचित कर ले मगर आत्मा का धन लुटा देता है । और आत्मिक दृष्टि से वह दरिद्र बन जाता है । लौकिक जीवन म वह अप्रामाणिक माना जाता है और जिस व्यापारी की प्रामाणिकता (साख) एक बार नष्ट हो जाती है उसे लोग अप्रामाणिक समझ लेते है। उसको व्यापारिक क्षेत्र मे भी हानि उठानी पडती है । आप भली भाति जानते होगे कि पैठ अर्थात् प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा व्यापारी की एक बडी पूजी मानी जाता है । जिसकी पैठ नही वह व्यापारी दिवालिया कहा जाता है । अतएव व्यापार के क्षेत्र म भी वही सफलता प्राप्त करता है जो नीति और धर्म के नियमा का ठीक तरह से निर्वाह करता है ।

श्रावक धर्म म अप्रामाणिकता और अनैतिकता को कोई स्थान नही है । व्यापार केवल धन सचय का ही उपाय नही है । अगर विवेक को तिलाजलि न दे दी जाय और व्यापार के उच्च आदर्शों का अनुसरण किया जाय तो वह समाज की एक बडी सेवा का निमित्त भी हो सकता है । प्रजा की आवश्यकताआ की पूर्ति करना अर्थात् जहा जीवनोपयोगी जो वस्तुए सुलभ नही ह उन्ह सुलभ कर देना व्यापारी की समाज सेवा है किन्तु वह सेवा तभी सेवा कहलाती है जब व्यापारी अनैतिकता का आश्रय न ले एकमात्र अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर अनुचित लाभ न उठावे । सक्षेप म कहा जा सकता है कि श्रावक धर्म का अनुसरण करते हुए जो व्यापारी व्यापार करता है वह समुचित द्रव्यापार्जन करते हुए भी देश और समाज की बहुत बडी सेवा कर सकता है ।

(५) तत्प्रति रूपक व्यवहार–अचौर्य व्रत का पाचवा अतिचार तत्प्रतिरूपक व्यवहार है, जिसका अर्थ है–वताना कोई अन्य माल और देना कोई अन्य माल। वढ़िया चीज दिखाना ओर घटिया चीज देना, असली माल की वानगी दिखा कर नकली दे देना, यह तत्प्रतिरूपक व्यवहार है। इस प्रकार ठगाई करके खराव माल देने वाला अपनी प्रामाणिकता गवा देता हे। माल घटिया हो और उसे घटिया समझ कर ग्राहक खरीदने को तैयार हो तो वात दूसरी है क्योंकि ग्राहक अपनी स्थिति के अनुसार ऐसे माल से भी अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेता है। मगर अच्छा माल दिखलाकर और अच्छे का मूल्य लेकर खराव माल देना या खराव माल मिलाकर देना प्रामाणिकता नही हे।

श्रावक अपने अन्तरग ओर वहिरग को समान स्थितियो मे रखता है। वचन से कुछ कहना और मन में कुछ और रखना एव क्रिया किसी अन्य प्रकार की करना श्रावक-जीवन से सगत नही है। श्रावक भीतर-वाहर मे समान होता है। ससार मे ऐसे व्यक्ति की ओर कोई अगुली-निर्देश भी नही कर सकता। इस लोक और परलोक मे उसकी सद्गति होती है। कहा भी हे कि–

समझू शंके पाप से, अनसमझू हरषत।
वे लूखा वे चीकणा, इण विध कर्म वढंत॥

समझदार अपना कदम सावधानी से रखता हे। वह पाप से उसी प्रकार वचता है जैसे मैले से बचा जाता है। अवोध वालक मैले के ऊपर से हसते-हंसते निकल जाता है किन्तु विवेकवान् व्यक्ति उससे दूर रहता है। इसी प्रकार समझदार हिसा, झूठ, चोरी आदि से तथा क्रोध लोभ आदि से वच कर चलेगा। काली मिर्च या पीपल मे चूहे का विष्टा मिलाने वाले क्या अपनी आत्मा को धोखा नही देते?

आज भारतवर्ष मे मिलावट का वाजार गर्म है। घी मे वनस्पति तेल, दूध मे पानी, दही मे स्याही सोख, आटे मे भाटे के चूरे का मिलाना तो सामान्य वात हो गई है। असली दवाओ मे भी नकली वस्तुए मिलाई जाने लगी है। विना मिलावट के शुद्ध रूप मे किसी वस्तु का मिलना कठिन हो गया है। इस प्रकार यह देश अप्रामाणिकता और अनैतिकता की ओर बड़े वेग के साथ अग्रसर हो रहा है। विवेकशील दूरदर्शी जनो के लिए यह स्थिति चिन्तनीय है। ऐसे अवसर पर धर्म के प्रति अनुराग रखने वालो को और धर्म की प्रतिष्ठा एव महिमा को कायम रखने और वढ़ाने की रुचि रखने वालो को आगे आना चाहिए। उन्हे धर्मपूर्वक व्यवहार करके दिखाना चाहिए कि प्रामाणिकता के साथ व्यापार करने वाले कभी घाटा नही उठाते। घाटे के भय से अधर्म और अनीति करने वालो को मै विश्वास दिलाना चाहता हूँ

कि धर्म किसी भी स्थिति म हानिकारक नही होता । अतएव भय को त्यागकर, धर्म पर श्रद्धा रख कर प्रामाणिकता को अपनाओ । ऐसा करने से आत्मा कलुषित होने से बचेगी और प्रामाणिकता का सिक्का जम जाने पर अप्रामाणिक व्यापारियो की अपेक्षा व्यापार मे भी अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकेगा । जिन्हे उत्तम धर्म श्रवण करने का सुअवसर मिला है उन्हे दूसरो की देखादेखी पाप के पथ पर नही चलना चाहिए । उनके हृदय मे दुर्बलता कुशका और कल्पित भीति (भय) नही होनी चाहिए। ऐसा सच्चा धर्मात्मा अपने उदाहरण से सैकडा अप्रामाणिको को प्रामाणिक बना सकता है और धर्म की प्रतिष्ठा मे भी चार चाद लगा सकता है ।

अचौर्य व्रत को अगीकार करने वाले गृहस्थ को न तो मिलावट का धन्धा करना चाहिए और न असली के बदले नकली वस्तु देनी चाहिए । मिलावट करके देना या नकली चीज देना धोखा है । यह अधर्म है । धर्म का प्राण है सरलता और निर्मलता ।

जो इन पाच दोषो से बचेगा वह प्रामाणिक कहलाएगा और कर्मबन्ध से हल्का होकर अपने भविष्य को मगलमय बनायेगा । इन अतिचारो से बच रहने से व्रतो की सुन्दर भूमिका तैयार हो जाती है ।

धर्म शिक्षा को जीवन मे रमाने के लिए कामवासना को उपशान्त एव नियन्त्रित करना मोह की प्रबलता को दबाना और अमर्यादित लोभ का निग्रह करना आवश्यक है । ऐसा नही किया गया तो धर्म के सस्कार जीवन म बद्धमूल नही हो सकेंगे । जब आत्मा मे सम्यग्ज्ञान की सहस्र सहस्र किरणे फैलती है और उस आलोक से जीवन परिपूर्ण हो जाता है तब काम क्रोध और लोभ का सघन अन्धकार टिक ही नही सकता ।

उदाहरण रूप मे देखिये—

महामुनि स्थूलभद्र की सगति से पाटलिपुत्र की नगर नायिका अपने जीवन म आमूल-चूल परिवर्तन कर लेती है । रूपकोषा के द्वार पर पण्डित की पण्डिताई, कुलीन की कुलीनता और साधु की साधना हवा हो जाती थी । उसके विलास भवन मे वासना की धधकती धूनि में सयम, शील, और सदाचार भस्म हो जाते थे । मगर यह नर-वीर अद्भुत योगी था जिसने चार मास तक उसके घर म ही डेरा डाला । काजल की कोठरी म से वह अछूता निकला । यही नहीं, उसने काजल को अपने सान्निध्य से स्वर्ण रूप म परिवर्तित कर दिया । जामन डालने से दूध दही रूप म बदल जाता है । मुनि ने वाणी का ऐसा जामन डाला कि कोषा की भावना रूपी

दूध मे परिवर्तन आया और वह दही के रूप मे जमने लगी । उसने देशविरति रूप श्राविका धर्म को अगीकार कर लिया ।

सद्भावना और हित भावना से उच्चरित सुवक्ता की वाणी का यदि प्रभाव नहीं पड़ता तो समझना चाहिए कि श्रोता ही अपात्र है । वह दूध ही खराव है जो जामन डालने पर भी नही जमता ।

मगर रूपकोषा वासना के विष मे पगी हुई भी अपात्र नही थी । वाह्य दृष्टि मे जो अधम और पतित से पतित प्रतीत होता है, उसके भीतर भी दिव्यता और भव्यता समाहित हो सकती है । यही कारण है कि ज्ञानी जन उसके प्रति भी घृणा के बदले करुणा का ही भाव रखते है और उसकी दिव्यता को जागृत करने का प्रयत्न करते है । ऐसा वे न करते तो शास्त्रो मे घोरातिघोर कुकर्म करने वाले अर्जुन मालाकार और प्रदेशी राजा के जैसे जीवन चरित्र पढ़ने को हमे कैसे मिलते ?

तो कलदर की तरह मन-मर्कट को इच्छानुसार नचानेवाली रूपकोषा मुनि की वैराग्य रस-परिपूरित वचनावली सुनकर वीतरागता की उपासिका बन गई । मुनिराज स्थूलभद्र उसके गुरु वन गये । 'गु' शव्द अन्धकार का और 'रु' शव्द उसके विनाश का वाचक है । अभिप्राय यह है कि मनुष्य के अन्त.करण में व्याप्त सघन अन्धकार को जो विनष्ट कर देता है, जो विवेक का आलोक फैला देता है वह 'गुरु' कहलाता है । जीवन-रथ को कुमार्ग से बचाकर सन्मार्ग पर चलाने के लिए और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए योग्य गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है । रूपकोषा को सुयोग्य गुरु मिल गए और उसका जीवन-रथ विषय-वासना के कीचड़मय एवं ऊवड़-खावड़ मार्ग से निकल कर साधना के राजमार्ग पर अग्रसर हो चला । उसने वासना के विष को वमन कर दिया और परम-ज्योतिस्वरूप परमात्मा को अपने चिन्तन का लक्ष्य बनाया ।

साधना के साधारणतया दो रूप देखे जाते हैं – (१) सकाम साधना और (२) निष्काम साधना । सकाम साधना लौकिक लाभ के उद्देश्य से की जाती है, उसमें आत्मकल्याण का विचार नही होता, अतएव सच्चे अर्थ मे वह साधना नहीं कहलाती। सकाम साधना के विकृत अतिविकृत रूप आज हमारे सामने है । लोगों ने अपनी-अपनी कामना के अनुकूल साधना की विविध विधियो का आविष्कार कर लिया है और उसी के अनुसार अनेकानेक भिन्न-भिन्न देव-देवियों की सृष्टि कर डाली है । कई देवों और देवियो को तो रक्त-पिपासु के रूप में कल्पित कर लिया गया है । मगर क्या देवी-देवता रक्त से प्रसन्न होंगे ? रक्त की वूद कपड़े पर पड़ जाती है तो मनुष्य उसे तत्काल धोना चाहता है और जब तक नही धो डालता तब तक मन मे

अपावनता का अनुभव करता है । जो रक्त इतना अपावन और अशुचि है उसे क्या देवता उदरस्थ करके सन्तुष्ट और प्रसन्न हो सकता है ? मगर जो स्वय जिह्वालोलुप है और खून जिसकी दाढो मे लग गया है, वह देवी देवता के नाम पर पशु की बलि चढाता है और उसका उपदेश करता है । यह सब निम्न श्रेणी की कामना के रूप है । तुलसीदासजी ने ठीक ही कहा है–

जाकी रही भावना जैसी
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'

अब रूपकोषा का आकर्षण भोगी पुरुषो की ओर न रहकर परमात्मा की ओर हो गया । उसका चित्त भोगो से और भोगसामग्री से विरक्त हो गया । अनादिकालीन मोह के सस्कारो के कारण आत्मा स्वभाव से विमुख होकर विभाव की ओर प्रेरित होती है । ससार मे काम भोग उसे प्रिय लगते है और इसी दुर्वृत्ति के कारण लोग बडे चाव से अपने मकानो की दीवालो पर अश्लील चित्र लगाते है । जहा देखो जनता को भडकाने वाले चित्र दृष्टि पथ मे आते है । इन चित्रो को देखने वाले की मानसिक प्रवत्ति तो पतनोन्मुख होती ही है नारी जाति का अपमान भी होता है । विज्ञापनो तथा केलेडरो के नारी चित्रो की वेशभूषा पूर्ण नग्न नही तो अर्द्धनग्न तो रहती ही है । उनके शरीर पर जो वस्त्र दिखाये भी जाते है वे अगो के आच्छादन के लिए नही प्रत्युत नारी का कुत्सितता के साथ प्रदर्शन करने के लिए ही होते है । आज जनता की सरकार भी इधर कुछ ध्यान नही देती । पर आज की अपने अधिकारो को जानने वाली नारिया भी इस अपमान को सहन कर लेती है यह विस्मय की बात है । अगर महिलाए इस ओर ध्यान दे और सगठित होकर प्रयास करे तो मातृ जाति का इस प्रकार अपमान करने वाला को सही राह पर लाया जा सकता है ।

रूपकोषा ने अपनी चित्रशाला को धर्मशाला के रूप मे बदल दिया । विलास की सामग्री हटा कर उसने विराग की सामग्री सजाई । जहा विलास की वैतरणी बहती थी वहा विराग की महामदाकिनी प्रवाहित होने लगी । श्रृगार का स्थान वैराग्य ने ग्रहण किया ।

वर्षाकाल व्यतीत होने पर महामुनि स्थूलभद्र पाप पक मे लिप्त आत्मा का उद्धार कर के अपने गुरु के निकट चले गए ।

मुनि ने अपने सद्गुणो की सौरभ से वेश्या के जीवन को सुरभित कर दिया। वेश्या के मन का कण-कण मुनि के प्रति कृतज्ञता से परिपूर्ण हो गया । वह

उनके लोकोत्तर उपकार के भार से दब-सी गई । अब उसके चित्त की चचलता दूर हो गई । मन पूरी तरह शान्त हो गया ।

अनुकूल निमित्त मिलने पर जीवन बड़ी तेजी के साथ आध्यात्मिकता मे बदल जाता है ।

बन्धुओ ! जिस प्रकार भूख खाने से ही मिटती है, भोजन देखने या भोज्य-पदार्थों का नाम सुनने से नही, इसी प्रकार धर्म को जीवन में उतारने से जीवन के समग्र व्यवहारो को धर्ममय बनाने से ही वास्तविक शान्ति प्राप्त हो सकती है । जिनका जीवन धर्ममय बन जाता है, वे परम शान्ति और समाधि के अपूर्व आनन्द को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाते हैं ।

---

[४८]

ब्रह्मचर्य

यो तो ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और आत्मा कितनी ही मलिन और निकृष्ट दशा को क्यो न प्राप्त हो जाय उसका स्वभाव मूलत कभी नष्ट नहा होता। ज्ञानालोक की कतिपय किरण, चाहे वे धूमिल ही हा मगर सदैव आत्मा म विद्यमान रहती है । निगोद जैसी निकृष्ट स्थिति म भी जीव मे चेतना का अश जागृत रहता है । इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मा ज्ञानवान् ही कही जा सकती है मगर जैसे अत्यल्प धनवान् को धनी नही कहा जाता विपुल धन का स्वामी ही धनी कहलाता है इसी प्रकार प्रत्येक जीव को ज्ञानी नही कह सकते। जिस आत्मा म ज्ञान की विशिष्ट मात्रा जागृत एव स्फूर्त्त रहती है वही वास्तव म ज्ञानी कहलाता है ।

ज्ञान की विशिष्ट मात्रा का अर्थ है–विवेकयुक्त ज्ञान होना 'स्व पर' का भेद समझने की योग्यता होना और निर्मल ज्ञान होना । जिस ज्ञान म कषायजनित मलीनता न हो वही वास्तव मे विशिष्ट ज्ञान या विज्ञान कहलाता है । साधारण जीव जब किसी वस्तु को देखता है तो अपने राग या द्वेष की भावना का रग उस पर चढा देता है और इस कारण उसे वस्तु का शुद्ध ज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार जिस ज्ञान पर राग द्वेष का रग चढा रहता है जो ज्ञान कषाय की मलीनता के कारण मलिन बन जाता है, वह समीचीन ज्ञान नहा कहा जा सकता । कहा भी है–

तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः ।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिः दिनकर किरणाग्रतः स्थातुम् ॥

जिस ज्ञान के उदय म भी राग, द्वेष मोह अविवेक आदि दूषण बने रहें उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता । जैसे सूर्य के उदय होने पर अधकार नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के उत्पन्न होने पर रागादि नहा रह सकते ।

इस प्रकार का सम्यग्ज्ञान जिन्हे प्राप्त है, उनका दृष्टिकोण सामान्य जनो के दृष्टिकोण से कुछ विलक्षण होता है। साधारण जन जहा वाह्य दृष्टिकोण रखते है, ज्ञानियों की दृष्टि आन्तरिक होती है। हानि-लाभ को आकने और मापने के मापदण्ड भी उनके अलग होते है। साधारण लोग वस्तु का मूल्य स्वार्थ की कसौटी पर परखते है, ज्ञानी उसे अन्तरंग दृष्टि से अलिप्त भाव से देखते हे। इसी कारण वे अपने आपको कर्म वन्ध के स्थान पर भी कर्म निर्जरा का अधिकारी वना लेते है। अज्ञानी के लिए जो आस्रव का निमित्त है, ज्ञानी के लिए वही निर्जरा का निमित्त वन जाता है। आचारांग मे कहा हे–

'जे आसवा ते परिसव्वा,
जे परिसव्वा ते आसवा।'

ससारी प्राणी जहा हानि देखता है, ज्ञानी वहा लाभ अनुभव करता हे। इस प्रकार ज्ञान दृष्टि वाले और वाह्य दृष्टि वाले में वहुत अन्तर है। वाह्य दृष्टि वाला भौतिक वस्तुओ मे आसक्ति धारण करके मलिनता प्राप्त करता है; जवकि ज्ञानी निखालिस भाव से वस्तुस्वरूप को जानता है, अतएव मलिनता उसे स्पर्श नही कर पाती। वहुत वार ज्ञानी और अज्ञानी की वाह्य चेष्टा एक-सी प्रतीत होती है, मगर उनके आन्तरिक परिणामों मे आकाश-पाताल जितना अन्तर होता है। ज्ञानी जिस लोकोत्तर कला का अधिकारी है, वह अज्ञानी के भाग्य मे कहा!

ज्ञानी पुरुष का पौद्‌गलिक पदार्थों के प्रति मोह नही होता, अतएव वह किसी भी पदार्थ को अपना वनाने के लिए विचार ही नही करता और जो उसे अपना नही बनाना चाहता, वह उसका अपहरण तो कर ही कैसे सकता है। वह सोने और मिट्‌टी को समान दृष्टि से देखता है।उसके लिए तृण और मणि समान है।

इस प्रकार जिस साधक की दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है, उसे पदार्थो का स्वरूप कुछ निराला ही नजर आने लगता है। वह आत्मा और परमात्मा को अपने में ही देखने लगता है। उसे अपने भीतर पारमात्मिक गुणो का अक्षय भण्डार दृष्टिगोचर होता है, जिसकी तुलना मे जगत् के वहुमूल्य से वहुमूल्य पदार्थ भी तुच्छ और निस्सार लगते है। वह अपनी ही आत्मा मे अनिर्वचनीय आनन्द का अपार सागर लहराता हुआ देखता है। उस आनन्द की तुलना मे विषय-जनित आनन्द नगण्य और तुच्छ प्रतीत होता है।

इस प्रकार की अर्न्तदृष्टि प्रत्येक प्राणी मे जागृत हो सकती है, मगर उसके जीवन में विद्यमान दोष उसे जागृत नही होने देते। अतएव यह आवश्यक है कि उन दोषो को समझने का प्रयत्न किया जाय। इसी दृष्टि से यहा उनका विवेचन

किया जा रहा है । ऐसे मूलभूत दोष पाच है जिनमे से तीन हिसा असत्य एव चोरी का सविस्तार वर्णन किया जा चुका है ।

स्वदार सन्तोष अथवा स्वपति सन्तोष–जगत् के जीवो मे चाहे वे मनुष्य हो अथवा मनुष्येतर, कामवासना या मैथुनवृत्ति पाई जाती है । मिथुन का अर्थ है जोडा (युगल) मिल कर जो कार्य करते है, वह मैथुन कहलाता है । तथापि मैथुन शब्द कामवासना की पूर्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले कुकृत्य के अर्थ मे रूढ हो गया है अत इसे कुशील भी कहते है । मोह के वशीभूत होकर कामुकवृत्ति को शान्त करने की चेष्टा करना मैथुन है । कामवासना की प्रबलता होने पर मनुष्य विजातीय प्राणियो के साथ भी भ्रष्ट होता है ।

मैथुन के अठारह भेद किये गये है । मैथुनक्रिया आत्मिक और शारीरिक शक्तियो का विघात करने वाली है । इससे अनेक प्रकार के पापो की परम्परा का जन्म होता है । जिस मनुष्य के मस्तिष्क मे काम सम्बन्धी विचार ही चक्कर काटते रहते है वह पवित्र और उत्कृष्ट विचारो से शून्य हो जाता है । उसका जीवन वासना की आग मे ही झुलसता रहता है । व्रत नियम जप तप ध्यान स्वाध्याय और सयम आदि शुभ क्रियाए उससे नही हो सकती । उसका दिमाग सदैव गन्दे विचारो मे उलझा रहता है । पतित भावनाओ के कारण दिव्य भावनाए पास भी नही फटकने पाती । अत जो पुरुष साधना के मार्ग पर चलने का अभिलाषी हो उसे अपनी कामवासना को जीतने का सर्वप्रथम प्रयास करना चाहिए ।

आज इस विषय मे अनेक प्रकार के भ्रम फैले हुए है और फैलाये जा रहे है। एक भ्रम यह है कि कामवासना अजेय है लाख प्रयत्न करने पर भी उसे जीता नही जा सकता । ऐसा कहने वाले लोगो को सयम साधना का अनुभव नही है । जो विषय भोग के कीडे बने हुए है, वे ही इस प्रकार की बाते कह कर जनता को अध पतन की ओर ले जाने का प्रयत्न करते है । 'स्वय नष्ट' पराान्नाशयति'–जो स्वय नष्ट है वह दूसरो को भी नष्ट करने की कोशिश करता है । ऐसे लोग स्थूलभद्र जैसे महापुरुषो के आदर्श को नही जानते है न जानना ही चाहते है । वे अपनी दुर्बलता को छिपाने का जघन्य प्रयास करते है । वास्तविकता यह है कि ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है और मैथुन विभाव या पर भाव है । स्वभाव मे प्रवृत्ति करना न अस्वाभाविक है और न असभव ही । भारतीय सस्कृति के अग्रदूतो ने चाहे वे किसी धर्म व सम्प्रदाय के अनुयायी रहे हो ब्रह्मचर्य को साधना का अनिवार्य अग माना है ।

यह सत्य हे कि प्रत्येक मनुष्य सहसा पूर्ण ब्रह्मचर्य का परिपालन नही कर सकता तथापि सम्पूर्ण त्यागी साधुओ के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्य का अनिवार्य विधान है और गृहस्थ के लिए स्थूल मैथुन त्याग का विधान किया गया है । सद्गृहस्थ वही कहलाता है जो पर-स्त्रियो के प्रति माता और भगिनी की भावना रखता है । जो पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श तक नही पहुँच सकते, उन्हें भी देशतः ब्रह्मचर्य का तो पालन करना ही चाहिए । परस्त्रीगमन का त्याग करने के साथ-साथ जो स्वपत्नी के साथ भी मर्यादित रहता है, वह विशेष रूप से देशतः ब्रह्मचर्य का पालन करके ओजस्वी और तेजस्वी बनने के साथ सयम का पालन करता है । सद्गृहस्थ को ज्ञानीजन चेतावनी देते है कि स्थूल मैथुन का भी त्याग नही करोगे तो स्थूल हानि होगी । सूक्ष्म और आन्तरिक हानि का भले ही हर एक को पता न लगे पर स्थूल अब्रह्म के सेवन से जो स्थूल हानियां होती है, उन्हे तो सारी दुनिया जानती है । जिसने अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लिया है, जिसका मनोबल प्रबल है और जो अपना इहलोक परलोक सुधारना चाहता है वही ब्रह्मचर्य का पालन करता है । इसके विपरीत दुर्बल हृदय-जन अहिसा आदि व्रतों का भी पालन नहीं कर सकता । सत्य का निर्वाह भी निर्बल नही कर सकता । अहिसा और सत्य के पालन के लिए मनोबल और धैर्य की आवश्यकता होती हे । इन्हे उत्पन्न करने वाला और सुरक्षित रखने वाला ब्रह्मचर्य है ।

जगत् मे जितने भी महापुरुष हुए है उन सभी ने एक स्वर से ब्रह्मचर्य की महिमा का गान किया हे । ब्रह्मचर्य की साधना मे अद्भुत प्रभाव निहित है । देवता भी ब्रह्मचारी के चरणो मे प्रणाम करके अपने को कृतार्थ मानते है जैसा प्रभु महावीर ने भी कहा है–

"देव दाणव गन्धव्वा जक्ख रक्खस किन्नरा: ।
बम्भयारि नमं सन्ति दुक्करं जे करंति तं ।।"

ब्रह्मचर्य ऐसी साधना है कि उसकी रक्षा के लिये कतिपय नियमो का पालन करना आवश्यक है। धान्य की रक्षा के लिए जैसे बाड़ की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए भी बाड़ो की आवश्यकता है । शास्त्रो मे ब्रह्मचर्य के सहायक एवं रक्षक नियमो की (ऐसी बाड़ो की) संख्या नौ बतलाई गई है ।

जहां स्त्री, हिजड़ा और पशु निवास करते हो, वहां ब्रह्मचारी पुरुष को नही रहना चाहिए । ब्रह्मचारिणी स्त्री के लिए भी यही नियम जाति-परिवर्तन के साथ लागू होता है । इसी प्रकार मात्रा से अधिक भोजन करना, उत्तेजक भोजन करना, कामुकतावर्धक बाते करना, विभूषा-श्रृंगार करना और इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति

धारण करना इत्यादि ऐसी बात है जिनसे ब्रह्मचारी को सदैव बचते रहना चाहिए। जो इनसे बचता रहता है उसके ब्रह्मचर्य व्रत को आच नही आती। जिस कारण से भी वासना भडकती हो उससे दूर रहना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है।

प्रत्येक मनुष्य स्थूलभद्र और विजय सेठ नही बन सकता। स्थूलभद्र का कथानक आपने सुना है। विजय सेठ भी एक महान् सत्वशाली गृहस्थ थे जिनकी ब्रह्मचर्य साधना बडे-बडे योगी की साधना से समता कर सकती है। विवाह होने से पूर्व ही उन्होंने कृष्णपक्ष मे ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा अगीकार की थी। उनकी पत्नी विजया ने भी विवाह से पूर्व ही एक पक्ष शुक्लपक्ष म ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ली थी। सयोगवश दोना विवाह के बन्धन मे आबद्ध हो गए। दोनो एक साथ रहे फिर भी अपना व्रत अखडित रख सके। माता को बिलगाव मालूम न हो और शुद्धवासना विहीन प्रेम भी बना रहे एसा आदर्श जीवन उस दम्पत्ति ने व्यतीत किया। वे विशिष्ट साधक थे, किन्तु साधारण साधक के लिए तो यही श्रेयस्कर है कि ब्रह्मचर्य की साधना के लिए वह स्त्री के सान्निध्य म न रहे और एकान्त म वार्तालाप आदि तक न करे।

मुनि स्थूलभद्र का साधना उच्चकोटि की थी। उनका सयम अत्यन्त प्रबल था। एक शिशु को जिसमे कामवासना का उदय नही हुआ है इन्द्राणी भी षोडशवर्षीया सुन्दरी का रूप धारण करके आवे तो उसे नही लुभा सकती। स्थूलभद्र ने अपने मन को बालक के मन के समान वासना विहीन बना लिया था। यही कारण है कि प्रलोभन की परिपूर्ण सामग्री विद्यमान होने पर भी रूपकोषा उन्हे नही डिगा सकी बल्कि उन्होंने ही रूपकोषा के मन को सयम की ओर मोड दिया।

वर्षावास का समय समाप्त हो गया। मुनिराज प्रस्थान करने लगे। रूपकोषा उन्हे विदाई दे रही है। बडा ही भावभीना दृश्य है। मनुष्य का मन सदा समान नही रहता। सन्त समागम पाकर बहुतो के मन पर धार्मिकता और आध्यात्मिकता का रग चढ जाता है किन्तु दूसरे प्रकार के वातावरण में आते ही उसके उतरते भी देर नही लगती। धर्मस्थान म आकर और धार्मिको के समागम म पहुँच कर मनुष्य व्रत और सयम की बात सोचने लगता है किन्तु उससे भिन्न वायुमण्डल मे वह बदल जाता है। सामान्यजना की ऐसी मनोदशा होती है। मुनि स्थूलभद्र मानवीय मन की इस चचलता से भलीभाति परिचित थे। अतएव उन्होंने प्रस्थान के समय रूपकोषा को सावधान किया– भद्रे! तू ने अपने स्वरूप को पा लिया है। अब सदा सतर्क रहना काम क्रोध की लहर तेरे मन मानस सरोवर म न उठने पावे और उनसे तेरा जीवन मलिन न बन जाय। तेरा परावारूप विकारमय जीवन चला गया है कुसगति का निमित्त पाकर तेरे निज रूप पर पुन कचरा न आ

जाय । पावन जीवन की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि पाप की मलिन वृत्तियो से सदैव अपने को बचाया जाय । देखना, आज तेरे जीवन मे जो निर्मलता और भव्यता आई है, वह वासना के विष से विषाक्त न बन जाय । तेरे जीवन में महामंगल का जो द्वार खुल गया है वह बन्द न हो जाय । अन्तःकरण मे जो पवित्र प्रकाश उदित हुआ है, वह मोह के काले-काले बादलों से आच्छादित न हो जाय । आत्म-कल्याण की ओर बढ़ाया हुआ कदम पीछे न हट जाय या वही का वहीं न रह जाय, इस बात के लिए सदा सावधान रहना । कल्याण के पथ पर प्रतिपल अग्रसर होते जाना ही जीवन को सफल बनाने का उपाय हे ।"

"जब तक रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा स्वर्ण शुद्ध नही किया जाता, तब तक वह अशुद्ध रहता है । खान से निकले सोने मे वह चमक नही होती उस समय उसमें मैल मिला रहता है । कर्म के सघन आवरण से तेरी आत्मा की कान्ति भी फीकी पड़ी हुई थी, अब वह उज्ज्वल हो गई है । वह पुनः फीकी न पड़ जाय, यह ध्यान में रखना । विकास की गति अवरुद्ध न हो जाय, निरन्तर जीवन प्रगति की ओर बढ़ता जाय, यह स्मरण रखना ।"

मुनि ने कोषा से फिर कहा—"मंगलमयि ! अतीत को भूल जाना और यह मानना कि यही तेरे जीवन का शुभ प्रभात है । तेरे जीवन की अन्धकारमयी विकराल रात्रि समाप्त हो गई है, अब सुनहरा प्रभात उदित हुआ है । प्रभात का यह पवित्र प्रकाश निरन्तर प्रखर होता रहे, तेरा जीवन पवित्रता की ओर बढ़ता रहे और निर्मल से निर्मलतर बनता जाय, यही मेरी मंगलकामना है । पुण्य के उदय से मिली हुई यह उत्तम सामग्री – मानव-जीवन, परिपूर्ण इन्द्रिया, नीरोगता, सत्समागम, धर्मश्रवण का सुयोग आदि – निरर्थक न हो जाय । यह सामग्री धर्म की आराधना मे लगे और आत्मा मे निर्मल भाव को जागृत करे तो ही इसकी सार्थकता हे ।"

मुनि की भावपूर्ण वचनावली श्रवण कर रूपकोषा का ह्दय सद्भावना से परिपूर्ण हो गया । उसका अन्तर अधिक साहस एव सत्संकल्प से भर गया । उसने अतिशय नम्रता और दृढ़ता से कहा – "योगिराज ! मै अपने को हीरा-कणी के समान बनाये रखूगी । हीराकणी कीचड़ में भी अपनी कान्ति नहीं छोड़ती । कीचड़ की मलिनता उसमें प्रवेश नहीं कर सकती । मै गृहस्थी मे रहकर भी पाप की कालिमा से बची रहने का प्रयास करूगी और जिन व्रतो को अगीकार किया है, उन्हे अखंडित रखूगी । आप मेरे विषय में निश्चिन्त रहें । आप जैसे योगी का समागम पाकर मै धन्य हो गई हूँ । आपकी प्रभावपूर्ण वाणी को श्रवण करने से मेरा अज्ञानान्धकार विलीन हो गया है । ह्दय में पवित्र ज्योति आलोकित हुई है । विश्वास रखिए

महात्मन् । वह अब बुझने नही पाएगी । प्रभो । आप करुणा और ज्ञान के सागर है। प्रकाश के पुज है । मेरी हार्दिक कामना है कि जैसे आपकी सगति से मुझ अधम का उद्धार हुआ है उसी प्रकार जगत् के अन्य पतित प्राणिया का भी उद्धार हो । आपने जैसे एक जीवन को पवित्र बनाया है वैसे ही जन-जन के जीवन को पवित्र बनाव । योगिन् । आप गगा के निर्मल जल के समान निर्मल है । जन जन के जीवन के लिए वरदान है ।

रूपकोया के हृदय मे मुनि के प्रति अगाध सात्विक अनुराग और पवित्र श्रद्धाभाव है । भौतिक देह के प्रति सयोग वियोग की भावना नही है । वह सकल्प करती है कि मुनि महाराज भले ही चले जाए परन्तु उनका उपदेश उनके द्वारा बिखेरा हुआ पावन आलोक मेरे हृदय से नहीं जाएगा । उसे मै अपने जीवन के उत्थान का मूलमन्त्र बना कर सुरक्षित रखूगी ।

ससार के जीवो की परिणति बडी विचित्र है । सबसे बडी विचित्रता तो यही है कि आत्मा स्वय अनन्त ज्ञान दर्शन और असीम सुख का निधान होकर भी अपने स्वरूप को भूल कर रक बना हुआ है । जब वह अपने वास्तविक रूप को समझ कर उसमे रमण करने लगता है तो ससार के उत्तम से उत्तम पदार्थ भी उसे आनन्ददायक प्रतीत नही होते । उसे सारा विश्व एक निस्सार नाटक के समान भासित होने लगता है । रूपकोया की अब यही मनोदशा थी । उसे धर्म चिन्तामणि पाकर अन्य किसी भी वस्तु की कामना नही रह गई थी ।

इस प्रकार रूपकोया मुनि को विदा देती है और अपने जीवन को विशुद्ध बनाने का आश्वासन देती है। मुनि चातुर्मास समाप्त कर गुरु के निकट लौट रहे है।

जैसे महामुनीश्वर स्थूलभद्र विकार विलास एव वासना के विषैले वातावरण म भी अपने को विशुद्ध बनाए रख सके उसी प्रकार हमे भी अपने जीवन को शुद्ध बनाना है । याद रखिए आपने भी मुनिराजो के मुखारविन्द से महावीर की मगल देशना सुनी है । आप भी इसी प्रकार दृढ सकल्पी बने और कैसे भी विरोधी वातावरण म रहकर भी अपनी धर्मभावना मे अन्तर न आने द । आज आपके जीवन मे जो धमभाव उदित हुआ है व हो रहा है वह स्थिर रहे और बढता जाय यही जीवन के अभ्युदय का राजमाग है ।

---

[४९]

ब्रह्मचर्य की विशुद्धि

आचाराग सूत्र मे जीवों की रक्षा का विचार करते हुए निरूपण किया गया है कि किन-किन प्रयोजनो एव कारणो से प्रेरित हो कर अज्ञानीजन हिसा करते है और कैसे उससे बचना चाहिए ? हिसा से बचने और अहिसा का पालन करने के लिए सर्वप्रथम जीव-अजीव को पहचानने की आवश्यकता है । जीव के स्वरूप को जाने बिना हिसा से बचना सभव नही है । शास्त्र मे कहा है कि–

जो जीवे वि न याणेइ अजीवे वि न याणेइ
जीवाजीवे अयाणतो कह सो नाहीइ संजम ।

बहुत-से लोग जीव को अजीव मानकर निःसकोच हिंसा में प्रवृत्त होते देखे जाते है । चलते-फिरते और व्यक्त चेतना वाले जीवो को तो साधारण लौकिक जन भी जीव समझते है किन्तु ऐसे भी जीव होते हे जिनकी चेतना व्यक्त नही होती या जिनकी चेतना के कार्य हमारे प्रत्यक्ष नही होते । वे स्थावर जीव कहलाते है । यद्यपि ज्ञानी के लिए उनकी चेतना भी व्यक्त है, पर चमड़े की आख वाले के लिए वह व्यक्त नही होती । फिर भी यदि गहराई से विचार किया जाय तो उसमे रही हुई चेतना को समझ लेना कठिन नही है । अनुमान और आगम प्रमाणो से तो उसे भी समझने मे कोई कठिनाई नही होगी ।

सब का स्वानुभव इस सत्य का साक्षी है कि जगत् के छोटे-बड़े सभी जीवो को अपनी-अपनी आयु प्रिय है, जीवन प्रिय है, प्राण प्रिय है । मृत्यु सभी को अप्रिय है । सभी जीव दु.ख से उद्विग्न होते है और सुख से प्रसन्न होते है ।

एक राजनीतिज्ञ और विधान शास्त्री धन, भूमि और वस्त्र आदि के हरण को अपराध मानते है तो क्या प्राणहरण अपराध नही है । वास्तव मे प्राणहरण सबसे बड़ा अपराध है, क्योंकि जीवो को प्राण सब से अधिक प्रिय है। बड़े-से-बड़े साम्राज्य

के बदले मे भी यहा तक कि त्रैलोक्य की प्रभुता के बदले म भी, कोई अपने प्राण देने को तैयार नही होता ।

यदि सर्वतोभावेन आत्मस्वरूप की ओर गति करने का लक्ष्य है तथा निज गुणो की रक्षा करनी है तो सभी प्रकार की हिंसा स बचना चाहिए । जैसे मनुष्य का हिंसा को गर्हित समझा जाता है उसी प्रकार मनुष्येतर प्राणधारियो की हिंसा का भी त्याज्य समझना चाहिए ।

आज हमारे देश मे, राजनीतिक क्षेत्र मे भी अहिंसा की चर्चा होती है । भारतीय शासन भी अहिंसा की दुहाई देता है । मगर समझ मे नहा आता कि वह कैसी अहिंसा है । जो सरकार मास, मछली और अडे खाने का प्रचार करती है तो कहना चाहिए वह सही रूप म अहिंसा को समझती ही नही । राजनीतिज्ञो की अहिंसा सभवत. मानव प्राणी तक ही सीमित है । मानवेतर प्राणी अपनी रक्षा के लिए पुकार नही कर सकते सगठित होकर आन्दोलन नही कर सकते असहयाग और सत्याग्रह करने का सामर्थ्य उनम नही है वे शासन को हिला नही सकते और उनसे किसी को 'वोट' लेने का स्वार्थ नही है क्या इसी कारण वे अहिंसा और करुणा की परिधि स बाहर है ? यदि यह सत्य है तो स्वार्थ एव भय पर आधारित अहिंसा सच्चा अहिंसा नही है। वह अहिंसा धर्म और नीति नही है—मात्र पॉलिसी (छल कपट)है ।

मगर याद रखना चाहिए कि जब तक प्राणी मात्र के प्रति अहिंसा और करुणा का दृष्टिकोण नहा अपनाया जाएगा तब तक मानव मानव के प्रति भी अहिंसा का पालन नही कर सकेगा । पशुआ और पक्षिया की हिंसा करने वाले म हिंसा क प्रति झिझक नही रहती तो कभी भी वह मनुष्या की हिंसा भी कर सकता है । राजनीतिक क्षेत्र म अहिंसा सम्बन्धी आन्दोलन की अब तक की असफलता का यही मुख्य कारण है । अधूरी अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती । हिंसा क सस्कारो को मनुष्य के मस्तिष्क स तभी दूर किया जा सकता है जब मनुष्य और मनुष्येतर सभी प्राणियो की हिंसा को पाप समझा जाय और उसके उन्मूलन के लिए प्रयत्न किया जाय । ऐसा करन के लिए अहिंसा को धर्म समझना होगा – पॉलिसी समझने से काम नही चलेगा ।

जैन मनीषियो ने अहिंसा के सम्बन्ध म तलस्पर्शी और अत्यन्त व्यापक चिन्तन किया है । उन्होने असत्य चोरी अब्रह्मचर्य और मूर्च्छा को भी हिंसा का हा

पॉलिसी = नीति । यह शाब्दिक अर्थ है । पर जन प्रचलित अर्थ म यहाँ इसका 'छल-प्रपच' के अर्थ म प्रयोग किया गया है ।

रूप स्वीकार किया है । राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया लोभ आदि जितनी भी दुर्वृत्तिया है, सभी हिसा के अन्तर्गत है । कभी इनसे किसी का घात न भी होता हो तो भी आत्मिक स्वरूप का विघात तो होता ही है और इस अर्थ मे यह स्वहिसा है । ज्ञानीजन इसलिए ऐसी स्वहिसा से भी बचते है ।

उपासकदशांग सूत्र के चालू प्रकरण में मैथुन आदि के विषय मे भगवान् महावीर स्वामी आनन्द आदि को सम्बोधित करके बता रहे है कि कायिक मैथुन स्थूल मैथुन है । स्थूल मैथुन के त्यागी को पाच बातो से बचना चाहिए । स्वदार-सन्तोष ओर स्वपति सन्तोष के पांच अतिचार जानने योग्य है किन्तु आचरण करने योग्य नही है । वे इस प्रकार है-

(१) इत्वरिका परिग्रहीतागमन-परिग्रहीता (विवाहिता) के साथ गमन करना साधारणतया दोष नही माना जाता, लोकिक दृष्टि से अनैतिक कृत्य भी नही गिना जाता, किन्तु अल्प अवस्था की पत्नी से गमन करना अतिचार है-ब्रह्मचर्य व्रत सम्बन्धी दोष है, क्योंकि ऐसा करना उसके प्रति अन्याय है ।

रखैल स्त्री के साथ गमन करना भी दूषण है, क्योंकि वह उसकी वास्तविक स्वकीया पत्नी नही है । जब तक रखेल स्त्री से कायिक सम्बन्ध न हो तब तक अतिचार समझना चाहिए और कायिक सम्बन्ध होने पर अनाचार हो जाता है, अर्थात् काया से सम्बन्ध करने पर स्वदार सन्तोष व्रत पूरी तरह खण्डित हो जाता है ।

(२) अपरिग्रहीतागमन-अविवाहिता - कुमारी अथवा वेश्या को पराई स्त्री न समझ कर उसके साथ गमन करना भी अतिचार है । वास्तव मे वे सब स्त्रिया परकीया ही है । जो स्वकीया (विवाहिता) नही है, उनके साथ सभोग करने से व्रतभग नही होगा, यह धारणा भ्रमपूर्ण है । अतएव स्वकीय पत्नी के अतिरिक्त सभी स्त्रियो को परस्त्री समझना चाहिए ।

(३) अनग क्रीड़ा-कामभोग के प्राकृतिक अगो के अतिरिक्त जो अग है वे यहां अनग कहलाते है । उनके द्वारा काम चेष्टा करना ब्रह्मचर्य व्रत का दूषण है । जब कामुकवृत्ति तीव्रता के साथ उत्पन्न होती है तो मनुष्य का विवेक विलुप्त हो जाता है । वह उचित-अनुचित के विचार को तिलाजलि दे देता है और गर्हित से गर्हित कृत्य भी कर डालता है । अतएव इस प्रकार की उत्तेजना के कारणों से सद्गृहस्थ को दूर ही रहना चाहिए ।

श्रावक भी मोक्षमार्ग का पथिक है । वह अपने जीवन का प्रधान ध्येय सिद्धि (मुक्त) प्राप्त करना ही मानता है और तदनुसार 'यथाशक्ति व्यवहार' भी

करता है । फिर भी वह अर्थ और काम की प्रवृत्ति से सर्वथा विमुख नही हो पाता यह सत्य है मगर अर्थ एव काम सबंधी प्रवृत्ति उसके जीवन म आनुषगिक (गौण) ही होती है । पथिक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए अनेक स्टेशनो और पडावो से गुजरता है मार्ग मे अनेक दृश्य देखता है । निर्धारित स्थान पर पहुँचने के पूर्व बीच म कितनी ही बात देखता सुनता है । इसी प्रकार साधक भी मोक्षमार्ग का पथिक है । वह शब्द रूप आदि को सुनता देखता और अनुभव करता है । भूमि धन आदि से भी उसका काम पडता है, परन्तु वह उनमे उलझता नही और अपने लक्ष्य मोक्ष को नही भूलता ।

कितने ही कामुक अनग क्रीडा करके अपनी काम वासना को तृप्त करते है। ऐसे लोग समाज मे कदाचार को बढाते है अपना सर्वनाश करते है और अपने सम्पर्क म आने वाला को भी अध पतन की ओर ले जाते है । सद्‌गृहस्थ ऐसे कृत्यो से अपने को बचाये रखता है ।

पूर्व काल म, अनेक दृष्टिया से सामाजिक व्यवस्था बहुत उत्तम थी । लोग ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने के बाद गृहस्थाश्रम म प्रवेश करते थे । शिक्षा की व्यवस्था ऐसी थी कि उन्हे ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त होता था। जब कारण शुद्ध होता है तो कार्य भी शुद्ध होता है । अगर कारण म ही अशुद्धि हुई तो कार्य स्वत अशुद्ध हो जाएगा ।

तारुण्य या प्रौढावस्था मे यदि सहशिक्षा हो तो वह ब्रह्मचर्य पालन म बाधक होती है । अच्छे सस्कारो वाले बालक-बालिकाए भले ही अपने को कायिक सम्बन्ध स बचा ले किन्तु मानसिक अपवित्रता स बचना तो बहुत कठिन है । और जब मन म अपवित्रता उत्पन्न हो जाती है तो कायिक अध पतन होते क्या देर लगती है ? तरुण अवस्था म अनगक्रीडा की स्थिति उत्पन्न होने का खतरा बना रहता है । अतएव माता पिता आदि का यह परम कर्तव्य है कि वे अपनी सन्तति के जीवन व्यवहार पर बारीक नजर रखे और कुसगति से बचाने का यत्न करे । उनके लिए ऐसे पवित्र वातावरण का निर्माण करे कि वे गन्दे विचारो से बचे रहे और खराब आदतो से परिचित ही न हो पाए ।

बालको को कुसस्कारो से बचाने और सुसस्कारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि बड़े बूढे घर का वातावरण शुद्ध और सात्विक रखने की सावधानी बरते । जिस घर म धर्म के सस्कार होते हैं धर्म कृत्य किये जाते हैं सन्त महात्माओ के जीवन-चरित पढे सुने जाते हैं सत्साहित्य का पठन पाठन होता है और धर्मशास्त्रो का स्वाध्याय किया जाता है जहा हसी मजाक मे भी गन्दी-गलीच बातो का या

अशिष्ट शब्दो का प्रयोग नही किया जाता और नैतिकता पूर्ण जीवन व्यतीत करने का आग्रह होता है उस घर का वातावरण सात्विक रहता है और उस घर के बालक सुसस्कारी बनते है । अतएव माता-पिता आदि बुजुर्गों का यह उत्तरदायित्व है कि बालको के जीवन को उच्च, पवित्र और सात्विक बनाने के लिए इतना अवश्य करे और साथ ही यह सावधानी भी रखे कि बालक कुसगति के चेप से बचा रहे ।

(४) परविवाहकरण–जैसे ब्रह्मचर्य का विघात करना पाप है उसी प्रकार दूसरे के ब्रह्मचर्य पालन मे बाधक बनना और मैथुन के पाप मे सहायक बनना भी पाप है । अपने आश्रित बालक-बालिकाओ का विवाह करके उन्हे कुमार्ग से बचाना और सीमित ब्रह्मचर्य की ओर जोड़ना तो गृहस्थ की जिम्मेवारी है, मगर धनोपार्जन आदि के उद्देश्य से विवाह सम्बन्ध करवाना श्रावक धर्म की मर्यादा से बाहर है । अतएव यह भी ब्रह्मचर्य-अणुव्रत का अतिचार माना गया है ।

(५) कामभोग की तीव्र अभिलाषा–कामभोग की तीव्र अभिलाषा चित्त मे बनी रहती है तो इससे अध्यवसायो मे मलिनता पैदा हो जाती है । अतएव प्रत्येक श्रावक का यह कर्तव्य है कि वह काम-वासना की वृद्धि न होने दे, उसमे तीव्रता न आने दे । काम-वासना की उत्तेजना के यो तो अनेक कारण हो सकते हैं और बुद्धिमान व्यक्ति को उन सबसे बचना चाहिए, परन्तु दो कारण उनमे प्रधान माने जा सकते है । दुराचारी लोगो की कुसगति और खानपान सम्बन्धी असयम । व्रती पुरुष भी कुसगति मे पड़ कर गिर जाता है और अपने व्रत से भ्रष्ट हो जाता है । इसी प्रकार जो लोग आहार के सम्बन्ध में असयमी होते है, उत्तेजक भोजन करते है, उनके चित्त मे भी काम-भोग की अभिलाषा तीव्र रहती है । *वास्तव में आहार-विहार के साथ ब्रह्मचर्य का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है* । अतएव ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले को इस विषय मे सदा जागरुक रहना चाहिए । मांस, मदिरा, अडा, आदि का उपयोग करना ब्रह्मचर्य को नष्ट करने का कारण है । कामोत्तेजक दवा और तेज मसालो के सेवन से भी उत्तेजना पैदा होती है ।

तीव्र काम-वासना होने से व्रत खण्डित हो जाता है और आत्मा की शक्तिया दब जाती है, अतएव पवित्र और उच्च विचारो में रमण करके गन्दे विचारो को रोकना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य को व्रत के रूप मे अगीकार करने से भी विचारो की पवित्रता मे सहायता मिलती है । मनुष्य के मन की निर्बलता जब उसे नीचे गिराने लगती है तब व्रत की शक्ति ही उसे बचाने मे समर्थ होती है । व्रत अगीकार नहीं करने वाला किसी भी समय गिर सकता है । उसका जीवन बिना पाल की तलाई जैसा है किन्तु

व्रती का जीवन उज्ज्वल होता है। उसमें एक प्रकार की दृढ़ता आ जाती है जिससे अपावन विचार उस पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। अतएव किसी पाप या कुकृत्य को न करना ही पर्याप्त नहीं है वरन् न करने का व्रत ले लेना भी आवश्यक है। पूर्व समय के लोगों की तेजस्विता का कारण ब्रह्मचर्य की सुरक्षा ही है। पूर्व समय में वनराज चावड़ा की बड़ी ख्याति थी। उसके पिता बड़े पराक्रमी थे। वनराज चावड़ा के पिता ने जब वनराज शैशव काल में था उसकी माता के मुख पर हाथ फेर दिया। माता ने विचार किया-बच्चे ने इस घटना को देख लिया है और उसकी लाज लुट गई है। इससे उसके हृदय को इतना गहरा आघात लगा कि उसने प्राणों का परित्याग कर दिया।

आपके विचार में यह घटना साधारण सी हो सकती है और कई लोग वनराज की माता के प्राणोत्सर्ग को कोरी भावुकता कह सकते हैं मगर उसकी पृष्ठ भूमि में तो उदात्त संस्कार मौजूद है। उस पर विचार करने की मैं प्रेरणा देना चाहता हूँ। उस महिला को अपनी लज्जा एवं मर्यादा की रक्षा करने का कितना ध्यान था।

एक कवि ने भारतीयों की वर्तमान दशा का चित्रण करते हुए लिखा है-

हम देखते रहते नजर के सामने ललना परा।
क्योंकि नहीं रमण रहा वह वीर्य बल अनुपम अभी।
हम बन गये निर्वीर्य कायर भीरु क्षयरोगी सभी।

आज तो अधिकारियों को आवेदन पत्र देने की निर्भीकता भी शेष न नहीं रही। ऐसे भीरु मन देश धर्म और दीन हीन सती की क्या रक्षा कर सकेंगे। सदाचार की रक्षा करने के लिए भारत के प्राचीन वीर पुरुषों ने कुछ भी कसर नहीं छोड़ रखी थी। उसके लिए उन्होंने सर्वस्व निछावर कर दिया प्राण तक की आहुति देने में संकोच नहीं किया। भारत माता के बड़े ज्ञानी दानी मानी और वीर पुत्र हुए हैं। नारियों ने भी ऐसे वीरोचित कार्य किए हैं जो पुरुष के द्वारा भी होने संभव न थे। हमारे पूर्वज ज्ञान और विवेक की मशाल लेकर चलते थे इसी कारण ऐसे नर नारियों का जन्म हुआ। बादशाही सल्तनत के समय अन्यायी शासक थे फिर भी उस समय ऐसे वीर पुरुष हुए हैं जो उन्हें राह पर ले आते थे। अकबर ने देश के लोगों की धर्मभावना का आदर किया। वह धर्मान्ध नहीं धर्मसहिष्णु था। कहते हैं वह सभी धर्म के नेताओं से सम्पर्क रखता था।

जब व्यक्ति प्रधान राजतन्त्र में भी ऐसी स्थिति थी तब आज तो प्रजातन्त्र है। प्रजा के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि भारत का शासन चला रहे हैं। फिर भी यदि

शासन हिसा को बढ़ावा दे तो यह प्रजा की कमजोरी या लापरवाही का ही फल है। अगर प्रजा अपनी भावना पर बल दे तो शासको के आसन डोले बिना नही रह सकते । जनभावना के सामने बड़े से बड़े प्रभावशाली शासक को भी झुकना पड़ता है । जनता की माग के सामने कोई शासक खड़ा नही रह सकता । कई कानूनों, यहा तक कि सविधान में भी परिवर्तन करना पड़ता है ।

राजनीति को वारागना की उपमा दी गई है । वह साम दाम से काम निकालती है । अनेकों बार अनेक आश्वासन देकर जनता की उग्र भावना को शान्त कर दिया जाता है मगर अन्ततः वे आश्वासन कोरे आश्वासन ही सिद्ध होते है । आश्वासन देकर शासन यदि तदनुसार कार्य न करे तो सगठित बल से विरोध किया जाता है और तब शासन को झुकना पड़ता है ।

सारे देश के धर्मप्रिय विचारक अहिंसा के पक्षपाती है । वैष्णव समाज, ब्रह्म-समाज, जैन-समाज और बौद्ध-समाज, सभी अहिसा पर विश्वास रखते है । सब के सगठित विरोध के कारण दिल्ली मे रोहतक रोड पर बनने वाला कत्लखाना आखिर रुक ही गया ।

मानव पशुओ की हत्या करके उन्हे उदरस्थ कर लेता है इससे बढ़ कर नृशसता और क्या हो सकती है ? आखिर उन मूक प्राणियो का अपराध क्या है ? क्या उन्हे अपना जीवन-प्रिय नही है ? क्या वे अपने प्राणो को मनुष्य की भांति ही प्यार नहीं करते ? जिस धरती पर मनुष्य ने जन्म लिया है, उसी धरती पर उन पशुओं का भी जन्म हुआ है । ऐसी स्थिति में क्या पशुओ का उस पर अधिकार नही है? धरती का पट्टा किसने लिख दिया है मनुष्य के नाम ? किसने उन्हे धरती पर जीने के अधिकार से वंचित किया है ? हा मनुष्य सबल है और पशु निर्बल, क्या इसी कारण मनुष्य को यह अधिकार है कि वह पशुओ की हत्या करे ? अगर यही न्याय मान्य कर लिया जाय तो जिसकी लाठी उसकी भैस वाली कहावत चरितार्थ होगी । फिर सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य का भी अगर खून कर दे तो कोई अन्याय नही कह सकेगा मगर यह सभ्यता की निशानी नही है । यह बर्बरता का बोलबाला ही कहा जाएगा ।

कई लोग कहते है—जब पशु बूढ़ा हो जाय और काम का न रहे तब उसका पालन-पोषण करने से क्या लाभ ? ऐसे लोग क्या अपने बूढ़े मां-बाप को भी कत्ल कर देंगे ? जिन गायो, भैसो और बैलो से भरपूर सेवा ली, अब जीवन के सन्ध्याकाल मे उन्हें कसाई को सौप देना और उनके गले पर छुरी चलवाना क्या योग्य है ? क्या यही मनुष्य की कृतज्ञता है ? मगर आज यही सब हो रहा है । मनुष्य

अपने को विश्व का एकाधिपति मान कर इतर प्राणियो के जिन्दा रहने के अधिकार को भी स्वीकार करने को तैयार नही है ।

दयावान् गृहस्थो का कर्तव्य है कि वे पशु-पक्षी आदि समस्त मनुष्येतर प्राणियो को अपना छोटा भाई समझे और उनके साथ वही व्यवहार करे जो बडे भाई को छोटे भाई के साथ करना चाहिए । इतना न हो सके तो भी उनके प्रति करुणा का भाव तो रखना ही चाहिए । जब गाय भैस जैसे उपयोगी पशु वृद्ध हो जाए तो उन्हे कसाई के हाथो न बेचे । पशुपालक इन को नही बेचेंगे तो कसाईखाने चलेग ही कैसे ?

आज आदिवासियो तथा अन्य पिछडी जातियो मे दया की भावना तथा अन्य सद्भावनाए उत्पन्न कर दी जाए तो बडा भारी सामाजिक लाभ हो सकता है इससे उनकी आत्मा का जो कल्याण होगा उसका तो कोई मूल्य ही नही आका जा सकता । आज उनके बीच काम करना जैनियो का सर्वोच्च कर्त्तव्य होना चाहिये । इसकी आज सबसे बडी आवश्यकता है ।

पिछडे एव असस्कृत जनो के सुधार के लिए कोरा कानून बना देने से कोई विशेष लाभ नही होगा । असली और मूलभूत बात है उनकी मनोभावनाओ म परिवर्तन कर देना । मनोभावना जब एक बार बदल जाएगी तो जीवन म आमूलचूल परिवर्तन स्वत आ जाएगा फिर उनकी सन्तति परम्परा भी सुधरती चली जाएगी ।

आप जानते है कि समाज व्यक्तियो के समूह से बनता है । अतएव व्यक्तियो के सुधार स समाज का सुधार होता है और समाज क सुधार से शासन म सुधार आता है । अगर आप अपने किसी एक पडौसी की भावना मे परिवर्तन ला देते है और उसके जीवन को पवित्रता की ओर प्रेरित करते है तो समझ लीजिए कि आपने समाज के एक अग को सुधार दिया है । प्रत्येक व्यक्ति यदि इसी प्रकार सुधार के कार्य म लग जाय तो समाज का कायापलट होते देर न लगे ।

आज इस देश म जब अनैतिकता भ्रष्टाचार, घूसखोरी और अप्रामाणिकता आदि दोषो का अत्यधिक फैलाव हो रहा है और मनुष्य की सद्भावनाए विनष्ट होती जा रही है तब इस प्रकार के सुधार की बडी आवश्यकता है । आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र म भ्रष्टाचार प्रवेश कर चुका है । वह निरन्तर बढता गया और उसकी रोकथाम न की गई तो इस देश की क्या दशा होगी कहना कठिन है । अतएव प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को सर्वप्रथम तो अपने जीवन म प्रविष्ट बुराइयो को साहस के साथ दूर करना चाहिए और फिर अपने पडौ[illegible] सुधारने का प्रयत्न करना

चाहिए । अगर आज आप इस पर ध्यान नही देंगे तो कल जाकर घोर पश्चात्ताप करने का समय आ सकता है ।

आप स्थूलभद्र मुनि का आख्यान सुन रहे हे । एक स्थूलभद्र ने रूपकोषा के जीवन को सुधार दिया । क्या उसके सुधार से अनेको का सुधार नही हुआ होगा? सुधार की परम्परा इसी प्रकार प्रारम्भ होती है ।

आत्मबली महामानव मनुष्यो पर ही नही, पशुओं पर भी अपना प्रभाव डालते है और उनको भी कल्याण पथ का पथिक बना देते हे । भारतीय साहित्य में ऐसे उदाहरण प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है । स्थूलभद्र का एक साथी मुनि सिह की गुफा पर चार महीने सिंह के सामने अडोल रहा, यद्यपि सिह उसे देख कर गुर्राया, उसने उग्ररूप भी धारण किया । इधर साधक ने अपनी शान्त दृष्टि सिह की ओर डाली ओर उस दृष्टि मे कुछ ऐसा अद्भुत प्रभाव था कि सिह का सारा उग्र भाव शान्त हो गया। एक क्षण पहले गुर्राने वाला सिह मुनि के चरण चूमने लगा । एक आचार्य ने कहा है –

'अहिसा–प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः ।

जिसके अन्त.करण मे अहिसा की प्रबल भावना होती है, जिसका जीवन अहिंसामय बन जाता है, उसका प्रभाव दूसरो पर पड़े बिना रह नही सकता । अहिसा के आगे वैर-विरोध की समस्त शक्तिया-परास्त हो जाती है । अहिसक के आसपास का समग्र वातावरण शान्तिमय, करुणामय, सात्विकता से परिपूर्ण और पवित्र बन जाता है । मुनि अहिसा के प्रतीक थे और उनके अन्त.करण मे प्रेम एव वात्सल्य का भाव इतना उग्र और गहरा था कि सिंह की सारी हिसा भावना उसके सामने गल कर पानी-पानी हो गई ।

एक मनुष्य अगर अपने जीवन को सुधार लेता है तो दूसरो पर उसका प्रभाव पड़े बिना नही रह सकता । आत्म-बल में ऐसी अपूर्व और अनिर्वचनीय शक्ति है ।

---

[५०]

अममत्व

इस विराट जीवसृष्टि की ओर दृष्टि डालते है तो असख्य प्रकार के जीव दृष्टिगोचर होते है। इस प्रकार भेद भी किसी एक आधार पर नही है । शरीर सस्थान की दृष्टि से देखे तो भिन्नता है इन्द्रियो की सख्या की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी विषमता प्रतीत होती है। बौद्धिक स्तर भी सबका एक सा नही है ।

इसके विपरीत जब आगमा की गहराई मे उतरते है तो कुछ दूसरा ही तत्व विदित होता है । आगम आत्मा की एकता का प्रतिपादन करता है–'एग आया' यह शास्त्र का विधान है जिसका आशय यह है कि चैतन्य सामान्य की दृष्टि से विभिन्न आत्माओ मे एकरूपता है । सभी आत्माए अपने मूल स्वरूप से एक सी है उनमे कोई अन्तर नहा है ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष एक प्रकार का विधान करता है और आप्त प्रणीत आगम दूसरे प्रकार का । इस विरोध का कोई परिहार है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिनागम का कोइ भी विधान प्रमाण से बाधित नही हा सकता और न परस्पर विरोधी ही हो सकता है । प्रत्येक आत्मा मौलिक रूप मे एक समान हाते हुए भी उसम जो विविधता दृष्टिगोचर होती है वह बाह्य निमित्त से है । जल मूल मे एक सा होता है फिर भी अनेक प्रकार की पृथ्वी आदि के ससर्ग से खारा मीठा हल्का भारी शीत-उष्ण आदि रूप धारण कर लेता है । यही आत्मा की स्थिति है । आत्मा कर्मो की विचित्रता के कारण विविध रूपो मे हमे प्रतीत होता है । कर्म यदि सघन और विशिष्ट शक्तिशाली होते है तो वे आत्मिक शक्तियो को अधिक आच्छादित करते है और यदि हल्के होते है तो उतनी सघनता से आच्छादित नहा करते ।

चन्द्रमा के समान निर्मल और सूर्य के समान तेजोमय आत्मा कर्म के आवरण से मलीन हो रहा है । उसकी अनन्त-अनन्त शक्तियां कुठित हा रही है ।

उसके भीतर अमित गुणो का जो खजाना भरा पड़ा है, वह उसको पहचानने मे भी असमर्थ हो रहा है । आत्मा मे अनन्त, असीम, अव्याबाध आनन्द का समुद्र लहरा रहा है, किन्तु उसे आत्मा मूढ़ बनकर पहचानता भी नही है । जब पहचानता ही नही हो तो कैसे उसमे अवगाहन कर सकता है ? और कैसे उसे प्राप्त करने का प्रयास कर सकता है ? आत्मिक आनन्द से वंचित होने के कारण ही उसे विषय-जनित आनन्द को अनुभव करने की कामना उत्पन्न होती है । वह पौद्गलिक पदार्थों से सुख पाने की इच्छा करता है । मगर सुख पुद्गल का धर्म नहीं है । पुद्गल के निमित्त से अनुभव मे आने वाला सुख भी वास्तव मे आत्मा का ही है– आत्मा के सुख-गुण का विकार है । कुत्ता हड्डी चूसता है । हड्डी की रगड़ लगने से उसकी दाढ़ो मे से रुधिर बहने लगता है, मगर वह भ्रमवश समझता है कि यह रुधिर हड्डी मे से प्राप्त हो रहा है । अज्ञानी जीव भी इसी प्रकार के भ्रम मे रहता है। वह आत्मा के सुख को पुद्गलो से प्राप्त होने वाला सुख मान कर उनका संग्रह करने की अभिलाषा करता है, मगर अन्ततः पुद्गलो के संयोग से उसे दुःख की ही प्राप्ति होती है और विविध प्रकार की वेदनाओ का अनुभव करना पड़ता है । इसी से भव परम्परा चालू रहती है । यह भ्रम ही सब अनर्थों की जड़ है। वह आत्मिक सम्पत्ति से वंचित होने के कारण ही पुद्गलो के प्रति रति धारण करता है ।

अनेक जीव ऐसे है जो आत्मा और आत्मिक सम्पत्ति पर विश्वास ही नही करते । उनमे जो सरल हैं, भोले है, वे कदाचित् सन्मार्ग पर आ सकते है, परन्तु जो आग्रहशील हैं, उन्हे सुमार्ग पर लाना संभव नही है । कुछ लोग ऐसे भी है जो आत्मा मे अनन्त ज्ञान की निधि, आनन्द की सम्पदा और चैतन्य के चमत्कार का वर्णन सुनकर आनन्दविभोर हो जाते है, मगर वे उसे प्राप्त करने के लिए कुछ भी नही पाते ।

तो जिसे जिनेन्द्र प्ररूपित तत्व का बोध प्राप्त है, उसको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे आत्मा की ज्ञान-सुख स्वरूप शक्तियां सर्वथा प्रकट हो जाएं, जागृत हो जाएं और आत्मा में तेज प्रस्फुटित हो जाए । साधना के द्वारा कर्म के आवरण को दूर करना चाहिए। आवरण हटते ही आत्मा का नैसर्गिक तेज उसी प्रकार प्रकट हो जाता है जैसे मेघों के हटने पर सूर्य अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हो जाता है ।

सूर्य कितनी ही सघन मेघमाला से मण्डित क्यों न हो, उसकी किरणों की सहज उज्ज्वलता में अन्तर नही पड़ता । मेघो के आवरण से ऐसा मलूम पड़ता है कि सूर्य की किरणो की तेजस्विता कम हो गई है, किन्तु यह भ्रम है। इसी प्रकार

आत्मा मे कोटि-कोटि सूर्यो से भी अधिक जो तेज है वह कम नही हो सकता सिर्फ आवृत होता है। सहज रूप से निर्मल आत्मा मे कोई धब्बा नही लगता । फिर भी वाह्य आवरण को चीर कर अन्तरतर को न देख सकने के कारण हम ऐसा अनुभव करते है कि आत्मा म मलीनता है। वास्तव मे यह हमारा भ्रम है अज्ञान है।

पुद्गल एव पौद्गलिक पदार्थों की ओर जितनी अधिक आसक्ति एव रति होगी, उतना ही आन्तरिक शक्ति का भान कम होगा ।

पाप आचरण के मुख्य दो कारण है । कुछ पाप परिग्रह के लिए और कुछ आरम्भ के लिए किये जाते है । कुछ पापो मे परिग्रह प्रेरक बनता है । परिग्रह आरम्भ का वर्द्धक है । अगर परिग्रह अल्प है और उसके प्रति आसक्ति अल्प है तो उसके लिए आरम्भ भी अल्प होगा । इसके विपरीत यदि परिग्रह बढा और अमर्याद हो गया तो आरम्भ को भी बढा देगा–वह आरम्भ महारम्भ होगा ।

आन्तरिक दृष्टि से अल्पारभ और महारभ तथा अल्पपाप और महापाप और ही ढग से माना गया है । बाह्य दृष्टि से तो ऐसा लगता है कि बडे कुटुम्ब वाले का आरम्भ महारम्भ है ग्रामपति का आरम्भ और भी बडा है तथा चक्रवर्ती राजा के महारम्भ का ता पूछना ही क्या । किन्तु एकान्तत ऐसा समझना समीचीन नही है । जहा सम्यक दृष्टि है कषाय की तीव्रता नही है मूर्च्छा ममता मे गहराई नहीं है आसक्ति कम है वहा बाह्य पदार्थों की प्रचुरता मे भी महापरिग्रह नही होता ।

व्यावहारिक दृष्टि से आनन्द के यहा महारम्भ था । उसका बडा कारोबार था किन्तु बाहर का रूप बढा-चढा होने पर भी जहा दृष्टि मे सम्यकत्व और विरतिभाव आ जाता है वहा आरम्भ का दोष बढा-चढा नही होता । सम्यग्दृष्टि जीव म दर्शनमोहनीय का उदय न होने से तथा चरित्रमोहनीय की भी तीव्रतम शक्ति (अनन्तानुबन्धी कषाय) का उदय न रहने से मूर्च्छा ममता मे उतनी सघनता नही होती जितनी मिथ्यादृष्टि मे होती है। जहा सुदृष्टि आ जाती है वहा आरम्भ विषयक दृष्टि भी सम्यक हो जाती है। जहा सुदृष्टि नही होती वहा अन्धाधुन्ध आरम्भ होता है ।

गृहस्थ के लिये आरम्भ के साथ परिग्रह का परिमाण करना भी आवश्यक माना गया है हिसा असत्य चोरी और कुशील का घटना तब समव होता है जब परिग्रह पर नियन्त्रण रहे । जब तक परिग्रह पर नियन्त्रण नही किया जाता और उसकी कोई सीमा निर्धारित नही की जाती तब तक हिसा आदि पापो का घटना प्राय असमव है ।

सर्वथा परिग्रह विरमण (त्याग) और परिग्रह परिमाण, ये इस व्रत के दो रूप है । परिग्रह परिमाण व्रत का दूसरा नाम इच्छा परिमाण है। कामना अधिक होगी

तो प्राणातिपात और असत्य भी बढ़ेगा। सब अनर्थों का मूल कामना-लालसा है। कामना ही समस्त दु:खो को उत्पन्न करती है। भगवान् ने कहा है–'कामे कमा ही कमिय खु दुक्खं।' यह छोटा-सा सूत्र वाक्य दु:ख के विनाश का अमोघ उपाय हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। जो कामनाओ को त्याग देता है वह समस्त दु:खों से छुटकारा पा लेता है।

साधारण मनुष्य कामनापूर्ति में ही सलग्न रहता है और उसी मे अपने जीवन को खपा देता है। विविध प्रकार की कामनाएं मानव के मस्तिष्क में उत्पन्न होती है और वे उसे नाना प्रकार से नचाती है। इस सम्बन्ध मे सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि कामना का कहीं ओर-छोर नही दिखाई देता। प्रारम्भ में एक कामना उत्पन्न होती है। उसकी पूर्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न करता है। वह पुरी भी नही होने पाती कि अन्य अनेक कामनाए उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार ज्यों-ज्यो कामनाओ को पूर्ण करने का प्रयास किया जाता है त्यो-त्यों उसकी वृद्धि होती जाती है और तृप्ति कही हो ही नही पाती, आगम में कहा है–

'इच्छा हु आगास समा अणंतिया।'

जैसे आकाश का कही अन्त नही वैसे ही इच्छाओं का भी कही अन्त नहीं। जहा एक इच्छा की पूर्ति में से ही सहस्रो नवीन इच्छाओं का जन्म हो जाता हो वहां उनका अन्त किस प्रकार आ सकता है? अपनी परछाईं को पकड़ने का प्रयास जैसे सफल नही हो सकता, उसी प्रकार कामनाओ की पूर्ति करना भी सम्भव नहीं हो सकता। उससे बढ़ कर अभागा और कौन है जो प्राप्त सुख-सामग्री का सन्तोष के साथ उपभोग न करके तृष्णा के वशीभूत होकर हाय-हाय करता रहता है, आकुल-व्याकुल रहता है, धन के पीछे रात-दिन भटकता रहता है, जिसने धन के लिए अपना मूल्यवान मानव-जीवन अर्पित कर दिया वह मनुष्य होकर भी मनुष्य कहलाने का अधिकारी नही है।

पारलौकिक श्रेयस् और सुख की बात जाने भी दी जाय और सिर्फ वर्तमान जीवन की सुख-शान्ति की दृष्टि से ही विचार किया जाय तो भी इच्छाओं को नियन्त्रित करना अनिवार्य प्रतीत होगा। जब तक मनुष्य इच्छाओं को सीमित नही कर लेता तब तक वह शान्ति नहीं पा सकता और जब तक चित्त में शान्ति नही तब तक सुख की संभावना ही कैसे की जा सकती है?

यही कारण है कि इच्छा परिमाण श्रावक के मूलव्रतो में परिगणित किया गया है। इच्छा का परिमाण नही किया जाएगा और कामना बढ़ती रहेगी तो प्राणातिपात और झूठ बढ़ेगा। अदत्त ग्रहण मे भी प्रवृत्ति होगी। कुशील को बढ़ाने में भी

परिग्रह कारणभुत होगा । इस प्रकार असीमित इच्छा सभी पापो और अनेक अनर्थों का कारण है ।

जो पदार्थ यथार्थ मे आत्मा का नही है आत्मा से भिन्न है उसे आत्मीय भाव से स्वीकार करना परिग्रह है । परिग्रह के मुख्य भेद दो है–आभ्यन्तर और बाह्य। रुपया-पैसा महल मकान आदि बाह्य परिग्रह है और क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष, मोह आदि विकार भाव आभ्यन्तर परिग्रह कहलाते है ।

श्रावक आनन्द ने इच्छा परिमाण व्रत अगीकार किया और अन्यान्य पापो को भी घटा लिया । इच्छापरिमाण करने से आन्तरिक परिग्रह भी घट जाता है । बाह्य परिग्रह का ता कुछ नाप तोल भी हो सकता है जैसे जमीन और धन का प्रमाण किया जा सकता है किन्तु आन्तरिक परिग्रह का जो बाह्य परिग्रह की अपेक्षा भी आत्मा का अधिक अहित करने वाला है और आत्मा को अधोगति मे ले जाने वाला है कोई नाप तोल नही हो सकता । उसकी सीमा श्रावक के लिए यही है कि वह प्रत्याख्यान कषाय के रूप मे रहेगा । गृहस्थ साधक का कर्तव्य है कि कदाचित् किसी के साथ वैर विरोध उत्पन्न हो जाय तो उसे चार मास के भीतर भीतर शमन कर ले । अगर चार मास से अधिक समय तक कोई कषाय विद्यमान रहता है तो वह अप्रत्याख्यान कषाय की कोटि मे चला जाता है और अप्रत्याख्यान कषाय के सद्भाव मे श्रावक के व्रत (देशविरति) ठहर नही सकते । अतएव जो श्रावक अपने व्रता की रक्षा करना चाहता है उसे चार महीने से अधिक काल तक कषाय नही रहने देना चाहिए ।

बाह्य परिग्रह मे जमीन खेत मकान चादी सोना गाय भैस घोडा मोटर आदि समस्त पदार्थों का परिमाण करना चाहिए । परिमाण कर लेने से तृष्णा कम हो जाती है और व्याकुलता मिट जाती है । जीवन मे हल्कापन आ जाता है और एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव होने लगता है । आखिर शान्ति तो सन्तोष से ही प्राप्त हो सकती है । सन्तोष हृदय म नही जागा तो सारे विश्व की भूमि सम्पत्ति और अन्य सुख सामग्री के मिल जाने पर भी मनुष्य शान्ति नही प्राप्त कर सकता । मन की भूख मिटाने का एकमात्र उपाय सन्तोष है इच्छा को नियन्त्रित कर लेना है । पेट की भूख तो पाव दो पाव आटे से मिट जाती है मगर मन की भूख तीन लोक के राज्य से भी नही मिटती ।

कहा भी है –

गोधन गजधन रत्नधन कचन खान सुखान ।
जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूल समान ।

धनवान मनुष्य भी अधिक धन की लालसा से प्रेरित होकर बड़े-बड़े आरम्भ करता है । भयानक से भयानक दुष्कर्मों को लालच करवाता है । और जिस धन के लिए मनुष्य इस लोक मे सुखो का परित्याग करता है और परलोक को बिगाड़ता है, वह धन उसके क्या काम आता हे ? इष्टजन का वियोग क्या धन से टल सकता हे ? रोग आने पर क्या धन काम आता है ? जब विकराल मृत्यु अपना मुख फाड़ कर सामने आती है तो धन देकर उसे लौटाया जा सकता हे ? सोने-चादी ओर हीरो से भरी तिजोरिया क्या मोत को टाल सकती हे ? आखिर सचित किया हुआ धन का अक्षय कोष किस बीमारी की दवा हे ? चाहे गरीब हो या अमीर, खाएगा तो खाद्य-पदार्थ ही, हीरा-मोती तो खा नही सकता । फिर अनावश्यक धनराशि एकत्र करने से क्या लाभ हे ? मानव-जीवन जैसी अनमोल निधि को धन के लिए विनष्ट कर देने वाले क्यो नही सोचते कि धन उपार्जन करते समय कष्ट होता हे, उपार्जित हो जाने के पश्चात् उसके सरक्षण की प्रति क्षण चिन्ता करनी पड़ती हे और सरक्षण का प्रयत्न असफल होने पर जब वह चला जाता है, तब दु ख और शोक का पार नही रहता । इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति मे धन, दु ख, चिन्ता, शोक और किसी संस्कृत कवि ने ठीक ही कहा है--

अर्थानामर्जने दु ख, अर्जितानाञ्च रक्षणे ।
आये दु ख व्यये दु:ख, धिगर्थं शोक भाजनम् ।।

अर्थ सन्ताप ही देता है । वास्तव मे धन जीवन के लिए वरदान नही, अभिशाप है। एक अकिचन निस्पृह योगी को जो अद्‌भुत आनन्द प्राप्त होता है वह कुबेर की सम्पदा पालने वाले धनाढ्य को नसीब नही हो सकता ।

कहा जा सकता है कि धन भले ही शान्ति प्रदान न कर सकता हो तथापि गृहस्थ के लिए वह अनिवार्य तो है ही । गृहस्थी का काम धन के बिना नही चल सकता । इस कथन मे सच्चाई मानी जा सकती है, मगर आवश्यकता से अधिक धन के सचय का औचित्य तो इस तर्क से भी नही होता । अमर्यादित धन-सचय की वृत्ति के पीछे गृहस्थी की आवश्यकता नही किन्तु लोलुपता और धनवान् कहलाने की अहकार-वृत्ति ही प्रधान होती है ।

मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएं बहुत कम होती है, किन्तु वह उन्हे स्वेच्छा से बढ़ा लेता है । आज तो मानव व्यक्ति ही नही, देश भी आवश्यकताओं के शिकार हो गए है। विदेशो मे क्या भेजें और कैसे विदेशी मुद्रा प्राप्त करे, यह देश के नेताओ की चिन्ता है । जब उन्हे अन्य पदार्थ भेजने योग्य नही दीखते, तो उनकी नजर पशु-धन की ओर जाती है। बढ़िया किस्म के वस्त्रों, खिलौनों और

मशीनो की पूर्ति के लिए धन कहा से दिया जाय ? इसका एक रास्ता पशु धन है । एक समय भारतवासी सादा जीवन व्यतीत करते थे पर विदेशो का ऋण नही था मगर आज विचित्र स्थिति बन गई है । नन्हे-नन्हे बच्चो को दूध न मिले और गोमास विदेशो मे भेजा जाय। यह सब आवश्यकताओ को सीमित न रखने का फल है ।

प्राचीन काल मे कहावत थी – 'यथा राजा तथा प्रजा । अब प्रजातन्त्र के युग म यह कहावत बदल गई है और यथा प्रजा तथा राजा' के रूप म हो गई है। ऐसी स्थिति मे प्रजा को जागृत होना चाहिए । अगर प्रजा जागृत रहेगी तो शासक वर्ग को भी जागृत रहना पडेगा । प्रजा म अपनी सस्कृति के रक्षण की भावना बलवती होगी तो वह एसी सरकार ही नही बनने देगी जा भारतीय सस्कृति और सभ्यता की जडे उखाडे और भारत की धार्मिक विशेषता का हनन करे । आज सरकार की ओर से हिसा को बढावा दिया जा रहा है यह धर्मप्रिय जनता को विशेष रूप से सोचने योग्य और प्रतिकार करने योग्य मुद्दा है । प्रत्येक अहिसा प्रेमी व्यक्ति को, फिर वह किसी भी धर्म का अनुयायी क्या न हो सगठित होकर निश्चय करना पडेगा कि हम देश की सस्कृति के विरुद्ध कोई कार्य नही होने देगे ।

बन्धुओ । करोडो निरपराध और मूक प्राणियो के प्राण बचाने का प्रश्न है और इसमे व्यक्तिगत स्वार्थ किसी का नही है । अतएव इस क्षेत्र म काम करने वाले कम मिलते है । किन्तु मै विश्वासपूर्वक कहना चाहता हूँ कि इस कार्य स आपको मानसिक शान्ति और सन्तोष प्राप्त होगा । अगर आप चाहते है कि देश मे हिसा न बढे तो प्रत्येक को अपनी आवश्यकताओ को सीमित करना होगा । महाहिसा से बनी वस्तुओ का उपयोग त्यागना पडेगा। वृद्ध और असमर्थ जानवरो का बेचना बन्द करना होगा और गोशाला जैसे सस्थानो म उन्हे रखने की व्यवस्था करनी होगी । गोशाला की आय के लिए दुधारू पशु ही रखे जाय यह भावना गलत है । आय के लिए दूसरे उपाय सोचे जा सकते है परन्तु असमर्थ पशुओ का विक्रय बन्द कर उनका रक्षण तो गोशालाओ का मुख्य लक्ष्य है। इसको नही भूलना चाहिए । घर धनी (स्वामी) अगर अपने जानवरो का पालन-पोषण न कर सके तो सस्थाए उनकी रक्षा की व्यवस्था करे जिससे वे कत्लखाने मे न जा सके । पशु कत्लखाने म न जाए, इस प्रकार की सावधानी रखी जाए, तभी हिसा रोकी जा सकती है ।

अगर व्यक्ति तन धन सम्बन्धी ममता को मोड ले तो व्यवहार और परमार्थ का कोई कार्य होना अशक्य नही है । ममता हटा लेने या कम करने स पाप रुक सकता है । साधक तन, मन और धन से ममता हटा ले तो उनस आदर्श कार्य की सिद्धि हो, इसमे शका ही क्या है ?

मन की ममता हटाने से ही स्थूलभद्र वेश्या की दुर्वृत्ति पर विजयी हो सके और सिंह की गुफा पर रहने वाले साधक ने तन की ममता को मार कर सिंह से विजय प्राप्त की।

मुनि-दीक्षा अंगीकार करने वाला साधक जब अपने को गुरु के श्रीचरणों में अर्पित करता है तब द्रव्य परिग्रह (धन) का त्याग तो कर ही देता है , भाव-परिग्रह के त्याग की परीक्षा भी समय-समय पर होती रहती है । एक मुनि नाग की बांबी पर ध्यान में लीन हो गए। मुनि ध्यानावस्था मे एक स्थान से दूसरे स्थान पर नही जाता, वाणी का उच्चारण नही करता और चित्त की चचलता को भी त्याग देता है । इस प्रकार तीनो गुप्तियों से गुप्त मुनि को देख कर नाग का रोष सीमातीत हो गया । उसने विचार किया कोन है यह अभागा जो अपने प्राण देने के लिए मेरी बांबी पर आया हे ! मौत किसे पकड़ कर आज यहां ले आई है ? ऐसा सोचकर उसने फुकार की, मगर मुनि ज्यो के त्यों स्थिर बने रहे । नाग और निकट आया । इस बार उसने अपना मुँह मारा, फिर भी मुनि अडोल अकम्प ! न उनका शरीर चलायमान हुआ और न मन विचलित हुआ । सर्प विस्मय मे पड़ गया । फिर सर-सर करके वह मुनि के गले में लिपट गया । विषविहीन-सा हो गया । जैसे गारुड़ी लोग सर्प को वश में कर लेते है, वैसी ही स्थिति इस सर्प की हो गई ।

जैसे समुद्र मे विस्फोट होने से बम का विष विलीन हो जाता है । वैसे सर्प का विष मुनिराज के समता-सागर मे विलीन हो गया । वह एक अनोखी स्थिति का अनुभव करने लगा ।

मुनि की मनोदशा का विचार कीजिए । यह तो निश्चित है कि उनके मन मे नाग के प्रति तनिक भी द्वेष उत्पन्न नही हुआ । ऐसा होता तो नाग की हिसक-वृत्ति को ईंधन मिल जाती और उसे डंक मार कर विषवमन करने का अवसर मिल जाता ।

तो क्या मुनि के मन में भय का संचार हुआ ? किन्तु भय भी हृदय की दुर्बलता है और हिंसा का ही एक रूप है । भय उत्पन्न होने पर मनुष्य निश्चल, मौन और शान्त नही रह सकता । अतएव यह मानना स्वाभाविक है कि उनके मन में भय की भावना का भी अविर्भाव नहीं हुआ । और फिर मुनि के लिए भय का कारण ही क्या था ? जो आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी, सत्‌चित्त-आनन्दमय मानता है और समझता है कि ससार का तीक्ष्ण से तीक्ष्ण शस्त्र भी आत्मा के एक प्रदेश को भी उससे अलग नही कर सकता, उसे भय क्यों उत्पन्न होगा ? अमूर्तिक आत्मा पर शस्त्र की पहुँच नही हो सकती । कहा भी है—

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैन दहति पावक' ।'

शस्त्र आत्मा का छेदन नही कर सकते आग उसे जला नही सकती । कोई भी भौतिक पदार्थ आत्मा का कुछ भी विगाड नही कर सकता । जो वहिरात्मा है, शरीर को अपना समझते है, वे ही विष और शस्त्र से भयभीत होते है । जिन्होंने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पहचान लिया है जो पौद्गलिक देह से आत्मा को परे मानते है, उन्हे शरीर का विनाश होने पर भी भय नही होता ।

साप की वावी पर ध्यान जमाने वाले योगी ऐसे ही थे । वे शरीर मे स्थित होने पर भी अपने आपको शरीर से भिन्न समझते थे । अतएव सर्प से उन्हे कोई भय नही था । आत्मज्ञान वास्तव मे अनन्त शक्ति का स्रोत है केवल पर्दा हटाने की आवश्यकता है । अगर हम इस पर्दे को हटा सके तो अनन्त आनन्द हमारे अन्दर ही किलकारिया मारने लगेगा ।

---

[५१]

शुभ-अशुभ

भगवान् महावीर ने साधक की विविध स्थितियाँ बतला कर उसे ध्यान दिलाया कि ससार में विविध प्रकार के कर्म दृष्टिगोचर होते हे किन्तु वे सब मुख्य रूप से दो भेदो के अन्तर्गत हो जाते है (१) शुभ या पुण्य कर्म और (२) अशुभ या पाप कर्म।

पुण्य कर्म और पाप कर्म का भेद यद्यपि उनके विपाक की विविधता के आधार पर किया गया है, किन्तु सूक्ष्मता मे उतरें तो प्रतीत होगा कि यह दोनों प्रकार भी कोई मौलिक नही है । इन दोनो का मूल कार्मणवर्गणा है जो पुद्गल की एक जाति है । कार्माणजातीय पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म और समस्त लोकाकाश मे व्याप्त है। जीव के मनोयोग, वचनयोग और काययोग की प्रवृत्ति या तो शुभ होती है या अशुभ। दोनो प्रकार की प्रवृत्ति से कर्मो का बन्ध होता है । शुभ योग की प्रवृत्ति से शुभ कर्मो का बन्ध होता और उसे पुण्यबन्ध कहते हैं । तथा अशुभ योग की प्रवृत्ति से अशुभ कर्मो का बन्ध होता है, जिसे पापबन्ध कहते है । पुण्यकर्म का फल जीव को इष्ट रूप में प्राप्त होता है और पापकर्म का फल अनिष्ट रूप मे मिलता है, ससार मे जितने भी इष्ट संयोग है, मनोरम फल है, अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है, वह सब पुण्य का परिणाम है और जितने भी अनिष्ट, अमनोज्ञ और अकाम्य फल है, वे सब पाप के परिपाक है । साधारणतया सामान्य संसारी जीव पुण्य को उपादेय और पाप को हेय समझते है और व्यावहारिक दृष्टि से यह ठीक भी है, किन्तु निश्चय दृष्टि से पुण्य और पाप दोनो ही उपादेय नही है । शुद्ध अध्यात्म दृष्टि से दोनो प्रकार के कर्मो का अन्त होने पर ही सिद्धि, मुक्ति या शुद्ध स्वरूपोपलब्धि होती है । सिद्धि की प्राप्ति में दोनो प्रकार के कर्म बाधक है । मगर इस विषय की विशेष विचारणा यहां नही करनी है । आज तो पुण्य और पाप के विषय मे ही कतिपय विचार प्रस्तुत किये जाएंगे ।

किसी जीव को पूर्वकृत पुण्यकर्म का उदय तो हो किन्तु उस पुण्यकर्म के फलस्वरूप प्राप्त सामग्री का उपयोग वह पापकृत्यो मे कर रहा हो तो वह कर्म उसे ऊपर नही उठा कर नीचे गिरा देगा। पुण्य प्रकृति का भोग करते समय मनुष्य अगर अपनी वर्तमान प्रवृत्ति को न समाले तो वह गिर जाएगा।

उच्च पद, धन सुन्दर शरीर अनुकूल परिवार विनीत पुत्र वैभव बुद्धि, यश कीर्ति ये सब पुण्य के फल है, लेकिन इन्हे पाकर किसी ने यदि इनका ठीक उपयोग न किया, बल पाकर दूसरो को पीडा पहुँचाई, धन का दुरुपयोग किया बुद्धि से कुकल्पनाए करके स्व-पर को अधःपतन की ओर प्रेरित किया इसी प्रकार प्राप्त किसी भी शक्ति का दुरुपयोग किया तो उसका परिणाम सुन्दर नही होगा। ससार मे कितने ही मिथ्या मत पथ प्रचलित है। उन्हे चलाने वाले भी बुद्धिशून्य नही बुद्धिमान लोग ही थे। लेकिन उन्होने पुण्ययोग से प्राप्त बुद्धि का दुरुपयोग किया। कितने राजा महाराजा धन वैभव का प्राप्त करके उससे पापकर्म करते है। शारीरिक शक्ति प्राप्त करके अन्य प्राणियो का सहार करते है। कस को जो शक्ति प्राप्त थी उसका उसने क्या उपयोग किया ? मगर इस प्रकार पुण्य से प्राप्त साधना का जो दुरुपयोग करते है वे अपनी आत्मा को नीचे गिराते है। इस प्रकार भावना यदि शुभ न हो-भावना म पुण्य प्रकृति का उदय न हो तो पुण्य जीव को नीचे भी गिरा देता है। प्राप्त शक्ति तथा वैभव के सदुपयोग का विचार उसे नही मिला। परिग्रह उसके जीवन म ममता तथा आसक्ति का कारण बना इससे उसका पतन हुआ। जगत् म चार प्रकार के मनुष्य होते है – (१) उदितोदित (२) उदितास्त (३) अस्तोदित और (४) अस्तास्त। जो मनुष्य उदय म उदय करने वाला है वह उदितोदित कहलाता है। वर्तमान जीवन मे जो स्वस्थ तन धन भूमि आदि सामग्री मिली है वह पुण्य के उदय के कारण मिली है। उस सामग्री का सदुपयोग करके जो उसके निमित्त से वर्तमान म भी पुण्य का उपार्जन करता है ऐसा पुण्य से पुण्य का उपार्जन करने वाला पुरुष उदितोदित कहा गया है। वह वर्तमान मे उदय को प्राप्त है और भविष्य मे भी उदय को प्राप्त होगा। उसने पूर्वपुण्य के उदय से वैभव धन आदि प्राप्त किया और मति भी पाई और उसका सदुपयोग किया तो फिर ऊचा उठेगा। हम भरत को उदितोदित कह सकते है तो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को उदितअस्त।

यदि दीपक प्रकाश मे रहा है तो मनुष्य उसके प्रकाश मे काम कर सकता है। उसके बुझ जाने पर काम नही किया जा सकता। एक प्रकाशित दीपक हजारो दीपको को प्रकाशित कर सकेगा। छोटा सा दीपक लालटेनो आदि को भी प्रकाश दे सकता है। किन्तु बुझने पर वह किसी काम का नही। जीवन की भी यही स्थिति है। जिसने अपने जीवन मे विवेक प्राप्त किया है वह उदय म उदय

करेगा—अपने को ऊंचा उठाएगा और दूसरो को भी ऊंचा उठाने का प्रयत्न करेगा। जो मनुष्य उदितोदित है वह अपने धन से दीन, हीन, असहाय और विपन्न जनों के दुःख को दूर करेगा। ऐसा करके वह पुनः उदित बनेगा और दूसरों के उदय मे भी सहायक बनेगा। यदि उसे सुबुद्धि प्राप्त है ता दूसरों को सत्परामर्श देकर कुपथ से हटाएगा, सुपथ पर लाने का प्रयत्न करेगा, ज्ञान का प्रकाश देगा। इस प्रकार स्वयं प्रकाशित होने के साथ-साथ दूसरो को भी प्रकाशित करेगा। किसी कवि ने ठीक कहा है—

कमनीय कुन्दन की कान्ति का कलेवर है,
कोन काम का जो काम मारा नही आपने।

माना आप रुस्तम से कम नही, किन्तु क्या,
जो दीनों को विपत्ति से उबारा नही आपने।

कंकरी सी सम्पदा करोड़ों की न कौड़ी की,
जो दिया दीन-दु खी को सहारा नही आपने।

व्यर्थ हुए पण्डित प्रवीण प्रतिभा के पूरे,
देश की दशा को जो सुधारा नहीं आपने।।

अगर कामवासना पर विजय प्राप्त न कर सके तो कुन्दन की सी कान्ति से कलित आपका यह कलेवर किस काम का ? रुस्तम-सा बल पाकर भी यदि गरीबों को विपदा से नही बचाया तो आपका वल किस मर्ज की दवा है ? पुण्य के योग से जो शक्ति प्राप्त हुई हे, उसे पुण्य कार्य मे जो नही लगाता स्व-पर कल्याण मे व्यय नही करता, उसका उस शक्ति को पाना व्यर्थ है। व्यर्थ ही नही वरन् अकल्याण का कारण है। ऐसे अभागे मनुष्य के लिए यही कहा जा सकता है कि उसने हीरे की कणी पाकर उसे आत्मघात का कारण बना लिया ! जो पुण्य-पाप का कारण बनता है वह पापानुबन्धी पुण्य कहलाता है, जो बाह्य मे पुण्य रूप हो कर भी वस्तुतः पाप की ही श्रेणी मे गिना जाता है।

किसी महापण्डित का मस्तिष्क यदि समाज और देश की उन्नति मे नही लगता तो उसका पाण्डित्य किस काम का ? आज के वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों की वहुत-सी सूक्ष्म शक्तियों को समझते है। वे भौतिक पदार्थों के महापण्डित कहे जा सकते है। उनके वैज्ञानिक कौशल ने संसार को कुछ का कुछ बना दिया है। आज वे सुदूरगामी राकेट छोड़ कर चन्द्रमा और मंगल आदि का पता लगाने के लिए प्रयत्नशील है। सैकड़ो चमत्कार उन्होंने इस धरती पर दिखलाए है किन्तु उनकी इस सूक्ष्म प्रज्ञा का नतीजा क्या है ? उस प्रज्ञा के परिणामस्वरूप जिन भयानक अणुबमों

और उद्‌जन बमो का निर्माण हुआ उससे जगत् मे क्या शान्ति हुई है ? बुद्धिमान वैज्ञानिक राजनीतिज्ञा के हाथ की कठपुतली बने हुए है । वे अपनी बुद्धि का दुरुपयोग करके सहारक साधनो का निर्माण करके दुनिया को भीषण सकट मे डाल रहे है । ऐसे पण्डितो की पण्डिताई किस काम की है ?

जो तन से दूसरा की सेवा करेगा, अपनी विद्या का उपयोग दूसरा को सम्यग्ज्ञान देने मे करेगा शक्ति के द्वारा दीना की सहायता करेगा वह मनुष्य उदितोदित माना जाएगा । वह दीपक से दीपक जगाने वाला है पुण्य के द्वारा पुण्य का उपार्जन करने वाला है । उसके पुण्य को पुण्यानुवन्धी पुण्य समझना चाहिए ।

महावीर जैसे महापुरुष आज भी हमारे हृदय मे विराजमान है उनका नाम हमारे हृदय मे पवित्र प्रेरणा उत्पन्न करता है और उनका स्मरण हृदय म श्रद्धा भक्ति का स्रोत प्रवाहित कर देता है क्योंकि उन्होंने स्वय आदर्श जीवन व्यतीत कर जन समाज के उत्थान म महान् योग प्रदान किया । न केवल वाणी के द्वारा ही वरन् उन्होने अपने जीवन व्यवहार से भी उच्च आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित किए । ऐसे महान् व्यक्ति ही जगत् मे वन्दनीय और अभिनन्दनीय होते है ।

इससे विपरीत जो पूजी पाकर स्वय उसका सदुपयोग नहीं करता और दूसरा की सहायता नही करता प्रत्युत दुर्व्यसनो का पोषण करता है वह इस लोक मे निन्दित वनता है और अपरलोक को पापमय बना कर दु खी होता है ।

पूर्वसंचित पुण्य का ही यह फल है कि हम आर्यभूमि म जन्म मिला मानव शरीर मिला धर्म सस्कार वाला कुल मिला धन वैभव मिला और सन्त समागम करने का सुयोग मिला । ऐसी स्थिति मे आगे उदय का क्या रूप हो यह मनुष्य को सोचना चाहिए ।

जीवन की जो अवधि है वह स्थायी टिकने वाली नही यह निश्चित है । शरीर त्यागने क पश्चात् पुन शरीर धारण करना पडे और न भी धारण करना पडे परन्तु शरीर धारण करने के पश्चात् उसे त्यागना तो अनिवार्य ही है । कोई भी मनुष्य न अमर हुआ और न हो सकता है इसी प्रकार पुण्य के खजाने के समाप्त होने की भी अवधि है । जो भी कर्मवन्ध मे बधता है वह चाहे शुभ हो या अशुभ, एक नियत अवधि तक ही आत्मा के साथ बद्ध रह सकता है । अवधि समाप्त होते ही वह आत्मा से पृथक हो जाता है । इस नियम के अनुसार पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म का भी क्षय होना अनिवार्य है । जिस खजाने मे से खर्च ही खर्च होता रहता है और नवीन आय बिलकुल नहीं होती, वह कितना ही विपुल क्या न हो कभी न कभी समाप्त हो ही जाता है। इस तथ्य को कौन नहीं जानता ? व्यावहारिक जगत् म धन

के आय-व्यय सम्बन्धी बातो की सबको चिन्ता रहती है, किन्तु जिस पुण्य के प्रभाव से धन-वैभव टिकता है, उसकी किसको कितनी चिन्ता रहती है ? हम पुण्य का जो खजाना लेकर आए है तथा जिसका उपभोग प्रति पल कर रहे है, यदि उसमें नवीन आय सम्मिलित न की गई—नया पुण्य नही उपार्जित किया गया तो खजाना समाप्त हो जाएगा। फिर आगे क्या स्थिति होगी ? किन्तु मनुष्य वर्तमान को ही सब कुछ समझ कर भविष्य को भूल जाता है। वह भूल जाता है कि उसे परलोक में जाना होगा और वहां पुण्य के अभाव में क्या कठिनाइयां उठानी पड़ेगी।

बन्धुओ ! इस छोटे-से वर्तमान के लिए दीर्घ भविष्य को विस्मृत मत करो। जैसे पूर्व पुण्य का फल यहां भोग रहे हो, उसी प्रकार यहां भी पाप से बचो और पुण्य का उपार्जन करो जिससे आगे भी उत्तम संयोग प्राप्त कर सको और उन उत्तम संयोगो का सदुपयोग करके आत्मा का कल्याण साधन कर सको ।

जो पुण्य को बढ़ाएँगे वे कभी किसी से भय नही खाएँगे । वे इहलोक और परलोक मे निर्भय रहेगे । कुछ करने का फल ही आज हमे इस रूप मे प्राप्त है । अन्यथा यो संसार में कौन किसे पूछता है ?

बीज अच्छे खेत में बोया जाता है तो पौधे के रूप में लहलहाने लगता है। वही अगर नालो मे डाल दिया जाय तो सड़ जाएगा पर पौधे के रूप मे विकसित नही हो सकेगा । इसी प्रकार धन रूपी बीज अगर अच्छे खेत मे डाला जाय, सुकृत्य में लगाया जाय, तो वह पुण्य रूपी पौधे के रूप में विकसित होता है । कुकर्म ऊसर या खारी भूमि है, और सुकर्म सुन्दर खेत है । हमे बीज वहां डालना है जहां वह फूले, फले और विकसित हो । जो ऐसा करता है वही प्रथम श्रेणी का मानव है, उदय मे उदय करने वाला है ।

जीवन, धन और वैभव जाने वाली वस्तुए है किन्तु इन जाने वाली वस्तुओं से कुछ लाभ उठा लिया जाय, अपने भविष्य को कल्याणमय बना लिया जाय, इसी में मनुष्य की बुद्धिमत्ता है, विवेकशीलता है । कहा भी है—

गढ़ रहे न गढ़पति रहे, रहे न सकल जहान ।
दोय रहे नृप मान कहे, नेकी बदी निदान ।।

सुकृत करने वाला मनुष्य अपना नाम संसार मे चिरस्थायी बना जाता है । काल की चक्की उसके यश को खण्डित नहीं कर सकती । युग पर युग व्यतीत हो जाते है परन्तु लोगों की जीभ पर उसका सुयशगान बना रहता है ।

भारत में आज जनता का राज्य है । योग्य व्यक्ति अपनी बुद्धि तथा बल का प्रयोग करके महत्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं । प्रत्येक मानव पर आज महान्

उत्तरदायित्व है । देश की स्वाधीनता का अर्थ इतना ही नही कि विदेशी शासको की कुर्सी पर देशी शासक बैठ जाए। सच्ची स्वाधीनता मे देश की कल्याणकारिणी परम्पराओ की तथा सस्कृति की सुरक्षा भी गर्भित है। भारत स्वाधीन हो कर भी अगर अपनी परम्पराओ की और अध्यात्म-प्रधान सस्कृति की रक्षा नही करता और विदेशियो के ही अनिष्ट आचार विचार का अन्धानुकरण करता है तो इस स्वाधीनता का कोई विशेष अर्थ नही । भारत की आत्मा अगर उन्मुक्त न हुई तो वह स्वाधीनता किस काम की ? स्वाधीनता का सच्चा लाभ तब है जब आप अपने देश की महान् सभ्यता का जो जनमगलकारिणी है और जीवन के अन्तरग तत्व के विकास पर जोर देती है प्रचार और प्रसार करे और अखिल विश्व के समक्ष उसका सच्चा स्वरूप प्रस्तुत करे। किन्तु आज उलटी गगा बह रही है । देश के देशी शासक विदेशो की नकल कर रहे है उनकी सस्कृति को इस देश पर लादने का प्रयास कर रहे है हिंसा बढ रही है अनैतिकता अपना सिर ऊचा उठा रही है, घूसखोरी भ्रष्टाचार और पक्षपात बढता जा रहा है । देश के इस अध पतन को देख कर विवेकशील जन ही सोचते है कि आखिर इस दशा का कहा अन्त आएगा? देश कहा जाकर रुकेगा?

इस परिस्थिति मे परिवर्तन लाने का कार्य शक्तिशाली व्यक्ति कर सकते है । शक्तिशाली वे जो बल-बुद्धि तथा आत्मिक शक्ति से युक्त है । जिन्होने इस तथ्य को भलीभाँति हृदयगम कर लिया हो कि जीवन और धर्म अभिन्न है । धर्म की उपेक्षा करके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का उत्थान होना सभव नही है । प्रजा मे धार्मिक भावना को जगाये बिना देश मे फैले अनाचार का उन्मूलन नही हो सकता । धर्मो रक्षति रक्षित अगर हम धर्म की रक्षा करेगे तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा ।

जो लोग पेट पूर्ति की समस्या से ही परेशान है उनसे सामाजिक कार्य करने की अपेक्षा नही की जा सकती । श्रीमन्त लोग अगर इस कार्य को अपने हाथ मे ले ले तो परिस्थिति मे सुधार की आशा की जा सकती है । उनके लिए यह कार्य कठिन नही है । भारत का पुरातन इतिहास बतलाता है कि राजपुत्रो ने महलो का परित्याग कर वनो की शरण ली और आत्मिक साधना मे तत्पर होकर स्व-पर का कल्याण किया। महलो मे पूर्वसंचित पुण्य का भोग करके क्षय किया जा सकता है। किन्तु नयी सामग्री जुटानी है तो महलो को छोडना होगा ।

आदिवासी लोगो की ओर भी अनेक कार्यकर्त्ताओ का ध्यान आकर्षित हुआ है । उन्हे सभ्य और शिक्षित बनाने का प्रयत्न हो रहा है । किन्तु सच्ची सभ्यता और शिक्षितता का लक्षण यह है कि वे दुर्व्यसनो से बच अपने जीवनव्यवहार मे सुसस्कृत हो, पापो से अपनी रक्षा कर सके अपने जीवन के उच्च-आदर्श को समझ

सके । जिन्होने स्वयं अपने जीवन को सुधारा है, उन पर दूसरो के जीवन को भी सुधारने का दायित्व है । दूसरों के जीवन-सुधार मे सहायक बनना भी एक प्रकार से अपने जीवन को सुधारना है । जिसके पास पुण्य का बल है, दिमाग का बल है, वह साधारण प्रयास से भी दूसरे के जीवन में परिवर्तन ला सकता है ।

सम्पत्तिशाली घरों के बढ़ने और चढ़ने के जो कारण है वे बन्धु-भाव व्यसनहीनता और सेवा भावना है । इनके विपरीत कार्य होने से उनका विनाश हो जाता है । भर्तृहरि ने कहा है–

दोर्मन्त्र्या न्नृपति विनश्यति, यतिः सगात् सुतो लालनात् ।
विप्रोऽनध्ययनात् कुल कुतनयात्, शील खलोपासनात् ।

ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषि; स्नेहः प्रवासाश्रयात् ।
मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् त्यागात् प्रमादाद्धनम् ।।

मन्त्री खराब हो तो राजा दिनष्ट हो जाता है । परिग्रह धारण करने से साधु का सर्वनाश होता है । अधिक लाड़ लड़ाने से पुत्र, अविद्या से ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुर्जन की सगति से शील, मद्यपान से लज्जा, देखरेख नही करने से खेती, अधिक काल तक प्रवास से स्नेह, प्रेम के अभाव से मैत्री और अनीति से समृद्धि तथा त्याग एव प्रमाद से धन का नाश हो जाता है ।

जैसे लकड़ी मे लगा घुन उसे नष्ट कर डालता है, उसी प्रकार जीवन मे प्रविष्ट दुर्व्यसन जीवन को नष्ट कर देता है । अतएव दुर्व्यसनी लोगो की सगति से बचना चाहिए । अकर्त्तव्य से दुश्मनी रखनी चाहिए । जीवन को सदैव निर्मल और पवित्र बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । भगवान् महावीर का सन्देश है कि अपने जीवन का उत्थान और पतन मनुष्य के स्वय के हाथ मे है । कोई अदृश्य शक्ति या देवी-देवता हमारे जीवन को बना-बिगाड़ नही सकते । मनुष्य स्वय ही अपना शत्रु और स्वय ही अपना मित्र है । 'पुरिसा तुम मेव तुम मित्ता'

एक हितैषी ने ससारी लोगो को उद्बोधन करते हुए कहा–मित्र ! जीवन की सरिता बह रही है, इस बहती हुई सरिता मे कही तेरे जीवन की सम्पदा नष्ट न हो जाय । जरा संभल के चलना । कहा है–

धर्म री गंगा में हाथ धोय ले नी रे !
चादणों हुओ है, मोती पोय ले नी रे !

सत्पुरुष सदा से संसारी जीवो को सावचेत करते आ रहे है कि धर्म रूपी गंगा मे अवगाहन करो । ऐसा करने से ही जीवन मे शान्ति मिलेगी । गगा तन को

निर्मल और शीतल बनाती है परन्तु धर्म-गंगा आन्तरिक मन की मलीनता का दूर करती है और जीवन को शान्त तथा सुखमय बना देती है। इससे काम की जलन और तृष्णा की प्यास दूर होती है।

मगर धर्म की गंगा उसीके जीवन म प्रवाहित होती है जिसके हृदय म दैवी भावनाए होती हैं। दानवी प्रकृति वालो से धर्म दूर ही रहता है।

पुराणो मे एक कथा आती है। सुन्द और उपसुन्द नामक आसुरी प्रकृति के दो भाइ थे। उन्होने शिवजी की आराधना की। भोले शंकर ने उनकी आराधना से सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर वर दे दिया कि जिसके सिर पर हाथ रख दोगे वही भस्म हो जाएगा। करेला और नीम चढा' की कहावत चरितार्थ हुइ। आसुरी प्रकृति के साथ शक्ति का सयोग हुआ तो उनकी दानवता और अधिक बढ गई। उन्होने शकर पर ही हाथ रखने की सोची। शकर स्वय सकट म फस गए। जान बचाने के लिए भागने लगे और वे दोना भाई उनका पीछा करने लगे। मार्ग म विष्णु मिल गए। शकर ने अपनी मुसीबत की कहानी उन्हे सुनाइ तो विष्णु न उपालम्भ देते हुए कहा—आपने अपात्रो को वर दिया ही क्या ? हथियार को अधिक तेज करने से उसको काटने की शक्ति बढती ही है। अस्तु, जो होना था हो गया। अब मै सम्भालने का प्रयत्न करता हूँ।

विष्णु सुन्द-उपसुन्द के समीप पहुँचे। उन्होने जब विष्णु स दाता (शकर) का परिचय पूछा तो विष्णु ने उन्हे सलाह दी कि यह वर वास्तविक है या धोखा? इस दान की परीक्षा तो पहले कर लेनी चाहिए। वृथा भटकने स क्या लाभ है?

विष्णु की बात सुन्द-उपसुन्द को जच गई। उन्होने परीक्षा के लिए एक दूसर के सिर पर हाथ रखा और दोनो भस्म हो गये।

आज दुनिया के बडे राष्ट्रो की स्थिति भी सुन्द-उपसुन्द के समान है। अगर ये एक दूसरे पर हाथ फेरेगे तो दुनिया का सर्वनाश कर छोडेगे। यह सब आसुरी शक्ति की उच्छृंखल वृद्धि का परिणाम है। शक्ति म आसुरीपन धार्मिकता के अभाव स उत्पन्न होता है। शक्ति स्वय तो शक्ति ही होती है उसके साथ धर्म हुआ तो वह दैवी रूप म होती है और अधर्म हुआ तो आसुरी रूप धारण कर लती है। जो मनुष्य उदितोदित होता है वह धर्म का आचरण करके प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करता है और अपने जीवन को दैवी सम्पत्ति स विभूषित बना लेता है। वह जिस समाज और देश म जन्म लेता है उसके उत्थान मे अपना उत्थान मानता है और अपने पुण्य आचरण से पवित्रता का विस्तार करता है। ऐसे सत्पुरुष का लौकिक और पारलौकिक कल्याण होता है।

---

[५२]

परिग्रह मर्यादा

"आचारः प्रथमो धर्म" अर्थात् धर्म के अनेक क्रियात्मक रूप है किन्तु आचार-सदाचार सब धर्मो मे प्रथम हे । इस उक्ति के अनुसार जब भगवान् महावीर की वाणी का सकलन किया गया तो भगवान् के द्वारा प्ररूपित आचार धर्म का प्रथम अग-आचाराग मे सकलित हुआ । इस प्रकार प्रथम धर्म का प्रथम अग मे निरूपण किया जाना शास्त्रकारो की दूरदर्शिता और सूक्ष्म प्रज्ञा का परिचायक है ।

आचाराग सूत्र मे मुनिधर्म का हृदय ग्राही निरूपण है । उसमे भी प्रथम अध्ययन मे पापत्याग की प्ररूपणा की गई और हिसा से होने वाले कुपरिणाम बतलाए गए है ।

मुनियो के समान प्रत्येक साधक को पूर्ण रूप से निष्पाप और त्यागमय जीवन बनाने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए । त्यागमय जीवन यापन करने के लिए व्रतो को प्रतिज्ञा के रूप मे अगीकार करना आवश्यक होता है ।

कई लोग समझते है कि हम यो ही व्रत का पालन कर लेंगे, प्रतिज्ञा के बन्धन मे बधने की क्या आवश्यकता है ? किन्तु इस प्रकार का विचार हृदय की दुर्बलता से प्रसूत होता है । जिसे व्रत का पालन करना ही है उसे प्रतिज्ञा से घबराने की क्या आवश्यकता है ? प्रतिज्ञा के बन्धन मे न बधने के विचार की पृष्ठभूमि मे क्या उस व्रत की मर्यादा से बाहर चले जाने की दुर्बल वृत्ति नही है ? यदि संकल्प मे कमी न हो तो व्रत के बन्धन से बचने की इच्छा ही न हो । स्मरण रखना चाहिए कि बन्धन वही कष्टकर होता है जो अनिच्छा से मनुष्य पर लादा जाता है । स्वेच्छापूर्वक अगीकार किया हुआ, व्रत का बन्धन साहस और शक्ति प्रदान करता है । प्रतिकूल परिस्थिति में इसके द्वारा अपनी मर्यादा से विचलित न होने की प्रेरणा प्राप्त होती है । व्रत के बन्धन से ही गाधीजी विलायत मे मद्य, मास और

परस्त्रीगमन के पापो से बच सके और आगे चल कर 'महात्मा' की महान् पदवी से विभूषित हुए । माता की प्रेरणा से जैन मुनि के समक्ष ग्रहण किए गये व्रतो ने उनके जीवन को कितना प्रभावित किया इस बात को वही भलीभाँति समझ सकेगा जिसने उनकी जीवनी का अध्ययन किया है ।

किन्तु व्रत ग्रहण करना यदि महत्वपूर्ण है तो उसका यथावत् पालन करना भी कम महत्वपूर्ण नही है । उचित है कि मनुष्य अपने सामर्थ्य को तोल कर और परिस्थितियो का विचार करके व्रत को स्वीकार करे और फिर दृढ सकल्प के साथ उस पर दृढ रहे । व्रत ग्रहण करके उसका निर्वाह नही करने के भयकर दुष्परिणाम या अनर्थ हो सकते है । किन्तु चूक के डर से व्रत ही नही करना बडी भूल है । जो कठिनाई आने पर भी व्रत का निर्वाह करता है और अपने सकल्प वल मे कमी नही आने देता वह सभी कठिनाइयो को जीत कर उच्च बन जाता है । और अन्त मे पूर्ण निर्मल बन कर चरम सिद्धि का भागी होता है ।

साधु जीवन का दर्जा बहुत ऊचा है इसका कारण यही है कि वे महाव्रतो का मनसा वाचा कर्मणा पालन करते है और महाव्रतो के पालन के लिए उपयोगी जो नियम उपनियम है उनके पालन मे भी जागरूक बने रहते है । ऐसा साधु अपनी साधना मे सफलता प्राप्त कर परम ज्ञान पाता है । यदि ऊची मजिल वाला फिसल गया तो वह चोट भी गहरी खाता है । अत उसे बहुत ही सावधान होकर चलना पडता है। भव भव के बन्धनो को काटने म वही सफल होता है जो व्रतो का पूर्ण रूप से निर्वाह करता है ।

अपरिग्रह भी महाव्रतो मे एक है । इस व्रत मे साधक को पूर्ण रूप से अकिचन होकर रहना पडता है । मगर श्रावक के लिए पूर्ा अपरिग्रह होकर रहना शक्य नही है अतएव वह मर्यादित परिग्रह रखने की छूट लेता है । किन्तु व्रतधारी श्रावक परिग्रह को गृह व्यवहार चलाने का साधन मात्र मानता है । कमजोर आदमी लकडी का सहारा लेकर चलता है और उसे सहारा ही समझता है । कमजोरी दूर होने पर वह लकडी का प्रयोग नही करता । अगर वह लकडी को ही साध्य मान ले और अनावश्यक होने पर भी हाथ मे थामे रहे तो अज्ञानी समझा जाएगा ।

इसी प्रकार व्रती श्रावक धन-वैभव आदि परिग्रह को जीवन यात्रा का सहारा समझता है, साध्य नही । धन अर्थात् परिग्रह को ही सर्वस्व समझ लेने से सम्यग्दृष्टि नही रहती । वह जा परिग्रह रखता है अपनी आवश्यकताओ का विचार करके ही रखता है और उसका जीवन इतना सादा होता है कि उसकी आवश्यकताए भी अत्यल्प होती है इस कारण वह आवश्यक परिग्रह की छूट रखकर शेष का परित्याग कर देता है ।

डराने-धमकाने वाला यदि हाथ में वास आ जाय तो उसी को लेकर दौड़ पड़ेगा । कमजोरी के कारण लकड़ी रखने का प्रयोजन दूसरा था किन्तु क्रोधावेश मे उसका प्रयोजन दूसरा ही होता है–प्रहार करना । श्रावक परिग्रह का पूरी तरह त्याग नही कर पाता, यह उसकी दुर्वलता है । वह इसे अपनी दुर्वलता ही समझता हे ।

कभी-कभी ऐसा अवसर भी आ जाता हे कि भ्रम, विपर्यास या मानसिक दुर्वलता के कारण मनुष्य व्रत की सीमा से वाहर चला जाता हे, वह समझता हे कि मेरा व्रत-भग नही हो रहा हे । मगर वास्तव मे व्रत भग होता हे । इस प्रकार का व्रतभग अतिचार की कोटि मे गिना जाता है । ओर जब व्रत से निरपेक्ष हो कर जानवूझ कर व्रत को खण्डित किया जाता है तो अनाचार कहलाता हे । परिग्रह का परिमाण करने वाला श्रावक यदि धन, सम्पत्ति, भूमि आदि परिमाण से अधिक रख लेता है तो अनाचार समझना चाहिए ओर वैसी स्थिति मे उसका व्रत पूरी तरह खण्डित हो जाता हैं । पचास एकड़ भूमि का परिमाण करने वाला यदि साठ एकड़ रख लेता है तो यह जानवूझ कर व्रत की मर्यादा को भग करना है और यह अनाचार हे ।

कोई व्यक्ति एक मकान के वीच मे दीवाल खड़ी कर दे तो एक के वदले दो मकान कहलाऐंगे । एक मकान के चार भाग कर दिये जाए तो भी वह वस्तुत. एक ही कहा जाता है, जब तक उसमे विशेष परिवर्तन न हो । इस प्रकार मकान का परिमाण करने मे दृष्टि या लक्ष्य की प्रधानता होती हे ।

जमीन-जायदाद आदि के किये हुए परिमाण का व्रत सापेक्ष अतिक्रमण करना प्रथम अतिचार है। किसी ने व्रत ग्रहण करते समय एक या दो मकानो की मर्यादा की। वाद मे ऋण के रुपयो के वदले उसे एक और मकान प्राप्त हो गया। अगर वह उसे रख लेता हे तो यह अतिचार कहलाएगा। इसी प्रकार एक खेत वेच कर या मकान वेचकर दूसरा खेत या मकान खरीदना भी अतिचार है यदि उसके पीछे अतिरिक्त अर्थलाभ का दृष्टिकोण हो । तात्पर्य यह है कि इस व्रत के परिमाण मे दृष्टिकोण मुख्य रहता है और व्रतधारी को सदैव इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि उसने तृष्णा, लोभ एवं असन्तोष पर अकुश लगाने के लिए व्रत ग्रहण किया है, अतएव ये दोष किसी वहाने से मन मे प्रवेश न कर जाए और ममत्व बढ़ने नही पाए।

व्रती को नौ प्रकार के परिग्रह के अतिक्रमण से बचना चाहिए –

(१) जमीन (२) जायदाद (३) स्वर्ण (४) चादी (५) दास-दासी आदि (६) घोड़ा आदि (७) धन (८) धान्य और (९) कुप्य–फर्नीचर, बर्तन आदि ।

पशुओ की सन्तति उत्पन्न होने पर सख्या मे वृद्धि हो जाती है यह स्वभाविक है । किन्तु एक तो उस वद्धि को लाभ का कारण वनाना और दूसरा सरक्षण की भावना से उनको रखना अलग-अलग वात है । ऐसी बाता का स्पष्टीकरण अगर व्रत ग्रहण करते समय ही कर लिया जाय तो अधिक अच्छा । वाद मे किया जाय तो इस वात की सावधानी रखनी चाहिए कि मेरे किए हुए निर्णय म कही मेरी ममत्व बुद्धि तो मुझे धोखा नही दे रही है । इस प्रकार की जागरूकता व्रत को रक्षा करने म सहायक हागी । किसी ने पचास हजार के धन का परिमाण किया फिर व्याज म अतिरिक्त धन आ गया । उस अतिरिक्त धन को अगर कोई अतिक्रमण नही मानता तो यह अनुचित है ।

अतिचार कवल जानन के लिए नहा है बचने के लिए भी है । जानी हुई वाता को केवल दिमाग को वस्तु वना कर रखा जाय और उनका आचरण से कोइ सरोकार नहीं रखा जाय तो ऐसी जानकारी की कोइ उपयोगिता नहा होती । ज्ञान वही सार्थक है जिसके अनुसार वर्त्ताव किया जाता है । ज्ञान भार क्रिया बिना' अगर ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति नहा की गई तो वह ज्ञान बोझ रूप ही है ।

परिग्रह परिमाण पाच अणुव्रतो मे अन्तिम है और चार व्रता का सरक्षण करना एव बनाना इसके अधीन है । परिग्रह को घटाने स हिसा असत्य अस्तेय कुशील इन चारा पर रोक लगती है । अहिसा आदि चार व्रत अपन आप पुष्ट होत रहते है ।

परिग्रह परिमाण व्रत से महत्व बढता है घटता नही । जीवन म शान्ति और सन्तोष प्रकट होने से सुख की वृद्धि होती है । निश्चिन्तता और निराकुलता आती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न हान स धर्म क्रिया की ओर मनुष्य का चित्त अधिकाधिक आकर्षित होता है । इस व्रत के ये वैयक्तिक लाभ है । किन्तु सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत अत्यन्त उपयोगी है । आज जो आर्थिक वैषम्य दृष्टिगोचर होता है इस व्रत के पालन न करने का ही परिणाम है । आर्थिक वैषम्य इस युग की एक वहुत वडी समस्या है । पहले बडे-बडे भीमकाय यन्त्रा का प्रचलन न हान के कारण कुछ व्यक्ति आज की तरह अत्यधिक पूजी एकत्र नही कर पाते थे मगर आज यह वात नही रही। आज कुछ लोग यन्त्रा की सहायता से प्रचुर धन एकत्र कर लेते है तो दूसरे लोग धनाभाव के कारण अपने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने से भी वंचित रहते है । उन्हे पट भर रोटी तन ढकने को वस्त्र और ओषध जैसी चीजे भी उपलब्ध नही । इस स्थिति का सामना करने के लिए अनेक वादा का जन्म हुआ है । समाजवाद, साम्यवाद, सर्वोदयवाद आदि इसी के फल है । प्राचीन काल म अपरिग्रहवाद के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जाता था । इस वाद

की विशेषता यह है कि यह धार्मिक रूप मे स्वीकृत है, अतएव मनुष्य इसे बलात् नही, स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करता है। साथ ही धर्मशास्त्र महारम्भी यन्त्रो के उपयोग पर पाबन्दी लगा कर आर्थिक वैषम्य को उत्पन्न नही होने देने की भी व्यवस्था करता है। अतएव अगर अपरिग्रह व्रत का व्यापक रूप मे प्रचार और अगीकार हो तो न अर्थ-वैषम्य की समस्या विकराल रूप धारण करे, न वर्ग-संघर्ष का अवसर उपस्थित हो और न उसके लिए विविध प्रकार के त्रासदायक सघर्ष का अवसर उपस्थित हो और न उसके लिए विविध प्रकार के वादो का आविष्कार करना पड़े। मगर आज की दुनिया धर्मशास्त्रो की बात सुनती कहॉ है ? यही कारण है कि ससार अशान्ति और सघर्ष की क्रीड़ाभूमि बना हुआ है और जब तक धर्म का आश्रय नही लिया जायेगा तब तक इस विषम स्थिति का अन्त नही आएगा।

देशविरति धर्म के साधक को अपनी की हुई मर्यादा से अधिक परिग्रह नहीं बढ़ाना चाहिए। उसे परिग्रह की मर्यादा भी ऐसी करनी चाहिए कि जिससे उसकी तृष्णा पर अकुश लगे, लोभ में न्यूनता हो और दूसरे लोगो को कष्ट न पहुँचे।

सर्वविरत साधक का जीवन तो और भी अधिक उच्चकोटि का होता है। वह आकर्षक शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श पर राग और अनिष्ट शब्द आदि पर द्वेष भी नही करेगा। इस प्रकार के आचरण से जीवन मे निर्मलता बनी रहेगी। ऐसा साधनाशील व्यक्ति चाहे अकेला रहे या समूह मे रहे, जगल मे रहे या समाज मे रहे, प्रत्येक स्थिति मे अपना व्रत निर्मल रख सकेगा।

मुनि स्थूलभद्र वेश्या के भवन मे, विलास और विकार के वातावरण मे रहे। कुएँ की पाल पर साधना करने वाले मुनि भी जनसमुदाय के बीच में हैं। नाग की बामी और सिह की गुफा वाले मुनियों को जन-सम्पर्क से दूर रहना है। कुएँ की पाल पर साधना करने वाले मुनि पर कभी पानी भरने वाली महिलाएं पानी और कीचड़ उछाल देती उनसे बाल्टी या डोली टकरा देती। रात्रि मे निद्रा से उन्हे बचना पड़ता है। कभी निद्रा का झोका आ जाय तो कुएँ में पड़ने का खतरा है। दिन के समय राग-द्वेष से अपनी आत्मा की रक्षा करनी है। इस प्रकार वे सतत् अप्रमत्त अवस्था में रह कर अचल समाधि में स्थित रहे। निरन्तर जागृत रहना, पल भर के लिए भी निद्रा न लेना और राग-द्वेष पर विजय पाना कोई साधारण साधना नही है। प्रमाद पर विजय प्राप्त करने की उतनी आवश्यकता शायद सिह गुफा वाले और वेश्या के भवन वाले मुनि को न रही हो।

तीनो मुनि वर्षाकाल व्यतीत होने पर गुरु के चरणो मे उपस्थित होते है और दीर्घकाल के पश्चात् गुरु का दर्शन करके आनन्द का अनुभव करते है। कुएँ की

पाल वाले सिंह की गुफा वाले और नाग की बामी वाले तीनो मुनियो को उनकी सफल साधना के लिए गुरुजी धन्यवाद देते है ।

तीनो मुनि गुरुचरणो मे प्रणत हो अपना-अपना वृत्तान्त निवदन करने के लिए उत्सुक है । तीनो को अपनी साधना से सन्तोष है । हम अपनी साधना से गुरु सभूति विजय को प्रसन्न कर सकेगे, उनके मन मे ऐसा विश्वास था । गुरुजी अपने शिष्यो की प्रतीक्षा उसी प्रकार कर रहे थे जैसे पिता विदेश से विद्याध्ययन करके आने वाले पुत्र की करता है । गच्छ के अन्य मुनि भी उनकी तपस्या का वृत्तान्त सुनने के लिए आतुर हो रहे थे जैसे किसी की लम्बी यात्रा का विवरण सुनने के लिए उसके स्वजन परिजन आतुर रहते हैं ।

उक्त तीनो मुनि जो पहले आ पहुँचे थे । उन्हाने अपना वृत्तान्त कह सुनाया और अन्त म कहा– 'साधना थी तो बडी कठोर परन्तु आपके अनुग्रह से वह निभ गइ। यह आपकी कपा का ही फल है । आपकी आज्ञा का सहारा लेकर ही हम सफल हो सके ।

महामुनि ने उन्हे धन्य कहा और उनके दुष्कर कार्य के लिए उनकी सराहना की। गुरु से प्रशसा प्राप्त करके तीनो मुनि गदगद हो गए और अपने जीवन को कृतार्थ समझने लगे। बीसो कास से आया अश्व जैसे स्वामी की प्यार भरी थपकिया से सन्तुष्ट हो जाता है वैसे ही ये तीनो मुनि भी सन्तुष्ट हुए ।

कुछ समय पश्चात् स्थूलभद्र भी गुरु के श्रीचरणा मे उपस्थित हुए । यथायाग्य प्रणति के पश्चात् उन्हाने भी अपना वृत्तान्त निवेदन किया । कहा – गुरुदेव । आपके श्रीचरणो की कृपा और महिमा से मैंने रूपकोषा को श्राविका बना दिया है । अब वह वेश्या नही रही । उसके जीवन का कल्मष धुल गया है वह अधकार से प्रकाश की ओर अग्रसर हुई है उसके जीवन मे महान् परिवर्तन आ गया है ।'

गुरु ने यह सब सुनकर कहा – धन्य धन्य, धन्य । इस प्रकार तीन बार धन्य कह कर स्थूलभद्र की साधना की महान् प्रशसा की । फिर बोले – तुमने दुष्कर ही नही अति दुष्कर कार्य किया है ।

गुरु के लिए सभी शिष्य समान थे । उनके चित्त मे किसी के प्रति न्यून या अधिक सद्भाव नही था । फिर भी साधना की गुरुता को ध्यान में रखकर उन्होंने शिष्यो को धन्यवाद दिया । सभूति विजय बडे प्रसन्न हुए और अपने शिष्यो की साधना के लिए गौरव अनुभव करने लगे । ऐसे आदर्श साधको के वृत्तान्त से हमे अपना लौकिक और पारलौकिक कल्याण-साधन करना चाहिए ।

---

[५३]

भ्रमण पर अंकुश

दुनिया दुरगी है । परस्पर विरोधी तत्वो की विद्यमानता इसकी विशेषता है । यहा धर्म है तो अधर्म भी है, नीति है तो अनीति भी है, सुजन है तो दुर्जन भी है, जीव है तो अजीव भी है, साधक तत्त्व है तो वाधक तत्त्व भी मोजूद है । कोई किसी कार्य मे प्रवृत्त हो, तो उसे पहले यह समझ कर चलना चाहिए कि मेरे कार्य मे अनेक वाधाए उपस्थित होगी । वाधाओ के उपस्थित होने पर विचलित न होने की क्षमता और सकल्प का बल बटोर कर चलने वाला ही अपने कार्य मे सफल होता है।

वाधक कारणो का कार्य बाधा पहुँचाना है किन्तु साधक यदि सजग है, उसके सकल्प मे कही कोई कमजोरी नही है तो कोई भी वाधक तत्त्व उसके मार्ग को न अवरुद्ध कर सकता है और न उसे विमुख ही बना सकता है ।

अध्यात्म-साधना के पथ मे क्या-क्या बाधाए उपस्थित हो सकती है और उन पर किस प्रकार विजय प्राप्त करनी चाहिए, इस सम्बन्ध मे इस क्षेत्र के अनुभवी साधको ने पर्याप्त विचार किया है । प्रधान रूप से वे बाधक तत्त्व दो है – प्रमाद और कषाय ।

प्रमाद और कषाय का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । प्रमाद, कषाय का मार्ग प्रशस्त करता है । वह साधक को पहले असावधान बनाता है और फिर कषाय आ धमकता है । कषाय का कार्य साधना मे रुकावट डालना है, गतिरोध उत्पन्न करना है और कभी-कभी वह गाड़ी को उलट भी देता है । वह साधक को विपरीत दिशा मे भी ले जाता है । इस प्रकार प्रमाद और कषाय दोनो सम्यग्दर्शन और विरतिभाव की निर्मलता मे वाधक है । इन्ही के प्रभाव से मनुष्य व्रत के विषय मे अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार का सेवन करता है । जो लोग विषय और कषाय के पजे मे पड़े रहते है, उनको शास्त्र ज्ञान देना भी कठिन होता है ।

प्रमाद आकर मनुष्य के हृदय पर जब अधिकार जमा लेता है तो श्रद्धा और वचन म शिथिलता आ जाती है। वास्तव मे यही दोनो बाधक तत्त्व सर्वविरति और देशविरति की साधना को मलिन बनाते है। इसी कारण शास्त्र वचन इन बाधक तत्त्वो से साधक को सावधान करता है। लोभ और कषाय ये दोनो परिग्रह परिमाण व्रत मे विशेष रूप स बाधक हैं। कइ साधक इसके प्रभाव से अपने व्रत को दूषित कर लेते है। उदाहरणार्थ – किसी साधक ने चार खेत रखने की मर्यादा की। तत्पश्चात् उसके चित्त म लोभ जगा। उसने बगल का खेत खरीद लिया और पहले वाले खेत म मिला लिया। अब वह सोचता है कि मैंने चार खेत रखने की जो मर्यादा की थी वह अखण्डित है। मेरे पास पाचवा खेत नही है। इस प्रकार आत्म वचना की प्रेरणा लोभ स होती है। इससे व्रत दूषित होता है और उसका असली उद्देश्य पूर्ण नही होता।

अणुव्रतो को निर्मल बनाए रखने क लिए अन्य सहायक व्रतो का पालन करना भी आवश्यक है। अतएव अणुव्रती साधक को उनकी ओर ध्यान देना चाहिए। शास्त्रो म उन्हे उत्तरव्रत या उत्तरगुण कहते है। वे भी दो भागो म विभक्त है–गुणव्रत और शिक्षाव्रत। तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर सात होते है। पाच मूलव्रत (अणुव्रत) इनम सम्मिलित कर दिय जाएँ तो उनकी सख्या बारह हो जाती है। ये ही श्रावक के बारह व्रत कहलाते है।

अणुव्रतो का निर्दोष पालन करने क लिए श्रावक को अपने भ्रमण पर भी अकुश लगाना चाहिए। जितना अधिक घूमना होगा उतना ही अधिक हिंसा झूठ और परिग्रह का विस्तार बढेगा। गमनागमन का क्षेत्र बढेगा तो कुशील मोह ममता और अदत्तग्रहण की सभावना बढेगी। वस्तुओ का किया हुआ परिमाण भी अपना रूप बदल लेगा। इस कारण व्रती गृहस्थ अपने गमनागमन की भी सीमा निर्धारित कर लेता है। तथ्य यह है कि पापो के सकोच करने का दृष्टिकोण बनाया जाना चाहिए। इच्छा को बेलगाम नही होने देना चाहिए। यदि इच्छा बेलगाम हो गई और उस पर काबू न किया गया तो सभी व्रत खतरे म पड जाएँगे।

आनन्द श्रावक ने अपनी स्थिति के अनुसार क्षेत्र की सीमा बाध ली और असीमित इच्छाओ को परिमित कर लिया। इसके लिए उसने ऊर्ध्व दिशा अधोदिशा और तिरछी दिशाओ म गमनागमन की सीमा रखा भी निश्चित कर ली। इस प्रकार दिशाओ सम्बन्धी नियम दिग्व्रत कहलाता है। उसका स्वरूप इस प्रकार है –

दिग्व्रत – विभिन्न दिशाओ म गमनागमन करने की मर्यादा को दिग्व्रत कहते है। एक केन्द्र स किसी दिशा की ओर जाने की दूरी इस व्रत के अनुसार निश्चित

की जाती है । साधक ने अपने स्थायी निवास के लिए जो केन्द्र नियत किया है, उससे ऊपर की ओर जाना ऊर्ध्व दिशा मे गमन करना कहलाता है । वायुयान के सहारे या विद्या अथवा ऋद्धि के बल से ऊपर जाना होता है । कूप, खदान, समुद्रतल आदि अधोगमन के मार्ग है । पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओ और विदिशाओ मे जाना तिर्यक् दिशा मे गमन करना कहलाता है ।

इस प्रकार के व्रत को ग्रहण करने का उद्देश्य अपनी इच्छा या सग्रहवृत्ति को सीमित करना है । सभी स्थानो मे भूमि, धन, धान्य आदि एक-सा ही है, ऐसा सोच लेने से मनुष्य नवीन-नवीन स्थानो या देशो मे भटकना बद कर देगा और मर्यादित क्षेत्र मे रह कर अपने सादे और सयमी जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति करके निराकुलतापूर्वक धर्म का आचरण करके आनन्द मे रहेगा । उसके जीवन मे आकुलता-व्याकुलता और चिन्ता का बाहुल्य नही होगा ।

दिग्व्रत मे जिस दिशा में जाने की जो मर्यादा की है, उसमें इधर से उधर मिला कर कमी-बेशी नही करना चाहिए । ऐसा करने से व्रत का लक्ष्य सुरक्षित नहीं रहता । उदाहरणार्थ—किसी श्रावक ने सौ-सौ मील प्रत्येक दिशा मे जाने का नियम लिया । उसकी कालान्तर मे लोभ के वश होकर सवा-सौ मील तक जाने की इच्छा हुई । ऐसी स्थिति मे किसी दूसरी दिशा मे पच्चीस मील घटा कर वांछित दिशा मे बढ़ा लेना और उस दिशा की सीमा को सौ के बदले सवा-सौ मील कर लेना दिग्व्रत का अतिचार है ।

काक्षा (कामना) से व्रतो मे कमजोरी आती है । ज्यो-ज्यों कामना की वृद्धि होती है, त्यो-त्यो उसकी पूर्ति के साधनो का सग्रह बढ़ाया जाता है और उसके लिए दौड़-धूप भी बढ़ानी पड़ती है । स्पष्टतया इससे शान्ति भग होती है और आकुलता बढ़ती है और अप्राप्त सामग्री को प्राप्त करने की धुन में मनुष्य प्राप्त सामग्री का आनन्द भी नही उठा सकता, फिर भी कामना का भूत उसके चित्त मे प्रवेश करके उसे नचाता रहता है और नाना प्रकार की सुनहरी कल्पनाए उसे बेभान बनाए रहती है । यद्यपि ज्ञानी पुरुषो ने स्पष्ट कर दिया है कि बाह्य पदार्थों का सयोग दु.ख का ही कारण होता है और वह सयोग जितना अधिक बढ़ेगा उतना ही अधिक दु.ख बढ़ेगा, फिर भी मनुष्य इस ओर ध्यान नही देता और मोह के नशे में पागल बन कर सुख प्राप्त करने की अभिलाषा से दु.ख की सामग्री बटोरता रहता है।

शास्त्र मे साधु को 'सजोगा विप्प मुक्कस्स' विशेषण लगाया गया है । यह विशेषण उसकी निराकुलता एव शान्ति का सूचक है । सयोग से विमुक्त होना दुःखो से छुटकारा पाना है, क्योंकि एक आचार्य कहते है—

सयोग मूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।

अनादि काल से जीव दुःखो से घिरा हुआ है और अब तक भी उसके दुःखों का कही ओरछोर नजर नहीं आता इसका मूल कारण परसयोग है । परसयोग दो प्रकार का है– बाह्य और आन्तरिक जिसे द्रव्य सयोग और भाव सयोग कह सकते है । धन-वैभव आदि भौतिक पदार्थों का सयोग बाह्य और क्रोध लाभ, मोह ममता आदि वैभाविक भावो का सयोग आन्तरिक सयाग है । इनमे स बाह्य सयोग से विमुक्ति पाना उतना कठिन नहा है जितना आन्तरिक सयोग से ।

काम क्रोध आदि विकार जीव को अपने स्वरूप की ओर उन्मुख नही होने देते । ज्यो ज्यो ये विकार घटते जाते है बाहरी दौड धूप स्वत. कम होती जाती है। बाह्य दौडधूप को रोकना उतना कठिन नही है जितना अन्तर की भावना का सीमित करना कठिन है ।

भावना के क्षेत्र मे अहकार मान महिमा कामना को ऊर्ध्व दिशा कह सकते है मोह लोभ और तिरस्कार को अधोदिशा तथा काम को तिर्यक दिशा कह सकते है । ज्ञानी चित्त के इन विकारो को सीमित करता–करता अन्ततः समूल नष्ट करने मे समर्थ हा जाता है । कापुरुष (दुर्बल हृदय) के लिए अपनी भावनाआ का नियन्त्रण करना कठिन होता है । उसके चित्त मे कामनाओ की जा चचल हिलोर उठती है, उन्ही मे वह बहता रहता है । उसको देहली भी डूगरी जैसी लगती है । कहावत है –

'देहली (घर के दरवाजे की चौखट) हो गई डूगरी सौ कोसा भया बजार ।

जब शुद्ध ज्ञानादिक का बल क्षीण हाता है तो छोटे मोटे विकारो पर विजय पाना भी कठिन होता है । परन्तु साधक का कर्तव्य है कि वह ऊची दिशा मे मन के भावो को मलिन न होने दे और लोभादि से नीचे न गिरे । स्थूलभद्र की साधना इसीलिए दुष्करतम कहलाई । काम का शस्त्र मृदुल होता है फिर भी बडी गहरी मार करता है ।

परीषह के दो रूप होते है – अनुकूल परीषह और (२) प्रतिकूल परीषह । अनुकूल परीषह अर्थात् प्रलोभन । कोई साधक के सद्भूत अथवा असद्भूत गुण की प्रशसा करता है । साधक के लिए यह अनुकूल परीषह है । अपनी प्रशसा सुनकर अगर वह गौरव का अनुभव नही करता उसके मन मे अभिमान नही जगता और अखड समभाव मे स्थिर रहता है तो वह परीषह विजेता है और यदि मन म अहकार उत्पन्न हो जाता है ता समझना चाहिए कि वह परीषह से पराजित हो गया है अपन पद से गिर गया है ।

साधु के समक्ष भोग-उपभोग की मनोज्ञ सामग्री प्रस्तुत की जाती हे ओर उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया जाता हे तो यह भी अनुकूल परीषह ह । अगर साधु उस सामग्री के प्रलोभन मे आकर सयम की सीमा का उल्लघन करता है तो वह गिर जाता हे और यदि उसके मन मे प्रलोभन उत्पन्न नही होता ओर समभाव बना रहता है तो वह परीषह विजेता कहलाता हे ।

इस प्रकार सयम से च्युत करने वाले जितने भी प्रलोभन हैं, सब अनुकूल परीषह कहलाते है । प्रतिकूल परीषह इससे उलटे होते हे । भूख-प्यास की बाधा होने पर भी भोजन-पानी न मिलना, सर्दी-गर्मी का कष्ट होना, अपमान और तिरस्कार की परिस्थिति उत्पन्न हो जाना आदि जो अवाछनीय कष्ट आ पडता हे, वह प्रतिकूल परीषह है ।

अज्ञानी लोग अपनी प्रशसा करने वाले को, अभिनन्दन-पत्र प्रदान करने वाले को और दूसरे प्रलोभन देने वाले को अपना मित्र समझते हैं और अपमान करने वाले को तथा किसी दूसरे तरीके से कष्ट और सताप पहुँचाने वाले को शत्रु समझते हे । वह एक पर राग ओर दूसरे पर द्वेष करके कर्म का बन्ध करता है । किन्तु ज्ञानी पुरुष दोनो पर समभाव रखता है। न किसी पर रोष, न किसी पर तोष । उसका समभाव अखड रहता हे ।

प्रश्न किया जा सकता हे कि यदि साधु के वास्तविक गुणो की प्रशसा करना उसके लिए अनुकूल परीषह है तो क्या प्रशसा करना पाप हे ? क्या साधु के गुणो की प्रशसा नही करनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाप और पुण्य का सम्बन्ध कर्त्ता की भावना पर निर्भर हे । साधु के उत्तम सयम और उच्चकोटि के वैराग्यभाव को देखकर भव्य जीव के हृदय मे प्रमोद भावना उत्पन्न होती हे । प्रमोदभाव से प्रेरित होकर वह उन गुणो की स्तुति करता है । स्तुति सुनकर मुनि अभिमान करने लगे और अपने समभाव से गिर जाए, ऐसी कल्पना भी उसके हृदय को स्पर्श नही करती । वह उन गुणो की प्राप्ति की ही प्रकारान्तर से कामना करता है और अपने धर्म को पालन करता है । ऐसी स्थिति मे प्रशसा करना हेय नही है । हा, मुनि का कर्तव्य है कि वह अपने समभाव को स्थिर रखे और प्रशसा सुनकर भी गर्व का अनुभव न करे, वरन् प्रशसा के अवसर पर अपनी त्रुटियो का ही विचार करे। ऐसा करके मुनि अपने धर्म का पालन करता है । दोनो को अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए ।

प्रतिकूल परीषह को सहन करना वीरता है तो अनुकूल परीषह को सहन करना महावीरता है । मनुष्य कष्ट झेल सकता है मगर प्रलोभन को जीतना कठिन

होता है । कष्ट की अपेक्षा प्रलोभन के सामने गिर जाने की अधिक सम्भावना रहती है ।

सम्भूति विजय के चार शिष्य उग्र साधना के लिए निकले थे । उनमें से तीन के सामने प्रतिकूल परीषह थे और चौथे स्थूलभद्र के सामने अनुकूल परीषह । प्रतिकूल परीषहों को जीतने वाले धन्य हुए तो अनुकूल परीषह को जीतने वाला अतिधन्य कहलाया । स्थूलभद्र के कार्य को 'दुष्करम् अति दुष्करम्' कह कर सराहा गया । सारी मुनि मण्डली ने भी उनकी सराहना की । तीनों मुनियों ने स्थूलभद्र की प्रशंसा सुनी ।

जौहरी नगीनों का मूल्यांकन उनकी चमक दमक आदि की दृष्टि से करता है। विभिन्न नगीनों की कीमत में अन्तर होता है । गुरु सम्भूति विजय जौहरी के समान थे और साधक मुनि नगीने के समान । यदि गुरु साधनाओं का सही मूल्यांकन न करें तो शिष्यों पर ठीक प्रभाव न पड़े । जिस गुणी में जिस कोटि का गुण हो उसकी उसी रूप में प्रशंसा करना दर्शनाचार का पोषण करना है ।

गुरु के लिए सभी शिष्य समान थे । उनके मन में किसी के प्रति पक्षपात नहीं था । फिर भी स्थूलभद्र की उन्होंने विशेष प्रशंसा की । इसका कारण उनकी साधना की उत्कृष्टता ही समझना चाहिए । निद्रा भूख प्यास आदि को जीतना उतना कठिन नहीं है जितना काम क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करना कठिन है ।

अध्यापक अपने शिष्यों में स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न कर देता है जिससे अध्ययन में विशेष प्रगति हो अध्यात्म मार्ग में भी इसी प्रकार प्रतियोगिता की सुयोजना की जाती है ।

तीनों मुनियों को स्थूलभद्र की विशिष्ट प्रशंसा सुनकर विचार हुआ-हम लोग ने प्राणों का ममत्व त्याग कर जीवन को संकट में डाल कर साधना की और स्थूलभद्र मुनि रूपकोषा के विलास भवन में मजे से रहे फिर उनकी साधना को सर्वाधिक महत्व क्या प्रदान किया गया ? वहाँ जाकर तो कोई भी चार महीने व्यतीत कर सकता था । कहा है –

जप तप करणी साहिली रण संग्राम ।
प्रकृति पाछी मोड़नी याका दुरित काम ।।

ऐसा सोचने वाले मुनि भी सामान्य नहीं थे । वे तत्त्व ज्ञान के रस चतुर भी थे । अतएव उन्होंने अपने भावों को तत्र प्रकट नहीं किया । जिसमें ओछापन कम होता है वह शीघ्र ही अपने मनोभाव को प्रकट नहीं कर देता है ।

बुद्धिमान अपने विचार को औचित्य की तराजू पर तोलता हे और तोल-तोल कर बोलता है ।

सघ का सम्मान गुरुजी का मान और बिना विचारे काम न करना या न बोलना चाहिए इस बात का भान उनको था अतः इन सब कारणो से वे मौन रहे । कड़वे घूट को पी गए ।

अगर ज्ञान का प्रकाश पाकर कषाय का शमन कर लिया जाय तो वह रसायन हे । दमन करने से भी उसकी भयकरता कम हो जाती है । जिसका शमन कर दिया जाता है, वह शीघ्र उठ कर खड़ा नही होता किन्तु जिसका दमन किया जाता है वह समय की प्रतीक्षा करता है ।

बन्धुओ ! इस भूमि पर एक से एक बढ़ कर आत्म-विजयी महापुरुष हुए हैं। वे आत्मविजय को ही परम लक्ष्य और चरम विजय मानते थे, क्योंकि आत्मविजय के पश्चात् किसी पर विजय प्राप्त करना शेष नही रह जाता । उनकी पावन प्रेरणा प्रदान करने वाली प्रशस्तियो और कथाओ से हमारा साहित्य परिपूर्ण है । ये प्रशस्तिया और कथाएं युग-युगान्तर तक मानव-जाति की महान् निधि बनी रहेगी और उसके समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करती रहेगी । जो भव्य जीव आत्माभिमुख होंगे, वे उनसे लाभ उठाते रहेंगे और अपना कल्याण करेंगे ।

---

[५४]

विकार विजय

अज्ञानी और ज्ञानी के जीवन मे बडा अन्तर होता है। बहुत बार दोनो की बाह्य क्रिया एक सी दिखाई देती है फिर भी उसके परिणाम मे बहुत अधिक भिन्नता होती है। ज्ञानी का जीवन प्रकाश लेकर चलता है जबकि अज्ञानी अन्धकार मे ही भटकता है। ज्ञानी का लक्ष्य स्थिर होता है अज्ञानी के जीवन म कोई लक्ष्य प्रथम तो होता ही नही अगर हुआ भी तो विचारपूर्ण नही होता। उसका ध्येय ऐहिक सुख प्राप्त करने तक ही सीमित होता है। फल यह होता है कि अज्ञानी जीव जो भी साधना करता है वह ऊपरी होती है अन्तरग को स्पर्श नही करती। उससे भवभ्रमण और बन्धन की वृद्धि होती है आत्मा के बन्धन कटते नही।

ज्ञानी का अन्तस्तल एक दिव्य आलोक से जगमगाता रहता है। वह सासारिक कृत्य करता है गृहस्थी के दायित्व को भी निभाता है और व्यवहार व्यापार भी करता है फिर भी अन्तर मे ज्ञानालोक होने से उनम वह लिप्त नही होता। उसकी क्रियाए अनासक्त भाव से सहज रूप म ही होती रहती है। इस तथ्य को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक अध्यात्मनिष्ठ सन्त भी भोजन करता है और एक रसलोलुप भी। बाहर से दोनो की क्रिया म अन्तर दिखाई नही देता। मगर दोनो की आन्तरिक वृत्ति मे कितना अन्तर होता है ? एक म लोलुपता है जिह्वासुख भोगने की वृत्ति है और इस कारण भोजन करते हुए वह चिकने कर्मों का बन्धन करता है तो दूसरे मे पूर्ण अनासक्त भाव है। वह इन्द्रिय तृप्ति के लिए नही वरन् जीवन के उच्च ध्येय को प्राप्त करने म सहायक शरीर का टिकाव रखने की इच्छा से भोजन करता है। अतएव भोजन करते हुए भी वह कर्मबन्ध नही करता। यही पार्थक्य अन्यान्य क्रियाओ के विषय म भी समझ लेना चाहिए। ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर दिखलाते हुए कहा गया है—

ज अण्णाणी कम्म, खवेइ कोडोहि ।
त णाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसास मेत्तेण ।।

अज्ञानी जीव करोडो जन्मो मे जितने कर्म खपाता हे, ज्ञानीजन तीन गुप्तियो से गुप्त होकर एक उच्छ्वास जितने अल्प समय मे ही उतने कर्मो का क्षय कर डालता है । कहा करोड़ो जन्म ओर कहा एक उच्छ्वास जितना समय ! इस अन्तर का कारण अन्तरग मे विद्यमान ज्ञान का आलोक ही हे ।

ज्ञानी पुरुष के विहार पर कोई प्रतिवन्ध नही लगाया गया है । वह जहा चाहे विचरण कर सकता है और जितनी भी दूर जाना चाहे, जा सकता है । गगा का पानी फैलकर सुखद वातावरण का निर्माण करता है । क्षारयुक्त, विपाक्त ओर गटर के गन्दे जल पर नियन्त्रण की आवश्यकता है । अज्ञानी के साथ विपय, कपाय और वन्ध का विष फैलता है, जिससे उसकी आत्मा तो मलिन होती ही है, पर समाज का वातावरण भी कलुषित वनता है । फोड़े के वढ़ने से हानि की आशका की जाती है, स्वस्थ अग के वढ़ने मे कोई खतरा नही, वह स्वस्थता का चिन्ह माना जाता है ।

गृहस्थ के जीवन मे हिसा और परिग्रह का विष घुला रहता है । उसके विस्तार से विष वृद्धि की सभावना रहती हे, अतएव उस पर नियन्त्रण की आवश्यकता है । यही कारण है कि उसके गमनागमन पर प्रतिवन्ध लगाया गया है और उसे सीमित करने का विधान किया गया है । साधु के लिए ऐसा कोई प्रतिवन्ध नही है । उसका क्षेत्र सीमित नही किया गया, वल्कि उसके लिए एक स्थान पर न रहकर भ्रमण करते रहने का विधान किया गया है । उसे एक जगह नही टिकना है, क्योंकि वह 'अनगार' है और उसे भ्रमण ही करते रहना है, क्योंकि उसे भ्रमर (भ्रमणशील) की उपमा दी गई है । कहा है –

वहता पानी निर्मला, पड़ा गन्दीला होय ।
साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय ।।

साधु एक स्थान पर स्थिर हो जाएगा तो दूर-दूर तक उसके ज्ञान-प्रकाश की किरणें नही फैल सकेगी । वह चलता-फिरता रहेगा तो जनसमाज को प्रकाश देगा, सत्प्रेरणा देगा । इस सामूहिक लाभ के साथ उसका निज का लाभ भी इसी मे है कि वह स्थिर होकर एक जगह न रहे । एक जगह रहने से परिचय और सम्पर्क गाढ़ा होता है और उससे राग-द्वेष की वृत्तिया फलती-फूलती है । विचरणशील साधु अनिष्ट से सहज ही वच सकता है । साधु जहा भी जाएगा, प्रकाश की किरणे

फैलाएगा । ज्ञान, दर्शन-चारित्र का प्रचार भ्रमण बन्द होने से नहीं हो सकेगा और जन जन को उनके जीवन और प्रवचन से जो प्रकाश मिलता है वह नहीं मिल सकेगा । हाँ साधु के लिए गमनागमन का निषेध वहा है जहा जाने से उनके ज्ञान एव चारित्र मे बाधा उपस्थित होती हो ।

आनन्द ने अपने गमनागमन की मर्यादा की थी । सम्यग्दृष्टि विद्यमान होने से उसमे ज्ञान का प्रकाश था पर चारित्र का पूर्ण प्रकाश नहीं था वह क्षेत्रीय सीमा निर्धारित करके अपनी कामनाओ को मर्यादित करने का प्रयत्न करने लगा । उसने ऊर्ध्वदिशा अधोदिशा और तिरछी दिशा म गमनागमन करने का परिमाण कायम किया ।

जिस साधक ने दिशा परिमाण व्रत अंगीकार किया है उसे चलते-चलते रास्ते मे सन्देह उत्पन्न हो जाय कि कही वह निर्धारित परिमाण का उल्लघन तो नही कर रहा है ? फिर भी वह आगे चलता जाय तो उसका चलना व्रत का अतिचार है । ऐसा करने से व्रत मे मलिनता उत्पन्न होती है । अगर साधक जानबूझ कर किसी कारण से परिमाण का उल्लघन करता है तो अनाचार का सेवन करता है ।

सदिग्ध अवस्था म व्रत का जो उल्लघन हो जाता है वह अतिचार की कोटि म आता है जैसे रात्रि भोजन त्यागी अगर सूर्योदय से पहले या सूर्यास्त के पश्चात् शका की स्थिति म कार्य करे तो वह अतिचार है ।

स्वेच्छापूर्वक व्रतो को ग्रहण करने वाला साधक अतिचार से भी बचने की सावधानी रखता है और ऐसा प्रयत्न करता है कि उसका व्रत सर्वथा निर्दोष रहे फिर भी भूल चूक हो जाना स्वाभाविक है । ऐसी स्थिति मे अगर व्रत दूषित हो जाता है मगर दूषित करने की इच्छा नही होती तो उस व्रत का आशिक विराधन ही समझा जाता है ।

वस्तुत साधक का दृष्टिकोण पापो पर विजय प्राप्त करना है जिन्होने प्रत्येक ससारी जीव को अनादिकाल से अपने चगुल में फसा रखा है ।

ज तु जीत्योर त मुज्ञ जीतियो,
पुरुष किशु मुज नाम

प्रभु के चरणो म आत्मनिवेदन का ढग निराला होता है । अध्यात्म-भावना के रग म रगा हुआ साधक अपना आन्तरिक निवेदन का अनुभव करता है और उस पर विजय प्राप्त कर लेता है । उपर्युक्त पद्य म भक्त ने निवेदन किया है – प्रभो ! जिन काम क्रोध आदि विकारो ने आपने पराजित कर दिया, उन विकारो ने मुझ

पराजित कर रखा है । कैसे मे मर्द होने का दावा करू ! हारे हुए से हारना मर्दानगी नही, नपुसकता है । यह भक्त के निवेदन की एक विशिष्ट शैली है । इसमे प्रथम तो वह अपने विकारो पर विजय प्राप्त करने की उत्सुकता प्रकट करता है, दूसरे अपने असामर्थ्य के प्रति असन्तोष भी व्यक्त करता है ।

विकारो पर विजय प्राप्त करने की साधना दो प्रकार की है – द्रव्य साधना और भावसाधना । दोनों साधनाए एक-दूसरी से निरपेक्ष होकर नही चल सकती, परस्पर सापेक्ष ही होती है । जब अन्तरग मे भावसाधना होती है तो बाह्य चेष्टाओं, क्रियाओ के रूप मे वह व्यक्त हुए बिना नही रह सकती । अन्तरतर के भाव बाह्य व्यवहार मे झलक ही पड़ते है । बल्कि सत्य तो यह है कि मनुष्य की बाह्य क्रियाए उसकी आन्तरिक भावना का प्रायः दृश्यमान रूप है । हृदय मे अहिंसा एव करुणा की वृत्ति बलवती होगी तो जीवन रक्षा रूप बाह्य प्रवृत्ति स्वतः होगी । ऐसा मनुष्य किसी प्राणी को कष्ट नही देगा और किसी को कष्ट मे देखेगा तो उसे कष्ट मुक्त करने का प्रयत्न करेगा । इस प्रकार बाह्य क्रियाकाण्ड तभी सजीव होता है जब उसके साथ आन्तरिक भावना का सम्मिश्रण हो । अगर वह न हुई तो क्रियाकाण्ड मात्र दिखावा होकर रह जाता है । वह 'स्व-पर' वचना का साधन भी बन सकता है । अतएव साधना के जो दो भेद कहे गए है, वे केवल उसके दो रूप है, स्वतन्त्र दो पक्ष नही है ।

अपरिचित पथ पर चलने वाला पथिक पहले चले पथिको के पदचिन्ह देखकर आगे बढ़ता है ताकि वह भटक न जाय । साधना मार्ग के बटोही को भी ऐसा ही करना चाहिए । पूर्वकालीन साधना के मार्ग पर चले हुए महापुरुषो के अनुभवो का लाभ हमे उठाना चाहिए, वीतरागों का स्मरण हमे प्रेरणा देता है, स्फूर्ति देता है, आत्मविश्वास जगाता है, और सही मार्ग से इधर-उधर भटकने से बचाता है । आदर्श महापुरुषो की शिक्षाओ से हमारे जीवन की अनेक समस्याओ का समाधान होता है, उलझने सुलझ जाती हैं । आचार मार्ग मे भी महापुरुषो के वचनो से अनेक प्रकार के लाभ होते है । भूधरजी महाराज ऐसे ही महापुरुषों मे से एक थे ।

भूधर जी महराज विजयादशमी को ही इस धरती पर अवतरित हुए और विजयादशमी के दिन ही स्वर्गवासी हुए । यह एक विस्मयकारक घटना है, परन्तु महापुरुषो के जीवन के वास्तविक रहस्य को समझना बहुत कठिन है ।

मारवाड़ के प्रसिद्ध नगर सोजत मे धन्नाजी महाराज का उपदेश सुनकर उनके चित्त मे विराग उत्पन्न हुआ और वे उन्ही के पास दीक्षित हो गए । दीक्षित होने के पश्चात् उन्होने सयम और तप का मार्ग ग्रहण किया । अपने अन्दर साधना की

ज्योति जगाई और वह ज्योति उन्ही तक सीमित नही रही । अन्दर जब प्रकाश उत्पन्न होता है तो उसकी कतिपय किरणे बाहर प्रस्फुटित हुए बिना नही रहती । बाहर निकल कर वे किरण कितने ही लोगो का पथ प्रशस्त करती है । भूधरजी महाराज के अन्तरतम मे आलोक का जो पुज उद्भूत हुआ उससे सहस्रो नर नारियो को मार्गदर्शन मिला । उनकी वाणी-गगा मे अवगाहन करके न जाने कितने लोगो ने अपने मन का मैल धोया ।

त्याग और तप की साधना से प्रमाद घटता है और प्रमाद के घटने से ज्ञान बढता है । चारित्र की शोभा ज्ञान के बिना नही होती । ज्ञान और चारित्र का सगम ही सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग है । भूधरजी महाराज इन दोनो ही क्षेत्रो मे अग्रसर थे ।

एक बार भूधरजी महाराज का इन्दौर की ओर विहार हुआ । उस काल मे किसी दुकान पर खुले रूप मे प्रवचन करने का प्रचलन था । जिस गाव के प्रागण मे वे प्रवचन कर रहे थे वहा होकर कुछ सैनिको के साथ एक सेनाधिकारी निकला । मुनि के प्रवचन को सुनने की उत्कठा से वह ठिठका । कुछ वाक्य कानो मे पडे तो रुक गया और आगे सुनने को उत्सुक हुआ । उनके ज्ञानपूर्ण भाषण से वह बहुत प्रभावित हुआ । उसके चेहरे पर जिज्ञासा की रेखाए देख कर मुनिराज ने कहा – क्या कुछ पूछने की इच्छा है ?

वह अधिकारी जोधपुर के श्री भण्डारी थे । मुनिराज के प्रश्न को सुनते ही उन्हे एक नवीन कल्पना आई । बात यह थी कि वे दिल्ली बादशाह के यहा काम करते थे उनकी शाहजादी गर्भवती हो गई थी । भण्डारीजी का विचार था कि– कोई दैवी कारण होगा नहीं तो शाहजादी ऐसी गलती नही कर सकती ? उनका यह विचार सत्य है या नही इस विषय मे मुनिराज से जानने का उन्होंने विचार किया । अत उन्होंने मुनिराज से पूछा– 'क्या पुरुष के साथ सभोग किये बिना भी कोई स्त्री गर्भवती हो सकती है ?

भूधरजी स्वामी ने उत्तर दिया– 'हॉं ऐसा हो सकता है । गर्भाधान का कारण एक पुरुष सयोग ही नही है । भगवान् महावीर ने उसके पाच अन्य कारण भी बतलाए है । गर्भ पुरुष के सयोग से है अथवा अन्य कारण से इसकी परीक्षा भी की जा सकती है ।

विज्ञान ने आज अपने भौतिक उपकरणो से इसके अन्वेषण की कुछ बाते जगत् के समक्ष रखी है किन्तु महर्षियो ने पहले ही अपने आत्मज्ञान के बल से जान लिया था ।

स्नान करते समय जल मे मिले हुए वीर्य के पुद्गल स्त्री के गर्भाशय मे प्रवेश कर सकते है। पुरुषो के बैठने के स्थान मे रहे हुए वीर्य-पुद्गल, यदि स्त्री उसी स्थान मे बैठ जाय तो कदाचित् उसके गर्भाशय मे जा सकते है। इत्यादि परिस्थितियो मे पुरुष के ससर्ग के बिना भी गर्भ रह सकता है। पुरुष के ससर्ग से जो गर्भाधान होता है उसमे गर्भ के शरीर मे अस्थियों का निर्माण होता है, मगर अन्य कारणो से होने वाले गर्भ मे मासपिण्ड ही बनता है । उसमे अस्थि नही होती ।"

भण्डारीजी इस बात से बड़े प्रसन्न हुए और उन्होने बादशाह के सामने यह बात रख कर शाहजादी के प्राण बचा लिये । बादशाह को जब पूज्य भूधरजी महाराज का परिचय प्राप्त हुआ तो उन्हे बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होने पूज्य श्री के दर्शन कर अहिसा धर्म का ज्ञान प्राप्त किया ।

एक बार पूज्य भूधरजी महाराज कालू नामक ग्राम मे पधारे । यह ग्राम जोधपुर रियासत के अन्तर्गत है । आषाढ़ का महीना था गर्मी तेज गिर रही थी । मेघ घिर-घिर कर आते और बिखर जाते थे । किसानो मे बड़ी व्यग्रता थी । बार-बार आशा बधती और वह निराशा में परिणत हो जाती थी । प्रकृति कृषको के साथ निष्ठुर क्रीड़ा कर रही थी ।

ऐसे समय मे भूधरजी महाराज वहां पहुँचे थे । नदी वहा की सूखी पड़ी थी । तेज धूप पड़ने से नदी की रेत तप जाती थी । भूधर जी महाराज उस रेत में लेट कर आतापना लेते थे । आखो की सुरक्षा के लिए वे उन पर पट्टी बाध लिया करते थे ।

एक दिन एक किसान उस ओर निकला । यद्यपि मुनि ने उसको कोई हानि नहीं पहुँचाई थी, फिर भी कषाय के वशीभूत होकर उसने उनके मस्तक पर लट्ठ का प्रहार कर दिया ।

भारत मे और विशेषत: देहातों मे अब भी अनेक प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित है । उस जमाने मे तो और अधिक प्रचलित थे । सभवत: उस किसान ने सोचा कि यह साधु नदी की रेत मे लेट कर वर्षा नही होने देता । इसी के कारण बादल आ-आ कर चले जाते है । इस विचार से उसको क्रोध आना स्वाभाविक था ।

मस्तक पर प्रहार होते ही रुधिर की धारा प्रवाहित होने लगी । बाबाजी ने गीले वस्त्र की पट्टी बाध ली । जब वे गाव मे आए तो शोरगुल मच गया । प्रहार करने वाला पकड़ा गया और कड़ाह के नीचे दबा दिया गया । यह समाचार भूधरजी महाराज तक पहुँचा ।

मुनि क्षण भर के लिए सोच विचार मे पड गए । वे सोचने लगे-मेरे कारण एक अज्ञानी किसान के प्राण चले जाएगे तो मै इसे कैसे सहन कर सकूगा । इस घटना से तो जैन शासन की भी बदनामी होगी ।

उसी समय उन्होंने अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर लिया । मुनिजी ने घोषणा कर दी – "जब तक उस किसान को नही छोड दिया जाएगा तब तक मै अन्न-जल ग्रहण नही करूगा ।

मुनिराज की भीष्म प्रतिज्ञा सुन कर ग्राम के लोग सन्न रह गए । सर्वत्र उनकी दयालुता की भूरि भूरि प्रशसा होने लगी । उसी समय वह किसान छोड दिया गया । किसान के मन मे भारी उथल पुथल हुई । वह सोचने लगा 'मै जिसकी जान लेने पर उतारू हुआ उसी ने मेरी जान बचाई । ऐसा महात्मा धन्य है । मै कितना अधम हूँ कि एक निरपराध साधु को व्यथा पहुँचाने से न हिचका ।

श्री राम और महावीर स्वामी की कथाओ मे भी करुणा का सजीव आदर्श उपलब्ध होता है मगर उन्हे हुए बहुत काल हो चुका है । मगर भूधरजी महाराज को हुए तो लम्बा समय नही हुआ । वे आधुनिक काल के ही महापुरुषो मे गिने जा सकते है । उनका ज्वलन्त जीवन हमारे समक्ष एक महान् आदर्श है ।

राम ने रावण की दानवी लीला समाप्त की । हमारी दृष्टि मे आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही राम का प्रतीक है। उन्होंने काम रूपी दशानन पर विजय प्राप्त की । रावण अपने समय का महान् शक्तिशाली राजा था । उसका जीवन वैसा पतित नही था जैसा साधारण लोग समझते है । वह बडा नीतिज्ञ और भक्त था । वाल्मीकि ने भी उसे महात्मा माना है । उसके जीवन मे मर्यादा थी इसी कारण सीता का शील सुरक्षित रह सका । फिर भी उसके प्रति आज भी घृणा प्रकट की जाती है । किन्तु आज समाज मे रावण से बढ कर न जाने कितने महारावण मौजूद है । वे अपने हृदय को टटोल कर आज अपनी शुद्धि का सकल्प कर ले तो उनके लिए विजयादशमी वरदान सिद्ध होगी । जैसे राम महावीर स्वामी तथा भूधरजी जैसे महापुरुषो ने अन्तःकरण के विकारो पर विजय प्राप्त की वैसे ही हम भी अपने विकारो को जीतना है । यही विजयादशमी का दिव्य संदेश है । जो विकार पर विजय प्राप्त करेगे वे अपना इहलोक और परलोक सुधार सकेगे । उन्ही का कल्याण भी होगा ।

---

[५५]

भोगोपभोग–मर्यादा

भगवान् महावीर धर्म तीर्थकर थे । उन्होने ऐसे धर्मतीर्थ की प्ररूपणा की है जो प्रत्येक प्राणी ओर प्रत्येक युग के लिए समान रूप से हितकारी हे । अढ़ाई हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जव महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म के सिद्धान्तो के मर्म पर विचार करते हे तो ऐसा लगता है, मानो इसी युग को लक्ष्य करके उन्होने इन सिद्धान्तो का उपदेश किया हे । उनके सिद्धान्त वहुत गभीर ओर व्यापक है तथापि भगवान ने श्रुतधर्म और चारित्र धर्म की सीमा मे सभी का समावेश कर दिया है ।

श्रुतधर्म का सम्बन्ध विचार के साथ और चारित्र धर्म का सम्बन्ध आचार के साथ हे । आचार का उद्‌गम विचार है । विचार को वीज मान लिया जाय तो आचार उससे फूटने वाला अकुर, पौधा, वृक्ष आदि सभी कुछ है । पहले विचार का निर्माण होता है फिर आचार उत्पन्न होता है । हो सकता है कि कभी विचार आचार के रूप में परिणत न हो । बहुत बार ऐसा होता भी है । मगर इससे यह सिद्ध नही होता कि विचार आचार का कारण नही है । ऐसे अवसर पर यही मानना होगा कि विचार मे शिथिलता है, दृढ़ता नहीं आई है । उसे समुचित पोषण-सामग्री नही मिली है ।

विचार और आचार जीवन के दो पक्ष है । दोनो पक्ष यदि सशक्त होते है तो जीवन गतिशील बनता है और ऊँची उड़ान भरी जा सकती है । दोनो मे से एक के अभाव मे जीवन प्रगतिशील नही बन सकता ।

श्रुतधर्म मे ज्ञान-दर्शन का समावेश है और चारित्र धर्म में आचार के व्रत, नियम, उपनियम आदि सभी अंगो का समावेश है ।

दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि श्रुतधर्म मूल है तो व्रत-नियम आदि उसके फल है । श्रुतधर्म रूपी मूल अच्छा हो तो पत्र-पुष्प-फल आदि भी मजबूत होगे । मूल के कमजोर होने से फल भी कमजोर होते है । फलो मे सड़ाध या

विकति का कारण वास्तव मे मूल का परिपुष्ट न होना है । मूल पुष्ट होता है तो वह सडाध या विकृति का निराकरण कर देगा ।

इसी प्रकार विचार वल यदि पुष्ट हो तो साधक अहिसा सत्य आदि व्रता का ठीक तरह से निर्वाह कर सकेगा । मूल ढीला हुआ तो सामायिक मे भी प्रमाद सताएगा या निद्रा आएगी । भगवान् महावीर स्वामी ने इन्ही तथ्यो को सामन रखकर आनन्द आदि को उपदेश दिया है ।

दिग्व्रत के अतिचारो के बारे मे पहले चर्चा की गई है । वे पाँच है । (१) ऊर्ध्वदिशा के परिमाण का अतिक्रमण (२) अधोदिशा सम्बन्धी परिमाण का अतिक्रमण (३) तिर्छी दिशा सम्बन्धी परिमाण का अतिक्रमण (४) एक दिशा के परिमाण को घटाकर दूसरी दिशा के परिमाण को वढा लेना और (५) किय हुए परिमाण का स्मरण न रखना । यह भी कहा जा चुका है कि परिमाण का उल्लघन उसी स्थिति म अतिचार माना गया है जब सन्देह की स्थिति मे किया गया हो । अगर जान-बूझ कर उल्लघन किया जाय तो वह अनाचार हो जाता है ।

भोगोपभोग परिमाण—भोजन पानी गध माला आदि जो वस्तु एक ही वार काम म आती है वह उपभोग कहलाती है और जा वस्त्र अलकार शय्या आसन आदि वस्तुए बारवार काम म लायी जाती हे उन्हे परिभोग कहते है । श्रावक को ऐसी सब चीजो की मर्यादा कर लेनी चाहिए जिसस शान्ति और सन्तोष का लाभ हो, निरर्थक चिन्ता न करनी प‍े तृष्णा पर अकुश लग सके और जीवन हल्का हो । मनुष्य अपनी आवश्यकताआ को जितनी कम कर लेगा उतनी ही अधिक शान्ति उसे प्राप्त हो सकेगी । अगर अपनी भागोपभोग सम्बन्धी इच्छा को नियन्त्रित नही किया गया तो जिन्दगी उसके पाछ वर्बाद हो जाती है । भोगोपभाग के लिए ही मनुष्य हिसा करता है असत्य भाषण करता हे अदत्त ग्रहण करता है कुशील सवन करता है और सग्रह परायण वनता है । यदि भागापभाग की लालसा कम हो गई ता हिसा आदि पापा से स्वतः ही वचाव हो जाता है । कई ब्राह्मा पुजारियो ने मन्दिरा म दी जाने वाली बलि को वन्द करा दिया है । उन्हाने यह कह कर हिसा रुकवा दी कि अभी मेरे रहते मिष्ठान्न का भाग लगने दा । मेर न रहन के वाद जो चाहो सा करना । ऐसा वात वही कह सकता है जिसमे मासभक्षण की लालसा न हो । वास्तव म भोग की लालसा न हो तो हिसा जैस अनक वड वड पापा से पिण्ड छूट जाए ।

इस प्रकार भागापभाग क साथ पापा का अनिवार्य सम्बन्ध है । भागापभाग की लालसा जितनी तीव्र हागी पाप भी उतन ही तीव्र हाग । अतएव जा साधक

पापो से बचना चाहता है उसे भोगोपभोग के साधनो में कमी करनी चाहिए । कमी करने का अच्छा उपाय यही है कि उनका परिमाण निश्चित कर लिया जाय और धीरे-धीरे यथायोग्य उसमे भी कमी करता जाय । ऐसा करने वाला स्वय ही अनुभव करने लगेगा कि उसके जीवन मे शान्ति बढ़ती जा रही है, एक प्रकार की लघुता और निराकुलता आ रही है ।

भोगोपभोग के दो प्रकार बतलाए गए है, यथा–

(१) भोजन सम्बन्धी, जैसे खाना पहनना, आदि ।
(२) कर्म सम्बन्धी ।

किसी भुक्तभोगी ने ठीक ही कहा है–

पेट राम ने बुरा बनाया, खाने को मा गे रोटी ।
पड़े पाव भर चून पेट मे, तब फुरके बोटी-बोटी ।।

भोगोपभोग की प्रवृत्ति के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसे क्रूरतापूर्ण कार्य कर डालता है कि जिनमे पशु-पक्षियो की हत्या होती है । भोगोपभोग की लालसा की बदौलत ही मनुष्य रक्त की धाराए प्रवाहित करता है । उसे पाप करते समय तो कुछ जोर नही पड़ता, हॅसते-हॅसते भयानक पाप कर डालता है, मगर उनका फल भोगते समय भीषण स्थिति होती है। हम अनेक मानवो और मानवेतर प्राणियों को घोर व्यथा, अतिशय दारुण वेदना भोगते और छटपटाते देखते है । यह सब उनके पापकर्म का ही प्रतिफल है । अगर इस तथ्य को मानव भलीभाँति समझ ले तो भोगोपभोग के पीछे न पड़ कर बहुत से पापो से बच सकेगा ।

हिसा को सहन करने वाला और उसमें सहयोग देने वाला भी हिसा के फल का भागी होता है । प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बलि : ~ को सहकार देना महान् पातक है । जिन कार्यो से हिसा को प्रोत्साहन मिलता हो और जिन स्थानो मे हिसा होती हो और जो कर्मबन्ध के कारण हो उनके साथ असहयोग करना चाहिए। ऐसा करने से दो लाभ होगे – अज्ञानतावश ऐसे दुष्कर्म करने वालो का हृदय-परिवर्तन होगा और स्वय को पाप से बचाया जा सकेगा । अज्ञानी जनों को सही राह न बतलाना भी अपने कर्त्तव्य से मुह मोड़ना है । पुण्य योग से जिसे विचार और विवेक प्राप्त हुआ है, जिसने धर्म के समीचीन स्वरूप को समझा है और जिसे धर्म के प्रसार करने की लगन है, उसका यह परम कर्तव्य है कि वह अज्ञानी जनो को सन्मार्ग दिखलाए । इस दिशा मे अपने कर्तव्य का अवश्य पालन करना चाहिए । यह धर्म की बड़ी से बड़ी प्रभावना है ।

भोगोपभोग की सामग्री परिग्रह है और उसकी वृद्धि परिग्रह की ही वृद्धि है। परिग्रह की वृद्धि से हिसा की वृद्धि होती है और हिसा की वद्धि से पाप की वृद्धि होती है । साधारण स्थिति का आदमी भी दूसरो की देखा देखी उत्तम वस्तुए रखना चाहता है । उसे सुन्दर और मूल्यवान फर्नीचर चाहिए, चादी के बर्तन चाहिए पानदान चाहिए मोटर चाहिए और पडौसी के यहा जो कुछ अच्छा है सब चाहिए । जब सामान्य न्याय सगत प्रयास से वे नही प्राप्त होते तो उनके लिए अनीति और अधर्म का आश्रय लिया जाता है । अतएव मनुष्य के लिए यही उचित है कि वह अल्प सन्तोषी हो अर्थात् सहजभाव से जो साधन उपलब्ध हो जाय उनसे ही अपना निर्वाह कर ले और शान्ति के साथ जीवनयापन करे । ऐसा करने से वह अनक पापो से बच जायेगा और उसका भविष्य उज्ज्वल बनेगा ।

पूर्णरूप से त्यागमय जीवन यापन करने वाले भोगोपभोग की सामग्री से विमुख ही रहते है । भागोपभोग की वस्तुए दो कोटि की होती है–

(१) निर्जीव भोग्य और उपभोग्य पदार्थ और

(२) सजीव जैसे हाथी घोडा फूलमाला आदि ।

यद्यपि पूर्ण त्यागी को भी जीवन निर्वाह के लिए भोगोपभोग की वस्तुओ को ग्रहण और उनका उपयाग करना पडता है तथापि वह उनके उपयोग मे आनन्द या शौक नही मानता । वह उन्हे जीवनयापन का अनिवार्य साधन समझ कर ही काम मे लेता है । आसन वसन अशन आदि उसके लिए उपभोग्य नही वरन् जीवन निर्वाह के साधन मात्र होते है ।

भावना म यदि अनासक्ति है तो कोई भी जीवन निर्वाह का साधन भोग या परिग्रह नही बनता । आसक्ति होने पर सभी पदार्थ परिग्रह हो जाते है । स्थूलभद्र न वेश्यालय म चार मास व्यतीत किए किन्तु परिपूर्ण अनासक्ति के कारण वे वेदाग रहे । आचार्य सभूतिविजय ने अपने तीन मुनियो को धन्यवाद दिया और स्थूलभद्र ने काम विजय कर जो सिद्धि पाई, उसके लिए उन्होंने 'दुष्करम् अतिदुष्करम्' कह कर अपना प्रमोद प्रकट किया । काम विजय को सर्वाधिक महत्त्व देना गुरु महाराज का लक्ष्य था और यह उचित भी था किन्तु अन्य मुनियो को लगा कि गुरुजी ने पक्षपात किया है । वे साचने लगे कि वेश्या के घर मे रह कर चार मास व्यतीत कर लेना कौन बडी बात है । इसम अति दुष्कर' क्या है ।

'वक्त्र वक्ति हि मानसम्' इस कहावत का अर्थ यह है कि मनुष्य का चेहरा ही उसके मन की बात प्रकट कर देता है । भावभंगिमा को देख कर दूसरे के हृदय की थाह ली जा सकती है अपने अन्य शिष्या के चेहरो को देख कर विचारण

प्रतिभाशाली गुरु भाप गए कि इन्हे मेरे निर्णय से सन्तोष नही है । मगर उन्होंने सोचा—अभी इस सम्बध मे ऊहापोह करने का अवसर नही है । उपयुक्त अवसर आने पर इन्हें समझाना होगा ।

तीनो मुनि सोचने लगे—अगला चातुर्मासावास हम लोग वेश्या के घर करेंगे और वही ध्यान लगा कर गुरु महाराज से प्रशसा प्राप्त करेंगे ।

शेर की गुफा, सर्प की बाबी और कुएँ की पाल पर रह कर आने वाले मुनि काम-विजय की दुष्करता को नही समझते थे । उन्हे ख्याल नही आया कि काम-विजय ससार मे सब से बड़ी विजय है और जो काम को जीत लेता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह को अनायास ही जीत लेता हे । काम को जीतने के लिए अपनी मनोवृत्तियों को पूरी तरह वशीभूत करना पड़ता है और निरन्तर मन की चौकसी रखनी पड़ती है । तनिक देर के प्रमाद से भी काम-विजय के लिए की जाने वाली चिर-साधना नष्ट हो जाती है । ब्रह्मा, विष्णु, और महेश जैसे तथा रावण जैसे बली राजाओ को भी जो जीत सकता है, उस काम को जीतना क्या साधारण बात है ? उसके लिए बड़ी तपस्या चाहिए । मन को मेरु के समान अचल बनाना होता है और अन्त.स्तल के किसी भी कोने में मोह या राग न रह जाए, इस बात की सावधानी बरतनी पड़ती है। आग पत्थर के फर्श पर गिर कर बुझ जाती है और घास की गजी (ढेरी) मे गिर कर सहस्रो ज्वालाओ के रूप मे प्रज्वलित हो उठती है । काम-विजेता को अपना हृदय पत्थर के समान मजबूत बनाना पड़ता है ।

स्थूलभद्र ने अपने हृदय को पूरी तरह साध लिया था । काम-राग की गहरी घुसी हुई वृत्ति का उन्मूलन कर दिया था । अत. उनकी विजय महान् थी । इस विजय के महत्व को अन्य तीन मुनि ईर्ष्या के आवेग के कारण नही समझ सके ।

शीतकाल चल रहा था । तीनो मुनियों मे इन दिनों कुछ विशेष घनिष्ठता कायम हो गयी थी । वे एक-दूसरे के प्रति अधिक सहानुभूति रखने लगे थे । शेर की गुफा वाले मुनि का सम्मान अन्य दो से कुछ अधिक था । नि:शस्त्र रह कर शेर के सामने जाना और उससे मैत्री रखना भी कोई आसान काम नही था । उसने अपने सौम्य भाव एव दृष्टि से सिह की हिसक शक्ति को एव उसके क्रूरतर स्वभाव को भी वश मे कर लिया था । ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक ही था कि उस मुनि का सम्मान तीनो में अधिक होता ।

तीनो मुनि शीतकालीन तप.साधना मे निरत हो गए । साधु शब्द का अर्थ ही हे—साधनाशील । मगर सामान्य ससारी जीवो की अपेक्षा उसकी साधना निराली होती

है। सामान्य लोग भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए साधना करते है जब कि साधु उनके त्याग की और उनकी अभिलाषा न करने की साधना करता है । शुद्ध आत्मोपलब्धि ही उसकी साधना का उद्देश्य होता है ।

गृहस्थ और साधु के जीवन की साधनाए दो प्रकार की होती है– सामान्य साधना और विशिष्ट साधना । षट आवश्यक करना स्वाध्याय करना ध्यान करना व्रतो का पालन करना आदि दैनिक साधना सामान्य साधना कहलाती है । विशेष साधना वह है जो विशिष्ट पर्व आदि के अवसरो पर की जाती है । चातुर्मास के समय की जान वाली अतिरिक्त साधना भी विशिष्ट साधना के अन्तर्गत है ।

सामान्य साधना के समय तीनो मुनिया के मन मे ईर्ष्याभाव था । ईर्ष्या क बदल अगर स्पर्द्धा का भाव होता और वे कामविजय क लिए चित्त को वशीभूत करन का विशिष्ट अभ्यास करते तो उनके हित म अच्छा होता । स्वस्थ स्पर्द्धा दूसरे के उत्थान एव विकास मे बाधक नही बनती । उसमे दूसरो का भी विकास वाछित होता है पर उसकी अपेक्षा अपना अधिक विकास अभीष्ट होता है । अतएव यह एक अच्छा गुण कहा जा सकता है । दान सेवा ईश्वर भक्ति स्वाध्याय सत्सग आदि मे प्रतिस्पर्द्धा का भाव हो तो अवाछनीय नही वरन् अभिनन्दनीय गिना जा सकता है मगर ईर्ष्या होना अनुचित है । ईर्ष्या मे दूसरे के प्रति जलन होती है द्वेष होता है । इससे आत्मा मलिन बनती है । ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे का गिराने का षडयन्त्र रचता रहता है और ऐसी दूषित भावना से वह स्वय गिर जाता है दूसरा कदाचित् गिरे या न भी गिरे ।

एक बार तीनो मुनिया ने परस्पर विचार विमर्श किया और वे मिलकर गुरुजी क निकट पहुचे । यथोचित वन्दन एव नमस्कार करके उन्होने सिहगुफावासी मुनि के लिए रूपकोषा के घर जाकर साधना करन की अनुमति मागी ।

गुरुजी बडे असमजस म पड गए । वे इन मुनिया के मनोभाव को भलीभाँति जानते थे । उन्ह पता था कि साधना की इस माग के पीछे सहज भाव नही है अहकार को तुष्ट करने की ही भावना प्रधान है । स्थूलभद्र क प्रति ईर्ष्याभाव न इन्ह इसके लिए उद्यत किया है । स्थूलभद्र जिस वासना पर विजय प्राप्त करके यशस्वी बने, उसे जीतना प्रत्येक के लिए सरल नही है । ऐसा पात्रता प्राप्त करने के लिए विशिष्ट भूमिका होनी चाहिए । इन तीनो म अभी तक उस भूमिका का निर्माण नही हो सका है । सिहगुफावासी अनगार सात्विक भाव वाला है अवश्य पर इस समय ईर्ष्या के कारण उसक सात्विक भाव म कुछ मलिनता ही आई है । उत्कर्ष के बदल इसकी विशुद्धि का अपकर्ष हुआ है । नीतिकार कहते है ।

घृत कुम्भसमा नारी, तप्तांगारसमः पुमान् ।
तस्मात् घृतस्य कुम्भ च न तत्र स्थापयेद् बुध : ॥

नारी घी का घड़ा है और पुरुष तपा हुआ अंगार । इन दोनो को एक जगह रखने वाला पुरुष बुद्धिमान् नही कहा जा सकता ।

गुरु सभूतिविजय बड़ी दुविधा मे थे । उनका मन अनुमति देने को तैयार न था । वे उस मुनि के सयम को सकट मे नही डालना चाहते थे । भला कौन ऐसा गुरु होगा जो अपने शिष्य को असयम के गहरे गर्त मे गिराने की इच्छा करे ? गुरु और शिष्य का सम्बन्ध सयम की वृद्धि के लिए होता है, अन्यथा पिता, भ्राता आदि से नाता तोड़ कर गुरु के नाम पर नया नाता जोड़ने की आवश्यकता ही क्या थी ? एक साधना का अभिलाषी नौसिखिया किसी अनुभवी की शरण में जाता है और निवेदन करता है–"भगवन् ! मै साधना के इस अपरिचित और गहन पथ पर चलना चाहता हूँ । आप इस पथ के अनुभवी है । इस मार्ग मे आने वाली विघ्न-बाधाओं से परिचित है । अनुग्रह करके मुझे अपनी शरण मे लीजिए, मेरा पथ-प्रदर्शन कीजिए और संसार-अटवी से पार होने मे मेरी सहायता कीजिए ।"

अनुभवी साधक सोचता है–"इसे ग्रहण करने के कारण मेरी एकाग्र साधना मे कुछ बाधा आएगी, मगर दूसरे की साधना मे निस्पृह भाव से सहायक होना भी साधना का एक अग है । इसके अतिरिक्त जिन शासन की परम्परा को निरन्तर चालू रखने के लिए भी यह आवश्यक है कि साधना क्षेत्र मे आने वाले अनुभवहीन जनो का मार्गदर्शन किया जाय । अगर मेरे गुरुजी ने मुझे शरण न दी होती तो मै आज इस स्थिति मे कैसे आता ? जब मैने किसी की छत्रछाया ली तो उस ऋण को चुकाने के लिए भी यह आवश्यक है कि मै किसी अन्य को अपनी छत्रछाया प्रदान करू ।"

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध का यह शास्त्रीय आधार है । पुराने परिवार को त्याग कर नया परिवार बनाना इस सम्बन्ध का उद्देश्य नही है । हुकूमत चलाने या प्रतिष्ठा पाने के लिए चेलो की फौज नही बनाई जाती । ऐसी स्थिति मे गुरु अपने शिष्य को ऐसी ही अनुमति देगा जिससे उसके सयम की वृद्धि हो । वह ऐसा आदेश कदापि न देगा जिससे सयम को खतरा उपस्थित हो जाए ।

गुरु सभूतिविजय इसी कारण उन मुनियो की प्रार्थना को सुनकर 'हा' नही कह सके । वे मौन ही रह गए ।

[५६]

भोगोपभोगव्रत की विशुद्धि

मुक्ति के लिए प्रयाण करने वाले प्रत्येक पुरुष के लिए यह आवश्यक है कि वह जगत् के समस्त प्राणियो के प्रति समभाव धारण करे और उनके सुख-दुःख को अपने ही सुख-दुःख के समान समझे । त्रस और स्थावर जितने भी प्रकार के जीव है, सब के प्रति मैत्रीभाव का धारण करना अध्यात्म-साधना का अनिवार्य अग है ।

भगवान् महावीर स्वामी ने त्रसजीवो के समान स्थावर जीवो की रक्षा करना भी आवश्यक बतलाया है, मगर सभी साधको की योग्यता और पात्रता समान नही होती । हाथी का पलान (बोझ) हाथी ही सभाल सकता है । प्रत्येक स्तर के मनुष्य के लिए यदि समान साधना का विधान किया जाय तो वह सबके लिये समान रूप से अनुकूल नही होगा । वह यदि गृहत्यागी अनगार के योग्य होगा तो गृहस्थ उससे लाभ नही उठा सकेगे और उनका जीवन साधना विहीन रह जायगा । अगर वह विधान गृहस्थ के योग्य हुआ तो साधुओ को भी गृहस्थो के समान होकर रहना पड़ेगा । इस प्रकार दोनो तरफ से हानि होगी ।

इस स्थिति को सामने रखकर महावीर स्वामी और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरो ने सभी स्तर के साधको के लिए भिन्न-भिन्न साधना क्षेत्रो का विधान कर दिया है । मुनिधर्म मे सम्पूर्ण विरति का विधान है और गृहस्थ धर्म मे देशविरति का । यहा इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि साधु और गृहस्थ के धर्म मे कोई विरोध नहीं है, वस्तुतः एक ही प्रकार के धर्मो के पूर्ण और अपूर्ण दो स्तर है । साधु भी अहिसा का पालन करता है और गृहस्थ भी । किन्तु गृहव्यवहार से निवृत्त होने और भिक्षाजीवी होने के कारण साधु त्रस और स्थावर दोनो प्रकार के जीवो की हिसा से बच सकता है किन्तु गृहस्थ के लिये यह सभव नही है । उसे युद्ध, कृषि, व्यापार आदि ऐसे कार्य करने पड़ते है जिनमे हिसा अनिवार्य है । अतएव स्थावर जीवो की हिसा का त्याग उसके लिए अनिवार्य नही रखा गया । त्रस जीवो की हिसा मे भी

केवल निरपराध जीवो की सकल्पी हिसा का ही त्याग आवश्यक बतलाया है । इससे अधिक त्याग करने वाला अधिक लाभ का भागी होता है किन्तु देशविरति अगीकार करने के लिए इतना त्याग तो आवश्यक है । इसी प्रकार अन्यान्य व्रतो म भी गृहस्थ को छूट दी गई है ।

गृहस्थ ने जिस सीमा तक जो व्रत अगीकार किया है उसका पालन कष्टो और विघ्न-बाधाआ का सामना करके भी वह करता है । व्रत के मार्ग म आने वाली सभी कठिनाइयो को वह दृढतापूर्वक सहन करता है । जिन सीमाओ तक उसन मनोवृत्ति को वश म करने का व्रत लिया है उसका वह पालन करेगा । यही नही, सम्पूर्ण रूप स विरति का पालन करना उसका लक्ष्य होगा और वह उस लक्ष्य की ओर बढने का निरन्तर प्रयास करेगा । यह बात दूसरी है कि वह उस ओर बढ पाता है या नही और यदि बढ पाता है तो कितना ?

आनन्द श्रावक के चरित्र म श्रावक जीवन की एक अच्छी झाकी हमे मिलती है । उसने भागोपभोग के साधना की जो मर्यादा की थी शास्त्र मे उसका दिग्दर्शन (विवरण) मिलता है । भोगोपभोग के नियमन सम्बन्धी व्रत के दो विभाग है–भोजन सम्बन्धी और कर्म सम्बन्धी । कर्म सम्बन्धी भोगोपभोग मे जो मर्यादा की जाती है उसे भगवान् महावीर ने समझा दिया है । उस पर आप ध्यान देंगे तो विदित हो जाएगा कि श्रावक का शास्त्रीय जीवन वैसा नही जैसा आज दिखाई देता है वरन् वह निराले ही ढग का होता है ।

गृहस्थ भले ही श्रावक जीवन में रहता है मगर उसका लक्ष्य 'मुनिजीवन' होता है । मुनिजीवन एक प्रकार से पराश्रित है क्योंकि मुनि गृहस्थ के यहा से निर्वाह योग्य वस्तु पाता है । गृहस्थ जिन वस्तुआ का उपयोग करता होगा वही वस्तुए साधु को प्राप्त हो सकेगी उन्हे ही वह दे सकेगा । सोने-चादी के पात्रा मे खाने वाला यदि काष्ठपात्र न रखता हा तो अवसर आने पर काष्ठपात्र मुनि को कैसे दे सकेगा ? हा तो यहा पहले भोजन सम्बन्धी भोगोपभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार बताये है जो इस प्रकार है–

(१) सचित्ताहार– व्रत म त्यागी हुई सचित्त वस्तुओ का असावधानी या भ्रम के कारण सेवन करना सचित्ताहार नामक अतिचार है । इस अतिचार से बचने के लिए श्रावक को सदा सावधान रहकर त्यागी हुई सचित्त वस्तुआ के सेवन से बचना चाहिए ।

(२) सचित्त से सम्बद्ध वस्तु का आहार–यदि कोई वस्तु अचित्त होते हुए भी सचित्त से प्रतिबद्ध है तो वह आहार के योग्य नही है जैसे वृक्ष या किसी

अन्य वृक्ष से गोद निकाल कर उसका सेवन करना। अनेक परिपक्व वस्तुए भी बर्फ आदि के साथ रखी जाती है जिससे अधिक समय सुरक्षित रह सके–जल्दी खराब न हो जाए। दूध, दही, घृत आदि अचित्त पदार्थ है तथापि यदि सचित्त से सम्बन्धित हो तो उनको ग्रहण करना भी अतिचार है।

(३) पूरी पकी नहीं, पूरी कच्ची भी नहीं–गृहस्थी मे ऐसे भी खाद्य-पदार्थ तैयार किये जाते है जो अधपके या अधकच्चे कहे जा सकते है। मोगरी आदि वनस्पतियो को तवे पर छोक कर जल्दी उतार लिया जाता है। उनका पूरा परिपाक नही होता। उनमे सचित्तता रह जाती है। अतएव जो सचित्त का त्यागी है, उसके लिए ऐसे पदार्थ ग्राह्य नही है। उनके सेवन से व्रत दूषित होता है।

(४) अभिपक्वाहार–इसका अर्थ है सड़े-गले फल आदि का सेवन करना। ऐसे पदार्थो के सेवन से त्रसजीवो की हिसा होती है और असावधानी मे वे खाने मे भी आ सकते है। प्रत्येक खाद्य पदार्थ की एक अवधि होती है तब तक वह ठीक रहता है। अधिक समय बीत जाने पर वह सड़ जाता है, गल जाता है या घुन जाता है। उसमे जीव-जन्तु उत्पन्न हो जाते है। ऐसी स्थिति मे वह खाद्य नही रहता। अधिक दिनो तक रखने से मिष्ठान्नो मे भी जन्तु उत्पन्न हो जाते है। वह न खाने योग्य रहते है और न खिलाने योग्य। पशुओ को भी ऐसी चीज नही खिलाना चाहिए। अनुचित लालच और अविवेक के कारण मनुष्य इन्हे खाकर या खिलाकर महाहिसा के कारण बन जाते है। इससे अनेक रोगो की भी उत्पत्ति होती है। अन्यान्य खाद्य वस्तुओ मे भी नियत समय के पश्चात् जीवो की उत्पत्ति हो जाती है। अतएव गृहस्थो को, विशेषतः बहिनों को इस विषय मे खूब सावधानी बरतनी चाहिए। खाने के लिये उपयोग करने से पहले प्रत्येक खाद्य पदार्थ की बारीकी से जॉच कर लेनी चाहिए। बहुत बार खाद्य वस्तु मे विकृति तो हो जाती है परन्तु देखने वाले को सहसा मालूम नही होती। अतएव वस्तु के वर्ण, गध आदि की परीक्षा कर लेनी चाहिए। अगर वर्ण, गध आदि में परिवर्तन हो गया हो तो उसे अखाद्य समझना चाहिए। अगर खान-पान सम्बन्धी मर्यादा पर पूरा ध्यान दिया जाय और बहिने विवेक एव यतना से काम ले तो बहुत-से निरर्थक पापों से बचाव हो सकता है और स्वास्थ्य भी सकट मे पड़ने से बच सकता है।

मनुष्य बाहरी तुच्छ हानि-लाभ की सोचता है, मगर यह नही देखता कि समय बीत जाने के कारण यह वस्तु त्याज्य हो गई है। यदि इसका सेवन किया जाएगा, तो कितनी हिसा होगी, यह विचार बहुत कम लोगो मे होता है। श्रावक-श्राविका की दृष्टि पाप से बचने की होती है, आर्थिक हानि-लाभ उसकी तुलना मे गौण होते है।

अतएव जिस वस्तु का स्वाद बदल जाय, गंध बदल जाय और रंगरूप बदल जाय उसे अभक्ष्य जान कर श्रावक कार्य म नही लेना–न ही लेना चाहिए ।

विभिन्न वस्तुओ के विभिन्न स्वभाव है । कोई वस्तु शीघ्र बिगड जाती है, कोई देर म बिगडती है। उनका बिगडना मौसम पर भी निर्भर है । अतएव सब चीजो के लिए कोई एक समय निर्धारित नही किया जा सकता । गृहस्थ यदि सावधान रहे तो अपने अनुभव से ही यह सब समय सकता है । बहिनो को इस सम्बन्ध म खूब सावधान रहना चाहिए ।

(५) तुच्छ औषधिभक्षण–भोजन करने का साक्षात् प्रयोजन भूख को उपशान्त करना है । जिस वस्तु को खाने से वह प्रयोजन सिद्ध न हो उसे नही खाना चाहिए । विवेकमान गृहस्थ यह लक्ष्य रखता है कि काम बने भूख मिटे और वस्तु व्यर्थ न बिगडे । सीताफल, तिन्दुकफल आदि मे बीज बहुत होते है । उनम खाद्य अश अत्यल्प होता है । उनके खाने से शरीर निर्वाह हो जाय ऐसी बात नही है । जिस वस्तु के सेवन से शरीर की यात्रा का निर्वाह न हो और उस वस्तु की भी हानि हो उसके सेवन से भला क्या लाभ है । उदर की पूर्ति हो शरीर का निर्वाह हो और अधिक हिसा भी न हो यही विचार उत्तम है । केवल थोडी सी देर के स्वाद सुख के लिए किसी वस्तु को खाना और हिसा का भागी बनना श्रावक पसन्द नही करता । श्रावक अपने भोजन के विषय मे विवेकयुक्त होता है । जिसमे विवेक नही होता वह खाने के विषय मे कम सोचता है । स्वादलोलुप न हिसा-अहिसा का विचार करता है न हित-अहित की बात सोचता है और न अन्य प्रकार के हानि लाभो का विचार करता है ।

आज फल मक्खन घृत आदि पदार्थ विदेशो से सीलबन्द होकर भारत आ रहे है । यह कैसी विडम्बना है । जिस देश मे गाय को माता माना जाता हो और उसकी पूजा की जाती हो वह देश मक्खन जैसी चीज भी विदेश से मगवाए । जो देश कृषिप्रधान गिना जाता हो उसे विदेशो की दया पर निर्भर रहना पडे और उदरपूर्ति के लिए उनका मुख ताकना पडे यह भारतीय जनो के लिए क्या शोचनीय स्थिति नही है ?

जब देश मे खाद्य पदार्थों की कमी हो तब खास तौर पर ध्यान रखना चाहिए कि कोई खाद्य पदार्थ बिगडने न पावे । इससे लौकिक और धार्मिक दोनो लाभ होग । पर इधर कितना ध्यान दिया जा रहा है ?

आज लोगो की सात्विक वृत्ति कम हो रही है । खाद्य-अखाद्य का कोई ध्यान नही रखा जा रहा है । मिलावट करना मामूली बात हो गई है । भाग्य से ही

कोई चीज शुद्ध मिल सकती है, अन्यथा किसी मे कुछ और किसी मे कुछ मिलाया जा रहा है और लोग विवश होकर ऐसे पदार्थों को खरीदते है । दूध और आटे जैसी वस्तुओ का, जो शरीर एव जीवन के लिए उपयोगी मानी गई है, शुद्ध रूप मे प्राप्त होना कितना कठिन हो गया है, इस बात को आप भली-भाति जानते है । केमिकल के नाम पर क्या-क्या मिलाया जाता है, इसका क्या पता है ? पैक की हुई वस्तुओ पर भी आज भरोसा नही रह गया है । अभी यह स्थिति है तो आगे आने वाले समय मे क्या स्थिति होगी, कहा नही जा सकता । इन बातो का उल्लेख किया जा रहा है कि धर्म का आधार नैतिकता नही वहा धर्म ठहर नही सकता । अतएव धर्म की प्रतिष्ठा के लिए जीवन मे नैतिकता आना आवश्यक है । आज नैतिकता के ह्रास के कारण लोगो के हृदय मे से धर्म का भाव भी नष्ट होता जा रहा है ।

आज भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार न करके मनुष्य उच्छृखल प्रवृत्ति का परिचय दे रहा है, किन्तु याद रखना चाहिए कि आहार बिगड़ने से विचार बिगड़ता है और विचार बिगडने से आचार मे विकृति आती है । जब आचार विकृत होता है तो जीवन भी विकृत बन जाता है । शास्त्र मे कहा है–

'आहार मिच्छे मियमेसणिज्ज ।'

एक शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया–काम, क्रोध, मोह आदि विकारो पर कैसे विजय प्राप्त की जाय ? तो गुरु ने उत्तर दिया – तेरा आहार आवश्यकता के अनुसार और निर्दोष होना चाहिए । इससे मन मे सात्विकता आएगी, मन शुद्ध होगा। साधना के मार्ग मे सजग रह कर चलने वाला ही अपना जीवन ऊचा उठा सकता है ।

बहुत-से विवेकहीन लोग स्वाद के लोभ मे पड़ कर आवश्यकता से अधिक खा जाते है । भोजन स्वादिष्ट हुआ तो ठूस-ठूस कर उसे पेट मे भरते है । यदि अन्न पराया हुआ तब तो पूछना ही क्या है । पेटू लोगो ने कहा है–

परान्न प्राप्य दुर्बुद्धे, शरीरे मा दया कुरु ।
परान्न दुर्लभ लोके, शरीर हि पुनः पुन ।।

अर्थात्–अरे मूर्ख ? पराया अन्न मिले तो शरीर पर दया मत कर । शरीर मिल सकता है, किन्तु पराया अन्न दुर्लभ है । जहा लोगो की ऐसी दृष्टि हो वहा क्या कहा जाय, वे जीवन के लिए भोजन समझने के बजाय भोजन के लिए जीवन समझते है । किन्तु भगवान् महावीर ने साधक को सूचना दी है कि भोजन उतना ही करना चाहिए जिससे सयम की साधना मे बाधा न पहुँचे; आवश्यकता से अधिक

भोजन किया जाएगा तो शरीर मे गडबड हागी मन मे अशान्ति होगी प्रमाद आएगा और साधना यथावत् न हो सकेगी । स्वाध्याय और ध्यान के लिए चित्त की जिस एकाग्रता की आवश्यकता है वह नही रह सकेगी ।

आनन्द ने जब व्रत ग्रहण किए तो भोजन सम्बन्धी अनेक मर्यादाए भी स्वीकार की । उसका आहार शुद्ध है उसके पास ज्ञान का बल है अतएव उसकी प्रगति के द्वार अवरुद्ध नही हुए है । जहा आत्मज्ञान का लोकोत्तर प्रकाश दैदीप्यमान रहता है वही साधना सही मार्ग पर चलती और फलती है ।

स्थूलभद्र मुनि अपने आत्मज्ञान के बल पर वह कार्य कर सके जिसे देव भी नही कर सकते । सिहगुफावासी मुनि ने गुरु सभूति विजय से निवेदन किया कि मुझे भी वेश्या के घर मे वर्षाकाल व्यतीत करने की अनुमति दी जाय । उन्हे ज्ञान नहा है कि मुनि स्थूलभद्र ने कैसा जीवन व्यतीत किया है और किस सीमा तक विराग अवस्था प्राप्त करके काम को पराजित किया है । आवेश मे चलने वाला व्यक्ति प्राय असफल होता है । चाहे लौकिक साहस का काम हो चाहे लौकोत्तर साहस का । भयपूर्ण स्थानो मे विजय पाने का लौकिक कार्य हो या कामक्रोध आदि विकारो पर विजय पाने का आध्यात्मिक कार्य हो जोश वाला व्यक्ति सफलता नही पाता । उस मुनि को इतना भी पता नही था कि स्थूलभद्र ने रूपकोषा के जीवन मे ही महान् परिवर्तन कर दिया है ।

जब उक्त मुनि ने अनुमति मागी तो गुरुजी कुछ देर तक मौन ही रहे । वे समझ गए कि इसके मन म भावावेश खेल रहा है । यह स्थूलभद्र की बराबरी करने की ही भावना से कठोर साधना करना चाहता है । मगर स्थूलभद्र की योग्यता और वैराग्यवृत्ति की ऊचाई का इसको ठीक ठीक परिज्ञान नही है ।

स्थूलभद्र का अभिनन्दन और अभिवादन सकल सघ का अभिनन्दन और अभिवादन है ऐसी उदार भावना यदि उन तीनो मुनियो मे होती तो वे ईर्ष्या के वशीभूत होकर ऐसा करने पर उतारू न होते । उन्हे यही पता नही कि जब साथी मुनि के गुणो का उत्कर्ष एव सम्मान हो उनका मन सहन नही कर सकता तो वे दुर्जय कामवासना को उस हद तक कैसे जीत सकेगे । इतना दुर्बल हृदय क्या उस घोर परीसह को जीतने म समर्थ हो सकेगा ?

एक गाव मे एक भाई अपने आपको बडे साहसी मानते थे । वे अक्सर कहा करते–भूत का क्या भय है ? मै भूत के लिए भी भूत हूँ । साहस का कोई भी कार्य कर सकता हूँ ।

लोगों ने उनकी परीक्षा करने की ठानी । एक वार जव वे इसी प्रकार की डींगे मार रहे थे, लोगो ने उनसे कहा अगर आप रात्रि के समय, श्मशान में जाकर, पीपल के पेड़ मे कील ठोक कर आ जाए तो समझे कि आप वास्तव मे हिम्मतवर है । अन्यथा अपने मुह से अपनी तारीफ के पुल वाधना कौन वड़ी वात है ?

वह महाशय जैसे वस्त्र पहने थे, वैसे ही श्मशान पहुँच गए । वात उन्हें चुभ गई थी और वे इस परीक्षा मे सफल होकर अपना सिक्का जमा लेना चाहते थे। श्मशान मे पहुँच कर उन्होने पीपल के वृक्ष मे कील भी गाड़ दी । किन्तु उतावलेपन मे आदमी चूके बिना नही रहता । उतावलापन काम विगाड़ता है । जव उसने पीपल के मूल मे कील ठोकी तो कपड़े का एक पल्ला भी उस कील मे दव गया । वह अपना पल्ला छुड़ाने लगा पर वह छूटा नही । उसने समझ लिया—भूत ने मेरा पल्ला पकड़ लिया है । होशहवास गुम हो गए । भय का इतना तीव्र सचार हुआ कि वे भाई वही पर ठार हो गए ।

धैर्य से काम लिया होता और अहभाव मन मे न आता तो उसका काम बन जाता, परन्तु अधैर्य, अहकार एव जोश के कारण उसका काम विगड़ गया ।

सिहगुफावासी मुनि के हृदय मे भी अहकार का विष घुला हुआ था । वे सोचते थे कि मेरे समान तपस्वी कौन है ? इस अहकार की प्रेरणा से ही उन्होने अनुमति चाही थी, मगर गुरुजी मौन रहे । वे जानते थे कि इसे सफलता मिलने वाली नही है । यह ईर्ष्या के वशीभूत होकर अब तक के किये पर पानी फेर देगा । तथापि हमेशा के लिए इसे अच्छी सीख मिल जाएगी । मै अनुमति तो दे नही सकता— इसके अधःपतन मे कैसे निमित्त वन सकता हूँ ? मगर मना करना भी उचित नही प्रतीत होता । मना करूगा तो इसके चित्त मे सदा शल्य बना रहेगा और यह निश्शल्य साधना नही कर सकेगा । आवश्यक यह है कि कषाय का विष किसी प्रकार धुल जाए । यह सब सोच कर गुरुजी मौन ही रहे ।

अन्य मुनिजन भी वर्षाकाल मे अपनी-अपनी साधना मे लगने की बात सोचने लगे । सिहगुफावासी मुनि पाटलीपुत्र जा पहुँचे, जहा रूपकोषा का घर है । रूपकोषा का पूरा मुहल्ला था । यद्यपि उसने वेश्यावृत्ति का परित्याग कर दिया था, फिर भी लोग उसके यहा आते-जाते थे ।

मुनि भी उसके घर पहुँचे । उसने मुनि का यथोचित सम्मान किया । उसके अनुपम रूप-लावण्य ने, उसकी मधुरवाणी ने और विनम्रतापूर्ण व्यवहार ने मुनि के मन को आकर्षित कर लिया । मुनि ने उससे कहा—मुझे अपने भवन मे चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा दीजिए ।

चतुर रूपकोषा ने दुनिया देखी थी। वह उडती चिडिया को पहचानती थी। मुनि के मन का भाव उससे छिपा नहा रहा । उसने समय लिया कि यह मुनि स्थूलभद्र की बराबरी करना चाहते है अन्यथा इतने बड पाटलीपुत्र को छोड कर मेरे यहा चौमासा व्यतीत करने का क्या हेतु हो सकता है ?

इन मुनि का शरीर तो स्थूलभद्र के शरीर के समान था किन्तु स्थूलभद्र के अन्तर मे विराजमान मनोदेवता के समान मन नही था । रूपकोषा ने सोचा–मुनि को सीख मिलनी चाहिए किन्तु पतित नहा होने देना चाहिए । अच्छा हुआ कि वे मेरे भवन म आए अन्यत्र कही चले गए होते तो न जाने क्या होता ?

मन ही मन इस प्रकार सोच कर रूपकोषा ने कहा – आप प्रसन्नतापूर्वक यहा निवास करे किन्तु मेरी माग आपको पूर्ण करनी होगी ।

मुनि नही समझ पाए कि इसकी माग क्या होना है ? वह तो इसी धुन मे थे कि किसी प्रकार इसके यहा ठहरने को स्थान मिल जाय । वे प्रमाणपत्र लेकर गुरु के पास लौटना चाहते थे और अपने को स्थूलभद्र के समकक्ष साधक प्रमाणित करना चाहते थे ।

बन्धुओ । ये अतीत की गाथाए मनोरजन की सामग्री नही सजीव बोध-पाठ है । साधक के जीवन मे किस प्रकार उतार-चढाव आते है कैसे कैसे उत्थान-पतन के अवसर आते है यह बात इन गाथाओ से समझी जा सकती है । जो इनके मर्म तक पहुँच कर अपने जीवन को उन्नत और निर्मल बनाएंगे, वे इहलोक–परलोक का कल्याणमय बना सकेंगे ।

---

[५७]

महारम्भ के जनक-कर्मादान

कहा जा चुका है कि चारित्र धर्म दो भागो मे विभाजित किया गया है– (१) अनगार धर्म और (२) सागार धर्म । मुनियो का धर्म अनगार धर्म कहलाता है, जिसका आधार पूर्ण त्याग है । पूरी तरह पापो से निवृत्त होने पर और ममता को जीत लेने पर ही अनगार धर्म का पालन हो सकता है । किन्तु यह योग्यता सबमे नही होती । जीवन की इतनी उच्च भूमिका पर पहुँचना साधारण व्यक्तियो के लिए सुसाध्य नही है । अतएव जो अनगार धर्म के मार्ग पर नही चल सकता वह सागार धर्म अर्थात् गृहस्थ धर्म का पालन करता है, जिसे श्रावक धर्म भी कहते है । मुनि धर्म और श्रावकधर्म की दिशा मे कोई अन्तर नही है – अन्तर केवल स्तर का है । अतएव जैसे मुनि अहिंसा की आराधना करता है वैसे ही श्रावक भी । मुनि त्रस-स्थावर जीवो की पूर्ण अहिसा का पालक होता है परन्तु श्रावक उसे आंशिक रूप मे पाल सकता है। फिर भी उसका लक्ष्य सदैव अहिसा की ओर ही रहता है । वह अधिक से अधिक जीव-रक्षा करता हुआ अपना ससार व्यवहार चलाता है । बन्ध मोक्ष आदि की विचारधारा उसके जीवन से अछूती नही रहती । प्राणातिपात विरमण उसका प्रथम धर्म है । वह सापेक्ष, निरपेक्ष, निवार्य, अनिवार्य कार्यो को लक्ष्य मे रखकर चलता है । विवेक का दीपक उसका मार्गदर्शक होता है । वह ऐसे भोगो तथा कर्मो पर नियन्त्रण करता है जिससे बड़ी हिसा होती हो । वह निरर्थक हिसा नही करता और सार्थक हिसा से भी अधिक से अधिक बचने का प्रयास करता है ।

अहिसा की आराधना के लिए और साथ ही ममत्व भाव को कम करने के लिए ही गृहस्थ भोगोपभोग की सामग्री की मर्यादा बॉध लेता है । भोगोपभोग परिमाण व्रत का निर्मल पालन हो सके, इस उद्देश्य से उसके पॉच अतिचार बतलाए गए है और उनका विवेचन भी किया जा चुका है ।

मोक्षमार्ग का साधक चाहे वह मुनि हो या गृहस्थ, जीवनरक्षण और शरीर रक्षण के लिए ही भोजन करता है रसना की तृप्ति के लिए नही, स्वादलालुपता से प्रेरित होकर नही । इसी उद्देश्य से यह कहा गया है कि श्रावक तुच्छ औषधिया के प्रयोग का भी सीमित करे ।

अतिचारा की गणना मे औषधि' शब्द का प्रयोग विशेष अभिप्राय से किया गया है । उसमे कुछ रहस्य निहित है । प्रत्येक तुच्छ वनस्पति धान्य को औषधि या औषध कहा है । 'ओष पोष' धत्ते धारयति इति औषधि । यह इस शब्द की व्युत्पत्ति है जिसका अभिप्राय यह है कि जो शरीर को पुष्टि प्रदान करे वह औषधि कहलाती है । मूल औषधि या दवा धान्य वनस्पति है ।

लोग समझते है कि नेचरापैथी पश्चिम की देन है मगर जिन्होने भारतीय साहित्य सागर मे अवगाहन किया है वे भलीभाँति समझ सकते है कि इसका मूल भारत मे है । उत्तराध्ययन सूत्र क मृगापुत्रीय अध्ययन को जो विचारपूर्वक पढ़ेगे व इस तथ्य से परिचित होग । भारत के मनीषी बहुत प्राचीन काल से प्राकृतिक उपचार के महत्व को जानते थे । आज भारतवासी उसके महत्व को भूल रहे है और पश्चिम के लोग उसकी उपयोगिता को स्वीकार कर रहे है यह एक विस्मय की बात है ।

प्राकृतिक चिकित्सा के मुकाबिले मे अनेक प्रकार की चिकित्सा पद्धतिया प्रचलित हुई है । आज इस देश मे विदेशी दवाओ का इतना अधिक प्रचार हो गया है कि भारत की आयुर्वेदिक औषधो को भी उनके समान गोलियो केप्सुलो और इजेक्शनो के ढाँचे मे ढालना पडा । आयुर्वेद का विधान है — ज्वरादौ लघनम् पथ्यम्' अर्थात् बुखार आते ही उपवास कर लना चाहिए, किन्तु आज इस बात पर कौन विश्वास करता है ? सूर्य की किरणे और जल आदि प्राकृतिक वस्तुए बडी लाभदायक औषधिया है ।

ऋषि मुनिया के दीर्घ जीवन का कारण उनका प्राकृतिक वस्तुओ का सेवन है । कई प्राणी जीभ स चाट-चाट कर अपना घाव ठीक कर लेते है । मगर लोगा को प्राकृतिक चिकित्सा पर आज भरासा नही रहा है । वे अपवित्र एलापैथिक औषधिया का सेवन करक अपना धर्म विनष्ट करत है । शास्त्र की दृष्टि स समस्त धान्य औषधि की कोटि म आत है । यदि विधिपूर्वक इनका सवन किया जाय तो वे स्वास्थ्यप्रद सिद्ध हाते है । हा अविधि स सेवन करने पर वे अवश्य रागात्पादक हो सकते है ।

व्रतमय जीवन व्यतीत करने वाले को तुच्छ औषधि का सेवन नही करना चाहिए क्योंकि उसमे खाद्य अश कम होता है और फैकने योग्य अश अधिक होता है ।

महावीर स्वामी का कथन है–"हे मानव ! तू वृथा पाप के भार को क्यो बढ़ाता है ? पदार्थो का सेवन इस प्रकार कर कि तेरा काम चले और वस्तु का विनाश न हो । भोगलालसा पर अकुश लगाएगा तो कर्मबन्ध पर स्वतः अकुश लग जाएगा । जीवन बनाना है, जीवन से कुछ महत्त्वपूर्ण लाभ उठाना है और आत्म-साधना की यात्रा मे बिना टकराए लक्ष्य पर पहुँचना है तो भोग और उपभोग की सामग्री पर विवेकपूर्ण नियन्त्रण करना आवश्यक है । यदि ठीक तरह से यह नियन्त्रण स्थापित हो जाय और जीवन मे सयम और सादगी आ जाय तो बड़े-बड़े राक्षसी कल-कारखानो की आवश्यकता ही न हो । इस प्रकार के कारखानो की स्थापना महा तृष्णा की बदौलत होती है । उनसे कितने ही लोगो की हत्या और शोषण होता है, कितने ही गरीबो के हाथ-पैर कटते है और न जाने कितने लोगो की आजीविका नष्ट होती है । हजारो मनुष्य अपने हाथो से जो निर्माण करते है, उसे एक बड़ा कारखाना थोड़े-से लोगो की सहायता से कर डालता है । परिणामस्वरूप बहुत से लोग बेकार और बेरोजगार फिरते है उनके पास कोई आजीविका नही बचती। जिन देशो की आबादी अल्प संख्यक हो वहा कल-कारखानो की उपयोगिता समझ मे आ सकती है किन्तु जिस देश मे इतनी विपुल जनसख्या हो और वह निरन्तर बढ़ती ही जा रही हो, वहा यन्त्रो से काम लेना और मानव-शक्ति को व्यर्थ बना देना बुद्धिमत्ता नही है । धार्मिक दृष्टि से भी यह महारम्भ है ।"

जो श्रावकधर्म की आराधना करता है उसे चिन्तन करना है, विचार करना है, आत्मा को भारी बनाने वाले कार्यो को कम करना है और अपने लक्ष्य की ओर गति तीव्र करनी है । यह यान्त्रिक पद्धति से चढ़ने का मार्ग नही है, जीवन तय करने का मार्ग है । यत्र के सहारे भारी वस्तुए ऊपर उठा ली जाती है, मगर भारी जीवन को ऊचा उठाने के लिए कोई यन्त्र नही है । दूसरे के सहारे ऊँचा चढ़ना अस्थायी है, अल्पकालिक है । इस प्रकार चढ़ना वास्तविक चढ़ना नही है । अध्यात्म की उच्च, उच्चतर और उच्चतम भूमिका पर स्वय के पुरुषार्थ से ही चढ़ा जाता है । भगवान् महावीर ने उच्च स्वर मे घोष किया है–

'तुममेव तुम मित्ता, किं बहिया मित्तमिच्छसि ।'

हे आत्मन् ! तू अपना मित्र आप ही है । क्यो बाहरी मित्र (सहायक) की अपेक्षा रखता है ।

भगवान् की स्वावलम्बन की इस उदात्त स्वर लहरी मे जीवन का तेज और ओज भरा हुआ है । हम भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि हमारा कल्याण और उत्थान हमारे ही प्रयत्न और पुरुषार्थ मे निहित है । कल्याण और उत्थान भीख मागने से नही मिलता ।

'जीवित प्राणी चलता है मुर्दा घसीटा जाता है ।'

ऐंजिन दूर है तो मजदूर धक्का देकर डिब्बो को इधर उधर कर देते है । या ऐंजिन ने धक्का दिया, डिब्बा थोडा दूर चला और रुक गया । उस डिब्बे म स्वय की पावर (शक्ति) नहा है चलने की । वह दूसरे के सहारे चलने वाला है। इसी प्रकार सत्सगति का धक्का लगन पर थोडा आगे चला जा सकता है मगर मजिल तक पहुँचने के लिए तो निज का ही बल चाहिए ।

रेल की पटरिया पर चलने वाली ठेलागाडी मे धक्का देकर गति लानी पडती है । बार बार धक्का देने से उसमे वेग आता है । एक दो स्टेशनो तक या काम चल जाता है । पर डिब्बो को लेकर चलने की शक्ति उसमे नही है । क्या मानव को अपना जीवन ऐसा ही बनाना उचित है ? नही उसे सजीव की तरह स्वय चलना चाहिए, मुर्दे की तरह दूसरे के सहारे चलना शोभा नही देता ।

श्रावक आनन्द ने महावीर स्वामी की ज्ञानज्योति से अपना लघु दीप जला लिया और अब वह स्वय आलोकित होकर चल रहा है । उसन भागोपभोग परिमाण व्रत को जब अगीकार किया तो भोजन की दृष्टि से होने वाले पाँच और कर्म की दृष्टि से होने वाले पन्द्रह अतिचारो से भी बचने का सकल्प किया । पॉच अतिचारो का प्रतिपादन किया जा चुका है । कर्मादानो के सम्बन्ध मे कुछ बात बतलाना आवश्यक है ।

कर्मादान' शब्द दो शब्दा के मल से बना है वे दो शब्द है -- कर्म और आदान । जिन कार्यो से कर्म का बन्ध होता है वे कर्मादान है यह इस शब्द का अर्थ है । किन्तु यह अर्थ परिपूर्ण नही है । ससार मे ऐसी कोई प्रवृत्ति नही है जिससे कर्म का आदान (ग्रहण बन्ध) न होता हो । शुभ कृत्य शुभ कर्मों के आदान के कारण है तो अशुभ कृत्यो से अशुभ कर्मों का आदान होता है । इस प्रकार भाषण, प्रवचन श्रवण मुनिवन्दन आदि सभी क्रियाए कर्मादान सिद्ध हो जाती है। फिर कर्मादानो की सख्या पन्द्रह ही क्यो कही गई है ? क्या वास्तव म ससार के सभी कृत्य कर्मादान ही है ? इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है ।

'कर्मादान' जैन परिभाषा के अनुसार योगरूढ़ शब्द है। यहा 'कर्म' शब्द से महाकर्म अर्थ समझना चाहिए, अर्थात् जिस कार्य या व्यापार-धन्धे से घोर कर्मों का बन्ध हो, जो कार्य महारभ रूप हो, महारम्भ के जनक हो, वेही कर्मादान कहलाते है।

कर्म दो प्रकार के होते है–(१) खर कर्म और (२) मृदु कर्म। जिस कर्म मे हिसा बढ न जाय, यह विचार रहता हे, वह मृदु (सौम्य) कर्म कहलाता है और जहा यह विचार न हो वह खर कर्म हे। अथवा यो कहा जा सकता है कि जो कर्म आत्मा के लिए और अन्य जीवो के लिए कठोर बने, वे खर कर्म हे। खर कर्म दुर्गति की ओर ले जाते है। जीवो के विनाश की अधिकता वाले कार्य करने से हृदय कठोर बन जाता है और करुणा भाव विलुप्त हो जाता हे। इसी कारण ऐसे कार्यो को कर्मादान कहा गया है।

कर्मादान पन्द्रह है जिनमे से दस कर्म से सम्बन्ध रखते है और पाँच व्यापार-धन्धे से सम्बन्ध रखते है। आशय यह है कि कर्मादानो मे दो प्रकार के कार्यो को ग्रहण किया गया है – वाणिज्य को और कर्म को। जिस चीज को आप स्वय बनाते नही किन्तु उसका क्रय-विक्रय करके लाभ कमाते है, वह वाणिज्य कहलाता है। एक बुनकर स्वय कपडा बनाता और बेचता है, वह कर्म कहलाता है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत मे इन्ही दोनो के सम्बन्ध मे मर्यादा की जाती है। जब कोई गृहस्थ इस व्रत को धारण करे तो उसे प्रलोभन से ऊपर उठना चाहिए और देश-काल सम्बन्धी वातावरण से प्रभावित नही होना चाहिए। उसके अन्त.करण मे सयम के प्रति गहरी लगन होनी चाहिए और उसके फलस्वरूप जीवन मे सादगी आ जानी चाहिए। वह अपनी आवश्यकताओ को नियन्त्रण मे रखेगा और तृष्णा के वशीभूत नही होगा तभी इस व्रत का समीचीन रूप से पालन कर सकेगा।

अनगार धर्म साधना का रूप निराला हे। उसमे पूर्ण रूप से वाणिज्य एव कर्म का त्याग तो होता ही है, सभी प्रकार के आरभमय कार्यो का भी त्याग होता है। अनगार का जीवन ऐसी मर्यादा से बधा है कि प्रलोभनो को वहा जगह ही नही है। जरा-सी असावधानी मे वह वर्षो की कठिन साधना को गवा देता है। सासारिक हानि-लाभ के विषय मे साधारण मनुष्य भी सावधान रहता है तो आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र मे तो और भी अधिक सचेत रहने की आवश्यकता है। जो सचेत रहेगा वह आत्मिक धन को नही खोएगा। उसे मानसिक सन्तुलन रखने की अनिवार्य आवश्यकता है।

अनादिकालीन कुसस्कारो के कारण मन मे विविध प्रकार के आवेगो की उर्मिया उत्पन्न होती है। अगर मनुष्य उनके वेग मे बह जाता है तो उसका कही

ठिकाना नहा रह जाता । भय और क्रोध क वग को जीतना आसान नही फिर भी वह जीता जा सकता है मगर राग का वेग अतीव प्रबल होता है । उसे जीत लेना अत्यन्त कठिन है । आदिवासी कहलाने वाल लोग आज भी खुले जगला म पडे मिल जाते है जहा शेर जैसे हिंस्र जानवरो का आवागमन होता रहता है । वे निर्भय रह कर जगल मे निवास करते है । भय को जीतना उनकी प्रकृति के अन्तर्गत है । किन्तु राग को जीतना इतना सरल नहा है । इसके लिए ज्ञान की आवश्यकता है । ज्ञान भी बाह्य एव शब्दस्पर्शी मात्र नही मगर आत्मस्पर्शी होना चाहिए ।

सिहगुफावासी मुनि ने राग की दुर्जेयता को नही समझा । उसने भय की वृत्ति पर विजय पाई थी और सोचा था कि भय को जीतना ही कठिन है । जिसने भय को जीत लिया उसके लिए रागवृत्ति को जीतना चुटकियो का खेल है । परन्तु वह राग की आग म स गुजरा नहा था । शूरवीर पुरुष पैने प्रहारो को जीत लेता है परन्तु रमणी के मृदुल प्रहारो क सामन उसे भी हार जाना पडता है । उन प्रहारो को जीतने के लिए फौलाद का कलेजा चाहिए । इसी कारण कहा गया है कि महापुरुषा का चित्त वज्र से भी अधिक कठोर और फूल स भी अधिक कोमल होता है । दूसर को दुख म देख कर उनका हृदय अनायास ही मुरझा जाता है परन्तु अपन प्रति वे वज्र क समान होत है । कठिन से कठिन उपसर्ग भी उनके दिल को हिला नही सकत ।

जोश की स्थिति मे सिहगुफावासी पाटलीपुत्र म रूपकोषा के घर पहुँचे । उन्होंने उसके घर म निवास करके चार मास (चातुर्मास्य) व्यतीत करन की अनुमति मागी । वेश्या उनके आत्मबल की परीक्षा करना चाहती थी । अतएव उसने विनम्र एव मधुर स्वर म कहा– 'मेरा बडा सौभाग्य है कि आपका मेरे द्वार पर पदार्पण हुआ । समाज म मरी जैसी महिलाए गर्हा की दृष्टि स देखी जाती है किन्तु आप लोकोत्तर दृष्टि से सम्पन्न है । आपके लिए प्रासाद और झोपडी समान है । इसी कारण इतने वडे नगर का छोड कर यहा पधारे है । किन्तु आप पहले भिक्षा ग्रहण कर लीजिए बाद म धर्म वृद्धि की बात कीजिएगा ।

अर्थी अर्थलाभ का पात्र होता है और कामी कामलाभ का पात्र होता है। राजिया कवि ने कहा है –

कहणी जाय निकाम, आछाडी आगे उकत ।
दामा लाभी दाम, रज न नता 'राजिया' ।।

दरमा वाली धर्म की बात करन स पहले पटपूर्ति कर लीजिए ।

गुरु लोभी चेला लालची, दोनो खेले दाव ।
दोनो डूबा बापड़ा बेठ पत्थर की नाव ।।

और भी कहा है–

दिल्ली गुरु बगुला किया, दशा ऊजली देख ।
कहो कालू कैसे तिरे, दोनो की गति एक ।।

रूपकोषा कहती है – "आपका प्रयोजन है मेरे रगमहल मे रहने के लिए एक कमरे की अनुमति प्राप्त करना, किन्तु एक बात मेरी भी मान लीजिए ।"

राग की स्थिति मे मनुष्य का विवेक सुषुप्त हो जाता है । जिस पर राग भाव उत्पन्न होता है, उसके अवगुण उसे दृष्टिगोचर नही होते । गुणवान के गुणो का आकलन करना भी उस समय कठिन हो जाता हे ।

रूपकोषा ने मुनि से भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की । मुनि ने आनाकानी नही की और भिक्षा अगीकार करली । यह भिक्षा मुनि की कसौटी करने के लिए दी गई थी । वे कितने गहरे पानी मे है, यह जानने के लिए ही दी गई थी, अतएव उसमे गरिष्ठ, मादक और उत्तेजक खाद्य थे । मुनि ने भिक्षा ग्रहण करके उसका उपयोग कर लिया ।

मुनि के मन पर आहार का असर हुआ । चिरकाल से पोषित विराग निर्बल पड़ने लगा और अनादिकालीन राग का भाव उभरने लगा । जैसे सध्या के समय सूर्य अस्त होने लगता है और अन्धकार अपने पैर फैलाने लगता है, उसी प्रकार मुनि के मनरूपी आकाश से विवेक का सूर्य अस्त होने लगा और मोह का अन्धकार अपना प्रसार करने लगा । उसकी यह मनोदशा देखकर विचक्षण रूपकोषा ने कहा–"आप रगमहल मे रहने की अनुमति चाहते है और मै प्रसन्नतापूर्वक आपको अनुमति देना चाहती हूँ, किन्तु अनुमति पाने से पहले आपको मेरी एक छोटी-सी शर्त स्वीकार करनी होगी । शर्त यह है कि एक रत्नजटित कबल लाकर आप मुझे प्रदान करे । यह शर्त पूरी होते ही सारा रगमहल आप अपना ही समझिए । यही नही, मै भी आपकी दासी होकर सेवा करूगी ।"

मुनि कुछ हिचकिचाए । सोचने लगे – 'रत्नजटित कबल कहा पाऊगा मै ?' यह विचार कर वे असमजस मे पड़ गए ।

रूपकोषा ने उनके भाव को ताड़ कर कहा–"आप चिन्ता मे पड़ गए है ? रत्नजटित कबल नेपाल-नरेश के यहा मिलता है । अभ्यागत साधु-सन्तो को वे मुफ्त

म ऐसे कवल देते है । कबल की कीमत तो कुछ देनी नही है सिर्फ नेपाल तक जाने का साहस करना है । नेपाल जगल प्रधान देश है और पैदल चलने वालो को पद पद पर भय बना रहता है । अगर आप मे इतनी निर्भयता हो तो ही वहा जाने का साहस कीजिएगा अन्यथा रहने दीजिए ।

निर्भयता और साहस की बात सुनकर मुनि के हृदय म अहकार जागा । सोचने लगे– भय को जीतने म कौन मेरी बराबरी कर सकता है । मेरे पास साहस का जितना बल है अन्य किसके पास हो सकता है । रूपकोषा की माग मेरे लिए एक चुनौती है । इस चुनौती का सामना न किया तो मैंने सयम क्या पाला अब तक भाड ही झौकी ऐसा समझना चाहिए ।

मुनि के मन म अज्ञात रूप मे अनुराग के अकुर फूट निकले थे ऊपर स उन्ह चुनौती भी मिल गई । उनके ज्ञान की छाप राग की छाप से दब गई । विवेक पराजित हो गया, राग विजयी हो गया । निर्भयता जो अब तक उनका भूषण थी विवेक एव समभाव के अभाव म दूषण बन गई । वह उन्ह पतन की ओर घसीटने लगी । हृदय म राग का जो तूफान उठा उससे विवेक का दीपक बुझ गया ।

नेपाल पहुँचना मामूली बात नही । वहा जीवन के उपभोग की विलास की सामग्रिया कम है और वहा के निवासियो की आवश्यकताए भी कम है वहा के लोग प्राय निर्भय रहते है । परन्तु मुनि को वास्तविकता का पता नहीं था । वह तो किन्ही अन्य विचारो म ही चक्कर लगाने लग थे ।

रूपकोषा की भावना मुनि को सत्पथ पर लाने की ही थी । वह उन्हे असयम और अध पतन की ओर नहा ले जाना चाहती थी । मुनि के विलुप्त विवेक को जागृत करना उसका लक्ष्य था । उनका मानसिक बल उभर आए और वे जिन अवाछनीय वृत्तियो के वशीभूत हो रहे है उनसे सावधान हो जाए, यही उसकी कामना थी । इसी उद्देश्य स उसने रत्नजटित कबल का नाटक रचा था । वह मुनि को स्खलना स बचाने का प्रयास कर रही थी ।

इसी प्रकार हम भी समाज की स्खलनाओ को ध्यान म रखना है और हृदय म घुस हुए मलिन भावो को जीतना है । ऐसा करने से हमारा इहलोक-परलोक दोनो म कल्याण होगा ।

---

[५८]

कर्मादान के भेद

जिसका समभाव, करुणाभाव एव मैत्रीभाव इतना व्यापक वन जाता हे कि वह त्रस और स्थावर—सभी प्राणियो के प्रति अहिसक हो जाय, जिसके जीवन मे ससार के किसी भी सजीव अथवा निर्जीव पदार्थ सम्वन्धी आसक्ति नही रह जाती, जो सब प्रकार के पापमय कृत्यो से अपने को पृथक् कर लेता है और जो महाव्रतो का परिपालन करने मे समर्थ होता हे, वही श्रमणधर्म के पालन का अधिकारी है। श्रमणधर्म का पालन करने के लिए गृहस्थी से नाता तोड़कर एकान्त साधना से नाता जोड़ना पड़ता है। किन्तु श्रावक का जीवन मात्र एक मर्यादा के साथ, आचार से परिपूर्ण होता है। वह अपनी परिस्थिति और सामर्थ्य के अनुसार देशविरति का आचरण करता है। श्रावक के व्रतमय जीवनादर्श का सम्यक् प्रकार से निरूपण हमे उपासकदशाग सूत्र मे मिलता है। उसमे भगवान् महावीर के समय के दस श्रावको का विवरण है, जिससे श्रावकधर्म की एक स्पष्ट रूपरेखा हमारे समक्ष खिच आती है।

उपासकदशाग मे पहला चरित आनन्द श्रावक का है। आनन्द के माध्यम से उसमे श्रावक के बारह व्रतों पर प्रकाश डाला गया है। पहले व्रतो का निरूपण और फिर उनके अतिचारो का प्रतिपादन यह क्रम उसमे रखा गया है। आनन्द ने विभिन्न व्रतो मे क्या-क्या मर्यादाए रखी, यह भी विशद् रूप से वर्णन वहा मिलता है।

आनन्द सम्वन्धी उल्लिखित वर्णन केवल आनन्द के लिए ही नही, देशविरति का पालन करने वाले प्रत्येक साधक के लिए है। उस वर्णन के प्रकाश मे श्रावक अपने व्रतमय जीवन का निर्माण कर सकता है और आदर्श श्रावक बनकर अपने जीवन को सफल कर सकता है। यहा कर्मादान का विचार करना है। कल 'कर्मादान' शव्द के अर्थ पर विचार किया जा चुका है। ये कर्मादान पन्द्रह है, यह भी कहा जा चुका है। इस वर्गीकरण मे उन सभी कर्मो का समावेश कर लेना

चाहिए जो महारभ के जनक ह और जिनसे घार अशुभ कर्मो का बन्ध होता है । ये कर्मादान जानने के योग्य है जिससे आत्मा भारी न बने । कर्मादाना के विषय म आचार्य हरिभद्र, आचार्य अभयदेव और आचार्य हेमचन्द्र आदि ने कर्मादानो की व्याख्या की है और उनके भेदो पर अपने अपने विचार प्रकट किये है । यहा सक्षेप मे इन पर विचार करना है–

(१) इगाल कम्मे (अगार कर्म)– इगाल का अर्थ है कोयला । कोयला बना कर बेचने का धधा करने वाला अग्निकाय वनस्पतिकाय और वायुकाय के जीवो का प्रचुर परिमाण म घात करता है । अन्य त्रस आदि प्राणियो के घात का भी कारण बनता है । इस कार्य से महान् हिसा होती है । कोयला बनाने के लिए लकडी का ढेर कर करके उसमे आग लगानी पडती है जैसे कुम्हार मिटटी के बर्तनो को पकाने के लिए उनका ढेर करता है । प्राय जीव जन्तु जहा शीतलता पाते है वहा निवास करते है लकडी के पास और उसके सहारे भी अनकानेक जीवन रहते है। ऐसी स्थिति मे लकडी की ढेरी को जलाने से कितने जीवो की हत्या होती है यह तो केवल भगवान् ही जानते है । अतएव कोयला बनाने का धधा करने वाला महारभ और त्रस जीवा की हिसा का भी भागी बनता है । धधे के रूप म इस कार्य को करने से बडे परिमाण मे जीव हिसा रूप महारभ करना पडता है । अतएव महारभ का कारण होने से इगालकम्म (अगार कर्म) श्रावक के करने योग्य नही है ।

कुछ आचार्यो ने अगार कर्म का व्यापक अर्थ लिया है । वे अगार का अर्थ अग्नि मान कर इसकी व्याख्या करते है । अगर यह अर्थ लिया जाय तो लोहकार स्वर्णकार हलवाई और भडभूजे का धधा भी अगार कर्म के अन्तर्गत आ जाएगा । यह स्मरण रखना चाहिए कि व्याख्याकारो के विचारा पर देश काल और वातावरण की छाया भी पडती है ।

जैसा यहा श्रावक के कर्म पर विचार किया गया है उसी प्रकार मनुस्मृतिकार ने ब्राह्मणो के कर्म बतलाए है । ब्राह्मणा के कर्म का निरूपण करन म मनुस्मृतिकार का लक्ष्य यह रहा प्रतीत हाता है कि त्याग-साधना परायण ब्राह्मण अर्थोपार्जन मे लीन न बन जाए । श्रावक का पद भी ऊचा है । श्रावक को ब्राह्मण भी कहा गया है । साधु की तरह श्रावक भी किसी को शिक्षा दे सके ऐसा लक्ष्य है ।

किन्तु शिक्षा वही द सकता है जा स्वय त्याग करता है । स्थूल प्राणातिपात का और महारभ-महापरिग्रह का स्वय जा त्याग करगा वही दूसर का इनक त्याग की प्रेरणा कर सकेगा अन्यथा–

'पर उपदेश कुशल बहुतेरे,
जे आचरहि ते नर न घनेरे ।'

यह उक्ति चरितार्थ होगी । जो स्वय त्याग करता है और शिक्षा देता है, उसका प्रभाव अड़ोसी-पड़ौसी पर क्यो नही पड़ेगा? उनका परिमार्जन क्यो नही होगा ? त्याग भावना विद्यमान होने से उसकी वाणी प्रभावोत्पादक होगी । आचार के अनुरूप विचार जब भाषा के माध्यम से व्यक्त किये जाते है तो अवश्य दूसरो पर स्थायी प्रभाव अकित करते है । श्रोताओ के हृदय मे परिवर्तन ला देते हे । हा, कोई एकदम ही अपात्र और कुसस्कारी श्रोता हो तो बात दूसरी हे ।

पश्चाद्वर्ती आचार्यो की दृष्टि से ईंटे पकाने, खपरा पकाने का तथा लोहार आदि का धधा अगार कर्म मे समाविष्ट हो जाता हे पर कोयला बना-बना कर बेचना अत्यन्त खर कर्म है, अतएव श्रावक को इसका परित्याग करना ही चाहिए ।

(२) वणकम्मे (वनकर्म)--वृक्षो को काट कर बेचने का काम वनकर्म कहलाता है । वनकर्म करके मनुष्य घोर पाप उपार्जन करता है । वन के वृक्षो को काटने का ठेका लेने वाला किसी अन्य बात को ध्यान मे नही रखता । उसके सामने एक ही लक्ष्य रहता है कि अधिक से अधिक वृक्षो को काट कर कैसे अधिक से अधिक धन कमाया जाय ।

एक समय था जब फलदार वृक्षो को काटना कानूनी अपराध समझा जाता था । आज भी राष्ट्रनायक नेहरू जी निर्देश करते हे कि वृक्षो का काटना अत्यन्त हानिकारक है । वे कहते है--'जब तक दस वृक्ष नये न लगा दिये जाए तब तक एक वृक्ष न काटा जाए ।' मगर बड़े-बडे वन साफ किये जा रहे है जिससे ईधन तथा गृह-निर्माण के लिए भी लकड़ी मिलना मुश्किल हो जाता है ।

भारतीय सस्कृति मे वट, पीपल, नीम आदि वृक्षो के काटने मे भय बतलाया गया है । सभवत. इस विधान के पीछे इन विशालकाय वृक्षों की रक्षा करने का ही ध्येय रहा हो । साधारण जनता ऐसे वृक्षो को काटना अनिष्टकारक समझती आई है, परन्तु अब यह धारणा परिवर्तित होती जा रही है । जब वृक्षो के सम्बन्ध मे भारतीय जनता का यह दृष्टिकोण था तो पशुओ की बलि की बात कहा तक सगत हो सकती है ?

वनस्पति की गणना स्थावर जीवो में की गई है, किन्तु अन्य स्थावर जीवो की अपेक्षा वनस्पति मे चेतना का अश किंचित अधिक विकसित प्रतीत होता है । अतएव उसको रक्षा की ओर इतर लोगो का भी ध्यान आकृष्ट हुआ हो, यह

स्वाभाविक है। धार्मिक दृष्टि से वृक्षो का काटना पाप है ही मगर लौकिक दृष्टि से देखा जाय तो भी उनका काटना हानिकारक है। वृक्षो को सुरक्षित रखने से छाया फल फूल आदि की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त जहा वृक्षो की बहुतायत होती है वहा वर्षा भी अधिक होती है, जिससे फसल मे वृद्धि होती है। इस प्रकार धार्मिक और लौकिक दोनो दृष्टियो से वृक्षो का उच्छेदन करना अनुचित है अधर्म है।

जीव-जगत् पर वृक्ष का कितना महान् उपकार है । एक-एक वृक्ष हजार हजार प्राणियो का पालन करता है । उससे पशुओ पक्षियो और मानवो का सभी का रक्षण और पालन होता है । अतएव जब वृक्ष हमारा रक्षक है तो हमारे द्वारा भी वह रक्षणीय होना चाहिए । पुराने जमाने के लोग पुराने और उखडे हुए वृक्षो के सिवाय अन्य किसी को काटना उचित नही समझते थे । यह उनका व्यावहारिक दृष्टिकोण था । धार्मिक दृष्टिकोण से वृक्षो का छेदन करना इसीलिए वर्जित है कि उसके प्रत्येक अग मे हजारो जीव निवास करते है । वृक्ष के मूल मे पृथक और फला फूलो मे पृथक पृथक जीव होता है । जो वृक्ष का उच्छेदन करता है वह एक ऐसे साधन को नष्ट करता है जो हजारो वर्ष विद्यमान रह कर अनेकानेक जीवो का अनेक प्रकार से उपकार कर सकता है । इसके अतिरिक्त वह जीवघात के पाप का भागी भी होता है । अतएव सद्गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह जगल का ठेका लेकर और वृक्षो को काट कर अपनी आजीविका न चलाए । उदरपूर्ति के अनेक साधन हो सकते है जो पापरहित या अल्पतर पाप वाले हो । ऐसी स्थिति मे पेट पालने के लिए घोर पाप उपार्जित करना और आत्मा को गुरुकर्मा बनाना विवेकशील पुरुषो के लिए उचित नही है । मनुष्य सम्पत्तिशाली बनने के लिए पाप के कार्य करता है मगर यह नही सोचता कि ऐसा करके वह आत्मा की अनमोल सम्पत्ति नष्ट कर रहा है । उस सम्पत्ति के अभाव मे उसका भविष्य अत्यन्त दयनीय हो जाएगा । अल्पारभ के कार्यो से ही जब गृहस्थ जीवन का निर्वाह निर्बाध रूप से हो सकता है तो क्यो अनन्त जीवो का घात किया जाय ?

पर का घात करना वस्तुत आत्मघात करना है क्योंकि पर के घात से आत्मा का अहित होता है । एक मनुष्य किसी जीव की घात करने को उद्यत हो रहा है कदाचित् उस जीव का घात हो जाय कदाचित् वह बच भी जाय मगर घातकर्ता ता पाप बन्ध करके अपनी आत्मा का घात कर ही लेता है । उसके चित्त म कषाय का जो उद्रेक होता है उससे आत्मिक गुणा का विघात होता है और वह विघात ही उसका आत्मविघात कहलाता है ।

स्मरण रखना चाहिए, कर्म अपना फल दिये बिना नही रहते । घात का प्रतिघात होता है । आज तुम जिसका छेदन भेदन करके प्रसन्न हाते हो वही आग

चलकर तुम्हारा छेदन-भेदन करने वाला वन सकता है । चरितानुयोग मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है कि हिसक हिस्य वन गया, छेदक को छेद्य वनना पड़ा और भेदक को भेद्य वनना पड़ा ।

मनुष्य अपने को सर्वश्रेष्ठ सामर्थ्यशाली और जीवजगत् का सम्राट् समझता है, मगर सम्राट् सदा सम्राट् नही वना रहेगा, एक समय ऐसा आ सकता है जव उसे रक की स्थिति मे आना पड़े । मनुष्य को कीट, पतग और वनस्पति आदि के रूप मे भी जन्म लेना पड़ता है । उस समय यह सर्वश्रेष्ठ सामर्थ्य कहा पाओगे ? इस अल्पकालीन वर्तमान वैभव की चकाचौध मे अनन्त भविष्य को क्यों आखो से ओझल कर रहे हो ? जो अपने को विशिष्ट सामर्थ्यशाली समझता है उसमे भविष्य को देखने का भी सामर्थ्य होना चाहिए न !

इन सव स्थितियो को यथावत् जानकर देशविरत श्रावक पाप से भय मानता है । अज्ञानी व्यक्ति ही पाप से नही डरते । पाप का भय भाव मे है । लोक-परलोक का भय मोह के कारण होता है । पाप का भय आत्मा की निर्वलता को उत्पन्न करता है, वह उत्थान का कारण है । कई लोग पाप से तो नही डरते किन्तु अपयश और अपवाद से डरते है । ऐसे लोग जीवन को उच्च कक्षा पर आरूढ़ नही कर सकते । उनमें एक प्रकार की लोकेषणा है । जव अपवाद एव अपयश की संभावना न हो तो उनकी पाप मे प्रवृत्ति भी हो सकती है । अतएव पाप से भयभीत न होकर केवल लोकापवाद से भयभीत होने वाला साधक सफल नही होता । जो पापभय को प्रधान और लोकभय को गौण समझता है, वही साधक उत्तम माना जाता है ।

सिहगुफावासी, सर्प की वावी पर साधना करने वाले और कुएँ की पाल पर अप्रमत्त रहने वाले मुनियो ने भय को जीता, प्रमाद को जीता और पापभय से भी वचे, अतएव वे अपनी साधना मे सफल होकर गुरुचरणो मे पहुँचे ।

अध्यवसायो की तीन अवस्थाएं होती है—(१) वर्द्धमान (२) हीयमान और (३) अवस्थित । चित्त की परिणति या तो उच्च से उच्चतर दशा की ओर बढ़ती हुई होती है या नीचे की ओर गिरती हुई होती है अथवा अवस्थित अर्थात् ज्यो की त्यो स्थिर रहती है । उत्तम कोटि के साधक वर्द्धमान स्थिति मे रहते है और मध्यम श्रेणी के अवस्थित कोटि में । उत्तम कोटि के साधक आठवे गुणस्थान से निरन्तर ऊँचे चढ़ते हुए वारहवे गुणस्थान मे जा पहुँचते हैं और सिद्धि का झडा गाड़ देते है । उनकी आत्मा मे अनन्त ज्ञान की ज्योति जगमगाने लगती है । मध्यम साधक छठे-सातवे गुणस्थान तक ही रह जाता है । निम्नकोटि का साधक हीयमान दशा मे

वर्तना है । उसके परिणामो की धारा गिरती जाती है । भगवान् महावीर ने साधको को सचेत किया है–

जाए सद्धाए निक्खंता तमेव अणुपालए ।

जिस श्रद्धा आत्मबल उत्साह और उल्लास से व्रतो को धारण किया है उसे कम न होने दो । एक बार अन्तर मे जो ज्योति जागृत हुई है वह मन्द न पडने पाए, बुझ न जाए साधक को सदैव इस बात की सावधानी रखनी चाहिए ।

सिहगुफावासी मुनि जब रूपकोषा के द्वार पर पहुँचा तब उसका अध्यवसाय अलग प्रकार का था। भिक्षा अगीकार करने पर उस अध्यवसाय मे परिवर्तन हो गया। निस्पृह साधक कभी नही फिसलता स्पृहवान कभी भी फिसल सकता है । किसी ने ठीक ही कहा है–

चाह छोड धीरज धरे तो हो बेडा पार ।

मानसिक दुर्बलता मनुष्य को अधपतन की ओर ले जाती है । सिह-गुफावासी मुनि ने दुर्बलता से ग्रस्त होकर रूपकोषा से कहा– नेपाल का मार्ग कितना ही दुर्गम हो भले अगम्य ही हो मै वहा से रत्नजटित कबल ले आऊगा । जिसने सिह की गुफा म चार मास–एक सौ बीस दिन निर्भयता के साथ व्यतीत किये हो उसे जगल से क्या भय ? मैंने भय की वृत्ति पर पूरी तरह विजय पा ली है अतएव आप मेरी बात पर अविश्वास मत लाइए । रत्नकबल मै ला दूगा किन्तु अभी यह साधना पूर्ण होने दीजिए ।

एक चाह से दूसरी चाह उत्पन्न होती है । रूपकोषा समझ गई कि मुनि का मन विचलित हो गया है । वह इस रगमहल के प्रलोभन मे फस गया है । मगर पूरी कसौटी किए बिना वह मानने वाली नही । मुनि को स्थिर करने का उसने निश्चय कर लिया था । अतएव उसने कहा– आप निडर और आत्मजयी वीर है किन्तु वर्षा प्रारम्भ होने पर मार्ग म कीचड ही कीचड हो जाएगा । चारो और हिसक पशुओ का डर रहेगा । अतएव रत्नकम्बल पहले ही ले आइए ।

रूपकोषा का आग्रह मुनि को प्रतिकर नहीं लगा । उसके मन म निराशा का भाव उदित हुआ और शीघ्र ही विलीन भी हो गया । दूसरा कोई मार्ग न देख कर मुनि रत्नकम्बल लाने के लिए चल पडे ।

राग के वशीभूत होकर मनुष्य क्या नहीं करता ? राग उसके विवेक को आच्छादित करके उचित-अनुचित सभी कुछ करवा लेता है । वह प्राण हथेली पे लेकर अनैतिकता का कोई भी काम कर सकता है ।

मुनि रूपकोषा के भवन मे ठहरे थे । उनकी आत्मा इतनी प्रबल नही थी कि वह उस वातावरण पर हावी हो जाती, अपनी पवित्रता और सात्विकता से उसे परिवर्तित कर देती, जहर को अमृत के रूप में परिणत कर देती । परिणाम यह हुआ कि उस वातावरण से उनकी आत्मा प्रभावित हो गई । जब आत्मा मे निर्बलता होती है तो आहार-विहार, स्थान और वातावरण आदि का प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रहता । अतएव साधक को इन सबका ध्यान रखना चाहिए और इनकी शुद्धि को आवश्यक समझना चाहिये ।

उक्ति है – 'ससर्गजा दोषगुणा भवन्ति' अर्थात् मनुष्यो मे दोषो और गुणो की उत्पत्ति ससर्ग से होती है । यदि उत्तम विचार वाले का ससर्ग हो तो सत्कर्मो की प्रेरणा मिलती है । समान या उच्च बुद्धि वाले की सगति हो तो वह मार्ग से विचलित होने पर बचा लेगा । इसके विपरीत यदि दुष्ट साथी मिल गए तो फिसलते को और एक धक्का देगे ।

तो रूपकोषा की प्रेरणा से मुनि रत्नकबल लाने को उद्यत हो गए । पहाड़ी भूमि की दुर्गमता निराली होती है । वहा घुमावदार ऊँचे-नीचे ऊबड़-खाबड़ रास्ते से जाना पड़ता है, झाड़ियो से उलझना पड़ता है और जगली जानवरो के बीच से मार्ग तय करना पड़ता है । मुनि ने बाहर का भय जीत लिया है और पाप के भय को पीठ पीछे कर दिया है । वे यह भी भूल गए है कि लौटते समय वर्षाकाल प्रारम्भ हो जाएगा और तब विहार करना भी निषिद्ध होगा, तब क्या होगा ?

मुनि अडोल भाव से पहाड़ो और वनो को पार करते हुए नेपाल देश में जा पहुँचे । फिर राजधानी मे भी पहुँच गए । उन्हे खाने-पीने की सुधि नही थी, एक मात्र रत्नकबल प्राप्त करने की उमग थी । उन्हें बतलाया गया था कि नेपाल नरेश रत्नकबल वितरण करते है । उन्हे ख्याल ही नही आया कि जिसके शरीर पर साधारण वस्त्र का भी ठिकाना नही वह किसके लिए रत्नजटित कबल की चाह करता है ?

यह निमित्त (रूपकोषा) वास्तव मे चक्कर मे डालने वाला नही, उबारने वाला है ।

मुनि इस बात से प्रसन्न है कि वह सफलता के द्वार तक आ पहुँचा है । वह नही सोच सकता कि उस रत्नकबल का क्या होगा ?

वन्धुओ । यह साधक की हीयमान स्थिति है । इसे समझ कर हम अपनी साधना मे सजग रहना है । छल कपट माया मोह फरेब किसी समय भी अपना सिर ऊँचा उठा सकते है । यदि असावधान हुए तो नीचे गिरना सभव है । अतएव सावधान होकर ज्ञानवल लेकर चलना है, पाप से डरना है भगवान् से डरना है । यह लक्ष्य कभी मद न पडे । यदि पाप से भय है अध पतन से भय है तो शास्त्र या धर्म की शिक्षा काम आएगी । पाप का भय हो तो साधक कही भी रहे जीवन निर्मलता के मार्ग मे अग्रसर ही होता जाएगा और लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण होगा ।

---

[५९]

विविध कर्मादान

अध्यात्म के क्षेत्र मे शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि ही सिद्धि मानी गई है और उस सिद्धि को प्राप्त करना ही प्रत्येक साधक का चरम लक्ष्य है । जल तभी तक ढुलकता, ठोकरें खाता, ऊँचे-नीचे स्थानो मे पददलित होता और चट्टानों से टकराता है जब तक महासागर मे नही मिल जाता । नदी-नाले के जल को यह सब मुसीबतें समुद्र मे मिल जाने के पश्चात् समाप्त हो जाती है । साधक के विषय मे भी यही बात है । उसे भी ऊँची-नीची अनेक भूमिकाओ मे से गुजरना पड़ता है, अनेकानेक परीषहो और उपसर्गो की चट्टानो से टकराना पड़ता है और ठोकरें खानी पड़ती है । किन्तु जब वह सिद्धि रूपी महासागर मे पहुँच जाता है तो उसका भटकना, ठोकरें खाना और टकराना सदा के लिए समाप्त हो जाता है । उसे शाश्वत और अविचल स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है ।

समुद्र मे प्रवेश करने के पश्चात् भी जल वाष्प बनकर रूपान्तर को प्राप्त करता है किन्तु सिद्धि प्राप्त होने पर साधक को किसी रूपान्तर-पर्यायान्तर को प्राप्त नही करना पड़ता । चरम सिद्धि के अनन्तर न तो किसी प्रकार की असिद्धि की सभावना रहती है और न उससे बढ़कर कोई सिद्धि है जिससे प्राप्त करने का प्रयत्न करना आवश्यक हो ।

जो साधना करता है और साधना के हेतु ही अपनी समस्त शक्तिया समर्पित कर देता है, उसी को सिद्धि प्राप्त होती है। साधना करने वाला साधक कहलाता है । साधारणतया साधनाएं अनेक प्रकार की होती है – अर्थ साधना, कामसाधना, धर्म साधना आदि । अर्थ या काम की साधना का आत्मोत्कर्ष के साथ कोई सम्बन्ध नही है । वह साधना बाह्य साधना है और यदि उसमे सफलता मिल जाय तो आत्मा का अधःपतन भले हो, उत्थान तो नही ही होता । ऐसी साधनाए इस आत्मा ने अनन्त-अनन्त वार की है, मगर उनसे कोई समस्या सुलझी नही । इन साधनाओ मे

सिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी घोर असिद्धि का सामना करना पड़ता है। किन्तु धर्मसाधना (आत्मसाधना) से प्राप्त होने वाली सिद्धि शाश्वत सिद्धि है। यह सिद्धि आत्मा के अनन्त और अक्षय वैभव-कोष को सदा के लिए उन्मुक्त कर देती है और अव्याबाध सुख की प्राप्ति का कारण होती है।

हम अपनी ओर स्वय दृष्टिपात करे और सोच कि हमारे जीवन मे कौन सी साधना चल रही है ? हम अर्थ और काम की साधना म व्यग्र है अथवा धर्म की साधना कर रहे है ? स्मरण रखना चाहिए कि अर्थ और काम की साधना छूटे बिना धर्मसाधना सम्भव नही है। दोनो परस्पर विरोधी है। जहा धर्म साधन की प्रधानता होगी वहा अर्थ और काम की साधना गौण या लगडी हो कर ही रह सकती है। अर्थ काम साधना का भाव वहा महत्व का नही रहेगा क्योंकि वहा दृष्टिकोण आत्मा की शुद्धि और निज-गुण वृद्धि का रहेगा।

जीवन म एक ऐसी स्थिति भी होती है जहा मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की साधना करता है। गृहस्थ जीवन म ऐसी स्थिति है। किन्तु विवकशील गृहस्थ इनका सेवन इस ढग से करता है कि धर्म अर्थ और काम मे से कोई किसी का विरोधी न बने। इन तीना के परस्पर अविरोधी सेवन से गृहस्थ-जीवन म किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती प्रत्युत वह जीवन अत्यन्त श्रेष्ठ बनता है। सद्गृहस्थ अर्थ और काम का सेवन धर्म का घात करके नहीं करेगा और धर्म का सेवन अर्थ और काम का नियामक होगा पर विघातक नही होगा। अर्थ और काम का सेवन भी उसका अविरुद्ध होगा। तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जब तक गृहस्थ सम्बन्धी उत्तरदायित्व को वहन करके चल रहा है तब तक वह धर्म का बहाना करके अपन सामाजिक या पारिवारिक कर्त्तव्या से विमुख नहा होगा और श्रावक क याग्य धर्म साधना का भी परित्याग नही करेगा। अर्थोपार्जन करते समय और उसका उपभाग करते समय धर्म का विस्मरण नही करेगा। इस प्रकार परस्पर अविराधी धर्म अर्थ और काम का सेवन करते हुए वह अपन गृहस्थ जीवन का आदर्श बनाएगा और जब एकान्त धर्मसाधना का सामर्थ्य अपन म पाएगा ता गार्हस्थिक उत्तरदायित्व स अपने को मुक्त कर लेगा। एक आचार्य कहते है–

परस्पराविरोधन त्रिवर्गो यदि सव्यत।
अनर्गलमिद सौख्यमपवर्गो ह्यनुक्रमात्॥

यदि त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का सवन इस प्रकार किया जाय कि कोई किसी क सेवन म बाधक न हा ता ऐसे मनुष्य लौकिक सुख क साथ त्याग धारकर अनुक्रम स, मुक्ति भी प्राप्त कर लत है।

साधक को अपना चिन्तन, स्मरण, भाषण और व्यवहार ऐसा रखना चाहिए जो लक्ष्य तक पहुँचाने मे सहायक हो । अर्थ और काम की साधना वहा रुक जाएगी जहा वह धर्म साधना में गतिरोध उत्पन्न करेगी । जैसे–दुर्घटना की आशका से चालक गाड़ी रोक देता है, उसी प्रकार धर्मसाधना का साधक अर्थ एव काम की गाड़ी को रोक देगा । श्रावक सदा सजग रहेगा कि काम और अर्थ कही धर्म के मार्ग मे बाधक तो नही हो रहे है । उसके लिए धार्मिक साधना का दृष्टिकोण मुख्य है, अर्थ और काम गौण है । गृहस्थ आनन्द ने इसी कारण अर्थ और काम पर रोक लगा दी थी ।

पिछले दिनो अंगारकर्म और वन कर्म पर चर्चा की गई । जब कही कोई नवीन नगर बसाना होता है तो उस जगह के समस्त वृक्षो को कटवाना और घास-फूस को जला देना पड़ता है । मगर व्रत की साधना को लेकर चलने वाले साधक के लिए ऐसे धधे करना उचित नही है । वन के बड़े-बड़े वृक्ष जब काटे जाते है तो अनेक पशु-पक्षियों के घर-द्वार विनष्ट हो जाते हे । यदि सहसा वृक्षो की कटाई हो तो पक्षी सभल नही पाते । उन पक्षियो का छोटा-मोटा पारिवारिक जीवन होता है। सभलने का अवसर न मिलने से उनके अडे-बच्चे आदि सर्वनाश के ग्रास बन जाते है । कुछ पक्षी तो वृक्षो की कोटरों मे ही घर बना कर रहते है। जब यकायक वृक्ष कटने लगते है तो उनके लिए प्रलय का-सा समय आ जाता है। वे बेहाल हो जाते है ।

यह तो वृक्ष काटने की बात हुई किन्तु जहा वृक्ष काट कर कोयला बनाया जाता है वहा के प्राणियों का तो कहना ही क्या । अतएव ऐसे निर्दयता पूर्ण कृत्य खरकर्म माने गए है ।

(३) साडी कम्मे (शकट कर्म)– इसका सम्बन्ध वन कर्म से है । गाड़ी आदि बना कर बेचने का धंधा करना शकटकर्म कहलाता है । अथवा गाड़ी चलाना सागडीकर्म है । श्रावक को यह धधा भी नही करना चाहिए । यह भी महाहिंसा से युक्त कर्म है । इसके लिए वनस्पति का विशेष रूप से उच्छेद करना पड़ता है । जो गाड़ी, गाड़ा, रथ आदि बनाता है, वह बैलों और घोड़ों आदि की बाधा का भी कारण बनता है । उनके मारण, छेदन, त्रास और संताप का निमित्त होता है ।

गाड़ीवान के सामने दो बातें होती है । पशु पर दया और स्वामी की आज्ञा का पालन । परन्तु उसका अधिक लगाव और झुकाव मालिक की आज्ञा की ओर होता है, क्योंकि मालिक उसे आजीविका देता है । आज्ञा के उल्लघन से वह रुष्ट होता है, उलाहना देता है । पशु मूक है । अत्याचार करने पर भी वह

प्रतीकार नही कर सकता कुछ बिगाड नही सकता । अतएव पशु के प्रति दयालु होन पर भी उसे स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिए उसके प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करना पडता है । अतएव श्रावक ऐसी आजीविका नही करता जिससे पशुओ के प्रति निर्दयता का व्यवहार करना पड ।

कई लोग पशुओ की दौड की होड लगाते है और जो पशु दौड मे विजयी होता है उसके स्वामी को पुरस्कार मिलता है । घोडो की दौड आजकल भी होती है । किन्तु ऐसा करना उनकी जान के साथ खिलवाड करना है ।

मनुष्य अपनी उत्कठा तथा कौतुहलवृत्ति का पोषण करने के लिए पशुओ को सताता है और अनर्थ दड के पाप का भागी बनता है। स्मरण रखना चाहिए कि जहा आवश्यकता की पूर्ति नहीं है वहा पशुओ के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार अर्थदण्ड की सीमा से बाहर निकल कर अनर्थदण्ड की सीमा मे चला जाता है ।

धर्म की साधना करने वाले मुमुक्षु को बेलगाम नही होना चाहिए । मुमुक्षु का दर्जा वही प्राप्त कर सकता है जो अर्थ और काम पर अकुश लगाता है जिसने अर्थ और काम पर अकुश लगाना सीखा ही नही है जप तप आदि साधना जिसके लिए गौण या नगण्य है वह वास्तव म साधक नहीं कहा जा सकता । वह गिरता गिरता कहा तक जा पहुँचेगा नहीं कहा जा सकता ।

गुणो को छोड कर गुरु या परमात्मा की आराधना कितनी भी की जाय बेकार है । ज्ञान, दर्शन और चरित्र कोई अलग देवता नहीं है । गुणी के बिना गुण नही होते और गुणो के बिना गुणी (द्रव्य) नही रह सकता । एक दूसरे के बिना दोनो के अस्तित्व की कल्पना ही नहा की जा सकती । जैसे–हाथ पैर पाठ पेट आदि अगोपागो का समूह ही शरीर कहा जाता है, इनसे पृथक शरीर की कहा सत्ता नही है और शरीर से पृथक उसके अग-उपागो की भी सत्ता नहा है इसी प्रकार गुणो का समूह ही द्रव्य है और द्रव्य के अश धर्म ही गुण है । परस्पर निरपेक्ष गुण या गुणी का अस्तित्व नहा है ।

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधु सभी जीवद्रव्य है । इनकी उपासना आराधना और भक्ति कर लेना ही पर्याप्त है । गुणो का साधन करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार की भ्रान्ति किसी को हो सकती है । किन्तु भूलना नहा चाहिए कि अर्हन्त आदि गुणो क कारण ही वन्दनीय है । वास्तव म हम गुणी क द्वारा गुणो का ही वन्दन करते है । गुणो का वन्दन करने का उद्देश्य यह है कि हमारे चित्त म गुणो की महिमा अकित हो जाय और हम उनसे लाभ ले सकें ।

जो व्यक्ति ज्ञान के बदले अज्ञान, कुदर्शन और कुचारित्र के पथ पर चल रहा है, उसकी गुरु सेवा, मुनिभक्ति और भगवदाराधना आदि सब व्यर्थ है। भले ही वह ऊपर-ऊपर से भक्ति का प्रदर्शन करता हो, तथापि यदि हिसा, असत्य और मोह-ममता के मार्ग पर चल रहा है तो ऐसा ही समझना चाहिए कि उसने वास्तव मे भक्ति नही की है। उसने भक्ति के रहस्य को समझा ही नही है। कहा भी है—

प्रभु तो नाम रसायण सेवे,
पण जो पथ्य, पलाय नही।
तो भव-रोग कदीय न छूटे,
आत्म शान्ति ते पाय नही॥

प्रभु का नाम अनमोल रसायन है। वस्तु-रसायन के सेवन का प्रभाव सीमित समय तक ही रहता है किन्तु नाम रसायन तो जन्म-जन्मान्तरो तक उपयोगी होता है। उसके सेवन से आत्मिक शक्तियाँ बलवती हो जाती है और अनादि काल की जन्म-मरण की विविध व्याधियाँ दूर हो जाती है।

रसायन के सेवन के साथ यदि पथ्य का सेवन न किया जाय तो कोई लाभ नही होता। रसायन का सेवन निष्फल हो जाएगा। यही नहीं, कदाचित् वह अपथ्य विपरीत प्रभाव भी उत्पन्न कर सकता है। नाम-रसायन के सेवन के विषय मे भी यही नियम लागू होता है। नाम-रसायन के सेवन के लिए अहिसा आदि सदाचरण पथ्य है। इनका पालन किये बिना नाम-रटन वृथा है।

सच्ची धर्मसाधना करने वाला मुमुक्ष धर्म के विरुद्ध आचरण की सभावना होते ही अपने ऊपर नियन्त्रण लगा लेता है। गलती उससे हो सकती है, अनुचित शब्द का प्रयोग भी हो सकता है, किन्तु अपनी गलती प्रतीत होते ही वह उसका समुचित परिमार्जन कर लेता है और ऐसा करने मे उसे तनिक भी हिचक नही होती। मुमुक्षु का जीवन अत्यन्त स्पृहणीय और अभिनन्दनीय होता है। दूसरो पर उसके जीवन की ऐसी गहरी छाप लग जाती है कि वह सर्वत्र सम्मान पाता है। जीवन को सफल बनाने की कुजी उसके हाथ लग जाती है।

किन्तु यह तभी सम्भव है जब लोभवृत्ति पर अकुश रखा जाय और कामना पर नियन्त्रण किया जाय। इतना कर लेने पर अन्यान्य गलत आचरण भी रुक जाते है, क्योंकि कामना ही मनुष्य को कुपथ मे घसीट ले जाने वाली है और जब कामना पर काबू पा लिया जाता है तो सभी दुर्गुण दूर हो जाते है। एक उक्ति प्रसिद्ध है—

बुभुक्षित किन्न करोति पापम्,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।

भूख की अन्तर्ज्वाला से जो जल रहा है वह करुणाहीन बन जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सर्पिणी १०८ अण्डे देती है परन्तु उन्हें खा जाती है। कुतिया भी भूख की मारी अपने बच्चे को निगल जाती है। सद्यप्रसूता कुतिया को भोजन देने की प्रथा इसी कारण प्रचलित है। ऐसे प्राणी उपदेश के पात्र नहीं हैं क्योंकि असह्य भूख से प्रेरित हो कर ही वे ऐसा करते हैं। मगर जिस मनुष्य में इतना सामर्थ्य है कि अपनी भूख मिटा कर दूसरों को भी खिला दे, वह यदि करुणाहीनता का काम करता है तो यह स्थिति अत्यन्त दयनीय और शोचनीय है।

जो मनुष्य स्थावर और त्रस जीवों के बचाव का ध्यान रखने वाला है उससे क्या यह आशा की जा सकती है कि वह मनुष्यों के उत्पीडन में निमित्त बनेगा ? वह जान बूझ कर कदापि ऐसा नहीं करेगा कि किसी का जीवन या किसी की जीविका का उच्छेदन करके अपना स्वार्थ सिद्ध करे। जो भगवद्भक्तिपरायण है उससे ऐसी आशा नहीं की जा सकती क्योंकि भगवान् की भक्ति का उद्देश्य अपने जीवन को सद्‌गुणों के सौरभ से सुरभित करना है परमात्मा के गुणों को अपनी आत्मा में प्रकट करना है। परमात्मिक गुणों की अभिव्यक्ति सम्यक चारित्र के द्वारा ही संभव है अतएव भगवद् भक्त पुरुष सम्यक चारित्र की आराधना अवश्य करेगा।

सम्यक चारित्र के दो रूप हैं–संयम और तप। संयम नवीन कर्मों के आस्रव बंध को रोकता है और तप पूर्व संचित कर्मों को क्षय करता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए इन दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। किसी सरोवर को सुखाने के लिए दो काम करने पड़ते हैं–नये आने वाले पानी को रोकना और पहले के संचित को उलीचना। इन उपायों से सरोवर रिक्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा को कर्म रहित बनाने के लिए भी दो उपाय करने पड़ते हैं–संयम की आराधना करके नवीन कर्मों के बन्ध को रोक देना पड़ता है और तप के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करनी पड़ती है। इन दोनों उपायों से आत्मा पूर्ण निष्कर्म अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

इन्द्रिय और मन की वृत्तियों पर नियन्त्रण करके पाप के खुले द्वार को रोकना संयम कहलाता है। यह संयम धर्म भी दो प्रकार का है–समस्त पापों का निरोध श्रमण धर्म अथवा सर्वविरति संयम कहलाता है और देशतः पापों का निरोध देशविरति संयम।

अकरणान्नन्द करणं श्रेय अर्थात् कुछ भी न करने की अपेक्षा थोड़ा करना अच्छा है इस कहावत के अनुसार पापों को सीमित रूप में लाकर जीवन को पवित्र बनाने वाला उससे अच्छा है जो पापों को निर्मूल नहीं छोड़ता।

मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा, असत्य और चोरी आदि पापो का त्याग करना, इन्हे दूसरो से नही करवाना और इन पापो को करने वाले का अनुमोदन न करना पूर्ण सामायिक का आदर्श है । जो सत्वशाली महापुरुष इस आदर्श तक पहुँच सके, वे धन्य है । जो नही पहुँच सके, उन्हे उसकी ओर बढ़ना चाहिए । इस आदर्श की ओर जितने भी कदम आगे बढ़ सके, अच्छा ही है । कोई व्यक्ति यदि ऐसा सोचता है कि मन स्थिर नही रहता, अतएव माला फेरना छोड़ देना चाहिए, यह सही दिशा नही है । ऐसा करने वाला कौन-सा भला काम करता है ? मन स्थिर नही रहता तो स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिए । असफल होने के पश्चात् पुनः सफलता के लिए उत्साहित होना चाहिए न कि माला को खूँटी पर टाग देना चाहिए । साधना के समय मन इधर-उधर दौड़ता है तो उसे शनैः शनैः रोकने का प्रयत्न करना चाहिए, किन्तु काया और वचन जो वश मे है, उन्हे भी क्यो चपलता युक्त बनाते हो ? उन्हे तो एकाग्र रखो, और मन को काबू मे करने का प्रयत्न करो । यदि काया और वाणी सम्बन्धी अकुश भी छोड़ दिया गया तो घाटे का सौदा होगा । यह सत्य है कि मन अत्यन्त चपल है, हठीला है और शीघ्र काबू मे नही आता । किन्तु उस पर काबू पाना असभव नही है । बार-बार प्रयत्न करने से अन्ततः उस पर काबू पाया जा सकता है । किसी उच्च स्थान पर पहुँचने के लिए एक-एक कदम ही आगे बढ़ना पड़ता है । आपका मन जो बेलगाम घोड़े की तरह दौड़ भाग कर रहा है, उसे काबू मे लाने का यही उपाय है । साधक को सजग रह कर उसका मोड़ बदलना चाहिए ।

आख की पुतली जैसे ऊपर-नीचे होती रहती है वैसे ही मन भी दौड़ता रहता है और कही मोह की सहायता उसे मिल जाय तब तो कहना ही क्या है ? वह वहुत गड़बड़ा जाता है । मगर गड़बड़ाये मन को भी काबू में लाया जा सकता है ।

मानव-जीवन मे मन का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है । वह साधना का प्रधान आधार है, क्योंकि वही उत्थान एव पतन का कारण है । कहा भी है—

मनः एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयोः ।

बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण मन ही है । जो मन को जीत लेता है, इन्द्रिया उसकी दासी बन जाती है । अतएव मनोविजय के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए । धर्म-शिक्षा या अभ्यास एव वैराग्य के द्वारा मन को वशीभूत किया जाता है ।

कभी कभी दीर्घकाल तक कठिन साधना करने वाला को भी मन विचलित कर देता है और साधना से डिगा देता है। सिंह गुफावासी मुनि की साधना मामूली नही थी। मगर उनका मन मचल गया। स्थूलभद्र के प्रति ईर्ष्या उसने जगाई और उनके समकक्ष प्रतिष्ठा पाने की लोभ वत्ति उत्पन्न कर दी। मुनि असावधान होकर उसके चक्कर मे आ गए। रूपकोषा के द्वार पर पहुँचे और उसे सन्तुष्ट करने के लिए रत्नकबल प्राप्त करने का चल दिए। व्रत नियमा की साधना का भूल गए। वह साध्य अथात् काम विजय को सिद्ध करने के सकल्प से चले थे परन्तु साधन उलटा हो गया। रत्नकबल को वह साधन मान बैठे।

नपाल की दुर्गम घाटिया को पार करके वे नेपाल की राजधानी तक पहुँच गए। त्यागी और तपस्वी मुनि के आगमन को देख नेपाल नरेश ने अपने को सौभाग्यशाली मान कर उनका सम्मान किया। माना कि घर बैठे गगा आ गई है प्रागण म कल्पवृक्ष उग आया है। मुनि अर्धनग्न स्थिति मे वहाँ पहुँचे अतएव उनके प्रति राजा का आदरभाव अधिक जगा। नेपाल नरेश ने शिष्टाचार का अनुसरण करते हुए कहा—"भगवन्। आदेश दीजिए आपकी क्या सेवा की जाय ?

मुनिजी 'सोऽहम्' का नही प्रत्युत रत्नकबल का जप करते हुए वहा पहुँच थ अतएव राजा के कहने पर उन्होने रत्नकबल का ही माग की।

रत्नकबल इधर-उधर लुटाये जा रह थे तो मुनि की माग की पूर्ति करना क्या बडी बात थी ? एक सुन्दर रत्न-जटित कबल लाकर राजपुरुष ने मुनि का अर्पित किया। मुनि के सन्तोष और उल्लास का पार न रहा। तपश्चरण से जन्म-जन्मान्तर म सिद्धि प्राप्त होती है परन्तु इन मुनि का अपने तप की सिद्धि तत्काल प्राप्त हो गई। मुनि रत्नकबल पा कर माना कृतार्थ हो गए। अत्यन्त प्रसन्नता के साथ व तुरन्त पाटलीपुत्र लौटने लग।

भगवान् का प्रीतिभाजन बनने के लिए आत्मबल चाहिए। दैवी और दानवी बाधाओ से न डरने वाले दृढ सकल्प भक्त पर भगवान् प्रसन्न होते है। कमजोरों पर व भी प्रसन्न नही होते।

मुनि को रत्नकबल क्या मिला माना अपनी समग्र साधना का अभीष्ट फल मिल गया। वह जल्दी स जल्दी वे पाटलीपुत्र की ओर तेजी स बढ रह थ। होनहार टाल नहीं टलती। मनुष्य क्या सोचता है और क्या हो जाता है ? भविष्यता क आग समस्त मनोरथ एक ओर धर रह जाते है। मुनि तेज गति स ...

हुए चले जा रहे थे कि मार्ग मे लुटेरो से भेट हो गई । उन्होने रास्ता रोक कर कड़कते स्वर मे पूछा—क्या है तुम्हारे पास ?

अपरिग्रही मुनि को चोरो ओर लुटेरो से कोई भय नही होता, किन्तु सिह गुफावासी मुनि इस समय अपनी मर्यादा का उल्लघन कर चुके थे । उनके पास रत्नकबल के रूप मे परिग्रह था । अतएव लुटेरो को सामने देख कर उनका हृदय धड़कने लगा । पहली बार उन्हे आभास हुआ कि परिग्रह किस प्रकार भय एव मानसिक क्लेश को उत्पन्न करता है । सिह के भय को वीरतापूर्वक जीत लेने वाला मुनि रत्नकबल छिन जाने के भय से कातर हो उठा । क्षण भर के लिए उनके मन मे तीव्र ग्लानि उपजी और उन्होने दबे स्वर मे कहा—मै तो साधु हूँ ।

मगर चोर और लुटेरे साधु-असाधु मे भेद नही करते । इस सम्बन्ध मे वे समभावी होते है । जिसके पास मूल्यवान् वस्तु हो वे सभी उनके लिए समान है ।

लुटेरो ने रत्नकबल छीन लिया । उस समय मुनि के मन मे कैसे-कैसे विचार उत्पन्न हुए होंगे, यह तो भुक्तभोगी ही समझ सकता है । मुनि को ऐसा लगा जैसे उनका सर्वस्व छिन गया हो ।

ससार चक्र अत्यन्त विषम है । यहा क्या अच्छा और क्या बुरा, यही निर्णय करना कठिन है । एक स्थिति मे जो वस्तु सुख का कारण होती है, दूसरी स्थिति मे वही दुख का कारण सिद्ध होती है । जिन पुद्गलमय पदार्थो को आप चोटी से एड़ी तक पसीना बहा कर प्राप्त करते है, बड़े जतन से प्राणो के समान जिन की रक्षा करते है, वही जब चले जाते है तो मनुष्य की क्या दशा होती है ? और पौद्गलिक पदार्थ सदा कब ठहरने वाले है ? वे तो जाने के लिए ही आते है। फिर भी खेद का विषय है कि मूढ़ मानव उन्ही के पीछे अपना जीवन नष्ट कर देता है और उनके मोह मे फस कर धर्म और नीति को विसर जाता है । किसी ने यथार्थ ही कहा है—

न जाने ससारे किममृतमय कि विषमयम् ?

इस ससार मे क्या अमृत और क्या विष है, यह निर्णय करना ही कठिन है। जिसे लोग अमृत समझ कर ग्रहण करते है, वह अन्त मे विष साबित होता है और जिसे विष समझ कर त्यागते है वही अमृत प्रमाणित होता है । ज्ञानी पुरुष भोगोपभोग की सामग्री को किपाल फल के समान कहते है तो अज्ञानी उसे सुधा समझते है ।

रत्नकम्बल पाकर लुटेरे अत्यन्त प्रसन्न हुए और मुनि के मन पर विषाद की गहरी रेखा खिंच गई। एक की प्रसन्नता दूसरे की अप्रसन्नता का कारण बनती है और दूसरे की अप्रसन्नता से किसी को प्रसन्नता प्राप्त होती है। धिक्कार है इस संसार को धिक्कार है मनुष्य की मूढ़ता को जिसने तत्व पा लिया है मर्म को समझ लिया है वह ऐसी बालचेष्टा नहीं करता। वह आत्मिक वैभव की वृद्धि में ही अपना कल्याण मानता है और इहलोक-परलोक सम्बन्धी कल्याण का भागी बनता है।

---

[६०]

कर्मादान-एक विवेचन

संसार मे अनन्तानन्त जीव है और उन सब को सुख, दुःख [illegible] है। सभी संसारी जीव कर्मोदय के अनुसार शरीर धारण करते है, [illegible] और अन्त मे मरण के शरण हो जाते है। इन अनन्तानन्त प्राणियो मे से [illegible] को विवेक शक्ति प्राप्त होती है, थोड़े से जीव ही कर्तव्य-अकर्तव्य की पहचान [illegible] है। धर्म-अधर्म का ज्ञान अधिकांश को नही है। पुण्योदय से [illegible] विवेक का लाभ प्राप्त कर सकने वाले बहुत ही कम होते है। [illegible] ज्ञान प्राप्त होता है और उनमें से भी [illegible] ज्ञान के [illegible] होती है। जीवन को पतन के मार्ग पर ले जाने वाले साधनों से [illegible] न हुई तो प्राप्त हुआ विपुल ज्ञान भी निष्फल है, क्योंकि कहा है—

नाणस्स फलं विरई।
(ज्ञानस्य फलं विरतिः)

ज्ञान की सफलता त्याग मे है। जिन पदार्थो और जिन आन्तरिक विकारो को हम हेय समझते है, अकल्याणकर मानते है और घोर दुःख का कारण मानते है उनका भी यदि त्याग नही कर सकते तो वह ज्ञान किस मर्ज की दवा है? उसका क्या फल मिला? ऐसे ज्ञान को महापुरुष ज्ञान ही नही मानते। सर्प को सामने आते देख कौन ज्ञानवान्-समझदार-मनुष्य बचने के लिए दूर नही भाग जाता? केवल नासमझ बालक ही सर्प को देख कर भी नही हटता है इसी प्रकार विष रूपी विषय से जो विमुख नही होता, समझना चाहिए कि वह समझदार नहीं, नासमझ है। उसे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नही हुई है। अतएव सच्चा ज्ञानी वही है जो विरमण करने योग्य पदार्थो एव भावो से विरत हो जाता है और रमण करने योग्य सद्भावो मे रमण करता है।

इसके विरुद्ध यदि रमण करने योग्य कार्यों एव भावो से ही विरमण कर ले तो यह विरति कैसी ? मान से विरत होने के बदले यदि विनय से, क्रोध के बदले क्षमा से, हिसा के बदले अहिसा से और लाभ के बदले सन्तोष से विरत हो तो यह मिथ्या विरति है । साधक को वि भाव से विरति करनी चाहिए, आत्म-स्वरूप मे रमण और परपदार्थो से विरमण करना चाहिए । 'स्व' का परित्याग करके 'पर' मे रमण करना ही समस्त दु खो का मूल है । अतएव साधक को निज गुणो मे रति करके परगुणो से विरति करनी चाहिए । इससे उलटी प्रवृत्ति रही तो आत्मा सदा जन्म-मरण के विषम चक्र मे ही भटकती रहेगी । उसका त्राण नही हो सकेगा ।

परम ज्ञानी और सच्चा साधक वही है जो हेय और उपादेय को भली भाति समझ कर हेय का त्याग करता है और उपादेय को ग्रहण करता है । ज्ञान और विश्वास अनुकूल या समीचीन हो कर परिपुष्ट हो जाए, वही विरति है । परिपक्व दशा और अनुकूल मौसम होने पर वृक्ष मे फल लगते है । ऐसे ही ज्ञान का परिपाक होने पर विरति की प्राप्ति होती है । हिसा असत्य चौर्य अब्रह्मचर्य और परिग्रह से अलग होना विरति है । स्मरण रखना चाहिए कि साधारणतया पहले बाह्य पाप कर्मों से विरति होती है तत्पश्चात् अन्तरग पापो से विरति हो जाती है । महर्षियो ने हिसा झूठ चोरी आदि बाह्य पापो को त्यागने का महत्व इसी कारण दर्शाया है । जो मनुष्य इनका त्याग कर देता है उसके अन्तरग पाप क्रोध, मान माया लोभ, राग, द्वेष मोह आदि शनै शनै शान्त हो जाते है । कारण यह है कि क्रोध आदि आन्तरिक पाप हिसा आदि बाह्य पापो के कारण ही बढते है अतः जब बाह्य पाप घट जाते है तो आन्तरिक पाप भी स्वत घट जाते है ।

कोई हमारी जमीन या अन्य वस्तु बलपूर्वक छीन लता है या शरीर पर आघात करता है तो क्रोध उत्पन्न होता है । ऐसी स्थिति मे जो जमीन का त्याग कर देता है उसके क्रोध का एक कारण कम हो जाता है । इस प्रकार जितना क्षेत्र बाह्य पापो का घटा उतना ही कषायो के विस्तार का क्षेत्र घटा ।

जो शरीर के प्रति ममतावान् है उसे शरीर के प्रतिकूल आचरण करने पर रोष उत्पन्न होता है किन्तु जिसने शरीर को पर पदार्थ समझ लिया है और जिसे उसके प्रति किचित भी ममता नही रह गई है वह शरीर पर घोर से घोर आघात लगने पर भी रुष्ट नही होता । ऐसे अनेक महर्षियो की पुण्यगाथाए हमारे शास्त्रो मे विद्यमान है जिन्होने भीषण शारीरिक आघातो के होने पर भी अखण्ड समभाव रखा और लेश मात्र भी रोष का उन्मेष नही होने दिया । गजसुकुमार के शरीर की वेदना क्या सामान्य थी ? स्कधक मुनि का स्मरण क्या हमारे रोगटे नही खडे कर देता ? मतार्य

मुनि को क्या कम आघात लगा था ? फिर भी ये प्रात.स्मरणीय मुनिराज क्षमा के प्रशान्त सागर मे ही अवगाहन करते रहे । क्रोध की एक भी चिनगारी उनके हृदय मे उत्पन्न नही हुई । इसका क्या कारण था ? यही कि वे अपने शरीर को भी अपना नही मानते थे । वे समझ चुके थे कि इस नाशशील पौद्गलिक शरीर का मेरी अविनश्वर चिन्मय आत्मा के साथ कोई साम्य नही है । इसी कारण वे शारीरिक यातना के समय भी समभाव मे विचरण करते रहे और आत्मकल्याण के भागी बने ।

साधारण ससारी प्राणी लोभ का दास है । वह भूमि और धन आदि के संग्रह की वृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। उसने सभी द्वार खोल रखे है । व्यवसाय मे मुनाफा होगा तो फूला नही समाएगा । नवीन मकान बनवाएगा तो पड़ौसी की दो-चार अगुल जमीन दबाना चाहेगा । इस प्रकार जिन्होने अकुश नही लगाया है, वे ब्राह्य वस्तुओ का विस्तार करेंगे और उसी मे आनन्द मानेंगे । उनके प्रत्येक व्यवहार, वचन और विचार से लोभ का निर्झर ही प्रवाहित होगा ।

जो व्यापारी या दुकानदार है, उसे खेत या जमीन का लालच नही होगा, क्योंकि उस ओर उसका आकर्षण नही है । अगर कोई गृहस्थ व्यापार भी करता है, कृषि भी करता है, मोटर-सर्विस और सिनेमा भी चलाता है तो चारों दिशाओं मे उसके लालच का विस्तार होगा । लालच मे पड़कर वह असत्य भाषण करेगा, अदत्त का ग्रहण करेगा और न जाने कौन-कौन से पाप करेगा । पाप का बाप लोभ और पाप की मा कुमति है । समस्त पापो को अकुरित करना, जन्म देना और विस्तार करना लोभ का काम है, किन्तु कुमति का सहयोग न हो तो पापों का विस्तार नही हो सकता । पाप का विषैला बीज कुमति रूपी क्षेत्र मे ही फलता-फूलता है ।

सन्तोष के बिना शान्ति और सुख नही मिलता और विरतिभाव के बिना सन्तोष नही मिलता । लोभ-लालच को जीतने का उपाय सन्तोष ही है । 'लोह सतोसओ जिणे' अर्थात् लोभ को सन्तोष से जीतना चाहिए, यह अनुभवी महापुरुषो का वचन है ।

ज्ञान अपने आप में अत्यन्त उपयोगी सद्गुण है किन्तु उसकी उपयोगिता विरतिभाव प्राप्त करने मे है । जितने भी अध्यात्म-मार्ग के पथिक महापुरुष हुए हैं, उन्होने हिसा, कुशील आदि से विमुख हो कर कषायों का भी निग्रह किया । ये आन्तरिक पाप शीघ्र पकड़ मे नही आते । बिजली को पकड़ने के लिए विशिष्ट साधन का उपयोग करना होता है । उससे बचने के लिए रबर, लकड़ी आदि का सहारा लेना पड़ता है । इसी प्रकार क्रोधादि रूप बिजली से बचने के लिए विरतिभाव का आश्रय लेना चाहिए ।

जो विवकशील साधक विरतिभाव के बाधक कारणो स बचता है वही साधना मे अग्रसर हो सकता है। विरति के बाधक कारण अतिशय लाम, माह आदि विकार है और उन विकारा से उत्पन्न हाने वाले महान् आरम्भ-परिग्रह हैं। इस सिलसिले मे कर्मादाना की चर्चा चल रही है। तीन कर्मादाना का विवेचन पहले किया जा चुका है।

हिमालय के दुर्गम मार्गों मे साधक भले ही न गडबडाए किन्तु प्रमाद और कषाय यदि उसके जीवन मे प्रवेश कर जाव और वह उनका शिकार हो जाए तो गडबड पैदा हुए बिना नही रहती। ऐसी स्थिति मे उसे कोई नवीन सफलता नहीं प्राप्त हा सकती यही नही वरन् पूर्व प्राप्त साधना की सम्पत्ति भी वह गवा बैठता है। किसी धनवान अथवा अर्थी द्वारा कठिन परिश्रम करके प्राप्त किया हुआ धन यदि चोर चुरा ले या गुम हो जाय तो उसे कितनी मार्मिक वेदना होती है ? वह व्यवहार म बहुत समल कर चलता है फिर भी कदाचित् असावधान हो जाता है ता भयानक हानि उठाता है। इस प्रकार जब थोडी सी असावधानी भी व्यवहार मे घातक है तो आत्म साधक के जीवन की हानि कितनी बडी हानि कहलाएगी ?

एक आदमी प्रवास का घोर कष्ट उठाकर और रात दिन एक करके कठिन परिश्रम करके धन उपार्जित करके ला रहा हो और मार्ग म लुट जाए ता उसके हृदय मे तीव्र विषाद होगा। बाल-बच्चा वाला होगा तो उसे गृहस्थी की गाडी चलाने मे कष्ट होगा। अगर वह कोई भिक्षुक है और उसने दार-परिग्रह नही किया है तो भी माल लुट जाने के दुख स वह बच नही सकता।

सिह गुफावासी मुनि का रत्नकबल लुट गया ता उनको बहुत दुख हुआ। उस रत्नकबल क साथ उनकी कइ भावनाए जुडी हुई थी। अतएव उनक हृदय म कितनी व्याकुलता उत्पन्न हुई होगी इसका अनुमान काई भुक्तभोगी ही कर सकता है। इस मर्मबिंधिनी चाट से उन्हे जा आत्मग्लानि हुई उस भगवान् सर्वज्ञ ही जान सकते है। मुनि के मन न कहा-"रूपकोषा कबल की प्रतीक्षा कर रही होगी। उसके सम्म मैंने बडे दर्प के साथ अपने पुरुषार्थ की डाग मारी थी। वह मेरी राह देख रही होगी। मै उसके सामने खाली हाथ कैसे जाऊगा ? रत्नकबल मागन पर उस क्या उत्तर दूगा ? मार्ग म लुट जाने की बात पर क्या उस विश्वास होगा ? क्या यह स्थिति मेरे लिए अपमानजनक नही है ? तो अब क्या करना चाहिए ?

चिन्ता म व्यग्र मुनि कुछ समय तक कोई निर्णय नहा कर सके। भांति भांति के विचार चित्त म उत्पन्न हुए और विनष्ट हुए। वह असमजस म पड गए। सयम की विशिष्ट साधना के उद्देश्य स निकले साधक की ऐसी दयनीय दशा। मन कितना प्रबल है। वह मनुष्य को कहा से कहा ले जाकर गिरा देता है।

मुनि के मन मे विचारो की आधी आ रही थी । वह अपनी पद-मर्यादा को विस्मृत कर चुके थे । आखिर उन्होने निश्चय किया—'मै रूपकोषा के सामने खाली हाथ नही जा सकता । प्राण जाए तो जाए पर मै खाली हाथ नही जाऊगा । खाली हाथ जाने में पुरुषत्व नही, प्रतिष्ठा नही, मानवता भी नही है ।'

सिह गुफावासी मुनि के सामने अपनी शान और मान-मर्यादा का सवाल था। शान के सामने सयम परास्त हो रहा था । किन्तु जब उन्होंने पुनः रत्नकबल लाने का निश्चय किया, तभी मन मे एक नया प्रश्न उत्पन्न हुआ । प्रश्न था—नेपाल-नरेश दुबारा कम्बल देगे या नही ?

अर्थ की समस्या उपस्थित होती है तो मनुष्य सकोच और लिहाज को भी तिलांजलि दे देता है । धार्मिक लाभ लेने वाले भी तर्क-वितर्क करके धर्म-मार्ग से विमुख हो जाते है । शादी, विवाह या आर्थिक लाभ का काम हुआ तो कोई किसी का साथ नही खोजता । दुकान या कारखाने का मुहूर्त्त करते समय साथी नही ढूढ़ा जाता, किन्तु धार्मिक कार्य के लिए एक को कही जाना पड़े तो साथी चाहिए ।

मुनि आत्मभाव से बाहर निकल कर अनात्मभाव मे रमण कर रहे थे । कम्बल क्या लुटा मानो उनके जीवन का सर्वस्व लुट गया । उनकी भविष्य सम्बन्धी अनेक मनोहर कल्पनाओ का भवन ढह गया । उनके मन में चिर काल तक द्वन्द्व की स्थिति बनी रही । वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे । अन्त मे एषणा की विजय हुई । भटके मन ने आदेश दिया—'प्रयत्न करो, सफलता मिले चाहे न मिले । पुरुष का काम पुरुषार्थ करना है । पुरुषार्थ करने वाले को अन्त मे सफलता प्राप्त होती ही है। निराश होकर बैठ जाना तो असफलता की विजय स्वीकार करना है । यह पुरुषत्व का अपमान है । अतएव जिस कार्य मे हाथ डाला है उसे सिद्ध करके ही दम लेना चाहिए ।'

मन का आदेश मिलने पर पैरो को लाचार होकर पीछे की ओर बढ़ना पड़ा। वे वापिस नेपाल-नरेश के पास पहुँचने को मुड़ गए । चलते-चलते राज-दरबार मे पहुँचे ।

लज्जा और संकोच ने पहले तो मुनि के मुख पर ताला जड़ दिया । उनका मन आत्मग्लानि से भर गया । यद्यपि मुनि जीवन याचनामय होता है । उसकी समस्त आवश्यकताए याचना से ही पूर्ण होती है—

'सव्वं' से जाइअं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं ।

साधु के पास कोई उपकरण ऐसा नही होता जो अयाचित हो । याचना करने मे उस दैन्य का अनुभव भी नही होता–और नही होना चाहिए । किन्तु यहा तो बात ही दूसरी थी । सिह गुफावासी मुनि को सयम-जीवन के निर्वाह के लिए रत्नकबल की आवश्यकता नहीं थी । वह कम्बल उनके सयम मे सहायक नही था । यही नही, वरन् बाधक था । इसी कारण मुनि लज्जा और सकोच से धरती मे गडे जा रहे थे । राजा के समक्ष जाकर भी मुनि का मुह सहसा खुल नही सका । वह थोडी देर मौन रहे ।

मुनि को दूसरी बार रत्न कम्बल के लिए आया देख दरबारियो का भी विस्मय हुआ । किसी ने सोचा–'हो न हो मुनि सग्रह के शिकार है ।

किसी ने कहा–'क्या रत्नकम्बल बेच कर पूजी इकट्ठी करने की सोची है ?

तीसरा बोला– वास्तव म यह साधु भी है या नही । साधु का वेश धारण करके कोई ठग तो नही है ।

इस प्रकार नाना प्रकार की टीकाए होने लगी । जितने मुह उतनी बाते । मुनि चुपचाप उन्हे सुनते रहे । अन्त म उन्होने अपनी करुण कहानी राजा को सुनाई। राजा का हृदय द्रवित हुआ और पुन उन्हे रत्नकबल मिल गया ।

रत्नकबल पाकर मुनि को ऐसा हर्ष हुआ जैसे सिद्धि प्राप्त हो गई हो। वह तत्काल वापिस लौट पडे । इस बार मुनि ने अत्यन्त सावधानी और सतर्कता के साथ यात्रा की और वे निर्विघ्न पाटलीपुर आकर रूपकोषा के भवन मे प्रविष्ट हुए । अनेकानेक कष्ट सहन करने के पश्चात् प्राप्त इस सफलता पर वे अत्यन्त प्रसन्न थे । इतने प्रसन्न जैसे शत्रु का दुर्गम दुर्ग जीत लेने पर कोई सेनापति फूला नही समाता हो।

नेपाल नरेश प्रत्यक व्यक्ति को सन्देह की दृष्टि से नही देखते थे । उनका मन्तव्य था कि ससार क सब मनुष्य समान नहा है अतएव सब के साथ एक सा व्यवहार करना उचित नहीं है । यही कारण था कि मुनि को दूसरी बार कम्बल की याचना करते देख कर दरबारी लाग जब तरह-तरह की बाते कर रहे थे तब स्वय नरेश ने मौन ही धारण किया । उन्होने मुनि के चेहरे को पढने का प्रयत्न किया और उनका कथन यथार्थ पाया । मुनि न कहा– 'मै कन्धे पर रत्नकबल लटकाकर जा रहा था कि लुटेरे आ धमके और ले गए ? मरी इष्ट सिद्धि नहा हुई, अतएव दूसरा बार आया हू ।

नेपाल नरेश ने मुनि के कथन पर विचार किया और दूसरा रत्नकम्बल प्रदान करन के साथ इस बार सावधानी बरतन की सूचना भी दी । नरेश का सूचना के

अनुसार मुनि ने इस बार बॉस मे कम्बल को फिट कर लिया। बॉस को लाठी की तरह लेकर उन्होने जगली रास्ते को पार किया।

रुपये और नोट कितने आए और चले गए। कमरे मे तिजोरी के अन्दर रकम बन्द होने पर भी द्वार पर पहरेदार न हो तो धनी मनुष्य को चिन्ता के कारण निद्रा नही आती। अगर तिजोरी मे हीरा-मोती हुए तब तो सुरक्षा का जबर्दस्त प्रबन्ध करना पड़ता है, क्योंकि जवाहरात दुर्लभ है और इसी कारण विशेष मूल्यवान् है। कौड़ियो की रक्षा के लिए किसी को विशेष चिन्ता नही करनी पड़ती। परन्तु महावीर स्वामी कहते है—"मानव! तनिक विचार तो कर कि ये पौद्‌गलिक रत्न अधिक मूल्यवान् है अथवा समयग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप आत्मिक रत्न अधिक मूल्यवान है? दोनो प्रकार के रत्नो मे कौन अधिक दुर्लभ है? कौन अधिक हितकारी और सुखकारी है? किनसे आत्मा को निराकुलता और शान्ति प्राप्त होती है?"

पार्थिव रत्नो से क्या मनुष्य सुखी हो सकता है? वे तो चिन्ता, व्याकुलता, अतृप्ति और शोक-सन्ताप के ही कारण होते है। उनसे लेश मात्र भी आत्मा का हित नही होता। इन भौतिक रत्नो की चकाचौध से अधा होकर मनुष्य अपने स्वरूप को देखने और पहचानने मे भी असमर्थ बन जाता है। शरीर मे जब बाधा उत्पन्न होती है तो हीरा और मोती उसका निवारण नही कर सकते। उदर मे भीख की ज्वाला जलती है तो उन्हे खा कर तृप्ति प्राप्त नही की जा सकती। जब अजेय यम का आक्रमण होता है और शरीर को त्याग कर जाने की तैयारी होती है तब जवाहरात के पहाड़ भी आड़े नही आते। मौत को हीरा-मोतियो की घूस देकर प्राणो की रक्षा नही की जा सकती। परभव मे उन्हे साथ भी नही ले जाया जा सकता।

आखिर ये जवाहरात किस मर्ज की दवा है। इनकी प्राप्ति होने पर मान आदि कषायो का पोषण अवश्य होता है जिससे आत्मा अधोगति का अधिकारी बनता है।

सम्यग्दर्शन आदि भाव-रत्न आत्मा की निज सम्पत्ति है। इनसे आत्मा को हित और सुख की प्राप्ति होती है। इनकी अनुपम आभा से आत्मा दैदीप्यमान हो उठता है और उसका समस्त अज्ञानान्धकार सदा के लिए विलीन हो जाता है। ये वे रत्न हैं जो आत्मा को सदा के लिए अजर, अमर, अव्याबाध और तृप्त बना देते है। इनके सामने काल की दाल नही गलती। रोग को पास आने का योग नही मिलता। यह अक्षय सम्पत्ति है। अतीव-अतीव पुण्य के योग से इसकी प्राप्ति होती

है । इन आत्मिक रत्नो की तुलना मे हीरा पन्ना माणिक नीलम आदि पाषाण के टुकडो स अधिक कुछ भी नही है ।

तथ्य यही है फिर भी मूढ धी मनुष्य पत्थर के टुकडो को रत्न मान कर उनकी सुरक्षा के लिए रात दिन व्यग्र रहता है और असली रत्नो की सम्यग्ज्ञान दर्शन-चारित्र की उपेक्षा करता है । कितनी करुणास्पद स्थिति है नादान मानव की ।

आत्मदेव ज्ञान दर्शन और चारित्र का धन लेकर चला है तो सैकडा बार लुटा है मगर एक बार ठगा कर जो फिर धोखा नही खाता वही समझदार व्यक्ति है। भगवान् कहते है– 'ससार रूप वन मे काम क्रोध आदि लुटेरे तेरे मूल्यवान् धन दर्शन चारित्र को न लूट ल सचेत रहना । इस रत्नकवल को समाल कर रखना ताकि ससार से पार पहुँच सको । ऐसा करने स ही उभय लोक म कल्याण होगा।

---

[६१]

कर्मादान–विविध रूप

सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउ न मरिज्जिउ ।

जैसे आपको अपना जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है, उसी प्रकार ससार के सब प्राणियो को जीवन प्रिय और मरण अप्रिय है । मरना कौन चाहता है ? किन्तु बहिर्दृष्टि लोग स्वार्थ के वशीभूत होकर इस अनुभव सिद्ध सत्य को भी विस्मृत कर देते है और जो अपने लिए चाहते है, वह अन्य प्राणियो के लिए नही चाहते । वे अपने स्वल्प सुख के लिए दूसरो को दुख के दावानल मे झोक देने मे सकोच नही करते । इस विषम दृष्टि के कारण ही मनुष्य की सामाजिक और धार्मिक दोनो दृष्टियो से घोर हानि हो रही है । आज विश्व मे जो भीषण सघर्ष चल रहे है, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ टकरा रहा है, एक वर्ग दूसरे वर्ग को अपना शत्रु समझ कर व्यवहार कर रहा है, और एक-दूसरे को निगल जाने की चेष्टा कर रहा है, वह सब इसी विषम दृष्टि का परिणाम है ।

जब तक यह विषमभाव दूर न हो जाय और प्राणि मात्र के प्रति समभाव जागृत न हो जाय तब तक ससार का कोई भी वाद, चाहे वह समाजवाद हो, साम्यवाद हो, पुजीवाद हो या सर्वोदयवाद हो, जगत् का त्राण नही कर सकता शान्ति की प्रतिष्ठा नही कर सकता ।

अब तक ससार मे शान्ति स्थापना के अनेकानेक प्रयास हुए है, अनेक वाद प्रचलित हुए है, मगर उनसे समस्या सुलझी नही, उलझी भले हो । समस्या का स्थायी समाधान भारतीय धर्मो मे मिलता है और जैनधर्म उनमे प्रमुख है जो इस समस्या पर सागोपाग विश्लेषण हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है । राजनीतिक वाद आजमाए जा चुके है और असफल सिद्ध हुए है । हम विश्व के सूत्रधारो को आह्वान करना चाहते है कि एक वार धार्मिक आधार पर इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया जाय ।

न्याय नीति का तकाजा है कि जो सबल है वह निर्बल का सहायक बने, शोषणकर्त्ता नही । इसी आधार पर शान्ति टिक सकती है अन्यथा नही । जगत् में अनेक प्रकार के प्राणी है । उनमें त्रस अर्थात् जगम् भी है और स्थावर भी । भगवान् महावीर ने उन सबके प्रति मैत्री और करुणाभाव धारण करने का उपदेश दिया है। जैसे सन्तति प्रेमी पिता छोटे बडे होशियार, मन्दबुद्धि आदि सभी बच्चो को प्यार करता है उसी प्रकार विवेकशील साधक के लिए सभी जीव-जन्तु सरक्षणीय है ।

यह सत्य है कि गृहस्थ विविध प्रकार की गार्हस्थिक आवश्यकताओ से बधा हुआ है फिर भी वह सम्पूर्ण नही तो आंशिक रूप में हिंसा से विरत हो ही सकता है । निरर्थक हिंसा का त्याग कर देने पर भी उसके किसी कार्य में बाधा उपस्थित नही होती और बहुत से पाप से बचाव हो सकता है । धीरे धीरे वह पूर्ण त्याग के स्थान पर भी पहुँच सकता है । किन्तु जब तक वह स्थिति नही आती है उसे मन्जिल तय करना है । चल और अचल सभी जीवो की रक्षा का लक्ष्य उसके सामने रहना चाहिए । अपूर्ण त्याग से पूर्ण त्याग तक पहुँचना उसका ध्येय होता है। वह कौटुम्बिक व्यवहार मे भी कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक करके प्रवृत्ति करता है और अपने व्रतो के पालन का ध्यान रखता है ।

उसकी आजीविका किस प्रकार की होती है या होनी चाहिए इसका विवेचन करते हुए तीन कर्मादाना का निरूपण किया जा चुका है । इगालकम्मे वणकम्म और साडीकम्मे के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला गया है खरकर्म होने के कारण श्रावक के लिए ये निषिद्ध है ।

(४) भाडीकम्मे (भाटी कर्म)-यह चौथा कर्मादान है । बैल, हाथी ऊट घोडा गधा खच्चर आदि जानवरो के द्वारा भाडा कमाना या आजीविका निवाह के लिए इन्हे भाडे पर चलाना भाडीकम्मे कर्मादान कहलाता है । जब इन पशुओ के द्वारा भाडा कमाने का लक्ष्य होता है तो इनके सरक्षण और सुख सुविधा की बात गौण हो जाती है । भाडे का लोभी स्टेशन से बस्ती तक चलने वाले तांगे घोडे को दूर दूर ग्रामो तक ले जाने को तैयार हो जाता है और शीघ्र से शीघ्र मंजिल तय करने के लिए उसे कोडो से पीटता और भागने की शक्ति न होने पर भी भागने को बाध्य करता है । जिसके पैर जवाब दे चुके हो जिसको अपने शरीर का भार वहन करना भी कठिन हो रहा हो, जो चलतेचलते हाफ गया हो, ऐसे जानवर पर भार लाद कर जब मार मार कर चलाया और दौडाया जाता है तब उसको कितनी व्यथा होती होगी ? ऐसा व्यवहार अत्यन्त क्रूरतापूर्ण है किन्तु भाडे की आजीविका करने वाला शायद ही इससे बच सकता है । आते हुए पैसे का ठोकर मार कर जानवर की सुख सुविधा का विचार करने वाले विरले ही मिलेंगे । सामान्य

व्यक्ति, जिसने सम्यग्दृष्टि प्राप्त नही की है, ऐसा कार्य करे तो समझ मे आ सकता है, क्योकि उसमे करुणाभाव का अभाव होता है मगर सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसा नही करेगा । अगर करता है तो उसका व्रत सुरक्षित नही रह सकता । अतएव व्रती श्रावक को भाडे की इस प्रकार की आजीविका नहीं करनी चाहिए ।

जीवन-निर्वाह के लिए बड़े पाप करने की क्या आवश्यकता है ? जिसने परिग्रह का परिमाण कर लिया है, और अपनी आवश्यकताओ को सीमित कर लिया है, वह अल्पारभ से ही अपना काम चला सकता है । उसके जीवन-व्यवहार के लिए घोर पाप की आवश्यकता ही नही होती ।

आज बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी आदि की सख्या कम हो गई है । यत्रो द्वारा चलने वाली गाडियो ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया है । कुछ लोगो की ऐसी दृष्टि है कि मोटर मे चलने से पाप नही होता । तांगे की अपेक्षा मोटर की सवारी को लोग अच्छा समझते है। उसमे धन की और समय की बचत समझते है । शान भी उसमे मानते है। मोटर मे बैठ कर बाजार से निकलने वाला व्यक्ति पैदल चलने वालो को अवज्ञा भरी दृष्टि से देखता है और अपने को उनसे ऊचा समझता है । इससे उसके मान रूपी कषाय को पुष्टि मिलती है। वह अहकार मे चूर हो जाता है ।

महावीर स्वामी के भक्त प्रत्येक कार्य के औचित्य-अनौचित्य को हिसा-अहिसा की तुला पर तौलते है । उनकी कसौटी सर्वसाधारण की कसौटी से भिन्न प्रकार की होती है । पुराने लोग छह माह की राह के बदले वर्ष भर की राह चलने को कहते थे, क्योंकि उनका लक्ष्य पशुओ की हिसा से बचने का रहता था । समय और शक्ति भले अधिक लग जाय किन्तु धार्मिक दृष्टि से हिंसा से बचाव हो, यह उनका आधारभूत विचार होता था ।

व्रती साधक न स्वयं हिसा करता है और न ऐसा कोई कार्य करता है जिससे परोक्ष रूप मे हिसा को प्रोत्साहन मिलता हो । बहुत-से लोग आज ऐसे मिलेंगे जो स्वय बड़े-बड़े यंत्रो को भले न चलाते हो किन्तु उन यत्रों वाले कारखानो मे निर्मित वस्तुओं का उपयोग करते है । यह उन कारखानों को प्रोत्साहन देना है । आज हिसा-अहिसा का विचार नही किया जाता सिर्फ सस्तापन और सौन्दर्य देखा जाता है । शीघ्रता और सुविधा का ही विचार किया जाता है । परिणाम यह हुआ है कि बैलो और घोड़ो को कोई नही पूछता । उनकी संख्या कम होती जा रही है और मोटरो की सख्या बढ़ रही है । मोटर जल्दी दौड़ती है और दौड़ती-दौड़ती थकती नही है। इससे जानवरो की उपयोगिता कम हो गई है और जब किसी वस्तु की उपयोगिता कम हो जाती है तो उसकी रक्षा की ओर ध्यान नही दिया जाता। लाभ

की आशा कम होने से भैस के पाडे पर उतना ध्यान नही दिया जाता जितना पाडी पर दिया जाता है। पाडे को बोझ समझ कर लोग उससे पिण्ड छुडा लेते है ।

रेल और मोटर का उपयोग करने मे हिसा कम दीखती है परन्तु क्या यह बैलो और घोडा आदि पर दया है ? दीखने म ऐसा लगता है कि हिसा नही है किन्तु इन यान्त्रिक सवारियो से कितने मनुष्य पशु, कुत्ते पक्षी आदि मरते है इस बात का विचार करने वाले कितने है ? जिस सवारी मे जानवर जोता जाता है उससे हिसा की सभावना बहुत कम रहती है । विषम परिस्थिति म अथवा किसी दूसर जानवर के सामने आ जाने पर जुता हुआ जानवर अपनी गति धीमी कर लेता है और दुर्घटना को या हिसा को बचा लेता है । यह बात वेग के साथ दौडने वाली गाडियो मे कैस सभव हो सकती है ? ये वेगवान् गति वाली गाडिया महारम्भ और महाहिसा की जननी है । व्रती श्रावक सदैव अपने विवेक की तराजू पर तालेगा कि किस कार्य से महारभ होता है और कौनसा कार्य अल्प आरभ वाला है ? वह महारभ के कार्य को कदापि नही करेगा । भाडीकम्मे घोर हिसा का कारण होने से महारभ है और इसी कारण श्रावक इसे नही अपनाता ।

(५) फोडीकम्मे (स्फोट कर्म)–इसका अर्थ है भूमि को फोडना । वैज्ञानिक साधनो द्वारा सुरग आदि लगा कर भूमि का भारी भाग फोड दिया जाता है। कुदाली फावडा आदि से जमीन फोडने से भी त्रस-स्थावर जीवो की हिसा होती है । पडती जमीन मे जीव-जन्तु निर्भय होकर आश्रय लेते है ? उसी प्रकार जैसे कमरे मे सफाई न हो तो कीडे मकोडे दीमक आदि अपना अड्डा जमा लेते है । ऐसे स्थाना को सुरक्षित भय वर्जित तथा मनुष्या के सचार से रहित समझ कर वे वहा आवास करने लगते है । दरारो मे जमीन के नीचे पत्थरो की आड म हजारो जीव-जन्तु शरण लिए रहते है । ऐसी स्थिति मे सुरग लगाने वाले कहा तक जीव-जन्तुओ की रक्षा कर सकेंगे । जहा भूमि फोडी गई और मिटटी डाली गई, दोनो स्थानो के जीवो की रक्षा सभव नही है । अतएव भूमि को फोडने का धधा करना विशेष हिसा कारक होने से कर्मादान मे गिना गया है ।

व्यापार धधे म सामाजिक दृष्टिकोण को भी प्राचीन काल मे महत्व दिया जाता था । यहा भी उस दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है । प्राचीन समाजिक व्यवस्था म अमुक-अमुक वर्गो मे अमुक-अमुक धधा का बटवारा किया गया था । इस बटवारे के कई लाभ थे । प्रथम तो जिस वर्ग का जो धधा हो उस वही वर्ग कर तो बेकारी की समावना कम रहती है । एक वर्ग के लोगा का काम दूसरे वर्ग के लोग हथिया ल तो पहले वर्ग म बेकारी फैलती है । स्मृतिया म इस दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है ।

इस व्यवस्था का दूसरा लाभ है वर्ग सघर्ष न होना । ब्राह्मण अध्यापन कार्य करे, अन्य आजीविका न करे, व्यापार-वाणिज्य मे हाथ न डाले तो पारस्परिक सघर्ष नही होगा ।

सभी वर्ग अपना-अपना पैत्रिक धधा करे तो समाज मे शान्ति बनी रहती है और उनके पारस्परिक व्यवहार मे मधुरता रहती है । श्रीमन्त वैश्य, खान खोदने का भी काम अपने हाथ मे ले ले तो खान खोदने का धधा करने वाले वर्ग के साथ उनका सम्बन्ध मधुर नही रह सकता ।

तीसरा लाभ यह है कि पितृ परम्परा से चले आए धधे को अपनाने से धधे सम्बन्धी कौशल की वृद्धि होती है । लुहार का लड़का बचपन से ही अपने घर के धधे को देखता-देखता और अभ्यास करता-करता उसमे विशेष कुशल बन जाता है । वणिक् पुत्र अगर उस धधे को अपना ले तो उतना निष्णात् नही हो सकता ।

अल्प भोगी श्रावक बिना कटुता के महावीर के मार्ग पर चल कर इहलोक-परलोक सम्बन्धी लाभ प्राप्त कर सकता है । किन्तु जो तृष्णा और लोभ की अधिकता से ग्रस्त है और अर्थ को अनर्थ न समझ कर उसी को एकमात्र परमार्थ मानता है वह वीतराग के उपदेश पर किस प्रकार चल सकता है ?

प्रजापति लम्बकर्ण (गधा) पर भाड या अन्न लाद कर ले जा रहा हो और लम्बकर्ण को कही रास्ते मे श्मशान की राख दीख जाय तो वह प्रजापति की हानि की चिन्ता नही करके एक बार उसमे लोट कर खेल कर ही देगा ।

अरे उस गधे को क्या हसते हो, अपने को हसो जो वीतराग के उपासक और वीतरागवाणी के भक्त कहलाते हुए भी विषय-कषाय की राख मे लोट लगा रहे हो ।

उत्तम जाति का अश्व कदापि ऐसा नही करता । जो मानव मखमल के गद्दे रूपी स्वरूप-शय्या मे रमण न करके विषय-कषाय की राख मे लोटता है, वह महिमा का पात्र नही होता, प्रशसनीय नही गिना जाता । मोहान्ध मानव मोह की तीव्रता के कारण अश्व का भाव भुला कर लम्बकर्ण (गर्दभ) के भाव मे आ जाता है । ऐसा मोहान्ध पुरुष सम्यग्ज्ञान के प्रकाश (सर्चलाइट) से या सत्सगति से ही सुधर सकता है ।

आत्मानन्द रूपी लोकोत्तर सुधारस का पान करने वाले सिहगुफावासी मुनि ने लोकैषणा के चक्कर मे पड़ कर अपनी महान् साधना को बर्बाद कर दिया । वे कम्बल लेकर और पाटलीपुत्र पहुँच कर अपनी सफलता पर प्रसन्न हो रहे है । जातीय स्वभाव के कारण गधा राख मे लोट-पोट होता है । विषय की ओर हीन प्रवृत्ति

प्रवृत्ति होने स मानव की भी ऐसी ही स्थिति हा जाती है । वह भी अपन पतन म आनन्द मानता है ।

पाटलीपुत्र म मुनि की प्रतीक्षा की जा रही थी । जब वे नगर म पहुँच ता रूपकोषा ने प्रश्न किया–' रत्नकम्बल कहा है ?

मुनि ने बास की लाठी म से रत्नकबल निकाला जैसे म्यान म स तलवार निकाली जाती है ।

रूपकोषा ने मन ही मन विचार किया– 'मुनि है शूरवीर सिर्फ मोड की आवश्यकता है । जिस मनुष्य मे अपन ध्येय को पूरा करने की लगन हाती है साहस होता है, उसका मोड बदल दना ही पर्याप्त है । उसक पीछे लकडी लेकर हर समय चलने की आवश्यकता नही होती । लगन वाले व्यक्ति का अगर अच्छ मार्ग पर लगा दिया जाए तो वह अवश्य ही सराहनीय सफलता प्राप्त कर लेता है । इसके विपरीत जिसमे लगन का सर्वथा अभाव है जो कर्तृत्वशक्ति से हीन हा वह साधना क मार्ग को पार नही कर सकता। उसे किसी भी महान् कार्य मे सफलता नही मिलती।

धर्ममार्ग, अध्यात्ममार्ग या साधनामार्ग मे अकर्मण्य व्यक्ति आ जाय ता क्या करेगा ? पकड मजबूत हो और चलन अच्छा हो तो मनुष्य सब कुछ कर सकता है।

तथ्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य म शक्ति का अक्षय भडार भरा है और वह शक्ति छलक छलक कर बाहर आकर प्रकट होती है । किन्तु मनुष्य क जैसे सस्कार होते है जैसे विचार होते है उसी प्रकार के कार्यो म वह शक्ति लगती है। कुसस्कारो और मलिन विचारो वाले मनुष्य की शक्ति गलत कामो म खर्च होती है। वही व्यक्ति जब सन्मार्ग पर आ जाता है उसके विचार विशुद्ध हा जाते है ता सही काम म उसकी शक्ति का सदुपयोग हाने लगता है । भगवान् महावीर ने फरमाया है–

जे कम्मे सूरा
त धम्मे सूरा ।

जो कर्म करने म शूरवीर हाते है व धर्म करने मे भी शूरवीर हाते है ।

जिसम साहस नही पुरुषार्थ नही लगन और स्फूर्ति नही और कष्टो स जूझ कर आग से खेल कर प्राणो को हथेली म लेकर अपने अभीष्ट को प्राप्त करने की क्षमता नही, जो बुझा हुआ है वह किसी भी क्षेत्र म उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नही कर सकता । जिस तलवार की धार तीखी है वह अपना काम करेगी ही चाहे उसे आक्रमण किया जाय अथवा आत्मरक्षा की जाय । इसी प्रकार जो पुरुष

वीर है वह कर्म के मार्ग मे अवतीर्ण होगा तो वहा महान् कर्म करेगा और धर्म के मार्ग मे आएगा तो वहा भी उल्लेखनीय कार्य किये बिना नही रहेगा ।

रूपकोषा ने समझ लिया कि मुनि मे लगन है, साहस है, पराक्रमशीलता है, जीवट है । इन्हे सिर्फ सही दिशा मे मोड़ने की आवश्यकता है । जिस समय इनकी प्रवृत्ति सही मार्ग पर हो जाएगी, उसी समय ये साधना में भी कमाल कर दिखलाएगे।

रूपकोषा ने मुनि को ठीक रास्ते पर लाने की योजना गढ़ ली परन्तु मुख से कुछ नही कहा । उसने कम्बल देख कर उसकी अत्यन्त सराहना की । मुनि अपने को कृतार्थ समझने लगे और अपनी सफलता पर गर्व अनुभव करने लगे ।

रूपकोषा स्नानागार मे जाकर जब स्नान करके लौटी तो रत्नकम्बल को उठा कर उससे अपने पैर पोंछने लगी । यह देख कर मुनि के विस्मय की सीमा नहीं रही । और फिर उसने पैर पोछ कर उसे एक कोने मे फेंक दिया । कम्बल की इस दुर्गति को देख कर तपस्वी के भीतर का नाग (क्रोध) जग उठा । उसे रूपकोषा का यह व्यवहार अत्यन्त ही अयोग्य प्रतीत हुआ । कम्बल के साथ मुनि की आत्मीयता इतनी गहरी हो गई थी कि कम्बल का यह अपमान उन्हे अपना ही घोर अपमान प्रतीत हुआ ।

मुनि सोचने लगे–'मै समझता था कि रूपकोषा बुद्धिमती तथा चतुर है । वह व्यवहारकुशल है । किन्तु ऐसा समझ कर मैंने भयानक भूल की है । अरे ! यह तो फूहड़ है, विवेक विहीन है, असभ्य हे ।' जब उनसे न रहा गया तो बोले–"क्या तुमने नशा किया है या तुम्हारा सिर फिर गया है ! यह टाट का टुकड़ा है या रत्नजटित कम्बल ? क्या समझा है इसे तुमने ? जिस कम्बल को प्राप्त करने के लिए मैने लम्बा प्रवास किया, जगलो की खाक छानी, अनेक सकट सहे और नेपाल नरेश के सामने जाकर दो बार हाथ फैलाये, जिसके लिए मैने अपना सर्वस्व निछावर कर दिया, उस कम्बल की तुम्हारे द्वारा ऐसी दुर्गति की गई ? यह कम्बल का नही मेरा अपमान है, मेरी सद्भावना को ठोकर लगाना है! कृतज्ञता के बदले ऐसी कृतघ्नता!"

रूपकोषा ने समझ लिया कि मुनि के कायाकल्प का यही उपयुक्त अवसर है।

आगे का वृत्तान्त यथावसर सुनाया जायगा । परन्तु जिनवाणी के अनुसार हमे भी अपना कायाकल्प करना है । जो भव्यजन जिनवाणी का अनुसरण करके अपना जीवनकल्प करेंगे, और जिनवाणी के अनुकूल व्यवहार बनाएगे वही उभयलोक मे कल्याण के भागी होंगे ।

---

[६२]

कर्मादान के भेद

आचारांग सूत्र मे अन्यान्य जीवों की रक्षा के समान तेजस्काय के जीवों की भी रक्षा का विधान किया गया है। तेजस्काय के जीवों की मान्यता जैन दर्शन की असाधारण मान्यता है। वनस्पतिकाय की सजीवता का तो औरों को भी आभास मिला था मगर उन्हें तेजस्काय के जीवों का पता नहीं चला। तेजस्काय के जीवों का परिज्ञान दिव्य दृष्टि सम्पन्न जैन महर्षियों को ही हुआ।

तेजस्काय के जीव एकेन्द्रिय होने पर भी वायुकाय के समान सचरणशील है। अतएव स्थावर होने पर भी उनकी गणना गति की अपेक्षा से त्रस जीवों में की गई है।

अध्यात्ममार्ग का साधक अहिंसा के पथ पर चलता है तथा भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनों से बचता रहता है। अध्यात्ममार्ग के साधक दो प्रकार के होते है– अनगार और गृहस्थ। जहां तक त्रस जीवों की हिंसा के त्याग का प्रश्न है दोनों उसके त्यागी होते है अलबत्ता गृहस्थ उसमें कुछ अपवाद रखता है। वह संकल्पी हिंसा का ही त्याग करता है आरंभी हिंसा का त्याग नहीं कर पाता जबकि गृहत्यागी मुनि दोनों प्रकार की हिंसा के तीन करण और तीन योग से त्यागी होते है। यद्यपि गृहस्थ श्रावक भी सब प्रकार की हिंसा को त्याज्य मानता है और उससे यथासंभव बचने का प्रयत्न भी करता है मगर लाचारी के कारण वह सम्पूर्ण त्याग नहीं सकता। लापरवाही उपेक्षा या प्रमाद के कारण वह त्याग न करता हो, ऐसा बात नहीं है। श्रावक का लक्ष्य अपनी समस्त वृत्तियों पर अंकुश रखने का ही होता है।

अपनी वृत्तियों को नियन्त्रित करने के लिए श्रावक भोगोपभोग के समस्त साधनों की भी एक सीमा निर्धारित कर लेता है। अभी इसी व्रत का विवेचन चल रहा है। इसी विवेचन के प्रकरण में कर्मादानों का उल्लेख किया गया है और आठ वन्न तथा फोडीकम्म के सम्बन्ध में कथन किया जा चुका है। इन दोनों से स्पष्ट

जीवो के साथ त्रस जीवो का भी प्रचुरता के साथ घात होता है । कुआँ, खदान आदि खोदने मे अनेकानेक जन्तुओ का विघात हो जाता हे । हल, कुदाल आदि से साधारण जन्तु यो ही धक्का लगने से मर जाते है । कभी-कभी बड़े जीव भी चपेट मे आ जाते है । अतएव भूमि को फोड़ने का धधा करना श्रावकोचित कार्य नही है। वह व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनो दृष्टियो से अप्रशस्त माना जाता है।

कुछ आचार्यो ने स्फोट कर्म की व्याख्या करते हुए बारीक कदम उठाया है और चना आदि से दाल बनाना भी इसमे शामिल कर दिया है । इस व्यवस्था के अनुसार इसका क्षेत्र व्यापक हो जाता है । किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कर्मादानो के त्याग का सम्बन्ध गृहस्थ श्रावको के साथ है । इसके अतिरिक्त कर्मादान वही होता है जिसमे महान् आरभ होता हो । अगर दाल बनाना भी कर्मादान में परिगणित कर लिया जाय तो इसी कोटि के अन्यान्य कार्यो को भी कर्मादान गिनना होगा और ऐसी स्थिति मे गृहस्थी के अनेक अनिवार्य दैनिक कार्य भी महारभी-कर्मादान मान्य करने पड़ेंगे । व्रत न पालन करने का एक कारण भय की भावना हे । लोग व्रतो को अगीकार करने से डरते है । सोचते है न जाने इस व्रत का पालन हो सकेगा या नही ? व्रत धारण न करने की अवस्था मे मनुष्य उन्मुक्त रहता है, व्रत ग्रहण करते ही बन्धन मे आना पड़ता हैं । इसी भय से कई लोग व्रत अगीकार करने से बचना चाहते है । ऐसी स्थिति मे गृहस्थी के सामान्य कार्यो को भी अगर श्रावक के लिए कर्मादान कह कर त्याज्य ठहरा दिया जाय तो ठीक नही होगा । शास्त्र मे वर्णन आता है कि सकडाल पुत्र के ५०० बरतनो की दुकाने थी वह कुम्हार का काम करते हुए भी श्रावक था । ढक नामक एक प्रजापति (कुम्हार) भी अच्छा श्रावक हो गया है, जिसने सुदर्शना साध्वी की श्रद्धा शुद्ध की । वह मिट्टी के बरतनो की दुकान करता था और उन्हे पकाता भी था ।

सुदर्शना एक प्रमुख साध्वी थी । जब जमालि सिद्धान्त विरुद्ध प्ररूपण और श्रद्धा के कारण भगवान् महावीर के साधुसघ से पृथक् होने लगे तो सुदर्शना ने भी जमालि का अनुसरण किया । उनका कथन यह था कि कोई भी कार्य जब तक 'किया जा रहा है' तब तक उसे 'किया' नही कहा जा सकता । जब कार्य 'किया जा चुके' तभी उसे 'किया' कहना चाहिए । 'क्रियमाण' को 'कृत' कहना मिथ्या है ।

भगवान् महावीर के मतानुसार क्रियमाण कार्य को भी कदाचित् कृत कहा जा सकता है । बात यह है कि हम स्थूल दृष्टि से जिसे एक कार्य कहते है, वास्तव मे वह अनेकानेक छोटे-छोटे कार्यों का समूह होता है । उदाहरणार्थ जुलाहा वस्त्र बनाता है तो हम वस्त्र बनाने को एक कार्य समझते है, परन्तु वह एक ही कार्य नही

है । ताना-बाना बनाना फिर उसमें एक-एक तार (डोरा) डालते रहना आदि सब मिल कर अनेक क्रियाओं से एक कार्य की निष्पत्ति होती है । जुलाहे ने जब एक तार डाला तब वस्त्र को यदि नहीं बना कहा जाय तो दूसरा, तीसरा और चौथा तार डालने पर भी नहीं बना ही कहा जाएगा । इसी प्रकार अन्तिम तार डालने पर भी उसे बना हुआ नहीं कह सकते । जैसा पहला तार वैसा ही अन्तिम तार है । पहला तार एक होता है तो अन्तिम तार भी एक ही होता है । अगर एक तार से वस्त्र बना हुआ नहीं कहलाता तो अन्त में भी बना हुआ नहीं कहा जा सकेगा । अतएव यही मानना उचित है कि जब वस्त्र बन रहा है तो डाले हुए तारों की अपेक्षा उसे बना हुआ कहा जा सकता है ।

मगर जमालि की समझ में यह बात नहीं आई । सुदर्शना साध्वी भी उसके चक्कर में आ गई । सुदर्शना की साथिनी अन्य कई साध्वियों ने भी उसका साथ दिया ।

देखा जाता है कि कभी-कभी बड़ी शक्तियाँ जिस कार्य में असफल सिद्ध हो जाती हैं, छोटी शक्ति उसे सम्पन्न करने में सफल हो जाती है ।

मध्यान्ह का समय था । कुम्भकार ढंक घड़े पर थप्पियाँ लगा रहा था । कुछ दूरी पर बैठी साध्वियाँ स्वाध्याय कर रही थीं । ढंक को पता चल गया कि ये साध्वियाँ भगवान् महावीर के वचनों पर विश्वास नहीं करतीं और जमालि के मत को मानती हैं । उसने सोचा–"संघ में अनैक्य होने से शासन को धक्का लगता है । तीर्थंकर का शासन संघ के सहारे ही चलता है और शासन चलता है तो अनेक भव्य जीव उसका आश्रय लेकर अपना आत्मकल्याण करते हैं । अतएव शासन की उन्नति के लिए संघ को समर्थ होना चाहिए । संघ की अनेकता को मिटाने का प्रयास करना प्रत्येक शासनभक्त का प्रथम कर्तव्य है । इसके अतिरिक्त ये साध्वियाँ मिथ्यात्व के चक्कर में पड़ी हैं । अतः इनका उद्धार करना भी महान् लाभ है ।

इस प्रकार की प्रशस्त भावना कुम्भकार के हृदय में उत्पन्न हुई । भावना ने प्रज्ञा पैदा की और प्रेरणा ने युक्ति सुझाई । हृदय का धन उसके पास था । तर्कधन उसे प्राप्त नहीं था । तर्क के लिए उर्वर मस्तिष्क चाहिए । मगर तर्कधन भी अपना भावना का धन प्रधान होता है ।

कुम्भकार ने साध्वी की एक चादर के छोर पर आग की एक चिनगारी डाल दी । चिनगारी ने अपना कार्य आरम्भ किया । वह चादर को जलाने लगी । चादर का एक कोना जल गया । साध्वी ने चादर जलती देखकर कुम्भकार से कहा 'देवानुप्रिय ! तूने यह चादर जला दी ।'

कुम्भकार को अपनी बात कहने का मौका मिला । उसने कहा–"बड़े विस्मय की बात है कि आप क्रियमाण कार्य को कृत कहना मिथ्या समझती है और जलते हुए चादर के एक छोर को 'चादर जला दिया' कहती है । आपके मन्तव्य के अनुसार तो चादर जली नही है । फिर आप मिथ्या भाषण कैसे करती है ?"

साध्विया समझ गईं । इस युक्ति से उन्हे अपने भ्रम का पता चल गया ।

सुदर्शना ने कहा–"भव्य ! हम आपके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ है । आपने हमारी मिथ्या धारणा मे सशोधन कर दिया है । अब तक हमने असत्य की श्रद्धा और प्ररूपणा की है, उसके लिए प्रायश्चित लेना होगा । भगवान् के श्रीचरणो मे जाकर क्षमायाचना करनी होगी ।"

आत्म-शुद्धि के लिए सरलता की अत्यन्त आवश्यकता है । जिस साधक का हृदय सरल है, वह कदाचित् उन्मार्ग पर भी चला जाय तो शीघ्र सन्मार्ग पर आ सकता है । इसके विपरीत वक्र हृदय साधक शीघ्र समझता नही और कदाचित् समझ जाय तो भी अपने को न समझा हुआ प्रकट करता है । उसके हृदय मे कपट होता है, जिसके कारण उसकी बाह्य क्रियाएं सफल नही हो पाती । भगवान् कहते हैं–

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ।

जिसके अन्त.करण मे ऋजुता है, उसीका हृदय पवित्र है और जिसका हृदय पवित्र होता है वही वास्तव मे धर्मात्मा है। साध्वी सुदर्शना के हृदय में सरलता थी । हजार साध्विया उसके नेतृत्व मे थी । वह विदुषी और कार्यशीला थी । उसने गुरु के निकट जाकर निवेदन किया–"हमारी विचार-सरणी अशुद्ध थी । अब हमें अपनी मिथ्या धारणा का परिज्ञान हुआ है । हम आपके चरणों में नमस्कार करती है । समुचित प्रायश्चित देकर हमारी आत्मा की शुद्धि कीजिए ।"

इस प्रकार एक सामान्य व्रती श्रावक, साध्वी समूह के लिए प्रेरणास्रोत बन गया । उसमे तर्कबल नहीं था । तर्क करने से जय-पराजय की भावना का उदय हो सकता है और सत्य तत्व के निर्णय मे कई बार वह बाधक बन जाता है । श्रावक ने युक्तिबल से काम लिया और अहंकार को आड़े नही आने दिया, अतएव सफलता शीघ्र मिल गई । किसी कवि ने ठीक कहा है–

'फिलसफी की बहस के अन्दर खुदा मिलता नहीं ।
डोर को सुलझा रहा हूं, और सिरा मिलता नहीं ।'

उच्चकुल जाति या भौतिक वैभव काम नही आएगा । पवित्र हृदय से की गई करणी ही काम आएगी और करणी के अनुसार ही सुगति मिलेगी । धर्म क्रिया करने स व्यावहारिक जीवन मे कुछ गवाना नही पडता, बल्कि वह भी अत्यन्त सुख-शान्तिदायक बन जाता है । व्रतो की सीमाए इस प्रकार निर्धारित की गई है कि प्रत्येक वर्ग अपने जीवन व्यवहार को भलीभांति निभाता हुआ भी उनका पालन कर सकता है और अपनी आत्मा को कर्म के बोझ से हल्का बना सकता है । जो समस्त सासारिक व्यवहारो से मुक्त होकर पूर्ण रूप से व्रतो का पालन करना चाहता है वह अपनी आत्मा का कल्याण शीघ्र कर सकेगा । किन्तु जो इतना करने म समर्थ नही है वह भी एक सीमा बाँध कर व्रती बन सकता है ।

प्रजापति ढक यद्यपि कुभकार की आजीविका करता था तथापि वह सन्तोषी था । उसने अपने भोगोपभोग की मर्यादा कर ली थी और इच्छाओ को सीमित कर लिया था ।

त्रिकालवेत्ता मुनि होने के कारण भगवान् महावीर स्वामी के सामने सभी बाते हस्तामलकवत् हो इसमे आश्चर्य की बात नही है । जमीन फोडने के साथ दिल फोडने का काम भी उनकी दृष्टि से ओझल नही था । बहुत से काम ऐसे होते है जिनमे ऊपरी दृष्टि से महारभ नही दिखाई देता बल्कि विशेष आरभ भी मालूम नही होता तथापि उन्हे यदि सजगता एव निर्लोभ भाव से नही किया जाय तो वह महारभ का रूप ले लेते है । उदाहरण के लिए वकालत के धधे को ही लीजिए । इस धन्धे मे विशेष आरम्भ समारम्भ नहीं मालूम होता । शुद्ध न्याय की प्राप्ति कराने मे सहायता देना वकील का कार्य है । किन्तु यदि कोई वकील सत्य-असत्य की परवाह न करके केवल आर्थिक लाभ के लिए असत्य को सत्य और सत्य को असत्य सिद्ध करता है और जान-बूझ कर निरपराध को दण्डित कराता है तो वह अपने धन्धे का दुरुपयोग करके महान् आरम्भ का, पाप का कार्य करता है। यह दिल फोडने वाला कार्य है।

इसी प्रकार जुआ खेलने म भी प्रत्यक्ष आरम्भ दिखाई न देने पर भी घोर आरम्भ समझना चाहिए । द्यूत सात कुव्यसनो म गिना गया है । यह श्रावक के योग्य कार्य नही है ।

इस अपेक्षा से हल और कुदाली चलाने वाला छोटी हिसा करता है-बाह्य हिसा करता है । किन्तु वचना द्वारा हृदय फोडने वाला दो-चार की नहीं हजारो की हिसा भी कर सकता है । अतः हर कार्य म विवेक की आवश्यकता है । सच्चा व्रती साधक वह है जो हाथो पैरो के साथ अपनी वाणी और इन्द्रियो को भी वश म रखता

रखता है । ऐसा साधक ही अहिसा सत्य आदि का निर्वाह करके आदर्श-जीवन व्यतीत कर सकेगा ।

साधक के लिए आवश्यक है कि वह जीवन के आन्तरिक रूप (विचार) और बाह्य रूप (आचार—व्यवहार) को एक-सा सयममय बनाए रखे । जैसी उत्तमता वह बाहरी व्यवहार मे दिखलाता है वैसी ही उसके अन्तकरण मे होनी चाहिए। बड़े से बड़ा प्रलोभन होने पर भी उसे फिसलना नही चाहिए ।

जो मनुष्य भोगोपभोग मे सयम नही रखता वह प्रलोभनो का सामना नही कर सकता । प्रलोभन उसे डिगा देते है और कर्तव्य से च्युत कर देते है । उसकी साधना विफल हो जाती है । भगवान् महावीर ने ऐसी सुन्दर आचार-नीति का उपदेश दिया है कि जिससे जीवन के लिए आवश्यक कोई कार्य भी न रुके और आत्मा बन्ध से लिप्त भी न हो ।

दूसरो का सफाया कर दो, सर्वस्व लूट लो, इत्यादि विचार दूसरो ने लोगों के समक्ष रखे और भय एव हिसा के आश्रय से पापो को मिटाने का प्रयत्न किया किन्तु महावीर स्वामी ने कहा—यह गलत तरीका है । हिसा से हिसा नही मिटाई जा सकती, पाप के द्वारा पाप का उन्मूलन नही हो सकता । रक्त से रंजित वस्त्र को रक्त से धोकर स्वच्छ नही किया जा सकता । जिस बुराई को मिटाना चाहते हो उसी का आश्रय लेते हो, यह तो उस बुराई को मिटाना नही है बल्कि उसकी परम्परा को चालू रखना है । हिसा, परिग्रह, भ्रष्टाचार और बेईमानी को मिटाना चाहते हो और उन्ही का सहारा पकड़ते हो, यह उलटी बात है ।

श्रीमन्तो को गोली मार दो और उनका धन लूट लो, क्योंकि ऐसा करने से गरीबो की गरीबी मिट जाएगी और मुनाफाखोरो का अन्त हो जाएगा । यह साम्यवादियो की धारणा है और यही साम्यवाद का मूल आधार है । वे लोग वर्ग-सघर्ष को उत्तेजना देकर अशान्ति उत्पन्न करने मे विश्वास करते है । मगर क्या ये तरीके सही है ? अशान्ति के द्वारा शान्ति स्थापित नही की जा सकती । चिन्तन करने पर ये तरीके सही नही मालूम होंगे । एक से छीन कर दूसरे को देने से क्या मुनाफा कमाने की वृत्ति का अन्त आ जाएगा ? ऐसा करने से वेर-विरोध मिट जाएगा ? नही, इससे तो एक के बदले दूसरी बुराई पैदा होती रहेगी और बुराइयो का तांता लग जाएगा ।

समाज में जो आर्थिक विषमता है, उसे मिटाने के लिए ऊपर से थोपा हुआ कोई भी हल कामयाब नही हो सकता। न तो लूटपाट के द्वारा उसे दूर किया जा सकता है और न कानून की सहायता से ही। आज शासन की ओर से

मुनाफाखोरी के उन्मूलन के लिए अनगिनत कानून बनाये जा रहे है और अध्यादेश पर अध्यादेश जारी किये जा रहे है। मगर ऐसा करने का परिणाम क्या आ रहा है? कानूनो की वृद्धि के साथ अप्रामाणिकता की वृद्धि हो रही है भ्रष्टाचार बढता जाता है लोग कानून से बचने क लिए बेईमानी का नया तरीका खोज लेते है। ऊपर से कोई चीज लादने का इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा फल निकल भी नही सकता।

भगवान् महावीर ने मानव मन की गहराई की थाह ली थी । उनकी दूरदर्शिता असाधारण थी । ढाई हजार वर्ष पूर्व सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के उत्थान की जो विधि उन्होंने बतलाई थी वही आज भी उपयोगी हो सकती है और कहना तो यह चाहिए कि उसके अतिरिक्त दूसरी कोई विधि सभव नही हो सकती । उनके द्वारा जिन नैतिक सिद्धान्ता का प्रतिपादन किया गया है वे चिर पुरातन होने पर भी सदा नूतन रहेंगे । वे देश और काल की परिधि मे बंधे हुए नही है । शाश्वत सत्य के रूप मे वे आज भी हमारे लिए प्रेरणा के प्रबल स्रोत है ।

हिसा और असत्य आदि के निवारण के लिए भगवान् महावीर ने जहा एक-एक व्रत का विधान किया वहाँ आर्थिक बुराई से बचने के लिए एक नही तीन व्रतो का प्रतिपादन किया है । परिग्रह परिमाण भोगोपभोग परिमाण और अनर्थदण्ड त्याग, ये तीन गृहस्थ के व्रत एक दूसरे के पूरक और सहायक है । गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी इच्छाओ के अनन्त प्रसार को रोक दे और उन्हे सीमित कर ले । ऐसा करने के लिए उसे भोग और उपभोग की सामग्री की मर्यादा करनी होगी । इसक बिना इच्छाए सीमा मे नही रहेगी । इन दोना व्रतो के यथावत् पालन के लिए *निरर्थक वस्तुओ के सग्रह से और निरर्थक पापो से बचना भी आवश्यक होगा ।*

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित इन व्रतो का आश्रय लिया जाय तो विश्व की अधिकाश समस्याए बडे सुन्दर ढग से और स्थायी रूप से सुलझ सकती है । इस विधान मे ऊपर से कोई चीज थोपी नही जाती वरन् हृदय मे परिवर्तन किया जाता है। अतएव यह विधान ठोस और स्थायी है ।

भगवान् महावीर के तत्त्वज्ञान का प्रधान साध्य समभाव है । समभाव की साधना पर उन्होंने बहुत बल दिया है । इस साधना की विशेषता यह है कि इसस व्यक्तिगत जीवन अत्यन्त उच्च उदार, शान्त और सात्विक बनता है । साथ ही समाज मे समता और शान्ति आती है । व्यक्तियो का समूह ही समाज है और व्यक्तिया के जीवन मे *जब सुधार हा जाता है तो समाज स्वय सुधर जाता है ।*

जीवन को उन्नत बनाने के लिए दुर्वृत्तिया पर अकुश होना आवश्यक है । साथ ही प्रत्येक को दूसरे का जीवन बनाने म निमित्त [illegible] हिए । जीवन मे

अनिष्ट और कटु प्रसग आते है और आते रहेंगे, ये 'पर' घर के निमित्त है, इनमे बहना नही चाहिए । ऐसे अवसरो पर संयमशीलता से काम लेना ही उचित है । असयमशील बनने से अध.पतन होता है ।

सिंहगुफावासी मुनि सयम की परिधि से बाहर निकले तो उनकी साधना दूषित हुई । रूपकोषा ने जब रत्नकम्बल पैर पोछ कर एक तरफ फेक दिया तो मुनि ने इसे अपना घोर अपमान समझा और रूपकोषा को फूहड़ समझा । वे सोचने लगे–'कितने परिश्रम से कबल प्राप्त किया गया था ओर इसकी यह दुर्दशा हुई ।' उनके मन का नाग फुफकारने लगा। राह पर पड़ा सर्प यदि जग जाय तो राही को आगे नही बढ़ने देता । तपस्वी इसे सहन नही कर सके और बोल उठे–"रूपकोषा ! मैने तेरी चतुराई की अनेक कथाए सुनी थी । समझता था कि तू विवेकशीला है, व्यवहारकुशल है । किन्तु मेरा सुनना और समझना सब मिथ्या सिद्ध हुआ । कल्पना नही की थी कि तेरे भीतर अविवेक का इतना अतिरेक है। क्या तेरी बुद्धि मारी गई है? तुझे क्या पता है कि इस कम्बल के लिए मैने कितना कष्ट सहन किया है ! कितनी मेहनत और कठिनाई से यह बहुमूल्य और दुर्लभ वस्तु प्राप्त की है । मगर तूने इसका इस प्रकार दुरुपयोग किया। मै समझ गया–तेरे पास रूप है, गुण नही है । कहा भी है–

ना चम्पा ना मोगरा, रे भवरी ! मत भूल ।
रूप सदा गुण बाहिरा, रोहीड़ा का फूल ।।

रोहीड़ा की लकड़ी काम मे आती है पर उसके फूल में सुगन्ध नही होती । पलाश का फूल भी ऐसा ही होता है । देखने मे बहुत सुन्दर मगर सौरभहीन !"

रूपकोषा के प्रति मुनि के मन मे जो आकर्षण था, वह कम हो गया । अनुराग मे फीकापन आ गया । इधर रूपकोषा ने भी समझ लिया – 'अब उपयुक्त समय आ गया है मुनि को सन्मार्ग पर लाने का ।'

जमीन जब खूब तप जाती है और ऊपर से पानी गिरता है तब चतुर किसान बीज वपन करता है । उपयुक्त समय पर किया हुआ कार्य सफल होता है और उसके लिए अधिक प्रयास भी नही करना पड़ता । अनुपयुक्त समय पर कार्य करने से प्रयास वृथा हो जाता है ।

रूपकोषा की एक मात्र अभिलाषा मुनि को संयमनिष्ठ बनाने की थी । उनके मन मे जो अभिमान का विष घुल गया था, उसे वह निकाल फेकना चाहती थी । अब तक की घटनाए उसी की भूमिका थी ।

सयम से च्युत होते हुए साधक को धर्म मे स्थिर करना सम्यक्त्वी का एक आचार माना गया है । इस आचार का पालन करने वाला अपने और दूसरे के कल्याण का कारण वनता है ।

---

[६३]

कर्मादान के रूप

वीतराग प्रभु ने ससार के जीवो को कल्याण का सर्वोत्तम मार्ग बतलाया है। वह मार्ग ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है । वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप मे समझना, उस पर पूर्ण आस्था करना और फिर उसके अनुसार आचरण करना—यही आत्मशुद्धि का सही मार्ग है ।

कई लोग अकेले ज्ञान से ही निश्रेयस की प्राप्ति होने की कल्पना करते है। उनका कथन है कि तत्व के ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो जाती हे, आचरण की कोई आवश्यकता नही । किन्तु यह मान्यता अत्यन्त भ्रमपूर्ण है और हमारा दैनिक अनुभव भी इसका विरोधी है । ज्ञान मात्र से किसी भी कार्य मे चाहे वह लौकिक हो या लोकोत्तर सफलता प्राप्त होती नही देखी जाती । औषध के ज्ञान मात्र से रोग का अन्त नही आता । भोजन देख लेने से भूख नही मिटती और किसी यन्त्र को बनाने के ज्ञान मात्र से यन्त्र नही बन सकता । ऐसी स्थिति मे यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान मात्र से सिद्धि प्राप्त नही हो सकती ।

हेय और उपादेय का ज्ञान आवश्यक है किन्तु उस ज्ञान को क्रियान्वित करने की भी अनिवार्य आवश्यकता है । हेय जिसे समझा, उसका त्याग करना चाहिए और उपादेय का उपादान अर्थात ग्रहण करना चाहिए । यही ज्ञान की सार्थकता है । जान लिया किन्तु तदनुसार आचरण नही किया तो ज्ञान निरर्थक है । कहा भी है—

ज्ञान भार: क्रियां विना ।

आचारविहीन ज्ञान भारभूत हे । उससे कोई लाभ नही होता । सर्प को सामने आता जान कर भी जो उससे बचने का प्रयत्न नही करता है, उसका जानना किस काम का ? ज्ञानी पुरुषो का कथन तो यह है कि जिस ज्ञान के फलस्वरूप आचरण न बन सके, वह ज्ञान वास्तव मे ज्ञान ही नही है । सच्चा ज्ञान वही है

जो आचरण को उत्पन्न कर सके । निष्फल ज्ञान वस्तुत. अज्ञान की कोटि म ही गिनने योग्य है ।

इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर भगवान् महावीर ने ज्ञान और चारित्र दोनो को मोक्ष का अनिवार्य कारण कहा है । जहाँ तक ज्ञान का प्रश्न है मुनि और गृहस्थ दोनो समान रूप से उसकी साधना कर सकते है मगर चारित्र के सम्बन्ध मे यह सभव नही है । इस कारण चारित्र दो रूपो मे विभक्त कर दिया गया है—मुनि धर्म और श्रावक धर्म । दोनो को अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार और शक्ति के अनुसार अपने-अपने धर्म का पालन करना चाहिए । इस विषय म पहले प्रकाश डाला जा चुका है ।

गृहस्था के सामने आनन्द श्रावक का जीवन आदर्श रूप है । उसका विवेचन एक प्रकार से गृहस्थ चारित्र का विवेचन है । भगवान् ने उसे धम देशना दी। उसे बोध प्राप्त हुआ और फिर उसने श्रावक धर्म को अगीकार किया । इसी प्रकरण को लेकर कर्मादानो का विवेचन चल रहा है । पाच कर्मादाना के विषय म प्रकाश डाला जा चुका है अब छठे कर्मादान पर विचार करे ।

(६) दतवाणिज्जे (दन्त वाणिज्य)— दातो का व्यापार करना दन्त वाणिज्य कहलाता है । पहले बतलाया जा चुका है कि वस्तु का उत्पादन न करके उसे खरीदना और खरीद कर बेचना वाणिज्य कहलाता है । दातो के व्यापार का हिसा से गहरा सम्बन्ध है । कोई व्यापारी हाथी आदि के दातो को खरीदने के लिए लोगा को पेशगी रकम देता है । पेशगी रकम लेने वाले दात प्राप्त करने के लिए हाथी आदि का वध करते है और दात लाकर व्यापारी का देते है । ऐसी स्थिति मे वह व्यापारी दत वाणिज्य नामक कर्मादान के पाप का भागी होता है ।

दात साधारणत—अचित्त वस्तु दीख पडती है किन्तु दीर्घ दृष्टि महर्षिया ने विचार किया और कहा–दात अचित्त है इस विचार से हे मानव ! तू भ्रम मे न पड। थोडा आगे का भी विचार कर । जब दाता का सग्रह और उपयोग अधिक परिमाण म होगा तो वे आएगे कहा से ? आखिर उनके लिए हाथिया की हत्या करनी पडेगी या जीवित हाथिया के दात उखाड जाएगे । दात उखाडने मे हाथी को कितनी पीडा होती है यह तो भुक्तभोगी ही जान सकते है । खुराक के लालच म पड कर और स्पर्शनेन्द्रिय सम्बन्धी भोग के आकर्षण मे पड कर हाथी पकड मे आ जाते है । सामर आदि पशुआ के सीगा के लिए उनकी हत्या की जाती है ।

हाथी को पकडने के लिए अनेक तरीके काम मे लाए जाते है । कहते है-एक बडा सा गड्ढा खाद कर उस पर बासा का एक जाली सी बिछा दी जाती

है। उस पर हाथी को लुभाने के लिए कृत्रिम हथिनी बना कर खड़ी कर दी जाती है अथवा कोई खाद्य पदार्थ रख दिया जाता है । हथिनी अथवा खाद्य वस्तु को देख कर हाथी प्रलोभन मे पड़ कर उस पर चला जाता है और गड्ढे मे गिर जाता है । गड्ढे मे गिरने के बाद उसे कई दिनो तक भूखा-प्यासा रखा जाता है । तत्पश्चात् थोड़ी-थोड़ी खुराक दे कर उसे वशीभूत किया जाता है ।

बीहड़ वनो मे प्रकृति की असीम सम्पदा बिखरी पड़ी है । अपनी बढ़ी-चढ़ी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मानव वनो पर भी आक्रमण करता है और उस सम्पदा को लूटता है । जब वन्य सम्पदा लुट जाती है और पशुओ को पर्याप्त खुराक नही मिलती तब वे खेतो की ओर बढ़ते है । अगर मनुष्य वनो को पशुओ के लिए छोड़ दे तो उन्हे खेतो को उजाड़ने की आवश्यकता ही न हो ।

किन्तु मानव तो यही समझता हे कि सारी धरती का पट्टा ईश्वर ने उसी को लिख कर दे दिया हे । मनुष्य के अतिरिक्त मानो अन्य किसी प्राणी को जीवित रहने का अधिकार ही नही हे, कैसी सकीर्ण भावना है। कितनी अधम स्वार्थान्धता है ।

जो मनुष्य हाथी के दांतो का उपयोग करने के लिए बड़े-बड़े हाथियो का वध करता है और उस वध के परिणामस्वरूप तैयार होने वाले चूड़ो को सुहाग का चिन्ह समझता हे, उस मनुष्य से यह आशा कैसे की जाय कि वह जानवरो के प्रति न्याय करेगा । उनके अधिकारो का अपहरण नही करेगा ?

हाथीदात की अनेक वस्तुए बनती है । पहले उसकी चूड़िया पहनी जाती थी। आजकल भी राजस्थान मे बाहुओं पर आभूषण के रूप मे हाथीदात पहनने का रिवाज है । वह मगल सूचक माना जाता है । मगर आम तौर पर अब प्लास्टिक की चूड़ियो ने हाथीदात का स्थान ले लिया है । हाथीदांत के चूड़ों का प्रचलन बन्द करने के लिए साधकों को बड़ी प्रेरणा देनी पड़ी थी ।

आनन्द के समय मे दन्त वाणिज्य बहुत होता था, अतएव इसको रोकने के लिए भगवान् महावीर स्वामी को इसके त्याग का खास तौर से उपदेश देने की आवश्यकता हुई । दातों को प्राप्त करने के लिए हिंसा तो होती ही है, अगर सभाल कर न रखा जाय तो उनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति भी हो जाती है और फिर उनकी हिंसा का भी प्रसग उपस्थित होता है । इस प्रकार हिसा जनक होने के कारण दन्तवाणिज्य कर्मादानो मे परिगणित किया गया है । यह वाणिज्य व्रतधारी श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य है ।

(७) लक्ख वाणिज्जे (लाक्षा वाणिज्य)–लाख का व्यापार करना लाक्षावाणिज्य कहलाता है इस व्यापार मे लाखो जीवो की हिसा होती है । गोद वृ ा का रस है चपडी श्लेपक (चिपकाने वाला या जोडने वाली) वस्तु है । रवड भी ऐसी वस्तु है । इन चीजो म चिपक कर जीव-जन्तु प्राणो से हाथ धो वैठते है । अतएव लाख का व्यापार श्रावक के लिए त्याज्य है ।

इन कर्मादानो मे हिसा की वहुलता की दृष्टि रखी गई है । अतएव दात या लाख के वाणिज्य के समान जिन अन्य वस्तुआ के व्यापार से प्रचुर हिसा होती है, उन्हे भी यथायोग्य इन्ही वाणिज्यो मे शुमार कर लेना चाहिए और उनके व्यापार से भी वचना चाहिए ।

वारूद भी इसी प्रकार की हिसाकारक वस्तु है । उसकी वनी अनेक वस्तुआ से वहुत हिसा होती है । वारूद से दुकानो और घरो के जल जाने की घटनाए प्राय पढने सुनने मे आती ही रहती है । जिन दुकानो मे वारूद की वनी वस्तुओ का विक्रय होता है उनमे जव कभी विस्फोट हो जाता है तो आस-पास की दुकाने मकान और मनुष्य तक जल कर भस्म हो जाते है । अतएव हिसाकारी पदार्थों के व्यापार से श्रावक को सदैव वचते रहना चाहिए । ऐसे धधे करके मनुष्य जा धन एकत्र करता है वह धन नही विष है जो घोर अनर्थ का कारण है ।

कई दुकानदार सार्वजनिक उपयोग की अनेक वस्तुए अपनी दुकान मे रखते है और फटाके भी वेचने के लिए रख लेते है । सोचने की वात है कि भला फटाको से वे कितना धन संचित कर लेंगे ? वास्तव मे इस प्रकार के व्यापार से लाभ कम और हानि अधिक होती है । सामाजिक और राष्ट्रीय हानि भी इससे कम नही है । प्रतिवर्ष दीपावली आदि के अवसरो पर न जाने कितने रुपयो की वारूद फटाके आदि के रूप मे भस्म कर दी जाती है । करोडा का स्वाहा हो जाता है। लाभ तो कुछ होना नही, हानि ही हानि होती है । करोडो की सम्पत्ति नष्ट होती है और सैकडो वालक जल जाते और जल कर मर जाते है । एक ओर शिकायत की जाती है कि देश की आर्थिक स्थिति अच्छी नही है और दूसरी ओर इतनी वडी धनराशि एक खतरनाक और हत्याकारी मनोरजन के लिए नष्ट कर दी जाती है । फटाके वनाने म जो सम्पदा स्वाहा होती है उसे अच्छे कार्य म लगाया जाय तो देश का भला हो सकता है ।

किन्तु खेद की वात है कि आजकल त्योहारो मे दामाद को सौगात मे मिष्ठान्न के साथ फटाके भी भेज दिये जाते है । क्या जमाई के सम्मान करने का यह अच्छा तरीका है ? किन्तु कौन इस पर विचार करे ? आज लोगा का विवेकदीपक वुझ रहा है । वुद्धि पर पर्दा पड रहा है ।

धर्म एकान्त मगलमय हे । आत्मा, समाज, देश तथा अखिल विश्व का कल्याणकर्ता और त्राता हे । मगर आज धर्म की ज्योति मद हो रही है । लोग धर्म के वास्तविक मर्म को समझने का प्रयत्न नही करते और जो थोड़ा-बहुत समझते है, उसे आचरण मे नही लाते । उनका खयाल ह कि धर्म के आचरण से उनके लौकिक कार्यो मे वाधा उत्पन्न होगी, मगर यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण हे । धर्म लोक व्यवहार का विरोधी नही है प्रत्युत उसे सही दिशा देने का प्रयत्न करता है । उसे हितकर और सुखकर वनाता है ।

विवेक से काम लिया जाय तो कोतुहल, श्रृगार, सजावट आर दिलवहलाव के लिए की जाने वाली निरर्थक हिसा से मनुष्य सहज ही वच सकता है । ऐसा करके वह अनेक अनर्थो से बचेगा और राष्ट्र का हित करने मे भी अपना योगदान कर सकेगा । फटाको के वदले वच्चो को यदि दूसरे खिलोने दे दिये जाए तो क्या उनका मनोरजन नही होगा ? फटाको से वच्चो को कोई शिक्षा नही मिलती । जीवन-निर्माण मे भी कोई सहायता नही मिलती । उनकी बुद्धि का विकास नही होता। उलटे उनके झुलस जाने या जल जाने का खतरा रहता है । समझदार माता-पिता अपने वालको को सकट मे डालने का कार्य नही करते । किस उम्र के वालक को कौनसा खिलौना देना चाहिए जिससे उसका बौद्धिक विकास हो सके, इस वात को भली-भांति समझ कर जो माता-पिता विवेक से काम लेते हे, वे ही अपनी सन्तान के सच्चे हितैषी हे । मगर यहा तो वच्चे और नौजवान सभी एक घाट पानी पीते है । छोटे वच्चे तो साधारण और छोटे फटाके ही छोड़ते हे मगर समझदार नोजवान वड़े-वड़े फटाके छोड़ कर आनन्द का अनुभव करते हैं । अगर वड़े-बूढ़े लोग सभी दृष्टियो से हानिकारक ऐसी वस्तुओ का इस्तेमाल करना छोड़ दे तो समाज के गलत रिवाज वड़ी सरलता से खत्म हो सकते है ।

आज शासन का रवैया भी अजीव-सा है । एक ओर शासन के सूत्रधार वचत-योजना का निर्माण और प्रचार करते है और लोगो को चीजों के व्यर्थ उपयोग से वचने का उपदेश देते है, और दूसरी ओर फटाके जैसी चीजो के निर्माण की अनुमति देते है और उनके लिए वारूद सुलभ करते है । करोड़ो की सम्पत्ति इन फटाकों के रूप मे राख वन जाती है और उसके विषैले धुए से सारा वातावरण विषाक्त वन जाता है । सरकार क्यो इस ओर ध्यान नही देती—यह आश्चर्य की वात है ।

दिवाली और होली जैसे त्योहारो पर लोग विशेष रूप से मदिरापान करते है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले गाधीजी ने मदिरापान बन्द करने के लिए प्रचार और

आन्दोलन किया था किन्तु अब देश स्वतन्त्र हो गया है और गांधीजी के अनुयायियों के ही हाथ में सत्ता है फिर भी वह बन्द नहीं हो रहा । क्योंकि मद्यनिषेध से सरकार की आय में कमी होगी और मद्यपान करने वाले लोग रुष्ट हो जाएँगे तो 'वोट' नहीं देंगे, इस भय से सरकार अब इस ओर ध्यान नहीं देती । कहावत है – चोरां कुतिया मिल गये, पहरा किसका देय ।'

देश राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन हुआ तो भारतीय नेताओं ने प्रजातन्त्र की पद्धति पसन्द की । इस पद्धति में प्रजा के नुमाइंदों के हाथ में शासन रहता है । यह पद्धति अन्यान्य शासन पद्धतियों से उत्तम मानी गई है मगर इसकी सफलता के लिए प्रजा का सुशिक्षित और योग्य होना भी आवश्यक है । जब तक जनसाधारण में नैतिक भावना उच्चकोटि की न हो, आदर्शों और सिद्धान्तों की समझ न हो और व्यापक राष्ट्रहित को व्यक्तिगत हित से ऊपर समझने की प्रवृत्ति न हो तो तब तक इस शासन पद्धति की सफलता संदिग्ध ही रहती है । आज देश में प्रजातन्त्र के प्रति जो अनास्था उत्पन्न हो रही है उसका कारण यही है कि अशिक्षित जनता से वोट प्राप्त करने के लिए उसको नाराज नहीं किया जा सकता और उसमें घुसी हुई मदिरापान जैसी बुराइयों के विरुद्ध कदम उठाने का भी साहस नहीं किया जा सकता। इससे देश को हानि पहुँचती है । बालक कितना ही रुष्ट क्यों न हो माता पिता का कर्त्तव्य है कि वह उसे कुमार्ग पर जाने से रोके ।

राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए लम्बे काल तक संघर्ष चलता रहा । इस संघर्ष में भाग लेने वालों ने लाठियों की मार झेली गोलियाँ खाईं, कारावास के कष्ट सहन किए, कइयों ने अपना सर्वस्व होम दिया । ये सब प्रतिकूल उपसर्ग थे जिन्हें उन्होंने शान्ति के साथ सहन किया । किन्तु जब संघर्ष के फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्त हुई और इन योद्धाओं को शासन सत्ता मिली तो उनमें से कइयों का अधःपतन हो गया, कई भ्रष्टाचार में लिप्त हो गए और स्वार्थ साधन लगे । इस प्रकार अनुकूल उपसर्ग को वे नहीं सहन कर सके ।

सिंह की गुफा में तपस्या करने वाले मुनिराज की भी यही स्थिति हुई । प्रतिकूल परीषह को जीतने में तो वे समर्थ सिद्ध हुए मगर अनुकूल परीषह आने पर विचलित हो गए । अपनी मर्यादा से बाहर होकर रत्नकम्बल लेने के लिए वे नेपाल पहुँचे । रास्ते में कम्बल लुट गया तो दूसरी बार याचना करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया । कठिन यात्रा करके वे पाटलिपुत्र पहुँचे और मन ही मन अपने पुरुषार्थ की स्वयं सराहने लगे । मगर रूपकोशा ने क्षण भर में सारा गुड़ गोबर कर दिया । उसने रत्नकम्बल से पैर पोंछ कर उसे यों फेंक दिया मानो वह कोई पथ्य हुआ

चिथड़ा या पुराना टाट का टुकड़ा हो । यह देख कर मुनि को आवेश आ जाना स्वाभाविक ही था । उन्होने कहा–"रूपकोषा ! तू अत्यन्त ही नादान है ।"

रूपकोषा बोली–"महाराज ! मैने क्या नादानी की है ?"

मुनि–"मूल्यवान् रत्नकबल का क्या यही उपयोग है ?"

रूपकोषा–"तो आपका अभिप्राय यह हे कि जो वस्तु मूल्यवान हो उस का उपयोग साधारण काम मे नही करना चाहिए ?"

मुनि–"इस बात को तो बच्चा-बच्चा समझता है। क्या तुम नही समझती ?"

रूपकोषा–"मै तो बखूबी समझती हूँ पर आप ही इस बात को नही समझते। आश्चर्य है कि जो बात मुझे समझाना चाहते है उसे आप स्वय नही समझते । आप 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' की कहावत चरितार्थ कर रहे है ।"

मुनि–"सो कैसे ? मैने किस वस्तु का दुरुपयोग किया है ?"

रूपकोषा–"मोह के उदय से आपकी विवेकशक्ति सो गई है, इसी कारण आप समझ नही पा रहे हे ।"

मुनि–"क्यो पहेली बुझा रही है ।"

रूपकोषा–"पहेली नही बुझा रही महाराज ! आपके ह्दय की आग बुझा रही हूँ । मूल्यवान् रत्नकबल से पैर पौछना आप नादानी समझते है परन्तु रत्नकबल अधिक मूल्यवान् है अथवा सयम–रत्न अधिक मूल्यवान् है ? रत्नकंबल तो सोने-चादी के टुकड़ो से खरीदा जा सकता है मगर सयमरत्न तो अनमोल है । तीन लोक का ऐश्वर्य दे कर भी सयम नही खरीदा जा सकता । क्या उसका उपयोग आपने अधम काम के लिए नही किया है ?"

रूपकोषा के वचनो का बाण लक्ष्य पर लगा । मुनि के अज्ञान का पर्दा हट गया । मोह का अधकार सहसा विलीन हो गया । भ्रम भाग गया । वे रूपकोषा की ओर विस्मयपूर्ण दृष्टि से देखने लगे । पहले की और अब की दृष्टि मे आकाश-पाताल जितना अन्तर था, अब तक उन्होंने रूपकोषा के जिस रूप को देखा था, यह रूप उससे एकदम निराला था । उसमे घोर मादकता थी; इसमे पावनी शक्ति थी । वह रूप मार्ग भुलाने वाला था, यह मार्ग बतलाने वाला था, उस रूप ने उनमे आत्मविस्मृति उत्पन्न कर दी थी, पर इसने स्वरूप की स्मृति जागृत कर दी ।

वास्तव मे पदार्थ तो अपने स्वरूप मे जैसे है, वैसे ही है, परन्तु उन्हे देखने वालो की वृत्ति विभिन्न प्रकार की होती है । दो मनुष्य एक ही वस्तु को देखते है

मगर एक अपनी दृष्टि का विष उसमे मिला देता है और दूसरा उसे दृष्टि के अमृत से पूत बना देता है । ' यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः की उक्ति वास्तव मे सत्य है ।

मुनि ने पहले भी रूपकोषा के मुखमण्डल को देखा था और अब भी देख रहे थे । मगर इस समय की उनकी दृष्टि मे अनेक सात्विक भाव भरे हुए थे । वह सोचने लगे रूपकोषा वेश्या नही महान् शिक्षिका है सयम और आत्मा की सरक्षिका है। वास्तव मे मै भान भूल गया था पथभ्रष्ट हो गया था । रूपकोषा ने मुझे अधःपतन के गर्त से उबार लिया है । मै अपने सयम रूप चिन्तामणि को गवाने पर उतारू हो रहा था । कृतज्ञ हू इस देवी का जिसने स्थिरीकरण आचार का अवलम्बन लेकर मुझे पाप से बचा लिया ।

इस प्रसग से रूपकोषा ने मुनि का मन बदल दिया । उन्होंने कहा– 'मै रूपकोषा पर रोष कर रहा था मगर असली रोष का भाजन तो मै स्वय हूँ, जो सयम को मलिन कर रहा हूँ ।

बन्धुओ । जो बडे बडे प्रलोभन के सामने भी अपने सयम को स्थिर रखते है वे महापुरुष धन्य है और उन्ही का इस लोक और परलोक मे कल्याण होता है ।

---

[६४]

धर्म और कानून का राज्य

'सव्व जगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिअ ।'

भगवान् महावीर ने उस समय धर्मदेशना प्रारम्भ की जब वे चार घनघातिया कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और कृतकृत्य हो चुके थे । अतएव सहज ही यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि उनके लिये धर्मदेशना देने का प्रयोजन क्या था ? जब वे पूर्ण वीतराग थे, जो कुछ प्राप्त करना था, उसे प्राप्त कर चुके थे, तब देशना देने मे उनकी प्रवृत्ति क्यो हुई ?

कर्मशास्त्र की दृष्टि से तो कहा जा सकता है कि भगवान् कृतार्थ होने पर भी तीर्थंकर नामकर्म के उदय को वेदन करने के लिए धर्मदेशना देते है । धर्मदेशना देने से ही तीर्थकर प्रकृति की निर्जरा होती है । यह धर्मदेशना का कारण है । किन्तु दूसरी दृष्टि से भगवान् की धर्मदेशना का लक्ष्य है जीव मात्र की रक्षा । सम्पूर्ण जगत् के जीवो का रक्षण ही तीर्थंकर के प्रवचन का परम लक्ष्य है । यहा जीवो मे किसी प्रकार का भेद नही रखा गया है । भगवान् की देशना में किसी प्रकार का पक्षपात नही है, सकीर्णभाव नही है । ऐसा नही हे कि वे मनुष्य जाति की रक्षा का उपदेश दे और मनुष्येतर प्राणियो की उपेक्षा करें । शास्त्र मे रक्षण और दया इन दो शब्दो का प्रयोग किया गया है । वास्तव मे रक्षा या दया की भावना समग्रता को लेकर ही चल सकती है । लंगड़ी दया सच्ची दया नही कहला सकती ।

किसी मनुष्य के चार लड़के है । यदि वह सन्ततिप्रेमी है तो चारो पर उसका समान स्नेह होता है । जो पिता पक्षपात से काम लेता है, किसी सन्तान पर स्नेह रखता है और किसी पर नहीं, उसे आदर्श पिता नही कहा जा सकता । इसी प्रकार जो मनुष्यो और कतिपय अन्य प्राणियो की रक्षा एव दया का ही लक्ष्य रखता

है वह पूर्ण दयालु नही कहा जा सकता । भगवान् का त्रस और स्थावर सभी जीवो पर एक सा समभाव था ।

प्राणीमात्र की रक्षा वही साधक कर सकता है जो अपने मूल और उत्तर गुणो की सावधानी के साथ रक्षा करता है । आत्मा अपने स्वभाव से गिर न जाय स्वरूप मे रमण को छोड कर परभावो मे रमण न करने लगे इसके लिए जागृत रहना, यह स्वदया है । जो परदया' के साथ स्वदया का भी पालन करता है वही अपनी आत्मा को बन्धदशा से मुक्त करके निर्बन्ध दशा की ओर ले जाता है । यही प्रवचन का उद्देश्य है ।

महारभ की बात बतला कर प्राणियो की रक्षा की गई, इसके लिए प्रभु की वाणी निमित्तभूत हुई । द्रव्य प्राणियो की रक्षा की यह द्रव्यदया है । आत्मा मे तृष्णा कम हो गई, परिग्रह को बढाने के लिए हृदय मे होने वाली उथल पुथल मिट गई, यह भावदया है ।

दारू बनाने वाले को अगर दारू बनाने का त्याग करा दिया जाय तो उसे आर्थिक हानि होगी, मगर दारू के उपयोग करने वाले को और बेचने वाले को लाभ भी होगा । मानव जीवन इतना तुच्छ नही है कि दो पैसे पैदा करने के लिए दुर्व्यसन और हिसा की वस्तु बेची जाय । थोडे से पैसो के लिए आत्मा को पाप से मलिन एव कर्मों से भारी बनाना कदापि विवेकशीलता नही है । मनुष्य को कम से कम अपनी आत्मा पर तो दया करनी ही चाहिए और इसके लिए आवश्यक है कि उसे पापो से बचाया जाय । पापो से बचने के लिए ही भोगोपभोग की मर्यादा की जाती है । भोगोपभोग परिमाण व्रत के विवेचन मे कर्मादानो का कथन चल रहा है। दन्तवाणिज्य और लाक्षावाणिज्य के विषय मे कहा जा चुका है अब आगे रसवाणिज्य पर विचार करना है ।

(८) रसवाणिज्जे (रसवाणिज्य)—रस शब्द के अनेक आशय ग्रहण किये जा सकते है परन्तु कर्मादान के प्रकरण मे मदिरा, मधु और चर्बी आदि को ही प्रमुख समझना चाहिए । इन पदार्थों के सेवन से द्रव्य और भावहिसा होती है अतएव इनका व्यापार भी घोर हिसा का कारण है ।

रसवाणिज्य' मे जो रस शब्द है उससे षट रस वाला अर्थ नही लिया जाना चाहिए । यह अर्थ लिया जाय तो समस्त खाद्य पदार्थों का व्यापार करना कर्मादान म गर्भित हो जाएगा जो सर्वथा व्यवहार विरुद्ध होगा ।

कई आचार्य घी-दूध के विक्रय को भी रसवाणिज्य कहते है । इसमे सन्देह नही कि भारतवर्ष मे प्राचीन काल मे दूध, घृत का बेचना निन्दनीय समझा जाता था। मनुस्मृतिकार ने तो यहा तक कह दिया है ?

त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मण. क्षीरविक्रयात् । अर्थात् कोई ब्राह्मण यदि दूध बेचता है तो वह तीन दिनो मे ब्राह्मण नही रहता शूद्र हो जाता हे ।

यद्यपि मनुस्मृति मे सिर्फ ब्राह्मण के लिए ऐसा कहा गया है फिर भी इससे दुग्ध विक्रय गर्हित है, यह आभास तो मिलता ही है । तब श्रावक दूध कैसे बेच सकता है ? यह विचारणीय है । क्योकि श्रावक का दर्जा ब्राह्मण से निम्न नही हो सकता । भारत की साधारण जनता भी दूध बेचना नफरत की निगाह से देखती आ रही है । लोग दूध बेचना पूत बेचना समझते थे । छाछ बेचना तो भारत मे कलक की बात गिनी जाती थी ।

जैसे जैनाचार्यो ने श्रावक के कर्मों का विवेचन किया है, और पर्याप्त ऊहापोह किया है, उसी प्रकार वैदिक स्मृतियो मे ब्राह्मणो के कर्मों का भी विवेचन किया गया है ।

किन्तु पूर्वकालीन जीवन व्यवस्था मे और वर्तमानकालीन व्यवस्था मे बहुत अन्तर पड़ गया है । परिस्थितिया एकदम भिन्न प्रकार की हो गई है ।

आज पैसा देने पर भी शुद्ध वस्तु का मिलना कठिन हो गया है । दूध, घी तथा अन्य खाद्य पदार्थों मे मिलावट की जाती है, सरकार की ओर से मिलावट को रोकने के लिए तथा मिलावट करने वालो को दण्डित करने के लिए अलग से पदाधिकारी नियुक्त किये जाते है । उन पर प्रचुर धन व्यय किया जाता है मगर आज के जीवन में इतनी अधिक अप्रामाणिकता प्रवेश कर गई है कि सरकार का कोई भी प्रयास सफल नही हो पा रहा । अप्रामाणिकता पर नियन्त्रण करने के लिए नियुक्त बहुत से पदाधिकारी स्वय अप्रामाणिकता मे सम्मिलित हो जाते है । वे रिश्वत लेकर अप्रामाणिकता मे सहायक बन जाते है और धड़ल्ले के साथ सब प्रकार की बेईमानी होती रहती है । जैसे-जैसे इलाज किया जाता है वैसे-वैसे बीमारी भी बढ़ती जाती है । कहा भी है 'मर्ज बढ़ता गया ज्यू-ज्यू दवा की' । यह कुचक्र कहा जाकर समाप्त होगा, नही कहा जा सकता । शासन की ओर से नवीन-नवीन नियम और कानून बनाये जाए और लोग नये-नये रास्ते खोजते जाए तो देश किस अध.पतन के गड्ढे मे गिरेगा, भगवान् ही जाने ।

सचमुच मे समाज का सुधार कानून के बल पर नही हो सकता । दण्ड का भय अनैतिकता का उन्मूलन नही कर सकता । यह बात अब तक की स्थिति से

स्पष्ट समझ मे आ जानी चाहिए । अब तक के कानूनो ने अनैतिकता और अप्रामाणिकता को रोकने के बदले उन्हे बढावा ही दिया है और भविष्य मे भी ऐसा ही होने की सभावना है ।

तो फिर अनैतिकता का अन्त किस प्रकार किया जाय ? क्या यह उचित होगा कि इस सम्बन्ध के सब कानून समाप्त कर दिये जाए और लोगो को पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय कि वे जो चाहे, करे सरकार उन्हे नही रोकेगी । मगर ऐसा करने की भी आवश्यकता नही और यह अभीष्ट भी नही हो सकता आवश्यकता इस बात की है कि जनता के मानस मे धर्म और नीति के प्रति आस्था उत्पन्न की जाय। धर्म और नीति के प्रति जब आस्था उत्पन्न हो जाएगी तब निश्चय ही लोगो के हृदय मे परिवर्तन होगा और हृदय मे परिवर्तन होने से अनैतिकता और अप्रामाणिकता का अधिकाश म अन्त आ सकेगा । जो शासन धर्मनिरपेक्ष नही धर्मसापेक्ष होगा वही प्रजा के जीवन म निर्मल उदात्त और पवित्र भावनाए जागृत कर सकेगा ।

सूखते हुए वृक्ष को हरा भरा रखने के लिए जैसे पत्तो पर पानी छिडकना असफल प्रयास है, उसी प्रकार प्रजा मे बढती हुई अप्रामाणिकता को रोकने के लिए कानूनो का निर्माण करना भी निरर्थक है । वृक्ष को हरा भरा रखने के लिए उसकी जडो म पानी सीचने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जन साधारण के जीवन को शुद्ध और नीतिमय बनाये रखने के लिए उसम धर्मभाव जागृत करना उपयोगी है । धर्मभाव से जीवन मे जो परिवर्तन होता है वह स्थायी और ठोस होता है । दण्ड के भय म यह सामर्थ्य नही है ।

इसी कारण भगवान् महावीर ने दण्डविधान का नही प्रेम का धर्म का मार्ग बतलाया है । उन्होने मनुष्य के हृदय को परिवर्तित कर देने पर जोर दिया है । विचार को सम्यक बना देने अर्थात् सही दिशा देने की आवश्यकता दर्शायी है । विचार की शुद्धि होने पर आचार अपने आप ही शुद्ध हो जाता है ।

धर्मशास्त्र का राज्य मन पर और कानून का राज्य तन पर होता है ।

गाधीजी ने अपने जीवनकाल म शराबबन्दी पर बहुत जोर दिया था । मगर वर्तमान शासन व्यापक रूप म मद्यनिषेध करने म हिचक रहा है । किसी किसी प्रान्त म मद्यनिषेध का कानून बना भी तो पूरी तरह सफल नहीं हो सका । कानून के साथ जनता म धर्मभावना उत्पन्न किये बिना सफलता प्राप्त होना शायद ही सभव हो सके।

महुआ, खजूर चावल ताडी गुड आदि चीजो को मद्य बनाने के लि सडाया जाता है । जी[illegible] की उत्पत्ति होने पर ही उसमे सडान्द पैदा हो

इससे स्पष्ट है कि इसमे जीव-जन्तुओ की उत्पत्ति अनिवार्य है । हर तरह की शराब मे चीजो को सड़ाना आवश्यक होता है । अतएव मदिरा बनाना, बेचना और पीना, सभी घोर पाप का कारण है ।

मदिरा पीने से क्या-क्या हानिया होती है, यह बतलाने की आवश्यकता नही। वे हानिया इतनी प्रकट है कि प्रत्येक मनुष्य उनसे परिचित है । मदिरा बुद्धि को, बल को एव कीर्ति को नष्ट कर देती है–

बुद्धि लुम्पति यद्द्रव्य मदकारितदुच्यते ।

बुद्धि का विनाश या लोप करने वाली जितनी चीजे है, वे सब मदिरा श्रेणी मे गिनी जाती है । क्योंकि उनका परिणाम लगभग एक-सा होता है ।

जिसका उपयोग निषिद्ध हो, जिसका उपयोग अत्यन्त हानिकारक हो, जीवन को बर्बाद करने वाला हो और जिसको लोग घृणा की दृष्टि से देखते हो, उसका वाणिज्य क्यो किया जाय ? अपने और अपने परिवार की उदर पूर्ति के लिए दूसरे लोगो के जीवन को नष्ट करने मे सहायक होना समझदार मनुष्य का काम नही है । जिस मदिरापान से हजारो का जीवन भयानक अभिशाप बन जाता है, हजारो परिवार नष्ट हो जाते है और दुर्गति को प्राप्त होते है, उसका व्यापार भले आदमी के लिए कैसे उचित है । श्रावक ऐसा व्यापार कदापि नही करेगा । उदरपूर्ति के साधनो की कमी नही है । वह कोई भी अन्य धधा करके अपना निर्वाह कर लेगा, गरीबी मे जीवन व्यतीत कर लेगा, परन्तु ऐसे विनाशकारी पदार्थों के व्यापार मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे सम्मिलित नही होगा ।

इस प्रकार के खरकर्म करने से बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार की हानिया होती है, अतएव वीतराग भगवान् की वाणी के अमृत का आस्वादन करने वाला श्रावक इस रस-वाणिज्य से अवश्य दूर रहेगा । उसे तो परम श्रेयोमय प्रशम का लोकोत्तर रस प्रवाहित करना है, अनन्त जन्मो का लाभकारी वाणिज्य करना है । वह अपने परिवार, ग्राम, नगर और देश मे उपशम को वितरण करेगा और अपने तथा दूसरो के कल्याण मे सहायक बनेगा ।

आनन्द जब भगवान् महावीर के निकट व्रत ग्रहण करके घर पहुँचा तो उसने तुरन्त ही अपनी धर्मपत्नी शिवानन्दा को भी व्रत ग्रहण करने को भेजा । ऐसे अनेक श्रावको ने ज्ञान और उपशम का वितरण किया है । उन्होंने गृहस्थी मे रहकर मदिरा-रस न पिला कर ज्ञान का रस पिलाया । और अपना भी कल्याण किया ।

भग भी मदिरा की छोटी बहिन है । नासमझ लोग ज्ञान और उपशम का रस नही पिला कर उत्सवो के अवसर पर उन्मत्त बनाने वाला रस पिलाते है । मदिरा जैसी नशीली वस्तुए थोडी सी तरी पहुँचा कर भीतर का रस चूस लेती है । मजदूरो और पिछडे वर्ग के लोगो की स्थिति इसी कारण खराब होती है कि वे शराब जैसी चीजो का उपयोग करते है । इन मादक पदार्थों के चगुल मे पड कर वे अपने सारे परिवार को विनाश की ओर ले जाते है । पहले तो लोग कुतूहल से प्रेरित होकर नशीली चीज का सेवन करते है मगर धीरे धीरे वह अपने अधीन बना लेती है । अतएव समझदार मनुष्य किसी के आग्रह से अथवा कुतूहल से भी मादक द्रव्य के सेवन की शुरुआत नही करे ।

भगवान् महावीर ने कहा–' हे मानव । तुझे जो बुद्धि मिली है वह नष्ट करने के लिए नही । अतएव तू ऐसा रस ले और दे कि जिससे तेरा तथा समाज का कल्याण हो । '

मुनि स्थूलभद्र ने स्वय ज्ञान का अमीरस प्राप्त करके वेश्या को दिया । उस रस के आस्वादन से वेश्या का वेश्यापन जाता रहा । उसमे श्राविका के रूप का प्रादुर्भाव हुआ । अब वही वेश्या अपने काम रस को त्याग कर भूले भटके तपस्वी को सन्मार्ग पर ला रही है । उसने ऐसे अद्‌भुत कौशल के साथ तपस्वी के जीवन मे परिवर्तन किया कि तपस्वी भी दग रह गया । तपस्वी जब होश मे आए तो बोले–'रूपकोषे । तू ने मुझे तार दिया । मोह और अज्ञान का अन्धकार मेरी दृष्टि के सामने छा गया था और उसमे मेरा चित्त भटक गया था । तू ने आलोक पुज बन कर सच्ची राह दिखला दी । तू ने चिकित्सक की तरह मेरे मन की व्याधि को दूर कर दिया । अब मेरे मन का मल धुल गया है । तेरे उपकार से मै धन्य हो गया । मेरे गिरते जीवन को तू ने बचा लिया । मै नही समझ पाया कि महामुनि स्थूलभद्र ने यहा क्या साधना की थी ? चतुर चिकित्सक पहले विरेचन की दवा देकर फिर रोगनाशक दवा देता है इसी प्रकार तू ने पहले मुझे भटका कर बाद मे औषध दी है ।

इस प्रकार तपस्वी ने रूपकोषा के प्रति कतज्ञता प्रकट की रूपकोषा ने उत्तर मे कहा– 'मुनिवर । मैने अपने कर्त्तव्य का पालन किया है इससे अधिक कुछ भी नही किया । महामुनि स्थूलभद्र ने ही मुझे यह सीख दी थी । उसी का यह परिणाम है । इसम मरी किंचित् भी बडाई नही है । स्थूलभद्र ने मेरे जीवन को मोड दिया और उन्होंने ही मुझ सेवा करन का यह तरीका सिखलाया है । उन्ही के शुभ समागम से मैंने धर्म का मगलमय पथ पाया है और मै श्राविका धर्म का पालन कर

रही हूँ । व्यवहार मे महाजन का बच्चा यदि जान-बूझ कर ऐसा लेन-देन करे जिससे आर्थिक हानि हो तो उसका पिता नाराज होता है, उसी प्रकार मेरी माता मुझसे अप्रसन्न है । किसी ने कहा है–'सलज्जा गणिका नष्टा' अर्थात् वेश्या यदि लज्जा करे तो बर्बाद हो जाती है । परन्तु मेरा जीवन अब बदल चुका है । माता असन्तुष्ट है।

मै उसे भी राह पर लाने का प्रयत्न कर रही हूँ । मुझे सन्तोष और प्रसन्नता है कि आपको अपनी पदमर्यादा का भान हो गया ।"

जिन्होंने ज्ञान का रस पिया हो वही दूसरो को सुधारने के लिए प्रयत्नशील होता है । देवेन्द्र के प्रयत्न से भी वह धर्म से विचलित नही होता, साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या ?

इसके लिए प्रत्येक साधनापरायण व्यक्ति को चार बाते ध्यान मे रखनी चाहिये–(१) स्थिर आसन (२) स्थिर दृष्टि (३) मित भाषण और (४) सद्विचार में निरन्तर रमणता । इन चार बातो पर ध्यान रखने वाला लोक–परलोक मे लाभ का भागी होता है ।

रूपकोषा धर्म के मार्ग पर चलने लगी । वह श्राविका के योग्य सभी व्यवहार कर रही थी । सामायिक आदि आवश्यको का अनुष्ठान करती थी । जब वेश्या के समान गन्दा जीवन व्यतीत करने वाली अपना जीवन सुधार सकती है तो साधारण मनुष्य के लिए धर्म मार्ग पर चलना कौन कठिन बात है । काली मैली दीवार चूना (सफेदी) का हाथ फेरने से चमक उठती है तो क्या मलिन मन निर्मल नही हो सकता ? दीपावली के अवसर पर मकान की सफाई की जाती है तो मन की भी सफाई करनी चाहिये । मन की सफाई से आत्मिक गुण उज्ज्वल होते है और जीवन पावन बन जाता है । यही कल्याण का मार्ग है ।

---

[६५]

मादक वस्तु व्यापार

श्रुति मुक्ति के प्रमुख अगो मे से एक है। मनुष्य का जीवन प्राप्त हो जाने पर भी यदि ज्ञानी महापुरुषो की अनुभवपूत वाणी को श्रवण करने का अवसर न मिले तो वह निरर्थक हो जाता है। जिन महापुरुषो ने दीर्घकाल पर्यन्त एकान्त शान्त जीवनयापन करते हुए तत्व का चिन्तन मनन किया है उनकी वाणी के श्रवण का लाभ जीवन के महान् लाभो मे से एक है।

प्रश्न हो सकता है कि वह श्रुति कौन सी है जो मुक्ति का अग है ? धर्म और साधना के नाम पर प्रतिदिन हजारो बाते सुनते आ रहे है। मुक्ति एक है और उसके उपदेशक अनेक है। उनके उपदेशो मे भी समानता नही है। ऐसी स्थिति मे किसका उपदेश सुना जाये ? किसे मान्य किया जाये ? क्या साधना के नाम पर सुनी जाने वाली सभी बात श्रुति है ?

कर्णगोचर होने वाले सभी शब्द श्रुति नही है। कानो वाले सभी प्राणी सुनते है। सुनने के अनन्तर श्रुत शब्द लम्बे समय तक दिमाग मे चक्कर खाता रहता है। श्रोता उसके अभिप्राय को अवधारण करता है। किन्तु यदि श्रोता समनावान न हो तो उसका श्रवण व्यर्थ जाता है। कई प्राणी ऐसे भी है जो श्रोत्र इन्द्रिय से युक्त होते है किन्तु अमनस्क होते है। उनमे मन नामक करण नही होता जिसके आश्रय से विशिष्ट चिन्तन मनन किया जाता है। वे शब्दो को सुनकर भी लाभ नही उठा सकते। कुछ प्राणी ऐसे है जो श्रोत्रेन्द्रिय और मन दोनो से सम्पन्न होते है किन्तु उनका मन विशेष रूप से पुष्ट नही होता। उन्हे भी श्रवण का पूरा लाभ नही होता। पुष्ट मन वालो मे भी कोई-कोई मलीन या मिथ्यात्वग्रस्त मन वाले होते है। वे शब्दो को सुनते है समझते है और उन पर मनन भी करते है। परन्तु उनकी मनन धारा का प्रवाह विपरीत दिशा मे बहता है अतएव वे कल्याणकर विचार न करके अकल्याणकारी विचारो को ही स्थान देते है। उनको भी श्रुति का यथार्थ लाभ नही मिलता।

श्रुति दो प्रकार की है– अपरा और परा। ऊपर जिस श्रुति के विषय मे कहा गया है वह सब अपरा श्रुति कहलाती है। यह सामान्य श्रुति हे जो व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्त्ति करती हे। परा श्रुति पारमार्थिक श्रुति है जिसके द्वारा मानव अपनी आत्मा को ऊपर उठाता है। उससे आत्मा को अपने स्वरूप का बोध होता हे, तप, क्षमा, अहिसा आदि सद्गुणो की भावना जागृत होती हे और क्रोध, मान, माया, लोभ, हिसा आदि की भावना दूर भागती है। इसी परा श्रुति को ज्ञानी पुरुष मुक्ति का अग मानते है। यह श्रुति सर्वसाधारण को दुर्लभ हे।

ससार के अनन्त-अनन्त जीवो मे से विरले ही कोई परा श्रुति का सयोग पाते है और उनमे से भी कोई-कोई ही ग्रहण करने मे समर्थ होते हे। ग्रहण करने वालो मे से भी कोई विरले मानव ही उसे परिणत करने मे समर्थ होते हे।

भूमि मे डाले गये सभी बीज अकुरित नही होते। इसमे किसान का क्या दोष है? कदाचित् समस्त बीज भी नष्ट हो जायॅ तो भी किसान क्या करे ? बीजो के अकुरित होने मे कई कारणो की आवश्यकता होती हे। उनमे से कोई एक न हुआ तो बीज अकुरित नहीं होता। इसी प्रकार व्याख्याता ज्ञानीजनो के वचनो को श्रवण कराता है। मगर श्रवण करने वालो की मनोदशा अनुकूल न होगी तो श्रवण सार्थक नही हो सकेगा। जिनका भाग्य ऊचा है या जो उच्चकोटि के पुण्यानुबन्धी पुण्य से युक्त हैं और जिनकी आत्मा सम्यक्त्व से उज्ज्वल है या जिनका मिथ्यात्वभाव शिथिल पड़ गया है, वही मनुष्य श्रुति से वास्तविक लाभ उठा सकते है।

गृहस्थ आनन्द ने वीतराग की वाणी श्रवण की, ग्रहण की और उसका परिणमन किया। उसी का प्रसग यहा चल रहा है। भोगोपभोग व्रत के कर्म विषयक अतिचारो का जिन्हे कर्मादान कहते है, विवेचन चल रहा है। कल रसवाणिज्य के विषय मे कहा गया था।

मद्य का व्यवसाय करना खर-कर्म है। पूर्वकाल मे मद्य का उपयोग कम होता था। उस समय की प्रजा मे भोग की लालसा कम थी। अतएव भोग्य पदार्थों का भी आज की तरह प्रचुर मात्रा मे आविष्कार नही हुआ था। उस समय के लोग बहुत सादगी के साथ जीवन व्यतीत करते थे । और स्वल्प सन्तोषी होने के कारण सुखी और शान्त थे। आज वह बात नही है। भॉति-भॉति की मदिराएं तो आजकल बनती और बिकती ही है, अन्य पदार्थों मे, विशेषतः दवाइयो मे भी उनका सम्मिश्रण होता है। एलोपैथिक दवाए, जो द्रव रूप मे होती है, उनमे प्रायः मदिरा का सयोग पाया जाता है, जो लोग मदिरापान के त्यागी है उन्हे विचार करना चाहिये कि ऐसी दवाओ का सेवन कैसे कर सकते है ?

बहुत से लोग लोभ लालच मे पड कर मदिरा बनाते या बेचते है। वे समझते है कि इस व्यापार मे हमे बहुत अच्छा मुनाफा मिलता है। किन्तु ज्ञानीजन कहते है– तूने पैसा इकट्ठा कर लिया है और ऐसा करके फूला नही समा रहा यह सब तो ठीक है मगर थोडा इस बात पर भी विचार कर कि तूने कम का भार अपनी आत्मा पर कितना बढा लिया है ? जब इन कर्मो का उदय आयेगा और प्रगाढ दुख वेदना का अनुभव करना पडगा उस समय क्या वह पैसे काम आयग ? उस धन से दुख को कैसे दूर किया जा सकेगा ? पैसा परभव म साथ जा सकेगा ?

डालडा तल का निर्माता छुरी चलाता नही दाख पडता मगर वह प्रचार करता है–हम देश को महान् सेवा कर रहे है। यह वनस्पति का घी है पौष्टिक वस्तु है। लोग इसका अधिक सेवन करेग तो दूध की बचत हागा और बच्चा को दूध अधिक सुलभ किया जा सकेगा ।

इस प्रकार जनता के जीवन के साथ खिलवाड की जाती है और उसे दश सेवा का जामा पहनाया जाता है। डालडा का तो उदाहरण के तौर पर ही उल्लेख किया गया है। आज ऐसी अनगिनत चीज चल पडी है जो मनुष्य के स्वास्थ्य क लिये अत्यन्त हानिकारक है मगर उनके निर्माता लुभावने विज्ञापन करत है और जनता उनके चक्कर मे आ जाती है। इनके बनाने मे अपरिमित जीवा की हिसा होती है परन्तु इस ओर किसी का ध्यान नही जाता।

मद्यपान पर आज कोई अकुश नही है। बहुत से अच्छे ओर धार्मिक सस्कार वाले घरा के नवयुवक भी बुरी सगति म पड कर भूले भटके इस महा अनर्थकारी एव जिन्दगी को बर्बाद कर देने वाली मदिरा के शिकर हो जात है। इस ओर विवेकशील जनो का ध्यान आकर्षित होना चाहिये और अपनी सतान को मदिरा पीने की लत वाला दुर्व्यसनियो की सगति से दूर रखना चाहिये। जिस घर म मदिरा का प्रवेश एक बार हो जाता है समझ लीजिये वह घर बर्बाद हो गया। उसके सुधरने और सम्भलने की आशा बहुत ही कम रह जाती है। अतएव महाहिसा से निर्मित तथा शरीर और दिमाग को अत्यन्त हानि पहुचाने वाली मदिरा जैसी मादक वस्तुआ का व्यापार और सेवन श्रावक के लिये वर्जनीय कहा गया है।

(७) विस वाणिज्जे (विष वाणिज्य)– विष का और विषैले पदार्थों का व्यापार करना विष वाणिज्य कहलाता है।

सामिल सखिया गाजा अफीम आदि अनेक प्रकार क विष होते है। य सभी एस पदार्थ है जो जीवन की पोषण शक्ति पर घात करते है और प्राण हानि भी करते है। ऐसी वस्तुआ का व्यापार अनेक दृष्टिया स वर्जनीय है। प्रथम ता यह

व्यापार लोकनिन्दित होने से किसी सद्गृहस्थ के योग्य नही है। दूसरे हिसा आदि अनेक घोर अनर्थों का भी कारण हे। इनके सेवन से सिवाय अनर्थ के कोई लाभ नही होता।

तमाखू भी विषैले पदार्थों मे से एक हे और आजकल अनेक रूपो मे इसका उपयोग किया जा रहा है। तमाखू को लोग साधारण चीज या साधारण विष समझने लगे है किन्तु यह उनका भ्रम है। तमाखू का पानी अगर मच्छर या मक्खी पर छिड़क दिया जाये तो वे तड़फड़ा कर मर जाते है। यदि तमाखू न खाने वाला अकस्मात् तमाखू खा ले तो उसे चक्कर आने लगते हे। उसका दिमाग घूमने लगता है और जब तक वमन न हो जाये तब तक उसे चेन नही पड़ता । क्या आपने कभी विचार किया है कि ऐसा क्यो होता है ?

वास्तव मे मनुष्य का शरीर तमाखू को सहन नही करता। शरीर की प्रकृति से वह प्रतिकूल है। शारीरिक प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य जब तमाखू का सेवन करता हे तो शरीर की ओर से यह चेष्टा होती है कि वह उसे बाहर निकाल फेंके। इसी कारण वमन होता है। बीड़ी, सिगरेट, या हुक्का आदि के द्वारा जब तमाखू का सेवन किया जाता है तो शरीर पर दोहरा अत्याचार होता है। तमाखू और धुआँ दोनो शरीर के लिये हानिकारक है। जब कोई मनुष्य देखादेखी पहलेपहल बीड़ी-सिगरेट पीता है तब भी उसका मस्तक चकराता है और सिर मे जोरदार पीड़ा होती हे। किन्तु मनुष्य इतना विवेकहीन बन जाता है कि प्रकृति की ओर से मिलने वाली चेतावनी की ओर तनिक भी ध्यान नही देता और कष्ट सहन करके भी अपने शरीर मे विष घुसेड़ता जाता है। धीरे-धीरे शरीर की वह प्रतिरोधक शक्ति क्षीण हो जाती हे और मनुष्य उसे समझ नही पाता।

कई लोग तमाखू सूघते है। ऐसा करने से उनके आसपास बैठने वालो को कितनी परेशानी होती है। इस प्रकार तमाखू का चूसना, पीना और सूघना सभी शरीर के लिये भयानक हानिकारक है। आखिर जो जहर है वो लाभदायक कैसे हो सकता है ?

शरीर-विज्ञान के वेत्ताओ का कथन है कि जो बीमारिया अत्यन्त खतरनाक समझी जाती है, उनके अन्य कारणो मे तमाखू का सेवन भी एक मुख्य कारण है। क्षय और कैसर जैसी प्राणलेवा बीमारियां तमाखू के सेवन से उत्पन्न होती है। कैसर कितनी भयकर बीमारी है, यह कौन नही जानता ? चिकित्सा विज्ञान और शरीर विज्ञान के विकास के इस युग मे भी कैसर अब तक असाध्य बीमारी समझी जाती है। हजारो मे से कोई भाग्यवान् बचे तो भले ही बच जाये अन्यथा कैसर तो प्राण लेकर ही

पिण्ड छोडता है । अनुभवी लोगो का कथन है कि पचहत्तर प्रतिशत लोगो को तमाखू के सेवन से यह बीमारी उत्पन्न होती है ।

आखिर मनुष्य का विवेक इतना क्षीण कैसे हो गया है कि वह अपने जीवन और प्राणो की परवाह न करके जहरीले पदार्थो का सेवन करने पर उतारू हो गया है। अपने हाथो अपने पाव पर कुल्हाडा मारने वाला क्या बुद्धिमान कहा जा सकता है ? यह एक प्रकार का आत्मघात है ।

पाश्चात्य डाक्टरो ने तमाखू के सेवन से होने वाली हानियो का अनुभव किया है और लोगो को सावधान किया है। पर इस देश के लोग कब इस विनाशकारी चगुल से छुटकारा पायेंगे ।

आपका शायद विदित हो कि तमाखू भारतीय वस्तु नही है। प्राचीनकाल मे इसे भारतवासी जानते तक नही थे । यह विदेशो की जहरीली सौगात है और जब विदेशी लोग इसका परित्याग करने के लिये आवाज बुलन्द कर रहे है तब भारत मे इसका प्रचार बढता जा रहा है । आज सैकडो प्रकार की नयी नयी छाप की बीडिया प्रचलित हो रही है ।

भारत के व्यापारी जनता के स्वास्थ्य की उपेक्षा करके प्राय पैसा कमाने की वृत्ति रखते है । अन्य देशा मे तो देश के लिये हानिकारक पदार्थो का विज्ञापन भी समाचार पत्रो मे नही छापा जाता मगर यहा ऐसे आकर्षक विज्ञापन छापे जाते है कि पढने वाले का मन उसके सेवन के लिये ललचा जाये तो कोई आश्चर्य की बात नही है ।

जो व्यापारी बीडी जर्दा सिगरेट सूघनी आदि का व्यापार करते है वे जहर फैलाने का धन्धा करते है । समझदार व्यापारी को इस धन्धे से बचना चाहिये ।

जनता का दुर्भाग्य है कि आज बीडी सिगरेट आदि की बिक्री एक साधारण बात समझी जाती है । कोई वस्तु जब समाज मे निन्दनीय नही गिनी जाती तो उसके विक्रय और ले जाने लाने आदि की खुली छूट मिल जाती है किन्तु ऐसे उदार हृदय लोग कम ही मिलेंगे जो इन विषैली वस्तुओ के विक्रय का त्याग करदे । जो ऐसा करेंगे वे कर्त्तव्यनिष्ठ समझे जायेंगे ।

दुर्बल हृदय मनुष्य प्राय अनुकरणशील होता है। वह कमजोरी को जल्दी पकड लेता है । जिसकी विचारशक्ति प्रौढ है वह अन्धानुकरण नही करता । अपने विवेक की तराजू पर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को तोलकर निर्णय करता है । वह जनता के लिये हानिकारक वस्तु बेच कर उसके साथ अन्याय और धोखा नही करता । देश और समाज के अहित म वह निमित्त नही बनता ।

जो चीज विष के नाम से अधिक प्रसिद्ध हे या जो विष एकदम प्राणनाश करता है, उससे लोग भय खाते हे, चौकते है किन्तु तमाखू विप ऐसा विप हे जो धीरे-धीरे जीवन को नष्ट करता है और जिनका जीवन नष्ट होता हे उन्हे ठीक तरह पता नही चलता। इस कारण लोग उसके सेवन को वुरा नही समझते ।

अधिक से अधिक १०-१२ रोटियो से मनुष्य का पेट भर जाता हे, मगर वीड़ी और सिगरेट पीते-पीते सन्तोष नही होता। कई लोग अनेक वडल या पेकेट बीड़ी-सिगरेट के पीकर समाप्त कर देते है। मगर इस प्रकार तमाखू के सेवन से शरीर विपैला हो जाता हे। वह बिच्छू का भी वाप वन जाता है ।

जिस मनुष्य का शरीर तमाखू के विप से विपैला हो जाता हे उसका प्रभाव उसकी सन्तति के शरीर पर भी अवश्य पड़ता हे। अतएव तमाखू का सेवन करना अपने ही शरीर को नष्ट करना नहीं है, बल्कि अपनी सन्तान के शरीर मे भी विष घोलना है। अतएव सन्तान का मगल चाहने वालो का कर्त्तव्य है कि वे इस बुराई से बचे और अपने तथा अपनी सन्तान के जीवन के लिये अभिशाप रूप न बने।

कहते है संखिया का सेवन करने वाले पर बिच्छू का असर नही पड़ता, यहा तक कि सर्दी-जुकाम उसे नही होता। उसके लिये कोई दवा कारगर नही होती। उसका बीमार होना ही मानो अन्तिम समय का आगमन है। उसे कोई औषध नही वचा सकती।

यहा तक द्रव्य-विष के विषय मे कहा गया है, जिससे प्रत्येक विवेकवान् गृहस्थ को बचना चाहिये। किन्तु पूर्ण त्यागी को तो भाव-विष से भी पूरी तरह बचने का निरन्तर प्रयास करना है। उनका जीवनत्याग एव तपश्चरण से विशुद्ध होता है, अतएव वे द्रव्य-विष का ही सेवन नही करते, पर भाव-विष से भी मुक्त रहते है ।

काम-क्रोध आदि विकार भाव-विष कहलाते है। द्रव्य-विष जैसे शरीर को हानि पहुचाता है, उसी प्रकार भाव-विष आत्मा को हानि पहुचाता है। द्रव्य-विष से मृत्यु भी हो जाये तो एक बार होती है किन्तु भाव-विष पुन:-पुन. जन्म-मरण का कारण बनता है। द्रव्य-विष द्रव्य प्राणो का घात करता है जबकि भाव-विष आत्मा के ज्ञानादि भावप्राणो का विघातक होता है। आत्मा अनादि काल से अब तक जन्म-जरा-मरण की महावेदना से मुक्त नही हो सका, इसका एकमात्र कारण भाव-विष है। यह भाव-विष घोर दुःख रूप है और सभी अनर्थो का कारण है। अतएव द्रव्य-विष से भाव-विष कम गर्हित और अनर्थकारी नही है ।

जो साधक प्रमाद और मोह से ग्रस्त हो जाता है वह भाव विष का सेवन करता है। इस भाव विष के प्रभाव से उसकी चेतना मूर्च्छित सुप्त और जडीभूत हो जाती है।

विष का प्रभाव यदि फैलने लगे और अवरोध न किया जाये तो वह सारे शरीर को सडा कर विनष्ट कर देता है। भाव विष इससे भी अधिक हानिकर होता है। यह अनेकानेक जीवनो को बर्बाद करके छोडता है। अतएव जिनको वीतराग देव की सुधामयी वाणी को श्रवण करने का अवसर प्राप्त हुआ है उन्हे विषय-कषाय के विष का सचार नही होने देना चाहिये। जब विष का सचार होने लगे तो विवेक रूपी अमृत से उसे शान्त कर देना चाहिये। ऐसा न किया गया तो निस्सन्देह आत्मा का विनाश हुए बिना नही रहेगा।

सिंहगुफावासी मुनि के मन मे भाव विष का सचार हुआ पर वह विष फैलने से पहले ही शान्त कर दिया गया। रूपकोषा रूपी विषभिषक का सुयोग उन्हे मिल गया। उसकी चिकित्सा से वह नष्ट हो गया।

रूपकोषा अपने पूर्वकालिक जीवन मे वेश्यावृत्ति करती थी फिर भी उसने मार्ग स च्युत होते हुए मुनि को स्थिर किया और सयम के पथ पर आरूढ किया। यह नारी जाति की शासन के प्रति सराहनीय सेवा है। शास्त्रो म इस प्रकार के अनेक आख्यान उपलब्ध है जिनसे नारी जाति की सेवा का पता लगता है। राजीमती की कथा से आप सब परिचित ही होंगे। उसने मुनि रथनेमि के भाव विष का निवारण किया था। वास्तव मे श्रमण सघ का यह रथ चारो चक्रो के उद्योग और सहयोग स ही चल रहा है। अतएव आज के श्रावको और श्राविकाओ का भी अपना उत्तरदायित्व अनुभव करना चाहिये। सघ के प्रत्येक अग को दूसरे अगो के सयम म सहायक बनना चाहिये।

रूपकोषा ने समझाया– 'महात्मन् । यह सयम रूपी रत्नकम्बल बहुत कीमती है यह अनमोल है और तीनो लोको म इसकी बराबरी करने वाली अन्य कोई वस्तु नही है। महान्-महान् पुण्य का जब उदय होता है तब यह प्राप्त होता है। ऐसे महामूल्यवान् रत्न को आप भुला रहे है ।'

रूपकोषा क स्थापन का परिणाम यह हुआ कि विष का विस्तार नहो हुआ और वह अमृत क रूप म बदल गया। विकार उत्पन्न होने पर यदि सुसस्कार जागृत हो जाये तो यह विष की परिणति अमृत म होना है।

रूपकोषा स विदा लेकर मुनि अपने गुरुजी क पास जाने लगे। उनके मन म तीव्र इच्छा जागृत हुई कि अतिक्रम व्यतिक्रम एव अतिचार का स्थापन शीघ्र स शीघ्र

कर लिया जाये। ठोकर खाकर मुनि का भान जागृत हो गया था, अतएव गुरु सम्भूति विजय के चरणो मे जाकर वे अतिचार की शुद्धि कर लेना चाहते थे। जैसे पैर में काटा चुभ जाने पर मनुष्य को चैन नही पड़ता व वेदना का अनुभव करता है और शीघ्र से शीघ्र उसे निकाल डालना चाहता है, इसी प्रकार व्रत मे अतिचार लग जाने पर सच्चा साधक तब तक चेन नहीं लेता जब तक अपने गुरु के समक्ष निवेदन कर प्रायश्चित न कर ले। वह अतिचार रूपी शल्य को प्रायश्चित द्वारा निकाल करके ही शान्ति पाता है। ऐसा करने वाला साधक ही निर्मल चरित्र का परिपालन कर सकता है ।

गुणवान् और सस्कार सम्पन्न व्यक्ति ही निष्कपट भाव से अपनो आलोचना कर सकता है। जिसके मन मे संयमी होने का प्रदर्शन करने की भावना नही है वरन् जो आत्मा के उत्थान के लिये सयम का पालन करता है, वह सयम मे आयी हुई मलीनता को क्षण भर भी सहन नही करेगा।

मुनि ने गुरु के चरणों मे पहुच कर निवेदन किया–"भगवन् ! आपकी इच्छा की अवहेलना करके मैने अपना ही अनिष्ट किया। अनेक यातनाए सही और अपनी आत्मा को मलिन किया है ।" इस प्रकार कह कर मुनि ने पूर्वोक्त घटना उन्हें सुनाई। उसमे से कुछ भी छिपाने का प्रयत्न नही किया। चिकित्सक के पास जाकर कोई रोगी यदि उससे बात छिपाता है, अपने दोष को साफ-साफ प्रकट नही करता तो अपना ही अनिष्ट करता है, इसी प्रकार जो साधक गुरु के निकट अपने दोष को ज्यो का त्यो नही प्रकाशित करता तो वह भी अपनी आत्मा का अनिष्ट करता है। उसकी आत्मा निर्मल नही हो पाती। उसे सच्चा साधक नही कहा जा सकता ।

सब वृत्तान्त सुनकर गुरुजी ने कहा–"वत्स ! तू शुद्ध है क्योंकि तूने अपना हृदय खोलकर सब बात स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी है ।"

गुरु के इस कथन से शिष्य को आश्वासन मिला। उसने पुनः कहा–"आपने मुनिवर स्थूल भद्र को धन्य, धन्य, धन्य कहा था। मैने इस कथन पर भ्रमवश शका की थी। आपके कथन के मर्म को समझ नही सका था। अपने इस अनुचित कृत्य के लिये मै क्षमाप्रार्थी हू ।"

मुनि के अतर से ध्वनि निकली–"वह महापुरुष वास्तव मे धन्य है जो काम-राग को जीत लेता है ।"

राग को जीत कर जीवन को सफल बनाने से ही मनुष्य का यह लोक और परलोक कल्याणमय बनता है ।

---

[६६]

कुत्सित कर्म

अन्तर्दृष्टि से देखने पर साधक का अपना सत्य स्वरूप समझ म आता है। या तो ससार के सभी नेत्रा वाले प्राणी दखते है और मन वाले प्राणी सोच विचार करते है मगर यह सब देखना और सोचना तभी सार्थक होता है जब अपन सच्चे स्वरूप को समझ लिया जाय । अपने स्वरूप को समझ लेना सरल नहा है । बडे-बडे वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों के विषय म गहरी जानकारी प्राप्त कर लेते है किन्तु अपने आपको नहीं जान पाते और जब तक स्व-स्वरूप का नहा जान पाया तब तक पर पदार्थों का गहर से गहरा ज्ञान भी निरर्थक है । इसी कारण भारत के ऋषि मुनिया ने आत्मा को पहचानने की प्रबल प्रेरणा दा है । भगवान् महावीर न ता यहा तक कह दिया है–

जे एग जाणइ से सव्वं जाणइ ।

जो एक आत्मा को जान लेता है वह सभी का जान लेता है । आत्म ज्ञान हो जाने पर आत्मा परिपूर्ण चैतन्यमय प्रकाश स उद्भासित हो उठता है । उसके समक्ष अखिल विश्व हस्तामलकवत् हो जाता है । जगत् का कोई भी रहस्य उससे छिपा नहीं रहता । यह आत्मज्ञान का अपूर्व प्रभाव है ।

वैदिक ऋषियो की भी यही पुकार रही है । 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्योऽयमात्मा' यह उनके वचनो की बानगी है । व कहते है– अरे मानव । यह आत्मा ही श्रवन करने योग्य है, मनन करने योग्य है और निदिध्यासन करने योग्य है ।

इस प्रकार भारतीय तत्त्वज्ञान म आत्मज्ञान की आवश्यकता और महिमा का जो प्रतिपादन किया गया है उसका एकमात्र हेतु यही है कि आत्मज्ञान से ही आत्मकल्याण सिद्ध किया जा सकता है । आत्मज्ञानहीन पर विज्ञान म अन्त या

प्रयोजन सिद्ध नही होता । वह आत्मोन्नति और आत्मविकास मे साधक नही होकर बाधक ही होता हे ।

आत्मज्ञान ससार मे सर्वोपरि उपादेय है । आत्मज्ञान से ही आत्मा का अनन्त एव अव्याबाध सुख प्रकट होता है । यह आत्मज्ञान साधना के बिना प्राप्त नही हो सकता । साधक स्व और पर को जान कर पर का त्याग कर देता है और स्व को ग्रहण करता है । स्व का परिज्ञान हो जाने पर वह समझने लगता है कि धन, तन, तनय, दारा, घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार आदि को वह भ्रमवश स्व समझता था, वे तो 'पर' है । ज्ञान विवेक आदि आत्मिक गुण ही 'स्व' है ।

यस्यास्ति नैक्य वपुषाऽपि सार्द्धम्, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोम कूपा–कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ।।

आत्मा की जब शरीर के साथ भी एकता नही है तो पुत्र, कलत्र और मित्रो के साथ एकता कैसे हो सकती है ? यदि शरीर की चमड़ी को पृथक् कर दिया जाय तो रोमकूप उसमे किस प्रकार रह सकते है ?

तात्पर्य यह है कि पुत्र कलत्र आदि का नाता इस शरीर के साथ है और जब शरीर ही आत्मा से भिन्न है तो पुत्र कलत्र आदि का आत्मा से नाता नही हो सकता । इस प्रकार का भेद ज्ञान जब उत्पन्न हो जाता है तब आत्मा मे एक अपूर्व ज्योति जागृत होती है । उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो सिर पर लदा हुआ मनो (टनों) वजन का भार उतर गया है । आत्मा को अद्भुत शान्ति प्राप्त होती है । उसमे निराकुलता प्रकट हो जाती है ।

व्यवहारनय के कथन से जिन-जिन आचारों और व्यवहारो के द्वारा सुप्रवृत्ति–शुभप्रवृत्ति जागृत होती है, वे सब 'स्व' है । स्व का भान होने पर निज की ओर की प्रवृत्ति विस्तृत होती जाती है और पर की ओर का विस्तार सकुचित होता जाता है । ऐसे साधक को स्वरमण मे अभूतपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है। उस आनन्द की तुलना मे पर वस्तुओ से प्राप्त होने वाला सुख नीरस और तुच्छ प्रतीत होने लगता है ।

श्रावक आनन्द को भगवान् महावीर के समागम से आत्मा की अनुभूति उत्पन्न हुई । उसने श्रावक के व्रतो को अगीकार किया बाह्य वस्तुओ की मर्यादा की। वह अन्तर्मुखी होने लगा । भगवान् ने उसे भोगोपभोग की विधि समझाते हुए कर्मादान की हेयता का उपदेश दिया । गृहस्थ का धनोपार्जन के बिना काम नही चलता, तथापि यह तो हो ही सकता है कि किन उपायो से वह धनोपार्जन करे और

किन उपायो से धनोपार्जन न करे, इस बात का विवेक रखकर श्रावकोचित उपायो का अवलम्बन करे और जो उपाय अनैतिक है, जो महारभ रूप हे जिनमे महान् हिसा होती है और जो लोकनिन्दित हे ऐसे उपायो से धनोपार्जन न करे । भगवान् महावीर ने आनन्द को बतलाया कि जिन उपायो से विशेष कर्म बन्ध और हिसा हो वे त्याज्य है । साथ ही वे पदार्थ भी हेय है जो कर्म बन्ध और हिसा के हेतु है । शराब सखिया तमाखू आदि पदार्थ त्याज्य पदार्थों मे सर्वप्रथम गणना करने योग्य है । पेट्रोल और मिटटी का तेल भी विष तुल्य ही है । ऐसे घातक पदार्थो का व्यापार करना निषिद्ध है ।

अभी कुछ दिन पूर्व समाचार मिला था कि किसी जगह जमीन मे पेट्रोल गिर गया । उस पर बीडी का जलता हुआ टुकडा पड जाने से कइयो को हानि पहुँची । पेट्रोल या मिटटी का तेल छिडक कर आत्महत्या करने के समाचार तो अखबारो मे छपते ही रहते है । इस प्रकार आज सखिया और शराब के कई भाई-बन्धु पैदा हो गये है । जिसने अपनी अभिलाषा को सीमित कर लिया है और जो सयमपूर्वक जीवन निभाना चाहता है अल्प पाप से कुटुम्ब का पालन पोषण करना चाहता है, वह ऐसे निषिद्ध कर्मों और पदार्थों को नही अपनाएगा । वह तो धर्म और नीति के साथ ही अपनी आजीविका उपार्जन कर लेगा । किन्तु जिसकी इच्छाए सीमित नही है, स्वच्छन्द और निरकुश हे जो नयी नयी कोठियाँ और बगले बनवाने के स्वप्न देखता रहता है उसका इन निषिद्ध कर्मों से बचना कठिन है ।

वास्तव मे श्रावक व्रत ग्रहण करने से जीवन का कोई कार्य नही रुकता फिर भी लोग व्रतो से डरते है । जब व्रतो की जानकारी रखने वाला भी व्रत ग्रहण से भयभीत होता है तो जो व्रता के स्वरूप को समीचीन रूप से नही जानता वह भयभीत हो तो क्या आश्चर्य है ।

लाखो व्यक्ति वीतरागा का उपदेश सुनते है मगर उनम से सैकडो भी व्रतधारी नही बन पाये इसका एक प्रधान कारण भय की भ्रमपूर्ण कल्पना ही है ।

आनन्द श्रावक ने व्रत धारण किये और पन्द्रह कर्मादानो का त्याग किया फिर भी उसका ससार-व्यवहार बन्द नही हुआ । इस तथ्य को समझकर गृहस्था को श्रावक के व्रतो से डरना नही चाहिये । इन कर्मादानो मे से विष वाणिज्य का निरूपण किया जा चुका है । अब केश वाणिज्य के विषय मे प्रकाश डाला जाता है ।

(१०) केस वाणिज्जे (केशवाणिज्य)—केशवाणिज्य' शब्द से केशो का व्यापार करना जान पडता है परन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—केश वाले प्राणिया का

व्यापार । किसी युग मे दासो और दासियो के विक्रय की प्रथा प्रचलित थी । उस समय मनुष्यो को बेचा और खरीदा जाता था । मध्ययुग में कन्या विक्रय का रिवाज चालू हो गया । धनलोलुप लोग कन्या के बदले मे कुछ रकम लिया करते थे, जिसे रीति के पैसे कहते थे । आज वर-विक्रय होने लगा है ।

जिसे बालिका के बदले रकम लेने का ख्याल हो वह भला बालिका का क्या हित सोच सकता है ? और जो अपनी अगजात बालिका का ही हित-अहित नही सोचता वह अन्य प्राणियो का हिताहित सोचेगा, यह आशा रखना दुराशा मात्र ही है ।

लालच के वशीभूत होकर केश वाले भेड़ आदि पशुओ को बेचना भी केशवाणिज्य के अन्तर्गत है । जिसका एकमात्र लक्ष्य मुनाफा कमाना होगा वह इस बात का शायद ही विचार करेगा कि किसके हाथ बेचने से पशु को कष्ट होगा और किसको बेचने से वह आराम पाएगा । जो जानवरो को बेचने का धन्धा करता है और पशुओ के बाजार मे ले जा कर उन्हे बेचता है वह उपयुक्त-अनुपयुक्त ग्राहक का विचार न करके अधिक से अधिक पैसा देने वालो को ही बेच देता है । अदल-बदल करने वाला कुछ हानि उठा कर बेच सकता है मगर लाभ उठाने की प्रवृत्ति वाला क्यों हानि सहन करेगा ? वह तो कसाइयो तक को भी बेच देगा ।

आशय यह है कि प्राणियो का विक्रय करना अनेक प्रकार के अनर्थों का कारण है । अतएव ऐसे अनर्थकारी व्यवसाय को व्रत धारण करने वाला श्रावक नही करता।

श्रावक ऐसा कोई कर्म नही करेगा जिससे उसके व्रतो में मलिनता उत्पन्न हो। वह व्रतबाधक व्यवसाय से दूर ही रहेगा और अपने कार्य से दूसरो के सामने सुन्दर आदर्श उपस्थित करेगा ।

व्रत ग्रहण करने वाले को अड़ौसी-पड़ौसी चार-चक्षु से देखने लगते है, अतएव श्रावक ऐसा धन्धा न करे जिससे लोकनिन्दा होती हो, शासन का अपवाद या अपयश होता हो और उसके व्रतों मे बाधा उपस्थित होती हो ।

धर्म के सिद्धान्तो का वर्णन शास्त्रो मे किया जाता है किन्तु उसका मूर्त्त एवं व्यावहारिक रूप उसके अनुयायियो के आचरण से ही प्रकट होता है । साधारण जनता सिद्धान्तों के निरूपण से अनभिज्ञ होती है, अतः वह उस धर्म के अनुयायियो से ही उस धर्म के विषय मे अपना खयाल बनाती है । जिस धर्म के अनुयायी सदाचारपरायण, परोपकारी, और प्रामाणिक जीवनयापन करते है, उस धर्म को लोग

अच्छा मानते है और जिस धर्म को मानने वाल नाति एव सदाचार से गिरे हात है उस धर्म के विषय मे लोगा की धारणा अच्छी नही बनती ।

साधु सन्त कितना ही सुन्दर उपदेश दे, धर्म की महिमा का वखान करे और वीतराग प्रणीत धर्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करे मगर जब तक गृहस्थो का एव उसके अनुयायियो का व्यवहार अच्छा न होगा तब तक सर्वसाधारण को वीतराग धर्म की उत्कृष्टता का ख्याल नही आ सकता । अतएव अपने आचरण को श्रेष्ठ बनाना भी धर्म प्रभावना का एक अग है । प्रत्येक गृहस्थ को यह अनुभव करना चाहिये कि वह जिनधर्म का प्रतिनिधि है और उसके व्यवहार से धर्म को नापा जाता है अतएव ऐसा कोई कार्य उसके द्वारा न हो जिससे लोगो को उसकी और उसके द्वारा धर्म की आलोचना करने का अवसर प्राप्त हो ।

केश वाणिज्य मे समस्त द्विपदो और चतुष्पदो का समावेश होता है । अतएव किसी भी जाति के पशु या पक्षी को वेच कर लाभ उठाना श्रावक के लिए निषिद्ध है ।

पूर्वोक्त पाच व्यवसायो के लिए 'वाणिज्य' शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि यहा उत्पादन नही किया जा रहा है उत्पन्न वस्तु को खरीद कर वेचना ही वाणिज्य कहलाता है । यहा इस वात का भी ध्यान रखना चाहिए कि पशुओ की अनावश्यक सख्या वढ जाने स उनको सम्भाल सकने की स्थिति न होने से या ऐसे ही किसी दूसरे कारण से अपने पशु को वेच देना केश वाणिज्य नही कहलाएगा । केश वाणिज्य तभी होगा जब मुनाफा लेकर वच देने की दृष्टि से ही कोई पशु-पक्षी खरीदा जाय और फिर मुनाफा लेकर वेचा जाय । श्रावक इस प्रकार का व्यापार नही करेगा ।

ऊन या वाल अधिक समय तक पडे रहे ता उनमे कीडे पड जाते हैं अतएव उनका व्यापार भी निषिद्ध कहा जाता है ।

द्विपद और चतुष्पद का व्यापार करने वाला उनकी रक्षा का विचार नहीं करेगा । उनकी सुख-सुविधा के प्रति लापरवाह रहगा और उन्हे कष्ट म डाल देगा । जो इस विचार को लोग ध्यान म रखेंगे वे वेकार पशुआ का वेचकर कत्ल की धार उतारने के पाप से वच जाएगे ।

अजमेर की घटना है । किसी व्यक्ति का घोडा लगडा हो गया । वह सवारी के काम का न रहा । घाडे के स्वामी ने उसे गोली मार देने का इरादा किया किन्तु रीया वाले सेठ मगनलालजी को जब यह विदित हुआ ता उन्होंने पालन

करने के लिए [illegible]
थे । आज [illegible]
होता है [illegible] ।

(ग) [illegible] ([illegible]
को [illegible]
यन्त्र [illegible]
के दामों को [illegible]
इस युग में [illegible]
और [illegible]
यन्त्रों से [illegible] किये जाते हैं और [illegible] ।

आज [illegible]
गम्भीरता से सोचने का [illegible] है कि [illegible]
रहा है । जिन मिलों में [illegible]
लोग उत्सुक रहते हैं । [illegible]
की रचना समझी जाती है । किन्तु [illegible] उनकी दृष्टि में
लाभ प्रतीत होते हैं । महात्मा [illegible] ।
उनकी दृष्टि गहरी थी । वे दीर्घ दृष्टि से सोच विचार करते थे । [illegible]
सोचना चाहिये । आर्थिक दृष्टि से इन यन्त्रों का प्रयोग करने से, [illegible]
इस कारण हिंसा होती है । [illegible] यन्त्रों
का प्रयोग हानिकारक है । वे [illegible] यन्त्र हजारों मनुष्यों द्वारा हाथों से किये जाने
वाले कार्य को चटपट निपटा देते हैं । परिणाम यह होता है कि मनुष्यों में बेकारी
फैलती है । उनकी आजीविका नष्ट हो जाती है । इस प्रकार मनुष्य बेकार होकर
दुखी जीवनयापन कर रहे हैं । इन यन्त्रों की बदौलत ही हजारों, लाखों मनुष्यों की
आय गिने-चुने धनवानों की तिजोरियों में एकत्र होती है, जिससे आर्थिक विषमता बढ़
रही है और उस विषमता के कारण वर्गसंघर्ष हो रहा है । इसी विषमता की खाई
को पाटने के लिए साम्यवाद और समाजवाद जैसे आन्दोलन चल रहे हैं । यह सबसे
बड़ा विषम चक्र है । एक ओर यन्त्रों का अधिक से अधिक प्रयोग करने की नीति
को अपनाना और दूसरी ओर आर्थिक समता को स्थापित करने के मार्ग पर चलना
परस्पर विरोधी नीतियां हैं । पर इसका विचार किसको है ? कम से कम इतना तो
किया ही जा सकता है कि देशवासियों की समस्त प्रकार की खाने योग्य वस्तुएं,
जैसे—आटा, दाल, शक्कर तेल आदि, पीने योग्य वस्तुए, जैसे—शरबत आदि एवं सूती,
ऊनी, रेशमी वस्त्रादि में मिलों का उपयोग बन्द कर दिया जाय । वे सभी ग्रामोद्योग

एव गाव के लागा द्वारा हाथ से बनाने हेतु सुरक्षित एव सरक्षित घोषित कर दिये जाय। इसस देशवासिया का स्वास्थ्य भी बिगडने से बचेगा और गाव टूट कर शहरा की आर नही भागेंगे । इससे शहर भी प्रदूषण से मुक्त रहेंगे । इसस ऐसे अनेक लाभ हे । हमारे पूर्वजा ने एक परम वैज्ञानिक ग्राम्यजीवन-पद्धति की जो नीव डाली थी उससे समस्त देशवासी सुखी एव सम्पन्न थे । तनाव मुक्त थे । विदेशी विचारो स प्रभावित होकर जब से हमने इस ग्राम्य-जीवन पद्धति को तोडना प्रारम्भ किया तब से देशवासिया के दुखा की सीमा नही रही । यह एक सुविचारित हजारो वर्षो की अनुभूत वैज्ञानिक ग्राम्य जीवन-पद्धति को तोडने का कुफल है ।

जिन देशा मे जनसख्या कम है और कार्य करने के लिए मजदूर दुर्लभ है वहा यन्त्रो का प्रयोग किया जाना समझ मे आने योग्य है किन्तु भारत जैसे जनसख्या बहुल देश म छोटे छोटे कामो के लिए, जैसे आटा पीसने दाल बनाने धान कूटने गुड शक्कर बनाने तेल घी आदि के लिए भी यन्त्रो का उपयोग करना अत्यन्त अनुचित है । यह गरीबा के काम को समाप्त करने के समान है । उनकी रोजी रोटी छीनकर उन्हे बेकार बनाना है ।

पहले महिलाए हाथ से आटा पीसती थीं स्वय पानी लाती थी और धान आदि कूटती थी तो शरीरिक श्रम हो जाता था और उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता था। आज ये सब काम मशीनो को सौप दिये गये है । इनके बदले उनके पास अन्य कोई कार्य नही रह गया है । अतएव घरो मे अधिकाश महिलाए प्रमाद म जीवन व्यतीत करती है । जब सामने कोइ काम नहीं होता तो अडौसी-पडौसी लोगा की निन्दा और विकथा मे उनका समय व्यतीत हाता है । इस प्रकार स्वास्थ्य धर्म और धन सभी की हानि हो रही है ।

आम तौर पर देखा जाता है कि यन्त्रा से जो खाद्य पदार्थ तैयार होते है उनका सत्त्व नष्ट हा जाता है । पदार्थो क पाचक तत्त्व का यन्त्र चूस लेते ह । परिणामस्वरूप जनता का शारीरिक सामर्थ्य घटता जाता है रोगा के आक्रमण का प्रतिरोध करने की शक्ति क्षीण होती जाती है । परिणाम यह होता है कि मदिरा, अडे के रस तथा मछलिया के सत्त्व आदि से निर्मित दवाइयो का प्रचलन बढता जाता है। लाग प्रत्यक्ष हिसा का तो देख भी लेते है मगर परोक्ष हिसा की इस लम्बी परम्परा को जो इन यन्त्रा के प्रयोग से होती है बहुत ही कम सोच पाते है ।

धार्मिक दृष्टि से स्वय यन्त्र चलाने वाला कृतपाप का भागी होता है । साझीदार समर्थन स पाप कराने के अधिकारी हाते है और यन्त्र स तैयार होने वाले पदार्थों का उपयोग करने वाले अनुमोदना का पाप उपार्जन करते है । इन्हीं सब

प्रत्यक्ष और परोक्ष पापो को दृष्टि मे रख कर भगवान् महावीर ने यन्त्रपीड़न कर्म को निषिद्ध कर्म माना हे ।

सर्वविरति को अगीकार करने वाले भोगोपभोग की वस्तुओ के उत्पादन से सर्वथा विरत होते है । ओर देशविरति का पालन करने वाले श्रावक मर्यादा के साव महारभ से बचते हुए उत्पादन करते हे । अपने व्रतो में कदाचित् किसी प्रकार की स्खलना हो जाय तो उसकी आलोचना ओर प्रायश्चित करके उसके प्रमाव को निर्मूल करते हैं ।

सिहगुफावासी मुनि के सयम मे जो स्खलना हो गई थी, उसकी शुद्धि के लिए वे अपने गुरु के श्रीचरणो मे उपस्थित हुए । उन्होने अपने प्रमाद को अनुभव किया और प्रमाद जनित दोष की शुद्धि की । वीर पुरुष फिसल कर भी अपने को गिरने नही देता । निर्बल गिर कर चारो खाने चित्त हो जाता है ।

उधर मुनि शुद्धि करके आराधक बने, उन्होने अपने आचार को निर्मल बनाया और इधर आचार्य समूतिविजय को भी भाव-सेवा का लाम मिला और उससे कर्म की निर्जरा हुई । दूसरे की साधना मे सहायक बनने वाला भी महान सेवाव्रती होता है ।

ससार मे प्राणियो की तीन श्रेणिया पाई जाती है—

(१) सारभी, सपरिग्रही

(२) अनारभी, अपरिग्रही

(३) अल्पारभी, अल्पपरिग्रही ।

इनमे से श्रमण का जीवन दूसरी श्रेणी मे आता हे । श्रमण सब प्रकार के आरभ और परिग्रह से रहित होता हे ।

पाटलीपुत्र मे भयकर दुर्भिक्ष पड़ा तो साधुओ को भिक्षालाभ मिलने मे अत्यन्त कष्ट होने लगा । गृहस्थो को अपना पेट भरना कठिन हो गया । ऐसी स्थिति मे साधुओ को आहारदान देने की सूझे किसको ? भिक्षु-अतिथि आकर हैरान न करे इस विचार से गृहस्थ अपने घर के द्वार बन्द कर लेते थे । शास्त्रोक्त नियमो का पूरी तरह पालन करते हुए भिक्षा प्राप्त कर लेना बहुत कठिन था । 'अन्नाधीन सकल कर्म' अर्थात् सभी काम अन्न पर निर्भर है, यह उक्ति प्रसिद्ध है । उदर की ज्वाला जब तक शान्त न हो जाय तब तक धर्मकार्य भी यथावत् नही होते । स्वाध्याय, आत्मचिन्तन, मनन-प्रवचन, धर्म जागरण, आराधन, ज्ञानाभ्यास आदि सत् कार्य अन्न के अधीन है ।

प्राचीन काल मे शास्त्र लिपिबद्ध नही किये गये थे । भगवान् के अर्थ रूप प्रवचनो को गणधरो ने शास्त्रीय रूप दे करके व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया और

अपने शिष्यो को मौखिक रूप मे उन्हे सिखाया । जिन्होंने सीखा उन्होने अपने शिष्यो को भी मौखिक ही सिखाया । इस प्रकार शिष्य प्रशिष्य की परम्परा चलती रही। इसी कारण भगवान् का वह उपदेश 'श्रुत' इस नाम से विख्यात हुआ । 'श्रुत' का अर्थ होता है—सुना हुआ ।

दुर्भिक्ष के समय मे श्रुत को सीखने सिखाने की व्यवस्था नही रही और अनेक श्रुतधर कालकवलित हो गए । इस कारण श्रुत का बहुत सा भाग स्मृतिपथ से च्युत हो गया । जब दुर्भिक्ष का अन्त आया और सुभिक्ष हो गया तो सघ को एकत्र किया गया । सतो की मण्डली पटना म जमा हुई । आचार्य सभूतिविजय के नेतृत्व मे ग्यारह अगो तक को व्यवस्थित किया गया । बारहवे अग दृष्टिवाद का कोई ज्ञाता उनमे नही रहा । विदित हुआ कि उसके ज्ञाता श्री भद्रबाहु है जो उस समय वहा उपस्थित नही थे । तब उन्हे बुलाने का उपक्रम किया गया जिससे द्वादशागी पूर्णरूप मे व्यवस्थित हो जाए ।

इससे आगे का वृत्तान्त यथासमय आप सुन सकेगे । जो साधक चारित्र की आराधना करता हुआ श्रुत की आराधना करता है उसका इहलोक और परलोक मे परम कल्याण होता है ।

---

[६७]

कर्मादान–अमंगल कर्म

श्रमण भगवान् महावीर ने नानाविध सन्तापो से संतप्त ससारी जीवो के कल्याण के लिए, मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया । वह मोक्ष मार्ग अनेक प्रकार से प्रतिपादित किया गया है । ज्ञान और क्रिया रूप से द्विविध मोक्ष मार्ग है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे तीन और सम्यग्दर्शन आदि तीन के साथ तप यो चार प्रकार से मोक्षमार्ग है । इस प्रकार शब्द और विवक्षा मे भेद होने पर भी मूल तत्त्व मे कोई भेद नही है, विसगति नही है ।

ज्ञान और दर्शन मे अभेद की विवक्षा करके 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' कहा जाता है । भेद विवक्षा करके 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग :' ऐसा कहा जाता हे । यहा तप को चारित्र के अन्तर्गत कर लिया गया है । तप निर्जरा का प्रधान कारण है, अतएव उसका महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए जब पृथक् निर्देश किया जाता है तो शास्त्रकार कहते है–

नाणं च दसण चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गोत्ति पण्णत्तो, जिणेहि वरदंसिहि ।।

अर्थात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान् ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र ओर तप को मोक्ष का मार्ग कहा हे ।

मोक्षमार्ग का निरूपण चाहे भेद विवक्षा से किया जाय, चाहे अभेद विवक्षा से, एक बात सुनिश्चित है और वह यह है कि सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त होना चाहिये। जिसने सम्यग्दर्शन पा लिया, समझना चाहिये कि उसने अपने जीवन मे आध्यात्मिकता की नीव मजबूत करली । उसमे आत्मा पर से कर्मो का पर्दा हटा देने की शक्ति आ गई । उसकी भूमिका सुदृढ़ हो गई है ।

सम्यग्दर्शन का प्रभाव बड़ा ही विलक्षण है। जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नही होता तब तक विपुल से विपुल ज्ञान और कठिन से कठिन क्रिया भी मोक्ष का कारण नही बनते। वह ज्ञान मिथ्या ज्ञान और चारित्र मिथ्या चारित्र होता है और वह ससार का ही कारण भूत है। मोक्ष की प्राप्ति म वह सहायक नही होता। जब आत्मा मे सम्यग्दर्शन का अलौकिक सूर्य उदित होता है तब ज्ञान और चारित्र सम्यक बन जाते है और वे आत्मा को मोक्ष की ओर प्रेरित करते है। सम्यग्दर्शन कदाचित् थोडी सी देर के लिए अन्तर्मुहूर्त मात्र काल के लिए ही प्राप्त हो और फिर नष्ट हो जाय तो भी आत्मा पर ऐसी छाप अंकित हो जाती है कि उसे अर्द्धपुद्गलपरावर्त्तन काल मे मोक्ष प्राप्त हो ही जाता है। सम्यग्दर्शन वह आलोक है जो आत्मा म व्याप्त मिथ्यात्व अन्धकार को नष्ट कर देता है और आत्मा को मुक्ति की सही दिशा और सही राह दिखलाता है।

आनन्द ने सुदृष्टि प्राप्त करके सम्यक्त्व सामायिक श्रुतसामायिक और देश विरति सामायिक प्राप्त की। उसकी बहिर्दृष्टि नष्ट हो गई वह अन्तर्मुखी हो गया। भगवान् उसे व्रती जीवन मे आने वाली बाधाए बतला रहे है जिनसे बचकर वह निर्मल रूप से व्रतो का पालन कर सके।

सातवे व्रत का स्पष्टीकरण करते हुए वाणिज्य सम्बन्धी महाहिसा से बचन का उपदेश दिया बतलाया कि कोल्हू, चर्खी चक्की आदि यन्त्रो को चलाने की आजीविका करना श्रावक के लिए उचित नही है क्योकि यह महारम्भी कार्य है। यन्त्रो द्वारा उत्पादित वस्तुओ के उपयोग से भी श्रावक यथासभव अपने आपको बचावे तो यन्त्रो को प्रोत्साहन न मिले और यन्त्र के प्रयोग से होने वाली अनेक हानियो से बचाव हो सके किन्तु आज की विषम स्थिति म इन यन्त्रो के कारण गृहस्थ अल्पारम्भी से महारभी बन जाता है। श्रावक को कम स कम महारभ और महाहिसा से तो बचना ही चाहिये। यदि वह महारभ और तज्जनित महाहिसा के कार्य करता रहा और लालच म पडा रहा तो वीतराग भगवान् का अनुयायी कहला कर भी उसने क्या लाभ प्राप्त किया ?

(१२) निल्लछण कम्मे (निलछित कर्म)—जो पशुओ का पालन करता है उसको नर पशुओ के खस्सी करने एव नाथन का काम भी पड जाता है। इस विषय म यह बात ध्यान म रखने योग्य है कि श्रावक को ऐसा करने की आजीविका नही करनी चाहिये। ऐसे हल्के और हिंसाकारी कार्यो से वृत्ति चलाना श्रावक के लिए उचित एव शोभास्पद नही है। जिन्होने सुदृष्टि प्राप्त नही की है और जो विरति स दूर है वे भले ही अज्ञानवश चाहे जैसे धन्धे कर परन्तु श्रावक ऐसा नही करे।

पशुओ को पुरुषत्वहीन करने या नाथने के काम मे कठोरता से दमन करना पड़ता है। क्योकि यदि पशु पुरुषत्वहीन न किया जाय तो वह निरंकुश रहता हे और मतवाला-सा होकर जल्दी से काबू मे नही आता । फिर भी श्रावक ऐसा धधा करे और इसे अपनी आजीविका का साधन बनावे, यह किसी प्रकार भी योग्य नही हे ।

देश के दुर्भाग्य से आज ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि मनुष्यो को भी निलछित किया जा रहा है, सन्ततिप्रजनन के अयोग्य बनाया जा रहा है । पुरुष की नस का ऑपरेशन किया जाता हे ओर स्त्री के गर्भाशय की थैली निकाल ली जाती हे । इसी प्रकार के अन्यान्य उपाय भी किये जा रहे है । सन्ततिनिग्रह और परिवार नियोजन के नाम से सरकार इस सम्बन्ध मे प्रबल आन्दोलन कर रही हे और कैम्पो आदि का आयोजन कर रही है । यह सब बढ़ती हुई जनसख्या को रोकने के लिए किया जा रहा है । गाधीजी के सामने जब यह समस्या उपस्थित हुई तो उन्होने कृत्रिम उपायों को अपनाने का विरोध किया था ओर सयम के पालन पर जोर दिया था । उनकी दूरगामी दृष्टि ने समझ लिया था कि कृत्रिम उपायों से भले ही तात्कालिक लाभ कुछ हो जाय परन्तु भविष्य मे इसके परिणाम अत्यन्त विनाशकारी होगे । इससे दुराचार एवं असंयम को बढ़ावा मिलेगा । सदाचार की भावना एव सयम रखने की वृत्ति समाप्त हो जाएगी ।

कितने दुख की बात है कि जिस देश मे भ्रूणहत्या या गर्भपात को घोर-तम पाप माना जाता था, उसी देश मे आज गर्भपात को वेध रूप देने के प्रयत्न हो रहे है । इसी से अनुमान लगाया जा सकता हे कि अहिसा की हिमायत करता हुआ भी यह देश किस प्रकार घोर हिसा की ओर बढ़ता जा रहा है ? देश की सस्कृति और सभ्यता का निर्दयता के साथ हनन करना जघन्य अपराध है ।

यदि कृत्रिम उपायो से गर्भ निरोध न किया जाय तो गर्भ के पश्चात् विवशता या अनिच्छा से ही सही, सयम का पालन करना पड़ता, परन्तु गर्भाधान न होने की हालत मे इस सयम पालन की आवश्यकता ही कौन समझेगा ? धार्मिक दृष्टि से ऐसा करने मे निज गुणो की हिसा है । शारीरिक दृष्टि से होने वाली अनेक हानियां प्रत्यक्ष है । अतएव किसी भी विवेकवान व्यक्ति को ऐसा करना उचित नही। निलछन कर्म १२ वा कर्मादान है ।

(१३) दवग्गिदावणिया-जगल मे चरागाह मे अथवा खेत मे आग लगा देना दवाग्निदापन नामक कर्मादान है । जिसके यहां पशुओं की सख्या अधिक होती है उसे लम्बा-चौड़ा चरागाह भी रखना पड़ता है । घास बढ़ने पर एव उसे काट न सकने पर जला डालने की आवश्यकता पड़ती है । घास आदि के लिए जगलो मे

आग लगाई जाती है । सद्‌गृहस्थ को ऐसा कार्य नही करना चाहिए । फसल बढाने के लिए, अन्य किसी भी प्रयोजन से या जगलो और मैदाना की सफाई के लिए व्यापक आग लगाना घोर हिसा का कारण है इससे असख्य त्रस-स्थावर जीवा की घात होती है । घर मे कचरा साफ करते समय आप देख सकते है कि किसी जीव की घात न हो जाय किन्तु जब जगल मे आग लगाई जाय तब कैसे देखा जा सकता है ? जीवो की यतना किस प्रकार हो सकती है ? उस सर्वग्रासी आग म सूखे के साथ गीले वृ१ पौधे आदि भी भस्म हो जाते है । कितने ही कीडे मकोडे और पशु-पक्षी आग की भेट हो जाते है । अतएव यह अतीव क्रूरता का कार्य है। मनुष्य थोडे से लाभ या सुविधा के लिए ऐसी हिसा करके घोर पापकर्म का उपार्जन करता है । अगर श्रावक को घरू खेत की सफाई का काम करना पडे तो भी वह अधिक से अधिक यतना से काम लेगा किन्तु आग लगाने का धन्धा तो किसी भी स्थिति मे नही करेगा ।

बाहर की सारी वृत्तिया और समस्त व्यापार अहिसा सत्य को चमकाने के लिए है । जिस प्रवृत्ति से अहिसा का तेज बढता है वही प्रवृत्ति आदरणीय है । प्राणी मात्र को आत्मवत् समझने वाला कठोर तपस्या करने वाले के समान होता है। भूत (जीव) दया ही सच्ची प्रभु भक्ति है ।

किसी बादशाह के यहा एक विश्वासपात्र खोजा रहता था । बचपन से ही बादशाह के पास रहा और पला था । वही नौकरी करता रहा । जीवन अस्थिर और उम्र नदी के प्रवाह की तरह निरन्तर बहती जा रही है । धीरे धीरे खोजा बूढा हो गया। तब उसने सोचा– जीवन की सध्या वेला आ पहुँची है । यह सूरज अब अस्त होने को ही है । बादशाह से अनुमति लेकर खुदा की कुछ इबादत कर लू तो आगे की जिन्दगी सुधर जाय । उसने बादशाह के पास जाकर अदब के साथ अपनी हार्दिक भावना प्रकट की और कहा– बादशाह सलामत आपकी चाकरी करते-करते बूढा हो गया हूँ । आपकी कृपा से यह जीवन आराम से बीता है मगर आगे की जिन्दगी के लिए भी कुछ कर लेना चाहिए । उसके लिए खुदा की चाकरी करनी होगी। आप आज्ञा दे तो कुछ करू । मै मक्का शरीफ की हज करने जाना चाहता हूँ ।

बादशाह ने भले काम मे रुकावट डालना ठीक नहीं समझा । अतः उसे इजाजत दे दी और उसकी मशा पूरी करने को कुछ अशर्फिया भी दे दी । खोजा ने सिर मुड्वा लिया । तीर्थयात्रा के समय कई नियमो का पालन करना पड्ता है । अगर उन नियमा का पालन न किया जाय ता तीर्थयात्रा निरर्थक समझी जाती है । जैसे किसी ने लिखा है–

तीरथ गया तीन जना, कामी कपटी चोर ।
गया पाप उतारवा, लाया दस टन ओर ।

वह नगे पैरो बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ यात्रा के लिए रवाना हुआ । रास्ते मे उसे एक पहुँचे हुए फकीर मिल गये । वे स्वतन्त्र विचार के पहुँचे हुए पुरुष थे । खोजा ने उन्हे सलाम किया । फकीर ने उसकी ओर देखा । खोजा ने कहा–"इबादत करने मक्का शरीफ जा रहा हूँ ।"

फकीर ने कहा–"अगर मक्का शरीफ की हज़ का फायदा यही मिल जाय तो ?"

खोजा बोला–"तब तो कहना ही क्या ! नेकी और पूछ-पूछ !"

फकीर ने उसे एक पेड़ के नीचे बैठने को कहा और सूचना दी कि बाहर की ओर से मन मोड़ लो और ध्यान लगाओ । खुदा को यही अन्तर्दृष्टि मे लाने की कोशिश करो । अगर प्रेम की मस्ती मे आ गए तो हज़ करने जाने की जरूरत नही होगी ।

खोजा श्रद्धा वाला व्यक्ति था । उसे फकीर के वचनो पर विश्वास आ गया । भूख-प्यास, खाना-पीना सब भूल गया और मस्त हो गया । उसकी मस्ती की बात बस्ती मे फैल गई । लोगो ने कहा–कोई बड़े औलिया आए हैं । और वे उसके लिए दूध, फल आदि लाने लगे, मगर उसे परवाह नही है किसी चीज की । खाया, खाया, न खाया न सही । वह अलमस्त होकर ध्यान मे लीन रहने लगा ।

बात फैलते-फैलते बादशाह के कानो तक जा पहुँची । नगर के बड़े-बड़े लोग उसके दर्शन के लिए जाने लगे । औलिया अपने स्वरूप मे लीन रहने लगा । न उसे अपने शरीर का भान था, न मकान की चिन्ता थी । जैसे वह शरीर मे रहता हुआ भी उससे अलग था ।

बादशाह ने सोचा–फकीर साहब के दीदार तो अवश्य करना चाहिए । अब तक वहा एक छोटी सी झौपड़ी बन चुकी थी और उसमे दरवाजे की जगह एक टाटी लग गई थी । किसी ने फकीर को बादशाह के आने की खबर दी तो फकीर ने वह टाटी बन्द कर ली और पैर फैला दिए । जब बादशाह वहा पहुँचे तो टाटी को धकियाया गया मगर टाटी नही खुली । बाहर से आवाज दी गई–बादशाह सलामत पधारे है, दरवाजा खोलिए । मगर फकीर के लिए क्या गरीब क्या अमीर, सब बराबर है ।

जिसके हृदय से परिग्रहवृत्ति हटी नही है, लोभ-लालच गया नही है, जो आशा का दास है और पैसे को बडी चीज समझता है, वह धनवान के सामने

झुकता है बादशाह की चापलूसी करता है । मगर जो पूरी तरह निस्पृह बन गया है और आत्मिक सम्पत्ति से सन्तुष्ट होकर बाह्य वैभव को ककर पत्थर की तरह समझता है उसके लिए राजा रक मे कोई भेद नही रहता । सच्चे साधु के विषय मे भगवान् महावीर कहते है–

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ।

यह है जीता-जागता समभाव । इसे कहते है निस्पृहभावना । साधु जब धर्मदेशना करता है तो अमीर-गरीब का भेद नही करता । जैसे राजा को धर्मोपदेश करता है वैसे ही रक को और जैसे रक को वैसे ही राजा को । उसकी दृष्टि मे सभी प्राणी समान है ।

जब उस फकीर ने बादशाह के आने की बात सुन करके भी झोपडी का दरवाजा न खोला तो बादशाह ने छिद्र मे से देखकर सलाम किया । राजा फकीर को देखकर पहचान गया कि यह तो वही ख्वाजा है ।

बादशाह बोला– मियां । तुम तो मक्का गए थे ?

फकीर ने उत्तर दिया– जी हा जब ज्ञान नही था पक्का ।

फिर बादशाह ने कहा– मियां । कब से पांव फैलाये ?

फकीर ने कहा– जब से हाथ सिकोडे ।

बादशाह– 'क्या कुछ पाया ?

फकीर– जी हा पहले मै तेरे आता था अब तू मेरे आया ।

बादशाह– 'हम भी कुछ करे ।

फकीर– 'मत करना कोई खता । दान दे, सान्त्वना दे, फटका मत मार अन्यथा तेरा सफाया हो जाएगा कहा है–

या कर या कर या न कर या कीना या होय ।
कहे आतिया दखला खुदा न बाहर कोय ।।

यह तत्त्व मुझे मिला है और मुझे आत्मसन्तोष है कि मक्का शरीफ अब यहाँ दीख रहा है ।

तात्पर्य यह है कि जो साधक अन्तर्मुख हो जाता है और अपने मन को अपनी आत्मा मे ही लीन कर लेता है उसे अपने अन्दर ही भगवत्स्वरूप के दर्शन होने लगते है । अहिंसा और सत्य उसके जीवन मे उतर आते है ।

खोजा को तत्त्व मिला कि किसी प्राणी को न सताना, किसी पर हुकूमत मत करना । यही धर्म का तत्त्व महावीर स्वामी ने भी बतलाया है । यह धर्मतत्व सदा काल था, हे और रहेगा । इस तत्त्व को शास्त्र के माध्यम से ही समझाया जाता है । मनुष्य भाषा के माध्यम से ही अपने हृद्गत विचार दूसरो तक पहुँचाता है । महर्षियो के अनुभव जनित विचार एव भाव, साहित्य-श्रुत के माध्यम से ही युगो-युगो से चले आ रहे है । अतएव महर्षियो के महत्व के समान श्रुत का भी महत्त्व है ।

आचार्य सम्भूतिविजय ने श्रुत की रक्षा का सकल्प किया और अनेक श्रुतधर मुनियों के सहयोग से श्रुत का संकलन किया । फलस्वरूप ग्यारह अंग व्यवस्थित हो गए । जब दृष्टिवाद नामक बारहवे अंग का प्रश्न उपस्थित हुआ तो महामुनि भद्रबाहु की ओर ध्यान आकर्षित हुआ । निश्चय किया गया कि श्री सघ की ओर से आचार्य भद्रबाहु को बुलाना चाहिये ताकि अपूर्ण कार्य पूर्ण हो सके ।

भद्रबाहु स्वामी उस समय नेपाल में थे । चरण विहारी होते हुए भी जैन साधु बहुत दूर-दूर तक भ्रमण किया करते है । उसका परिभ्रमण अन्य अटन प्रिय लोगो के समान नही होता । दूसरे कई लोग साईकिल से भी विदेश यात्रा करते है। पर साधु की यात्रा निराली होती है । वे सम्बल के रूप मे आटा मेवा या अन्य कोई वस्तु नही रखते । न कोई गाड़ी आदि साथ रखते, सन्निधि अर्थात् दूसरे दिन के लिए कोई भी भोजन-सामग्री रखना तो उनके लिए बहुत बड़ा दोष है । सग्रह करना गृहस्थो का काम है । साधु कल की चिन्ता नही करता । वह पक्षी के समान सर्वथा परिग्रह हीन होता है । वासी बचे न कुत्ता खाय, की कहावत साधु-जीवन में पूरी तरह चरितार्थ होती है ।

आज विनिमय के साधनो की सुविधा होने से सग्रह करने की वृत्ति अधिक बढ़ गई है । धनवान या जमीदार व्यापारी स्टॉक पास रख करके अकाल न होने पर भी अकाल की सी स्थिति उत्पन्न कर देते है । खाद्य पदार्थों का सग्रह करके जब दवा लिया जाता है तब लोगों को वे दुर्लभ हो जाते हैं और उनका भाव ऊंचा चढ़ जाता है । इसी उद्देश्य से व्यापारी सग्रह करता है और मुनाफा कमाता है । ऐसा करने से आज खाद्य समस्या बड़ी गम्भीर हो गई है और बहुत असन्तोष फैल रहा है । सरकार की ओर से इस संग्रहवृत्ति पर अंकुश लगाया जाता है, फिर भी वह रुक नही रही । अच्छे आदर्श व्यापारी को ऐसा नही करना चाहिये । अनुचित मुनाफा कमाना श्रावक को शोभा नही देता । यह व्यापार नीति के प्रतिकूल है । व्यापारी को अपने लाभ के साथ जनता की लाभ-हानि, सुविधा-असुविधा का भी विचार रखना चाहिये ।

हा तो भद्रबाहुस्वामी नेपाल की तराई मे थे । दो साधु उन्हे बुलाने के लिए भेजे गए । दोनो सन्त उनके चरणो मे जाकर प्रणत हुए । तत्पश्चात् उन्होने निवेदन किया– भगवन् ! सघ पाटलीपुत्र मे एकत्र हुआ है और श्रुत के सकलन का कार्य किया जा रहा है । किन्तु आपके बिना श्रुत सकलन पूर्ण रूप से सम्पन्न नही हो रहा है अतएव आपकी वहा आवश्यकता अनुभव की जा रही है । आप अवश्य पधारे । सघ आपकी प्रतीक्षा कर रहा है ।

आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर दिया– 'सघ का मै अग हूँ, सेवक हूँ । सघ का मुझ पर अपार उपकार है किन्तु मैने महाप्राण ध्यानयोग प्रारम्भ किया है । यह निवेदन आप सघ के समक्ष कर दीजिएगा ।

महाप्राण ध्यान की क्या विधि है क्या भूमिका परिपाटी या स्वरूप है ? इसका उल्लेख देखने मे नही आता किन्तु 'महाप्राण' शब्द के आधार पर ही कुछ कल्पना की जा सकती है । जिस ध्यान के द्वारा प्राण को दीर्घ किया जाय प्राणवायु पर विजय प्राप्त की जाय सम्भवत वह महाप्राण ध्यान कहलाता हो ।

जैन परम्परा म हठ योग को प्रश्रय नही दिया गया है । अध्यात्म की प्रधानता होने से वहाँ राजयोग ही उपादेय माना गया है । वस्तुत हठ योग रोग क उन्मूलन की दवा नही है उससे रोग को सिर्फ दबाया जा सकता है । राज योग उस औषध के समान है जो रोग को समूल नष्ट कर देती है ।

तो आचार्य भद्रबाहु ने उत्तर दिया– 'मै इस समय पाटलीपुत्र के लिए प्रस्थान करने मे असमर्थ हूँ, क्योकि मै महाप्राण ध्यान प्रारम्भ कर चुका हूँ । उसे अपूर्ण छोड देना उचित नही होगा ऐसा श्री सघ को निवेदन करना ।

आचार्य का उत्तर सुनकर सन्त निराश होकर लौट गए । पाटलीपुत्र पहुँच कर उन्होने सघ के समक्ष बतलाया– 'हम दोनो महामुनि भद्रबाहु की सेवा म पहुँचे । उनको सघ का आदेश कह सुनाया । उत्तर म उन्होने निवेदन किया है कि व महाप्राण आरम्भ कर चुके है । अतएव उपस्थित होने म असमर्थ है ।

आचार्य सम्भूतिविजय ने महामुनि भद्रबाहु का उत्तर सुनकर सघ के साथ विचार विमर्श किया । सोचा गया– श्रुत की रक्षा शासन की रक्षा है । आज भगवान् तीर्थंकर या केवली हमारे समक्ष नहीं है । तीर्थंकर की देशना जो श्रुत के रूप म ग्रथित की हुई है हमारा सर्वस्व है एकमात्र निधि है । उसके अभाव म शासन टिक नही सकेगा । वह छिन्न भिन्न हो जाएगा । सघ श्रुत पर ही टिका है और भविष्य के सघ के लिए भी यही एकमात्र आधार रहेगा । उधर आचार्य भद्रबाहु ने ध्यान

योग आरम्भ किया है, यह बात भी हमें ध्यान मे रखनी चाहिये । भद्रबाहु स्वामी ने नम्रतापूर्वक जो कहला भेजा है, उस पर विचार करना चाहिये और आवश्यक समझा जाय तो उसका प्रत्युत्तर भेजना चाहिये । मगर श्रुतरक्षा का कार्य अवश्य सम्पन्न करना है ।"

उपस्थित मुनियो ने इस पर विचार किया । उनकी दृष्टि मे श्रुतरक्षा का कार्य सर्वोपरि था और यह उचित भी था । आप लोगो को भी श्रुत के सरक्षण और प्रचार की ओर ध्यान देना चाहिये । जो ऐसा करेंगे उनका इस लोक और परलोक मे परम कल्याण होगा ।

---

[६८]

सघ की महिमा

जीवन मे जब अध्यात्म की साधना की जाती है तो एक अद्‌भुत ही ज्योति अन्तर् मे जागृत होती है । उस ज्योति क आलोक मे आन्तरिक शक्तिया जगमगा उठती है । साधारण मानव जिस बात पर बाह्य दृष्टिकोण से विचार करता है साधक आध्यात्मिक दृष्टि से उस पर विचार करता है । आध्यात्मिक मच से किसी बात को कहने का रूप दूसरा ही होता है । व्यवहारवादी दृष्टि से अध्यात्मवादी दृष्टि सदा विलक्षण ही रही है । अध्यात्मवादी दृष्टि सदा विलक्षण रही है । अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण व्यवहारवादी को अटपटा भले ही लगे मगर पारमार्थिक सत्य उसमे अवश्य निहित होता है ।

बाह्य दृष्टिकोण वाला घर की सजावट शरीर के श्रृगार और भागोपभोग की सामग्री के अधिक से अधिक सचय पर ध्यान देता है और इसकी सफलता म अपने जीवन की सफलता समझता है किन्तु आध्यात्मनिष्ठ साधक उन सब पर' पदार्थों को भार स्वरूप समझता है । सद्‌गुण ही उसके लिए परम आभूषण हं और आत्मा की विकसित एक-एक शक्ति ही उसके लिए एक एक चिन्तामणि रत्न है ।

बहिरात्माआ को यह सब स्वप्न जगत् मे विचरण करने जैसा प्रतीत होगा । भौतिक दृष्टि के कारण ये बाते उसे विश्वसनीय नही प्रतीत होती । मगर इससे क्या? नेत्रहीन व्यक्ति यदि रूप के अस्तित्व को नही देख पाता तो क्या यह कहा जा सकता है कि रूप है ही नही ? इसी प्रकार अवास्तविक दृष्टि मे जो सत्य सामने नही आता उसे असत्य नही कहा जा सकता ।

भौतिकवादी दृष्टिकोण वाला आभूष , सजावट की सामग्री आमोद प्रमोद के साधन आदि जुटाने के लिए महारभ करन से भी नही हिचकेगा । उसका एक ही दृष्टिको रहेगा कि जिन्दगी को सुखमय बनाने के लिए किन-किन उपाया का अवलम्बन किया जाय ? अगर उसके लिए मनुष्य ... ष्येतर प्राणिया की हत्या

करने की आवश्यकता होगी तो वह बेधड़क करेगा । यह कोरी कल्पना या सम्भावना नही, वास्तविक सत्य है । जब-तब समाचार-पत्रो से विदित होता है कि थोड़े से पैसो के लिए अमुक व्यक्ति की हत्या कर दी गई । आज इस देश के एक भाग मे डकैतियो का जो दौर चल रहा है, यह क्या है ? भौतिक दृष्टि की प्रधानता का ही यह फल है । अभिप्राय यह है कि जिस की दृष्टि अध्यात्म की ओर आकर्षित नही हुई वह अपनी निरकुश आवश्यकताओ की पूर्ति को ही महत्व देगा ।

मगर अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण इससे एकदम विपरीत होता है प्रथम तो उसका जीवन इतना सरल सादा ओर सयमपूर्ण होता हे कि उसको जीवन यापन की आवश्यकताए अत्यन्त कम हो जाती हे और जो भी आवश्यकताए होती है उनकी पूर्ति या तो आरभ के बिना ही हो जाती है या अत्यल्प आरम्भ से । वह भूलकर भी महारम्भ की प्रवृत्ति नही करता । वह अपने स्वार्थ-साधन के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नही पहुँचाता, बल्कि किसी को कष्ट मे देखता हे तो उसे कष्ट मुक्त करने का भरसक प्रयास करता है । उसकी इस उदार वृत्ति का लाभ उसे तो प्राप्त होता ही है, समाज को भी महान लाभ होता है । वह समाज के समक्ष एक स्पृहणीय आदर्श उपस्थित करता है और आस-पास वालो के जीवन को भी सयम की ओर मोड़ देता है ।

उस मनुष्य का ज्ञान और सम्यक्त्व, किस काम का जिससे स्वयं का और समाज का पाप न घटा ? ज्ञान भले ही अल्प हो मगर सार्थक वही है जिससे पाप घटे और सयमवृत्ति का पोषण हो । कोट्याधीश आनन्द श्रमणोपासक इसीलिए अपने को महा-कर्म बन्ध के पन्द्रह कारणो से निवृत्त कर रहा हे ।

निर्लांछन कर्म और दवाग्निदावणया कर्म का विवरण पिछले दिनो किया जा चुका है । दावानल लगाने से भले ही समय और धन की बचत हो जाय किन्तु यह कर्म महा हिसा का कारण है । परिग्रह को बूढ़े के हाथ की लाठी समझने वाला उसके अधिक चक्कर मे नही पड़ेगा । सम्यग्दर्शन सम्पन्न व्यक्ति परिग्रह को बूढ़े की लाठी समझता है । वह उसे सहारा मात्र मानता है । अतः परिग्रह की वृद्धि के लिए महारंभ करके अपनी आत्मा को पतित करना स्वीकार नही करेगा । भगवती सूत्र मे आग लगाने वाले और बुझाने वाले के लिए क्रिया का विचार चला तो कहा गया–

जंगल मे चलते-चलते कोई दुर्मति आग लगा दे और दूसरा कोई उसे बुझावे तो आग लगाने वाला महारभी और बुझाने वाला अल्पारभी समझा जाना चाहिये ।

(१४) सरदह तलाय सोसणया कम्मे–जिस भूमि मे जल हो उसमे कचरा मिट्टी आदि डालकर कई लोग उसे सुखा देते है । वह भूमि अधिक उपजाऊ है,

इस लालच म पडकर तडाग (तालाब) सर व द्रह आदि जलाशयो को सुखाने का काम करता है तो समझना चाहिये कि वह महाहिंसा का काम कर रहा है। सर व द्रह व जलाशय कहलाते है जो बिना खोदे प्राकृतिक रूप से स्वय बन गए है। और खोद कर बनाये गये जलाशय को तालाब कहते है जिनमे पाल बनाकर जल सचित किया जाता है। इन सभी प्रकार के जलाशयो को सुखाने का धधा करना कर्मादान है।

सरो तथा तालाबो को पाट कर मानव जीवन निर्वाह के अनिवार्य साधन जल का विनाश करेगा और जल काय के तथा उसके आश्रित असख्य और अनन्त जीवो का हनन करेगा। अमर कोषकार अमरसिंह ने जल के सम्बन्ध मे लिखा है–

जीवानुजीवन औषधम्।

जल को सस्कृत भाषा म 'जीवन' कहा गया है। मनुष्य के पास सोना चादी, विशाल कोठी सुन्दर और मूल्यवान फर्नीचर एव खाने का मेवा मिष्ठान्न न हो तो भी वह जीवित रह सकता है। दुष्काल के समय खजड की छाल जगली धान भुरट की रोटी, महुआ तथा इसी प्रकार की वस्तुए खाकर मनुष्य पेट भर लेता है। परन्तु पानी और पवन के बिना जीवधारी का काम नही चल सकता वह जीवित नही रह सकता। इस दृष्टि से पानी सोने से भी अधिक मूल्यवान है। प्यास से जिसका कठ सूख गया है और प्राण कठ मे अटके है वह पानी के लिए सोने की डलिया फेंक देगा। इतने मूल्यवान पदार्थ जल का मानव को 'दुरुपयोग' नही करना चाहिये। लालच के वशीभूत होकर पानी को सुखाना तो स्व पर दोनो के लिए हानिप्रद और घोर हिंसा का कारण है अतएव विवेकशील श्रावक ऐसे अनर्थकारी धधे को कदापि नही अपना सकता।

(१५) असतिजनपोसणया कम्मे–कुछ गिरोह ऐसे होते है जो लडकिया को उडा ले जाते है और उन्हे पाल-पोस कर व्यभिचार जैसे घृणित कर्म म लगा देते है। यह कितना लज्जाजनक बात है। कई नीच व्यक्ति अपनी लडकी की शादी नही करते और उसे स्वतन्त्रतापूर्वक घूमने दिया जाता है। कई लोग व्यभिचारिणी स्त्रियो को रख कर अड्डे चलाते है। किन्तु इस प्रकार के असामाजिक अनैतिक और अधार्मिक कार्यो द्वारा अर्थलाभ करना निकृष्ट और निन्दनीय कृत्य है। इससे द्रव्यहिंसा भी होती है और भावहिंसा भी। ऐसा करने वाले लोग सदाचार के भयानक शत्रु है समाज के कोढ और पापो के प्रबल प्रचारक है। धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र तो एक स्वर से इस प्रकार के कुकृत्यो का विरोध करते ही हैं पर सरकारी कानून भी इसके विरोधी है। ससार का कोई भी सत्पुरुष ऐसे नीच कर्म का समर्थन नही कर सकता।

इसी प्रकार हिसक जन्तुओं का पालन करके उनसे जीव-वध करवा कर आजीविका चलाना भी अत्यन्त क्रूरतापूर्ण एव निन्दनीय कर्म है। शिकारी बाज, कुत्ते आदि का पालन ऐसे ही पापकर्म के लिए किया जाता हे । जो लोग घोर अज्ञानान्धकार मे निमग्न है, जिन्हे धर्म और नीति का प्रकाश नही मिला है, जिन्हे सत-समागम का सुयोग भी प्राप्त नही हुआ है, ऐसे लोग यदि घोर कर्मवधकारक ऐसे कर्म करे तो कदाचित् क्षम्य है, किन्तु सद्गृहस्थ इन कुकृत्यो में कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

कई लोग 'असतिजनपोषण' में थोडा-सा फेरफार करके 'असजतीजनपोषण' कर देते है और कहते है कि संयमी जनो अर्थात् साधुओ के अतिरिक्त किसी भी भूखे को रोटी देना पाप हे । मगर यह व्याख्या प्रमाद या पक्षपात से प्रेरित है । यह साम्प्रदायिक आग्रह का परिणाम है । इस प्रकार की व्याख्या करने से दया, अनुकम्पा और करुणा भी पाप हो जाएगी । यह अर्थ दया-दान प्रधान जैन परम्परा से विपरीत है ।

पालतू कुत्ते को खाना देना पाप नही है । यहा हिसा द्वारा कमाई करने की वृत्ति नही है । भूखे कुत्ते को या अन्य पीड़ित जीवो को अन्न आदि देना अनुकम्पा की प्रेरणा है । क्षुधा, पिपासा, अशान्ति और आर्त्ति मिटाने मे जो अनुकम्पा की भावना होती है, वह पुण्य है । उसे कर्मादान मे सम्मिलित नही समझना चाहिए । कर्मादानों का सम्बन्ध विशिष्ट पापकर्मों के साथ है ।

श्रुत का गभीर और सम्यग्दृष्टिपूर्वक अध्ययन किया जाय तो इस प्रकार की गलतफहमी नही हो सकती । श्रुत हमारे लिए मार्गदर्शक है । उसी से कृत्य-अकृत्य का भेद ज्ञात होता है । अगर श्रुत रूपी निधि हमारे पास न होती तो इसके आधार के बिना हम हेय-उपादेय का विवेक कैसे करते ? जैसे नेत्रहीन पुरुष को वीहड़ वन में मार्ग नही मिलता और वह इधर-उधर ठोकरे खाता और टकराता है, वही दशा श्रुत ज्ञान के अभाव मे हमारी होती । आध्यात्मिक जीवन को आलोकित करने वाले शास्त्र ही है । शास्त्र से आन्तरिक प्रकाश प्राप्त होता है । इसी कारण श्रुत का संरक्षण महत्वपूर्ण कर्त्तव्य माना गया है ।

आचार्य संभूतिविजय ने शास्त्ररक्षा के कार्य को महान् और शासन के अभ्युदय के लिए उसे अनिवार्य मान कर उसके सरक्षण की योजना की । जब बारहवें अंग दृष्टिवाद का प्रश्न उपस्थित हुआ तो भद्रबाहु स्वामी की ओर ध्यान गया। दूसरी बार फिर उनकी सेवा मे मुनियो को भेजा गया । उन्होने सघ का सन्देश उन्हे कह सुनाया । संघ ने इस बार मार्मिक शब्दो में सन्देश प्रेषित किया और भद्रबाहु से पुछवाया कि—सघ बड़ा है या ध्यान बड़ा है ?

बुद्धिमान को इशारा ही काफी होता है । महान ज्ञानी भद्रबाहु स्वामी ने सघ के सकेत को समझ लिया और यह भी जान लिया कि सघ मेरे पहले वाले उत्तर से सन्तुष्ट नही है । तब उन्हे विचार आया—इस समय ऐसा करना ही समुचित होगा कि सघ का अविनय भी न हो और मेरा भी आरब्ध कार्य सम्पन्न हो जाय । विश्राम कम करके यदि रात्रि का समय ध्यान मे लगाया जाएगा तो शास्त्रवाचना और ध्यानयोग दोना का सम्यक प्रकार से निर्वाह हो जाएगा । इस प्रकार विचार करके भद्रबाहु ने मुनियो को उत्तर दिया—"सघ बडा है । भद्रबाहु सघ के आदेश को शिरोधार्य करता है । वह सघ की प्रत्येक आज्ञा का पालन करने को उद्यत है ।

बन्धुओ । बात के कहने कहने मे अन्तर होता है । एक ही बात एक ढग से कहने पर श्रोता के चित्त पर उसका जो प्रभाव पडता है दूसरे ढग से कहने पर उसी का प्रभाव दूसरा होता है । शिष्ट जन सयत भाषा का प्रयोग करते है । (१) मै नही आ सकता और (२) क्षमा कीजिए, मै आवश्यक कार्य से आने मे असमर्थ हूँ । इन दो वाक्यो का प्रतिपाद्य विषय एक ही है परन्तु शब्दावली म अन्तर है । शब्दावली के इस अन्तर मे अशिष्टता और शिष्टता भी छिपी हुई है । सयत भाषा के प्रयोग से कार्य भी सिद्ध हो जाता है और विनम्रता एव शिष्टता की भी रक्षा हो जाती है । गुरु अपने शिष्य को कह सकता है कि तुम्हे बोलने का भान नही है मगर शिष्य यदि गुरु से कहे कि आपको विवेक नही है तो यह अविनय और अशिष्टता होगी वृद्ध पितामह से कहा जाय कि—बाबा साहब, हम आपकी सेवा म ह अत्र आपको करन की आवश्यकता नहीं हम सब कर लेंगे, तो इससे न केवल वृद्ध को अपितु अन्य सुनन वालो को भी अच्छा लगेगा किसी के दिमाग मे उत्तेजना नही होगी और काम भी चल जाएगा । तात्पर्य यह है कि विवेकशील व्यक्ति को शिष्टतापूर्ण नम्रताद्योतक और साथ ही अपनी पदमर्यादा को ध्यान मे रखते हुए भाषा का समुचित प्रयोग करना चाहिए ।

आचार्य भद्रबाहु ने लोकोपचार विनय का आश्रय लिया । विनय सात प्रकार का है—(१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्रविनय (४) मनोविनय (५) वचन विनय (६) कायविनय और (७) लोकोपचार विनय । प्रारम्भ के तीन विनय साध्य है और उनके बाद के मनोविनय वचन विनय और कायविनय उनके साधन है । सातवा उपचार विनय है । उन्होने उपचार विनय की दृष्टि से सुखद शब्दावली का प्रयोग किया । वे बोले—"मेरा नम्र सुझाव है कि सघ यदि श्रुताभ्यास के लिये योग्य शिष्यो को यही भज दे तो मै श्रुताभ्यास करने वाले मुनियो को पर्याप्त समय दूगा । इससे मै अपने आरभ किये हुए ध्यान योग का भी निर्वाह कर लूगा और श्रुतसेवा की सघ की आज्ञा का भी निर्वाह कर लुगा ।

भद्रबाहु स्वामी अपने काल के महान सन्त थे, सन्तो मे शिरोमणि थे । द्वादशागी के ज्ञाता थे । फिर भी सघ के आदेश को उन्होने टाला नही, क्योकि सघ की सत्ता सर्वोपरि होती है । कोई व्यक्ति कितना ही महान क्यों न हो, वह सघ से बड़ा नही होता । उसे सघ के आदेश का अनुसरण करना ही चाहिए । आखिर महान होने पर भी वह संघ का ही एक अग है । सघ से पृथक् व्यक्ति का क्या गौरव है ? इसीलिए शास्त्रो मे सघ को बहुत ऊचा स्थान दिया गया है, उसे भगवान् कहा गया है । आपको विदित होगा कि नन्दीसूत्र मे सामान्य तीर्थंकरो की और भगवान् महावीर की स्तुति मे जहा एक-एक गाथा लिखी गई है, वहां सघ की स्तुति मे अनेक गाथाएं दी गई है और शास्त्रकार ने असाधारण भक्तिपूर्वक सघ की वन्दना की है । इससे जाना जा सकता है कि हमारे पुरातन महापुरुष सघ को कितना उच्च स्थान प्रदान करते थे । सघ को धर्म के क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान मिलना सर्वथा समुचित है, क्योंकि तीर्थंकर भगवान् के शासन का वह आधार है। उसी मे धर्म का व्यवहार्य रूप दृष्टिगोचर होता है । संघ धर्म का प्रवर्तक और सचालक है । यही कारण है कि धर्म की प्रवृत्ति के लिए तीर्थंकर भगवान् सघ की स्थापना करते है। सघ की सुरक्षा मे धर्म की सुरक्षा और संघ की प्रतिष्ठा मे धर्म की प्रतिष्ठा है ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणो के धारक, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका समूह को सघ कहते है । सख्या मे छोटा हो या बड़ा, गुणो के कारण संघ बड़ा महनीय है। सघ का सगठन सुदृढ़ होता है तो सयम का पालन समीचीन रूप से होता है । संघ मे भेद उत्पन्न होता है तो शासन का तेज मन्द हो जाता है और उसकी शक्ति कम हो जाती है । इसी कारण सघ मे भेद उत्पन्न करना बड़े से बड़ा पाप माना गया है । 'सघे शक्तिः कलौ युगे' यह उक्ति प्रसिद्ध है जिसका आशय यह है कि विशेषतः कलियुग मे सघ मे ही शक्ति निहित होती है ।

भद्रबाहु स्वामी सघ की महिमा से सुपरिचित थे । अतएव उन्होने संघ को उचित आदर प्रदान किया ।

मुनि युगल ने लौट कर संघ को भद्रबाहु का कथन सुनाया । श्रुतसभा उपस्थित थी । श्रुतज्ञान के अमरदीप को प्रज्वलित करने और प्रज्वलित रखने के लिए सन्त जन उद्यत थे ।

अमरदीप हमारे हृदय मे विद्यमान है । उसकी ज्योति को बढ़ाने की आवश्यकता है । वह अमरदीप श्रुतज्ञान का प्रदीप है जो केवल ज्ञान के भास्कर को उदित कर सकता है । यदि श्रुतज्ञान का दीपक न हो तो केवल ज्ञान का भास्कर किस प्रकार उदित हो सकता है ?

भद्रबाहु स्वामी के उत्तर को सुनकर सघ ने जो निर्णय किया उसका दिग्दर्शन आगे कराया जाएगा ।

जो श्रुतज्ञान के भाव दीपक को अपने अन्तर मे प्रज्वलित करेगे उन्ही का दीपमालिका पर्व मनाना सार्थक होगा और उन्ही का शाश्वत कल्याण होगा ।

इस विराट और विशाल सृष्टि मे अनन्त-अनन्त पदार्थ विद्यमान है । अगर उनकी गणना का उपक्रम किया जाय तो अनन्त जन्म मे भी गणना नही हो सकती। उन सबको जान लेना भी छद्मस्थ के सामर्थ्य से बाहर है । ऐसी स्थिति मे वर्गीकरण की पद्धति को अपनाना ही आवश्यक है । प्रतिपादक अपनी विवक्षा के अनुसार विश्व के समस्त पदार्थों को कतिपय राशियो मे विभक्त कर लेता है और फिर उन पर प्रकाश डालता है । उदाहरणार्थ जैन परम्परा मे दार्शनिक दृष्टि से ससार के समस्त पदार्थों को षट विभागो मे विभक्त किया गया है जिन्हे षट द्रव्य की सज्ञा दी गई है। इस विभाजन से समग्र विश्व का रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है अर्थात् हमे प्रतीत हो जाता है कि इस सृष्टि के मूल उपादान तत्त्व क्या क्या और कौन कौन से है ?

किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से जब वर्गीकरण किया जाता है तो मूल तत्त्वा की सख्या नौ निर्धारित की जाती है । अध्यात्म के क्षेत्र मे इस प्रकार का वर्गीकरण ही अधिक उपयुक्त है । मगर इस सम्बन्ध मे विस्तार से विचार करने के लिए यह अवसर अनुकूल नही है । क्योकि इस समय चारित्र का निरूपण चल रहा है अतएव उसी के सम्बन्ध मे प्रकाश डालना है । आचरण की दृष्टि से जगत् के पदार्थों को तीन भागो मे बाटा गया है

(१) हेय–त्याग करने योग्य

(२) उपादेय–ग्रहण करने योग्य और

(३) ज्ञेय–केवल जानने योग्य ।

ससार की सभी वस्तुए इन तीन वर्गों मे समाविष्ट हो जाती है । इसे या भी कहा जा सकता है कि ज्ञेय पदार्थ हेय और उपादेय इन दो भागो मे बाटे जा सकते है ।

अहिसा सत्य, अस्तेय आदि सद्गुण उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है । अगर ये सद्गुण सिर्फ ज्ञेय होकर ही रह जाए तो इनका कोई उपयोग नही है । एक मनुष्य अहिसा के मर्म को जानता है उस पर घटा प्रवचन कर सकता है दूसरे के दिमाग म दिठा सकता है परन्तु उस अपने जीवन म व्यवहृत नहा करता तो इसस उसे क्या लाभ होने वाला है ? कुछ भी नही ।

जिस प्रकार अहिसा आदि व्रत उपादेय है, उसी प्रकार उनके अतिचार त्यागने योग्य है । साधक का कर्त्तव्य है कि जब वह व्रतो को जान कर अगीकार करे तो उनके अतिचारों को भी समझ ले और समझ कर उनसे बचता रहे । जैसे उपादेय वस्तु को जाने बिना उसका उपादान अर्थात् उसको ग्रहण नही किया जा सकता उसी प्रकार हेय वस्तु को जाने बिना उसका हार अर्थात् परिहार नहीं किया जा सकता । इसी कारण शास्त्र में अतिचारो के लिए 'जाणियव्वा न समायरियव्वा' ऐसा पाठ दिया गया है ।

श्रावकधर्म और मुनिधर्म के सभी नियम और संवर, निर्जरा आदरणीय है । प्रत्येक व्यक्ति का धर्म के प्रति आदरभाव होना चाहिए और अतिचारो से बचना चाहिए ।

आनन्द श्रावक यदि अणुव्रतो और शिक्षाव्रतो को मस्तिष्क तक ही रखता और आचरण मे न लाता तो उसके जीवन का उत्थान न होता । वह व्रतो को समझता है और समझने के साथ अगीकार भी करता है । वह व्रत के दूषणो को भी समझता और त्यागता है । व्रत के दोषो का त्याग किये बिना निर्मल व्रतपालन सभव नही है । आनन्द ने सातवे व्रत को ग्रहण करने के साथ पन्द्रह कर्मादानों का त्याग कर दिया, जिनका उल्लेख किया जा चुका है ।

आठवा व्रत अनर्थदण्डत्याग है । जिसके बिना गृहस्थ का काम नही चलता, जो गृहस्थ जीवन मे अनिवार्य है, ऐसी हिंसा का भले ही वह त्याग न कर सके, मगर निरर्थक हिसा के पाप का त्याग तो उसे करना ही चाहिए । जिस हिंसा से किसी प्रयोजन की पूर्त्ति न होती हो, उसके भार से अपनी आत्मा को भारी एव मलिन बनाये रखना बुद्धिमत्ता नही है । आनन्द ने अनर्थदण्ड का त्याग और संकल्प किया कि वह निरर्थक हिसा एव असत्य का व्यवहार नही करेगा । इस सकल्प की पूर्ति के लिए उसने इस व्रत के पाच अतिचारो का भी त्याग किया । अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार है :–

(१) कन्दप्प (कन्दर्पकथा)–जैसे सत्यभामा को भामा और बलराम को राम कह दिया जाता है, उसी प्रकार यहा कन्दर्पकथा को कन्दर्प कहा गया है ।

मनुष्य को निरर्थक पाप नही करना चाहिए, क्योंकि इससे आत्मा मलिन होती है और प्रयोजन कुछ सिद्ध नही होता । अनावश्यक कुतुहल के वशीभूत होकर, श्रृंगार के कारण अथवा दूसरो को प्रसन्न करने के लिए ऐसी बात करना कि जिससे भोग की प्रवृत्ति बढ़े या कामवासना जागृत हो तो वह बेमतलब पाप करना है । हिन्दी साहित्य की रीतिकालीन रचनाओ का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस काल मे

श्रीमन्तों-राजाओं महाराजाओं सामन्तों आदि का मनोरंजन करने के लिए कविगण कामवासनावर्द्धक काव्य लिखा करते थे । आज भी आत्मतत्त्व की बातों से राजी करने की क्षमता न होने से अपने श्रीमन्त स्वामियों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से इंग्लेण्ड, अमेरिका, एशिया आदि देशों की महिलाओं का वर्णन तथा अन्य श्रृंगारिक वर्णन किया जाता है । ठकुरसुहाती करते हुए कहते हैं-आपके अन्तःपुर के समान अन्तःपुर अन्यत्र कहीं नहीं देखा आपके वैभव की सदृशता कोई नहीं कर सकता । इत्यादि बातें कह कर लोगों को प्रसन्न करते हैं ।

ऐसी कन्दर्प कथाओं या काम की वृद्धि करने वाली कथाओं या हास्य कथाओं में कुछ नमक मिर्च लगाकर गढ़ना पड़ता है । और जब ऐसी बातों का अभिनय के साथ कहा जाता है तो वृद्ध एवं उदास व्यक्ति भी एक बार खिलखिला उठते हैं ।

प्रश्न उठता है-प्रसन्न करने से लाभ क्या हुआ ? श्रृंगार भाव या कामवासना को जागृत करने के लिए झूठ बोलने से कौनसा कार्य सिद्ध हुआ ? केवल थोड़ी देर का विकृत विनोद हुआ और लाभ कुछ भी नहीं मिला । ऐसी स्थिति में इस प्रकार की निरर्थक चेष्टाओं द्वारा आत्मा को कलुषित करने की क्या आवश्यकता है ?

आधुनिक युग में चित्रपटों का अत्यधिक प्रचार हो रहा है । मगर अधिकांश चित्रपट गन्दी और अश्लील बातों एवं चेष्टाओं से परिपूर्ण होते हैं। इन चित्रपटों को देखते देखते लोगों का मानस बहुत ही विकृत हो गया है। आज समाज में जितनी बुराइयां आई हैं उनमें से अधिकांश के लिए ये चित्रपट उत्तरदायी हैं । कामलवय बालकों और नवयुवकों के समक्ष जब निर्लज्जतापूर्ण, अश्लील, मर्यादा को नष्ट करने वाले वासनादिवर्द्धक घृणाजनक चित्र उपस्थित किये जाते हैं तब कैसे आशा की जा सकती है कि आगे चल कर वे सुसंस्कारी मर्यादा में चलने वाले सच्चरित्र ब्रह्मचारी बन सकेंगे ? ये चित्रपट दर्शकों के जीवन में नेत्रों की राह से जो हलाहल विष घोल देते हैं उससे उनका समग्र जीवन विषाक्त बन जाता है । नादान बालक भी आज गली-गली में प्रेम के गान गाते फिरते हैं यह इन चित्रपटों की ही देन है।

जनता का अधिक भाग अशिक्षित और असंस्कृत होने से निम्नकोटि के अभिनय और संगीत में रुचि प्रदर्शित करता है । वह निर्लज्जतापूर्ण नग्न या अर्धनग्न चित्रों को देख कर खुश होता है । इसी कारण धन के लालची, चित्रपट निर्माता ऐसे चित्रपट बनवाते हैं और पैसे कमाते हैं । इससे जनता में कितनी बुराइयां फैल रही हैं इसकी उन्हें चिन्ता नहीं उन्हें अपनी तिजोरियां भरने की चिन्ता है । आश्चर्य

तो इस बात का है कि शासन भी इस ओर ध्यान नहीं देता और देश की उज्ज्वल सस्कृति के विनाश को चुपचाप बर्दाश्त कर रहा है । देश के नौनिहाल बालको के भविष्य की भी उसे चिन्ता नही है जिन पर देश और समाज का भार आने वाला है ।

बहुत-सी कहानिया, उपन्यास, नाटक आदि भी ऐसे अश्लील होते है जो पाठकों की रुचि को विकृत करते है और कामवासना की वृद्धि करते है । इन सब चीजों से विवेकशील पुरुषो को बचना चाहिये । घर में गदी पुस्तकों का प्रवेश नहीं होने देना चाहिये । जब तक बालक का संरक्षक किसी चित्रपट को स्वय न देख ले और सस्कार वर्धक या शिक्षाप्रद न जान ले तब तक बालकों को उसे देखने की अनुमति नही देनी चाहिये ।

एक घटना प्रकाश मे आई है । ग्यारह वर्ष के दो बालक चोरी करने निकलते है । उनमे से एक चोरी करने निकलता है और दूसरा द्वार पर रिवाल्वर लेकर खड़ा रहता है । सोचिए यह सब किसका प्रभाव है ? वास्तव मे यह सिनेमा का ही कुप्रभाव है । ऐसी सैकड़ो घटनाये होती है और सिनेमाओ की बदौलत अनगिनत बुराइयां लोगो मे प्रवेश कर रही है । सिनेमा व्यवसायियो को भी सोचना चाहिये कि वे भी समाज के अंग है और उसी समाज मे उन्हे रहना है जिस समाज को वे तीव्रता के साथ पतन की ओर ले जा रहे है । हमारे प्राचीन साहित्य मे अनेकानेक आदर्श और जीवन को उच्च बनाने वाले आख्यान विद्यमान हैं । उन्हे सुयोग्य रूप से न दिखलाकर गन्दे चरित्रो का प्रदर्शन करना किसी भी दृष्टि से सराहनीय नही कहा जा सकता ।

जो लोग नैतिक आदर्शो मे विश्वास रखते हैं, जो सस्कृति के प्रेमी और धर्मानुरागी है उनका कर्तव्य है कि वे इस विषय मे समाज को शिक्षित और सावधान करे । इस बुराई को अधिक समय तक नहीं चलने देना चाहिये ।

सद्गृहस्थ ऐसे पापप्रचारक कार्यो को नही अपनाएगा । धन की प्राप्ति हो तो भी वह पापकृत्यों से दूर रहेगा । लोभ का सवरण किये बिना व्रतो की निर्मलता नहीं रह सकती ।

बोलने और लिखने वाले पर बड़ा उत्तरदायित्व रहता है । यदि वह कन्दर्प कथा मे लिप्त हो तो हजारो-लाखों को बिगाड़ देगा । जो कन्दर्प कथा लिखता है, कहता है या पढ़कर सुनाता है वह दूसरो के चित्त पर हिंसा, झूठ, आरंभ और कुशील का रंग चढ़ाता है । वह अनर्थदण्ड का भागी होता है । बोलने वाला

जितना अहित करता है उससे अधिक अहित लिखने वाला करता है । अत बोल कर या लिख कर धर्म का लाभ देना ही हितकर है । कहा है–

बूट डासन ने बनाया हमने एक मजमू लिखा ।
मुल्क मे मजमू न फैला और जूता चल पडा ।।

किसी देश का राजदूत या राजनायक कोई गलत बात कह जाय तो सारे देश मे आग लग जाती है । आग लगाने और अमृत बरसाने की शक्ति वाणी मे है। अगर वाणी अमृत के बदले हलाहल उगलने लगती है तो समाज देश और विश्व का घोर अहित हो जाता है । भगवान् महावीर कहते है– 'हे साधक । अपनी वाणी का सदुपयोग करना है तो कर मगर अनर्थ वाणी का उपयोग तो न कर । यह न भूल कि वाणी और उसमे भी सार्थक वाणी की शक्ति महान पुण्य के योग से प्राप्त होती है । पुण्य के प्रताप से प्राप्त शक्ति का पाप के उपार्जन मे प्रयोग करना बुद्धिमत्ता नही है ।

वाणी को पाप के मार्ग म लगाया गया तो इससे पेट भी नही भरा और कुछ लाभ भी नही हुआ मगर पाप का बन्ध तो हो ही गया ।

अज्ञानी वाणी का व्यभिचार करता है और ज्ञानी उसका ठीक उपयोग करता है ।

स्व और पर मे ज्योति जगाने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है । महर्षियो ने श्रुत का सकलन अतीव परिश्रम से किया और इस महान कार्य के लिए अपने आराम को भी हराम समझा था । यह श्रुत सरक्षण का कार्य महावीर स्वामी के निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद आर्य सम्भूतिविजय के समय मे हुआ । गगा की धारा के समान श्रुत की धारा कभी बन्द नही हुई । हे साधको । जिस प्रकार आकाश मे सूर्य और चन्द्र शाश्वत है उसी प्रकार श्रुत भी सदैव रहेगा परन्तु उसका प्रचार और प्रसार होगा किसके बल पर ? पुरुषार्थ के बल पर ही ।

सघ ने निर्णय किया– यदि भद्रबाहु वही रह कर आगम सेवा का लाभ दे तो कोई आपत्ति नही । इससे दोनो प्रयोजनो की पूर्ति हो सकेगी । उनका महाप्राण ध्यान भी सम्पन्न हो जाएगा और श्रुत की वाचना भी हो जाएगी ।

भद्रबाहु ने आगम की सात वाचनाए देने का वचन दिया । अत सघ ने अपने श्रमण वर्ग मे से जो विशिष्ट जिज्ञासु थे ज्ञान ग्रहण करने की जिनकी भावना तीव्र थी उन्हे आह्वान किया । पूछा गया कि कौन भद्रबाहु स्वामी के पास जाना चाहता है ? श्रुतसेवी सन्तो मे स्थूलभद्र का पहला नम्बर आया ।

स्थूलभद्र का नाम सुनकर आचार्य सभूतिविजय बहुत प्रसन्न हुए । उन्हे लगा कि वे भद्रबाहु के ज्ञान समुद्र मे से अवश्य ही बहुमूल्य रत्न प्राप्त कर सकेगे । कई अन्य मुनियो को भी उनके साथ भेजने का निश्चय किया गया ।

जिज्ञासु मुनि बड़े साहस और उमग के साथ आचार्य भद्रबाहु के चरणो मे जा पहुँचे । उन्होने वहा पहुँच कर निवेदन किया-"भगवन् ! हम आपकी उपसम्पदा ग्रहण करने हेतु आये है । हमे अपने चरणो मे स्थान दीजिए । अब हम आपके नियन्त्रण और निर्देशन मे रहेगे ।"

भद्रबाहु जैसे असाधारण गुरु को पाकर स्थूलभद्र ने अपने को कृतार्थ माना। उन्होने सोचा-'मै धन्य हूँ कि मुझे इस युग के सर्वश्रेष्ठ जिनागमवेत्ता, सिद्धान्त के पारगामी महामुनि से ज्ञानलाभ करने का सुयोग मिला है ।' उधर भद्रबाहु स्वामी भी सुपात्र शिष्य पाकर प्रसन्न थे ।

पूर्वकाल मे ज्ञान देने के लिए पात्र-अपात्र का बहुत ध्यान रखा जाता था। अपात्र को विद्या देना उसके लिए और दूसरो के लिए भी हानिकारक समझा जाता था । सुपात्र न मिलने के कारण कई विद्याए न दी गईं और वे नामशेष हो गई । वे विद्याए विद्यावानो केसाथ ही चली गईं पर अपात्र को नही दी गई ।

महामुनि भद्रबाहु ने ज्ञानार्थी मुनियो को सूचित किया-'दिन और रात्रि मे सात वाचनाए दे सकूगा-दो प्रात.काल, दो मध्यान्ह मे और तीन रात्रि मे ।'

सोचने की बात है कि इतना समय श्रुतपाठन के लिए देने और साथ ही महाप्राण ध्यान की प्रक्रिया को चालू रखने पर उन्हे विश्रान्ति के लिए कितना समय बचा होगा ? मगर उन्हे अमरदीप जगाना था । श्रुत की जो अविच्छिन्न धारा उन तक पहुँची थी उसे आगे बढ़ाना था । वे भली-भाँति समझते थे कि मेरे ऊपर गुरु का जो महान ऋण है उसे चुकाने का एकमात्र उपाय यही है कि उनसे प्राप्त किया हुआ अनमोल ज्ञान किसी सुपात्र शिष्य को दिया जाय । इस प्रकार की उच्च्य एव उदार विचारधारा की बदौलत ही श्रुत की परम्परा बराबर चालू रह सकी ।

आचार्य भद्रबाहु ने अपने विश्राम आदि की चिन्ता न करते हुए ज्ञान-आलोक के प्रसार मे महत्वपूर्ण योग प्रदान किया । आज हमे जिनेन्द्रदेव की वाणी पढ़ने और सुनने को मिल रही हे, इसका श्रेय अतीत के उन महर्षियो को ही है जिन्होने अनेक प्रतिकूल परिस्थितियो मे, अनेक प्रकार के सकटो का सामना करते हुए भी श्रुत की परम्परा को बनाए रखा । हमे उनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए ।

उस काल की तुलना मे आज श्रुत के पठन-पाठन मे बहुत सहूलियत हो गई हे । ऐसी स्थिति मे हमे चाहिए कि वीतराग भगवान की वाणी का गहराई के

साथ अध्ययन मनन करे और उसके पठन-पाठन मे योग्यता के अनुसार अपना योग प्रदान करे । स्वाध्याय के द्वारा श्रुत का सरक्षण व प्रसारण करना हम सबका कर्त्तव्य है । ऐसा करने से इस लोक और परलोक मे परम कल्याण होगा ।

कल कहा गया था कि साधना के मार्ग पर चलने वाला सावधान साधक दो बाते सदा ध्यान मे रखे–(१) उपादेय क्या है और (२) हेय क्या है ? इन दोनो बातो का वह ध्यान ही नही रखता बल्कि उपादेय को अपने जीवन मे यथाशक्ति अपनाता और हेय का परित्याग करता है । अगर ग्रहण करने योग्य को ग्रहण न किया जाय और छोडने योग्य को छोडा न जाय तो उन्हे जानने से क्या लाभ है ? रोग से मुक्त होने के लिए औषध को और अपथ्य को जान लेना ही पर्याप्त नही है वरन् औषध को सेवन करना और अपथ्य को त्यागना भी आवश्यक है । प्रत्येक सिद्धि को प्राप्त करने के लिए, चाहे वह लौकिक हो अथवा लोकोत्तर ज्ञान के साथ क्रिया की भी *अनिवार्य आवश्यकता होती है । क्रियाहीन ज्ञान और ज्ञानहीन क्रिया से कभी* कोई सिद्धि प्राप्त नही की जा सकती ।

किन्तु ग्राह्य क्या है और त्याज्य क्या है इसका निर्णय अत्यन्त सावधानी के साथ करना चाहिए । बहुत बार लोग धोखा खाते है बल्कि सत्य तो यह है कि ससारी जन प्राय भ्रम मे पडे हुए है । वे हेय को उपादेय और उपादेय को हेय समझ कर प्रवृत्ति कर रहे है और इसी कारण सुख को प्राप्त करने और दुःख से छुटकारा पाने की तीव्र अभिलाषा और घोर प्रयत्न करने पर भी उनका मनोरथ सफल नही हो पाता । जीव अनादि काल से ससार मे विविध प्रकार की आधि-व्याधि और उपाधियो का शिकार हो रहा है । वह इनसे बचने के लिए जो उपाय करता है विवेक के अभाव मे वे उलटे दुःखप्रद सिद्ध होते है । वह बाह्य पदार्थों के सग्रह मे सुख देखता है और उनकी ही प्राप्ति मे समस्त पुरुषार्थ लगा देता है । किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि पर पदार्थो का सयोग सुख का नही दुःख का ही कारण होता है। *अतएव बाह्य पदार्थों की ओर से जितनी जितनी निवृत्ति साधी जाएगी उतनी ही उतनी* शान्ति एव निराकुलता प्राप्त हो सकेगी ।

गृहस्थ आनन्द ने प्रभु के चरणो मे बैठकर हेय और उपादेय की वास्तविक जानकारी प्राप्त की । यदि किसी साधारण छद्मस्थ से उन्हे जानता तो उसमे कमी रह सकती थी । भ्रम या विपर्यास भी हो सकता था । किन्तु भगवान् महावीर से हेय-उपादेय का विवेक प्राप्त करने मे कमी या विपर्यास होने की गुजाइश नही थी ।

विक्षेप के सभी कारण छोडने योग्य होते है । अच्छा कपडा पहनने पर भी उसमे मल लग जाता है । समझदार व्यक्ति मल को उपादेय नही मानता अतएव उस

हटा देता है । इसी प्रकार व्रत मानो स्वच्छ चादर है । साधक यही प्रयत्न करता है कि व्रत रूपी चादर मे मल न लगने पाए । फिर भी विवशता, चचलता या प्रमाद के कारण मल (अतिचार) लग जाय तो उसे साफ कर लेना चाहिए अर्थात् आलोचना आदि करके अतिचार का शोधन कर लेना चाहिए ।

इसके लिए व्रत के अतिचारो को जानना आवश्यक है । जो मल के स्वरूप को ही नही समझेगा वह उसे कैसे साफ करेगा ? अनर्थदण्डविरमण व्रत के अतिचारो मे से पहले अतिचार का स्वरूप समझाया जा चुका है । आगे के अतिचारो पर प्रकाश डालना है । उनमे से दूसरा अतिचार कौत्कुच्य है ।

(२) कोत्कुच्य–कुछ व्यक्तियों मे विदूषकपन की वृत्ति देखी जाती है । वे शरीर के अगो से ऐसी चेष्टा करते है जिससे दूसरे को हँसी आ जाय । यह भांडवृत्ति है । इन विदूषको के क्रिया-कलाप को देख कर लोग प्रसन्न होते है और कुतुहलवश जमा हो जाते है । भाडचेष्टा करने वाला अपनी इन चेष्टाओं द्वारा अर्थ का उपार्जन करता है । किन्तु साधक को ऐसी चेष्टाए नही करनी चाहिए, क्योकि ऐसा करने से कामराग, हिसा असत्य आदि दोषो को प्रोत्साहन मिलता है । अतएव साधक शरीर की कुचेष्टा से अथवा वाणी के द्वारा अनर्थदण्ड न करे ।

(३) मोहरिए (मौखर्य)–आवश्यकता से अधिक बोलना, वृथा बकवास करना, सदैव वड़वड़ाते रहना मौखर्य कहलाता है ।

वाणी मुख की शोभा है । वाणी से मनुष्य की सज्जनता एव दुर्जनता का अनुमान होता है । उसके हृदयगत भाव वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होते है । अतएव वाणी को मनुष्य के व्यक्तित्व की कसौटी कहा जा सकता है । इतना ही नही, कभी-कभी उसकी बदौलत घोर अनर्थ भी होते देखे जाते है । सभल कर वाणी का प्रयोग न करने से लड़ाई-झगड़े तक हो जाते है । एक गलत शब्द के प्रयोग से बना-बनाया काम बिगड़ जाता है और एक सुविचारित वाक्य से बिगड़ा काम बन सकता है । विचारपूर्वक न बोलने से मनुष्य अपने शत्रु बना लेता है । इसीलिए कहा जाता है कि पहले तोलो, फिर बोलो । चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, वाणी का उपयोग अगर सोच-विचार कर न करे तो परिणाम अनिष्टकर निकलता है । कहते है–द्रोपदी के एक अविचारित एव आक्षेपजनक वचन की बदौलत महाभारत जैसा भीषण युद्ध हुआ जिसमे लाखों मनुष्य मारे गए और भारतवर्ष की इतनी शक्ति विनष्ट हुई कि उसकी कमर ही टूट गई ।

आग पर हाथ रखा जाय तो चाहे पण्डित हो या मूर्ख, दोनो का ही हाथ जलेगा । आग पण्डित और मूर्ख का भेद नही जानती । उसके स्पर्श का फल

सभी को समान रूप से भोगना पडता है । इसी प्रकार कुवाणी के प्रयोग का फल सभी के लिए घातक सिद्ध होता है । कुवचन बोलना पाप है और पाप आग की तरह जलाने वाला है । कदाचित् नासमझ बालक आग से हाथ जला ले तो उतना बुरा नही समझा जाएगा परन्तु समझदार ऐसा करेगा तो अधिक उपहास तथा आलोचना का पात्र बनेगा ।

वाणी आन्तरिक चेतना की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन ही नही अनेकानेक व्यवहारो का माध्यम भी है । सफल वक्ता हजारो लाखो विरोधियो को अपनी वाणी के जादू से प्रभावित करके अनुकूल बना लेता है ।

एक तरुण व्यक्ति किसी गाव म एक किसान के घर गया । किसान के साथ उसका लेन देन का व्यवहार था । वह खाने के लिए थोडे से धान के दाने ले गया । किसी गाव मे घूघरी बना कर खा लेंगे यह सोच कर वह चल दिया । रास्ते मे उसे खेडा मिला । वहा एक बुढिया ने उसे राम राम किया । उस तरुण ने कहा– भूख बहुत लगी है, रोटी बनाने की सुविधा नही है । धान के दाने मेरे पास है क्या घूघरी बना दोगी ?'

बुढिया घूघरी बना देने को राजी हो गई । उसने एक हाडी मे दाने डाल दिये और आगत तरुण से कहा– कुछ देर बैठे रहना या निपटना हो तो निपट आओ । मै अभी आती हूँ ।

तरुण ने एक बढिया भैस की ओर सकेत करके प्रश्न किया कि यह भैस किस की है ?

उत्तर मिला– अपनी ही है ।'

"बाहर क्यो नहीं निकलती ?'

' नजर न लग जाय, इसलिये ।

इसके बाद उस असयत वाणी बोलने वाले तरुण ने बिना सोचे समझे प्रश्न किया – यदि भैस मर जाय तो इतनी छोटी सकीर्ण बाडी म से कैसे बाहर निकालोगी ?

बुढिया को रोष आया मगर उस तरुण का घर आया तथा नासमझ समझ कर क्षमा कर दिया ।

तरूण घर मे ही बैठा रहा । बुढिया तब तक अपनी बहू के साथ पानी लेकर आई । दूसरी कौन है यह पूछने पर बुढिया ने बतलाया– यह बहू है । तरुण

ने कहा–'वहू अच्छी है और चुनरी भी अच्छी हे, मगर तुम्हारा पुत्र कहा है ?' वुढ़िया वोली–'शाम को घर आता हे ।'

तरुण ने फिर मूर्खता का परिचय देते हुए कहा–"यदि पुत्र की गमी का समाचार आ जाय तो ?"

यह अमगल वाणी सुनकर वुढ़िया के क्रोध की सीमा न रही । वह पानी का घड़ा उसके ऊपर पटकने को तैयार हो गई किन्तु अभ्यागत समझ कर रुक गई। कपड़े मे घूघरी देकर उसे घर से भगा दिया ।

रास्ते मे घुघरी का पानी टपकते देख किसी ने पूछा–'यह क्या झर रहा है?'

उसने उत्तर मे कहा–"जिभ्या का रस झरे, वोल्या विना नही सरे ।"

इस दृष्टान्त से हमें सीख लेनी चाहिए कि–वाणी मित्र बनाने वाली होनी चाहिए, मित्र को शत्रु बनाने वाली नही ।

ऊपरी दृष्टि से ऐसा प्रतीत होगा कि ऐसा वोलने में झूठ का पाप नही लगता मगर गहरा विचार करने से पता चलेगा कि विना विचारे वोली गई वाणी असुहावनी तथा वेसुरी लगती है । विनयचदजी ने कहा है–

'विना विचारे वोले वोल
ते नर जानो फूटा ढोल ।'

जो मनुष्य बिना विचारे वोलता है उसका वोलना फूटे ढोल की आवाज के समान है । उसकी कोई कीमत नही । अच्छी वाणी वह है जो प्रेममय मधुर और प्रेरणाप्रद होती है ।

वचनो के द्वारा ही मनुष्य के आन्तरिक रूप का साक्षात्कार होता है । मनुष्य जब तक बोलता नही तव तक उसके गुण-दोष प्रकट नही होते, मगर उसके मुख से निकलने वाले थोड़े-से बोल ही उसकी वास्तविकता को प्रकट कर देते हैं । वाणी मनुष्य के मनुष्यत्व की कसौटी है । कहा गया है–

ना नर गजां ते नापिए, ना नर लीजिए तोल,
परशुराम नर नार का, वोल वोल मे मोल ।

वचन के द्वारा ही समझ लिया जाता है कि मनुष्य कैसा है ? इसके संस्कार और कुल कैसे है ?

एक ठाकुर साहब की सवारी किसी गाव मे होकर निकली । एक सूरदास अपने चबूतरे पर बैठा था । ठाकुर साहब ने कहा– 'महाराज सूरदासजी राम राम । '

सूरदास– राजा महाराजा राम राम'

दूसरे कामदार पीछे-पीछे निकले । उनके अभिवादन म सूरदास ने कहा– कामदारा । राम राम'

उनके बाद दरोगा निकले तो सूरदास बोले– 'दरोगा, राम-राम । अन्त मे नौकर आये । उन्होंने सूरदास का अभिवादन किया– अन्धे राम राम । सूरदास ने उत्तर मे कहा–"गोला । राम राम ।'

सूरदास देख नही सकता था कि पथिको मे कौन ठाकुर और कौन चाकर है फिर भी वह उनके अभिवादन करने वाले वचनो को सुनकर ही समय गया कि इनमे कौन क्या है ?

वास्तव म सभ्य कुलीन और समझदार व्यक्ति शिष्टतापूर्ण भाषा का प्रयोग करता है जब कि ओछा आदमी ओछी जबान का उपयोग करता है ।

जो पुरुष व्रता को अगीकार करता है वह अपनी वाणी का दुरुपयोग न करके सदुपयोग ही करता है । व्रती की नीति यह नही होती कि पहले गन्दगी को बढने दे और फिर उसकी सफाई करे । वह गदगी से पहले से ही दूर रहता है नीतिकार ने कहा है–

प्रक्षालनाद्धि पकस्य दूरादस्पर्शन वरम् ।

पहले कीचड लगाकर उसे धोने की अपेक्षा कीचड से दूर रहना और उसे न लगने देना ही उत्तम है ।

भारत की सस्कृति आत्म चिन्तन प्रधान है । उसकी सम्पूर्ण दार्शनिक विचारधारा और आचार नीति आत्मा को ही केन्द्र बिन्दु मानकर चली है । पाश्चात्य देशा के आचार विचार मे यह बात नही है । उनकी दृष्टि सदा बहिर्मुख रहती है । भारतीय जन के मानस म आत्मा सम्बन्धी विचार रहता ही है इस कारण वे उपासना सध्या आदि के रूप म अन्तःशुद्धि की ओर कदम बढाते है । पश्चिम वाले घर एव फर्नीचर की हालत ऐसी रखते है जैसे कल ही दीवाली मनाई गई हो । दोना दृष्टिकोणो को ध्यान म रखकर हम सीख लेनी है और सोचना है कि मनुष्य के लिए शाश्वत सुख और शान्ति का मार्ग क्या है ?

मनुष्य को स्वभावतः एक अनमोल रत्न प्राप्त है जो चिन्तामणि से भी अधिक महत्वपूर्ण है । अगर उसका सही उपयोग किया जाय तो कहीं और कभी भी

ओर इस प्रकार वहुसख्यक ग्रन्थ पढ़ लिए गए तो भी उनसे अभ्यास का प्रयोजन पूर्ण नही होता । इस प्रकार पढ़ने वाला दीर्घ काल मे भी विद्वान नही बन पाता ।

कई साधु-सन्त यह सोचते है कि इस समय पढ़ाने वाले का सुयोग मिला है तो अधिक से अधिक समय लेकर अधिक से अधिक ग्रन्थ वाच कर समाप्त कर दे । वाद मे उन पर चिन्तन करेंगे, उनका अभ्यास कर लेंगे और पक्का कर लेंगे । किन्तु इस प्रकार की वृत्ति से अधिक लाभ नही होता । जल्दी-जल्दी में जो सीखा जाता है वह धारणा के अभाव मे विस्मृति के अधकार मे विलीन हो जाता है और जो समय उसके लिए लगाया गया था वह वृथा चला जाता है । अतएव सुविधा के अनुसार जो भी अध्ययन किया जाय वह ठोस होना चाहिए । जितना जितना पचता जाय उतना ही उतना नवीन सीखना चाहिए । ऐसा करने से अधिक लाभ होता है। विद्वानो मे यह कहावत प्रचलित है कि थोड़ा-थोड़ा सीखने वाला थोड़े दिनो मे और वहुत-वहुत सीखने वाला वहुत दिनो मे विद्वान बनता है । इस कहावत मे वहुत कुछ तथ्य है । जैसे एक दिन मे कई दिनो का भोजन कर लेने का प्रयत्न करने वाले को लाभ के वदले हानि उठानी पड़ती है, उसी प्रकार वहुत-वहुत पढ़ लेने किन्तु पर्याप्त चिन्तन-मनन न करने से और कण्ठस्थ करने योग्य को कण्ठस्थ न करने से लाभ नहीं होता । अत. ज्ञानाभ्यास मे अनुचित उतावली नही करनी चाहिए ।

मुनि स्थूलभद्र ने अधैर्य को अपने निकट न फटकने दिया । वे स्थिर चित्त से वही जमे रहे ओर अभ्यास करते रहे । उन्होने विचार किया—'गुरुजी के आदेश से जिज्ञासु होकर मै यहा आया हूँ,' अतएव वाचना देने वाले की सुविधा के अनुसार ही मुझे ज्ञान ग्रहण करना चाहिए ।

सुपात्र समझकर भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को अच्छी शिक्षा दी । शेष साधु सभूतिविजय के पास चले गए । उनके चले जाने पर भी स्थूलभद्र निराश या उदास नही हुए । सच्चे जिज्ञासु होने के कारण उन्होने कष्टो की परवाह नही की । उचित आहार आदि प्राप्त न होने पर भी उन्होने अपना अध्ययन चालू रखा । सात वाचनाए जारी रही ।

चौदह पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवली केवली के समकक्ष माने जाते है । स्थूलभद्र को ऐसे महान् गुरु प्राप्त हुए । उन्होने अपना अहोभाग्य माना और ज्ञान के अभ्यास मे अपना मन लगाया । यदि इस लोक और परलोक को सुखमय बनाना है तो आप भी ज्ञान का दीपक जगाइए । हमे उन महान् तपस्वियो से यही सीख ग्रहण करनी चाहिए जिन्होने श्रुत की रक्षा करने मे अपना वहुमूल्य जीवन लगाया है ।

जो महापुरुष आत्मोत्थान के सोपानो को पार करते करते पूर्ण सुख और शान्ति की मजिल तक जा पहुँचे, उन्होंने ससार के दुख पीडित प्राणियो के उद्धार के लिए अनन्त करुणा से प्रेरित होकर स्वानुभूत एव आचीर्ण मार्ग का अपनी वाणी द्वारा प्रकाश किया। उनकी वही वाणी कालान्तर मे लिपिबद्ध हुई जो श्रुत या आगम के नाम से आज भी हमारे समक्ष है। इस प्रकार श्रुत का महत्व इस बात मे है कि उसमे प्रतिपादित तथ्य साधना मे सफलता प्राप्त करने वाले महान् ऋषियो के आचीर्ण प्रयोग है अनुभव के सार है तथा गम्भीर एव दीर्घकालीन चिन्तन के परिणाम है।

वीतराग पुरुषो ने यह समझकर कि ससार के जीवो को शान्ति प्रदान करने की आवश्यकता है, शास्त्र के द्वारा शान्ति का मार्ग प्रदर्शित किया है। उन्होंने सन्देश दिया है कि अशान्ति का कारण दुख है। हिसा और अनावश्यक रूप से बढी हुई आवश्यकताए कम हो जाए तो दुख कम हो जाएगा। अतएव उन्होंने हिसा और परिग्रह से दूर रहने पर जोर दिया है। हिसा और परिग्रह परस्पर सम्बद्ध है। जहा हिसा होगी वहा परिग्रह और जहा परिग्रह है वहा हिसा होना अनिवार्य है। दोनो का गठबन्धन है।

परिग्रह और हिसा की वृत्ति पर अगर अकुश न रखा गया तो स्वय को अशान्ति होगी और दूसरो की अशान्ति का भी कारण बनेगी। मगर प्रश्न यह है कि हिसा और परिग्रह की वृत्ति को रोका कैसे जाए ? मानव का मस्तिष्क और हृदय बहुत दुर्बल है। वह गलत या सही जहा भी क्षणिक सुख सुविधा देखता है उसी ओर झुक जाता है। चाहे परिणाम कुछ भी हो इस क्षणिक सुख की बदौलत चाहे कितना ही दुख भविष्य मे भोगना पडे मगर मनुष्य एक बार उस ओर प्रवृत्त हुए बिना नही रहता। ऐसी स्थिति मे कौन सा उपाय अपनाया जाय जिससे मनुष्य का निरकुश मन अकुश मे आए ? इस प्रश्न के समाधान के लिए भगवान् वीतराग ने व्रतविधि की योजना की है। व्रतो के द्वारा मन को मजबूत करके पाप को सीमित करने का मार्ग प्रस्तुत किया गया है। मनुष्य जब व्रत अगीकार करता है तो उसका जीवन् नियन्त्रित हो जाता है। व्रत के अभाव मे जीवन का कोई सदुद्देश्य नही रहता। जब व्रत अगीकार कर लिया जाता है तो एक निश्चित लक्ष्य बन जाता है। व्रती पुरुष कुटुम्ब, समाज तथा देश मे भी शान्ति का आदर्श उपस्थित कर सकता है और स्वय भी अपूर्व शान्ति का उपभोक्ता बन जाता है। व्रती का जीवन दूसरो को पीडा प्रदायक नही होता किसी को उत्ताप नही देता। वह धर्म न्याय शान्ति सहानुभूति करुणा और सवेदना जैसी दिव्य भावनाओ का प्रतीक बन जाता है। अतएव जीवन मे व्रतविधान की अत्यन्त आवश्यकता है।

महर्षियों ने शान्ति और कल्याण का जो उपदेश दिया है वह पात्र के पास पहुँचकर सफल बनता है । उपजाऊ जमीन पाने से बीज की कीमत होती है । जिस प्रकार सड़क जैसे एव पथरीले स्थल में डाला हुआ बीज फलवान् नही होता; इसी प्रकार अपात्र को दिया गया उपदेश भी निष्फल जाता है ।

आनन्द महावीर स्वामी के चरणो मे योग्य पात्र बनकर आया । उसके हृदय-रूपी उर्वरा प्रदेश मे भगवान् ने जो उपदेश का बीज बोया वह अकुरित हुआ, फलित हुआ । इससे उसके जीवन को अपूर्व प्रकाश मिला । उसने अद्भुत शान्ति का अनुभव किया । वह दूसरो के समक्ष भी मार्ग प्रस्तुत करने लगा । वह स्वय ज्ञान को ग्रहण करके दूसरो के लिए दीपक बना ।

मगर व्रती जीवन की पवित्रता इस बात मे है कि जिस भावना एव सकल्प शक्ति से व्रत को स्वीकार किया गया है, उसे सदैव जागृत रखा जाय, उसमे कमजोरी न आने दी जाय । अक्सर ऐसा होता है कि किसी प्रसंग पर मनुष्य की भावना ऊपर उठती है और वह मगलमय मार्ग पर प्रयाण करने को उद्यत हो जाता है किन्तु थोड़े समय के पश्चात् उसका जोश ठडा पड़ जाता है और स्वीकृत व्रत में आस्था मन्द हो जाने पर वह गली-कूचा खोजने लगता है । यह गली-कूचा खोजना या व्रत की मर्यादा को भग करने का मार्ग निकालना ही अतिचार कहलाता है । अतिचार के सेवन से व्रत का वास्तविक उद्देश्य नष्ट हो जाता है । उससे आत्मा को प्राप्त होने वाली शान्ति प्राप्त नही होती । अतएव गृहस्थ के सभी व्रतों के साथ पाच-पाच अतिचारो का वर्णन किया गया है, जिससे व्रती पुरुष उनसे भलीभाँति परिचित रहे और बचता भी रहे ।

इसी दृष्टिकोण से यहा व्रतो के विवेचन के साथ उनके अतिचारो का भी निरूपण किया जा रहा है । अनर्थदण्ड के अतिचारो मे कन्दर्पकथा, कौत्कुच्य और मौखर्य के विषय मे कहा जा चुका है । उनकी सक्षेप मे व्याख्या भी की जा चुकी है । यहा चौथे अतिचार पर विचार करना है ।

(४) सयुक्ताधिकरणता :–उपकरण और अधिकरण में शाब्दिक दृष्टि से बहुत अन्तर न होते हुए भी दोनो के अर्थ मे महान् अन्तर है । धर्म का साधन उपकरण कहलाता है, जब कि अधिकरण वह है जो पाप का साधन हो । जिसके द्वारा आत्मा दुर्गति का अधिकारी बने वह अधिकरण 'अधिक्रियते आत्मा दुर्गतौ येन तदधिकरणम्' ऐसी अधिकरण शब्द की व्युत्पत्ति है ।

अधिकरण दो प्रकार के है–द्रव्य-अधिकरण और भाव-अधिकरण । तलवार, बन्दूक आदि पौद्गलिक शस्त्रादि जो हिसा के साधन हैं, द्रव्याधिकरण कहलाते है और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अप्रशस्त भाव भावाधिकरण ।

कैंची चाकू, फावडा कुदाली कुल्हाडी, कटार तलवार आदि साधन गृहस्थ को किसी वस्तु के छेदन भेदन आदि प्रयोजनो के लिए रखने पडते है । किन्तु सद्गृहस्थ उन्हे इस प्रकार रखेगा कि सहज ही दूसरा उन्हे गलत काम मे न ले सके। वह बदूक मे गोली भर कर नही रखेगा । अनिवार्य आवश्यकता के समय ही वह इनका उपयोग करेगा । इनके निर्माण का धधा भी नही करेगा । इन खतरनाक औजारो को ले करके वह खुली जगह मे जहा से वे अनायास ही उठाए जा सके और उपयोग मे लिये जा सके नही रखेगा । ऐसा करना बडे खतरे का काम है । इससे कई बार अनेक-अनेक दु ख-जनक दुर्घटनाए हो जाती है । घर के बच्चे खेल के लिए उन्हे उठा सकते है और स्वय उसके शिकार हो सकते है । दूसरे बच्चे भी उनके निशाना बन सकते है । अडौसी पडौसी उन्हे उठा ले जा सकते है। ऐसा हो तो निरर्थक ही भीषण अनर्थ हो जाता है ।

घर मे कोई आक्रमणकारी आजाए, डाकू हमला कर दे या इसी प्रकार की कोई अन्य घटना घटित हो जाय तो उन औजारो का उपयोग करना अर्थदण्ड है । अर्थदण्ड का त्याग श्रावक की व्रत मर्यादा मे नही आता । बहू-बेटी की मर्यादा की रक्षा देश की रक्षा आदि का प्रसग उपस्थित होने पर व्रती श्रावक कायरता प्रदर्शित नही करेगा । वह अहिसा की दुहाई देकर अपने कर्त्तव्य से बचने का प्रयत्न भी नही करेगा । वह शस्त्र धारण करेगा और शत्रु का दृढतापूर्वक सामना करेगा । अनेक श्रावको ने ऐसा किया है । किन्तु निरर्थक हिसा से वह पूरी तरह बचता रहेगा । उसके द्वारा ऐसा कोई कार्य न होगा जिससे बेमतलब खून खराबा या हिसा हो । वह बिना हेतु हिसक साधनो को सुसज्जित करके खुली जगह मे रखेगा तो स्वय को सदा आशका बनी रहेगी कि कोई उठा न ले । सैनिक भी यदि व्रती है तो वह खुले रूप मे जब वह अनिवार्य रूप से आवश्यक समझेगा तभी उन शस्त्रास्त्रो का उपयोग करेगा।

तात्पर्य यह है कि अनर्थदण्ड विरमण व्रत का आराधक हिसा के साधनो को तैयार करके अर्थात् उनके विभिन्न भागो को जोड कर नही रखता क्योंकि उससे निरर्थक हिसा होने की समावना रहती है । यह हिसा-प्रदान नामक अनर्थदण्ड का अतिचार है ।

(५) उपभोग परिभोगातिरिक्तता-भोग और उपभोग की वस्तुओ का निरर्थक सग्रह करके रखना भी श्रावक के लिए अतिचार है । बढिया साडी, ओढनी धोती आदि देखकर आवश्यकता न होने पर भी खरीद लेना या अन्य पदार्थो का बिना प्रयोजन सग्रह करना महावीर स्वामी ने पाप कहा है । शीतकाल मे गरम कपडे

चाहिए और ग्रीष्मकाल मे पतले, यह तो ठीक हे, मगर कई कई पोशाके गरम कपड़ो की होने पर भी कही कोई नयी डिजाइन दिखाई दी और तवियत मचल गई । उसे खरीद लिया । इस प्रकार गरम कपड़ो से पेटिया भरली । मलमल आदि के कपड़ो की पेटिया अलग भरी हुई है । यह सव अनावश्यक सग्रह हे ।

मनुष्य के दो ही पेर होते है और उनकी सुरक्षा के लिए एक जोड़ा जूता पर्याप्त है । मगर सेठ साहव ओर वावू साहव प्रतिदिन वही जूता पहने, प्रातकाल पहना हुआ जूता सायकाल पहने तो वडप्पन कैसे सुरक्षित रहेगा ? अतएव पैरो की सुरक्षा के लिए भले एक ही जोड़ा जूता चाहिए मगर वड़प्पन की सुरक्षा के लिए कई जोड़िया चाहिए ।

आज लोगो की ऐसी दृष्टि वन गई हे । कपड़ा और जूता उपयोगिता के क्षेत्र से निकल कर श्रृगार ओर वड़प्पन के साधन वन गए है । इस दृष्टि भेद का ही परिणाम है कि लोग विना आवश्यकता के भोगोपभोग की वस्तुओ का सग्रह करते है और दूसरो के समक्ष अपना वड़प्पन दिखलाते हे । इससे गृहस्थो का जीवन सरल-स्वाभाविक न रहकर एकदम कृत्रिम और आडम्वरपूर्ण हो गया है । जहां देखो वही दिखावट है । शान-शोकत के लिए लोग आडम्वर करते है । प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमे जो है, उससे अन्यथा ही अपने को प्रदर्शित करना चाहता है । अमीर अपनी अमीरी का ठसका दिखलाता हे । गरीव उसकी नकल करते है और अपने सामर्थ्य से अधिक व्यय करके सिर पर ऋण का भार वढ़ाते हे । इन अवास्तविक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के अनैतिक उपायो का अवलम्वन लेना पड़ता है । इस कारण व्यक्ति, व्यक्ति का जीवन दूषित हो गया हे और जव व्यक्तियो का जीवन दूषित होता है तो सामाजिक जीवन निर्दोष कैसे हो सकता है ?

कपड़ो और जूतो की फसल आने का कोई नियत समय नही है । वे बारहो मास बनते रहते है ओर जब आवश्यकता हो तभी सुलभ हो सकते है । फिर भी लोग सन्दूक भर कर कपड़े सग्रह करते और जूते इतने अधिक कि सजा कर रख दिये जाय तो मोची की एक खासी दुकान बन जाय; यह भोगोपभोग के साधनो का वृथा सग्रह निरर्थक आरम्भ और परिग्रह का कारण है ।

कई वार व्यापारिक दृष्टि से भी वस्तुओ का सग्रह किया जाता है । खाद्यान्नों का सग्रह भी किया जाता है । व्यापारी वर्ग के लिए एक सीमा तक यह सग्रह-वृत्ति क्षम्य हो सकती है, पर सीमा का उल्लघन करके किये जाने वाले सग्रह से अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते है । किसी वर्ग को यह नही भूलना चाहिए कि वह जो भी व्यापार-धन्धा करता है, वह समाज एव देश को हानिकारक नही होना चाहिए।

आज इस देश मे अनाज पर्याप्त नही उत्पन्न होता और विदेशो से मगाकर जनता की आवश्यकता की पूर्ति की जाती है । अतएव ऐसे भी अवसर आते है जब अनाज की कमी महसूस होने लगती है । उस समय अनाज के व्यापारी अगर अपने गोदामो को बन्द कर दे, प्रजा के अन्नाभाव जनित सकट से लाभ उठाने का प्रयत्न करे और लोगो को भूखा मरते देख कर भी न पसीजे तो यह महान् अपराध है, क्रूरता है । यह व्यापारिक नीति नही । पदार्थ की रमणीकता को देखकर अनावश्यक रूप से उसका सग्रह कर लेना और भोगोपभोग की सीमा को बढाना आरम्भ की वृद्धि करना है चाहे वह खाद्य पदार्थ हो वस्त्र हो या औषध आदि हो ।

सूती वस्त्रो से क्या काम नही चल सकता ? करोडा मनुष्य ऐसे है जिन्हे रेशमी और ऊनी वस्त्र प्राप्त नही होते ? क्या वे जीवित नही रहते ? शीत और गर्मी से उनके शरीर की रक्षा नही होती ? उनकी लज्जा की रक्षा नही होती ? बीमारी होने पर साधारण अहिसक औषधियो से उपचार होता रहा है । जब एलोपैथिक दवाओ का आविष्कार नही हुआ था तब एक से एक बढ कर प्रभावोत्पादक औषधे इस देश मे प्रचलित थी । उनसे चिकित्सा होती थी । उस समय के लोग आज की अपेक्षा अधिक दीर्घजीवी होते थे । किन्तु आज घोर हिसाकारी औषधो का प्रचार बढता जा रहा है साथ ही नये नये रोग बढते जा रहे है और अल्पायुष्कता भी बढती जा रही है। फिर भी लोग अन्धाधुन्ध विलायती औषधो के प्रयोग से बाज नही आते।

बडी बडी वस्त्र मिलो और कारखानो की स्थापना से प्रजाजनो की आजीविका छिन गई है । हजारो हाथ जो काम करते थे, उसे एक मशीन कर डालती है । बेरोजगारी की समस्या उलझती जा रही है । फिर भी दिन-ब-दिन नवीन कारखाने खुलते जाते है । उनके कारण महारम्भ और हिसा की वृद्धि हो रही है ।

जिन देशो मे अहिसा की परम्परा नही है, जिन्हे विरासत मे अहिसा के सुसस्कार नहीं मिले है वहा यदि ऐसी वस्तुओ को प्रोत्साहन मिले तो उतने खेद और आश्चर्य की बात नही किन्तु भारत जैसा देश जो सदैव अहिसा का प्रेमी रहा है हिसाकारी वस्तुओ को अपनाए तो कौन ससार को अहिसा का पथ प्रदर्शित करेगा ? अहिसा का आदर्श उपस्थित करने की योग्यता सिवाय भारतवर्ष के अन्य किसी भी देश मे नही है । इस देश के महर्षियो ने हजारो-लाखो वर्ष पहले से अहिसा विषयक चिन्तन आरम्भ किया और उसे गम्भीर रूप दिया । वह चिन्तन आज भी उसी प्रकार उपयोगी है और कभी पुराना पडने वाला नही है किन्तु आज इस देश के निवासी पश्चिम का अन्धानुकरण करने मे ही गौरव समझते है । उचित यह है कि हम अपनी सस्कृति की छाप पश्चिम पर अंकित करे और उसे ऋषियो के बताये हुए सन्मार्ग पर लाए ।

हमारे ऋषि महर्षियों ने शास्त्रो मे लौकिक और लोकोत्तर धर्मो का विस्तार से वर्णन किया है, जिसके आधार पर ग्राम्यजीवन-पद्धति की एक अत्यन्त वैज्ञानिक राष्ट्रीय जीवन पद्धति का विकास इस देश मे हुआ । हजारो लाखो वर्षो से इस पद्धति ने इस देश को सुखी एव समृद्धिशाली बनाये रखा । दीर्घकाल तक होते रहे विदेशी आक्रमणो का भी इस जीवन-पद्धति पर कोई असर नही पड़ा । पर कालान्तर मे अंग्रेजी शासन काल मे यह जीवन पद्धति छिन्न-भिन्न हो गई । उसी अंग्रेजी शासन काल मे देश पर थोपी गई अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य रहन-सहन एव चिन्तन ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उसे और भी छिन्न-भिन्न कर दिया । उस जीवन-पद्धति को आधार रूप से पुनः देश मे स्थापित करना है । धर्म प्रसार एव स्वस्थ व्यक्ति, समाज एव देश के नव निर्माण के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है । इसी को दृष्टि मे रखकर शास्त्राकारो ने दस प्रकार के लौकिक धर्म भी बतलाये है । ठाणाग सूत्र मे इसका विस्तृत विवरण है ।*

आज न केवल दवाइया ही वरन् दूसरी बहुत-सी वस्तुएं भी पशु-पक्षियो की हत्या करके निर्मित की जाती है । नरम चमड़े के नाना प्रकार के बैग, जूते आदि जीवित पशुओ का चमड़ा उतार कर उससे बनाये जाते है । यह कितनी भीषण क्रूरता है, शौकीन लोग ऐसी चीजो का उपयोग करके घोर हत्या के पाप के भागी बनते है । जीवन का ऐसा कोई कार्य नही जो ऐसी हिसाजनित वस्तुओ के बिना न चल सके। अतएव ऐसी हिंसा को निरर्थक हिसा की कोटि मे सम्मिलित किया गया है। विवेकशील व्यक्ति सदैव इस प्रकार की हिसा से बचेगा ।

जैसे बूद-बूद पानी निकालने से बड़े से बड़े जलाशय का भी पानी खत्म हो जाता है, उसी प्रकार भोगोपभोग पर नियन्त्रण करते-करते हिसा को समाप्त किया जा सकता है । अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छाओ को वश में रखे और आवश्यकताओ का अतिरेक न होने दे । आवश्यकताओ के बढ़ जाने से वांछित वस्तु न मिलने पर वैयक्तिक तथा सामूहिक सघर्ष बढ़ता है ।

सभी देशो मे साधारणतया जीवन-निर्वाह के योग्य सामग्री उपलब्ध रहती है किन्तु जब भोगोपभोग की वृत्ति का अतिरेक होता है तब उसकी पूर्ति के लिए वह

---

*इस विषयक ग्रन्थ रूप मे विवेचन जैनाचार्य जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यानो पर आधारित "धर्म-व्याख्या" मे विस्तार से किया गया है । जिज्ञासु पाठक उसे भी पढे—उस पर चिन्तन, मनन व आचरण करे । इसी सन्दर्भ मे महात्मा गाधी के विचार भी इससे बड़ा साम्य रखते है । सन्दर्भ ग्रन्थ देखे—'मेरे सपनो का भारत' नवम्बर, '८० की आवृत्ति—प्रकाशक, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद पृष्ठ १०८ से १७६ । (सम्पादक)

दूसरे देश का शोषण करने को तत्पर होता है । चीन इसी प्रकार के अतिरेक के कारण भारत पर आक्रमण कर रहा है । युग युगान्तर से भोगोपभोग की बढी-चढी आवश्यकता ने ससार को अशान्त बना रखा है । ससार को सुधारना कठिन है परन्तु साधक स्वय अपने को सुधार कर तथा अपने ऊपर प्रयोग करके दूसरा को प्रेरणा दे सकता है । जा स्वय जिस मार्ग पर न चल रहा हो दूसरो को उस मार्ग पर चलने का उपदेश दे तो उसका प्रभाव नही पड सकता । जो स्वय हिसा के पथ का पथिक हो वह यदि अहिसा पर वक्तृता दे तो कौन उसकी बात मानेगा ? लोग उलटा उपहास करेंगे । अतएव अगर दूसरो को सन्मार्ग पर लाना है यदि मानसिक सन्तुलन की स्थिति जीवन मे उत्पन्न करनी है मन की विकृतियो को हटाना है हृदय का शान्त तनावमुक्त और चिन्ताहीन बनाना है तो साधक को सर्वप्रथम अपने पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए । ऐसा करने पर अपूर्व शान्ति का लाभ होगा । आत्मसयम करने की चीज है कहने की नही । मिश्री बेचने वाला 'मीठी है' कहने के बदले चखने को देकर शीघ्र अनुभव करा सकता है । धर्म के विषय मे भी यही स्थिति है। पालन करने से ही उसका वास्तविक लाभ प्राप्त होता है ।

आनन्द ने श्रावकधर्म के पालन का दृढ सकल्प किया । उसने इस सकल्प के साथ व्रतो को अगीकार किया कि मै इन व्रता मे अतिचार नही लगने दूगा । जो इन व्रता के दूषणो से बचा रहता है उसके लिए सामायिक आदि व्रत सरल हो जाते है । अणुव्रतो और गुणव्रतो की साधना को जो सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेते है वे सामायिक की साधना के पात्र बन जाते है । जैसे सुमरनी (माला) की आदि और अन्त सुमेरु है उसी प्रकार सामायिक व्रतो की आदि और अन्त दाना है । जब तक उसका ठीक रूप समझ मे नही आएगा तब तक आदि और अन्त कैसे समझ मे आ सकता है ?

शास्त्र का कथन है कि जब तक हृदय मे शल्य विद्यमान रहता है तब तक व्रती जीवन प्रारम्भ नही होता । माया मिथ्यात्व और निदान ये तीन भयकर शल्य है जो आत्मा के उत्थान म रुकावट डालते है । इनके अतिरिक्त जब कषायभाव की मन्दता होती है, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण नामक कषाय का उपशम या क्षय होता है तभी जीव व्रती बनता है । इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के आने पर जीव पर-पदार्थ को बन्ध का कारण समझता है और शुद्ध चेतनास्वरूप आत्मा को पहचानता है । उस समय वह समझन लगता है कि आत्मा सभी पौद्गलिक भावा से न्यारा है निराला है और उनके साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध नही है, शरीर इन्द्रिया और मन पौद्गलिक होने से आत्मा से पृथक है । आत्मा अरूपी तत्त्व है देहादि रूपी है। आत्मा अनन्त चेतना का पुज है दहादि जड है । आत्मा अजर अमर अविनाशी

द्रव्य है, देह आदि जड़ पर्याय है जिनका क्षण-क्षण मे रूपान्तर होता रहता है । इस प्रकार इनके साथ न आत्मा का कोई सादृश्य हे और न एकत्व है ।

इस प्रकार का भेद-विज्ञान सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होने पर होता है । भेद-विज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही मोक्ष मार्ग का प्रारम्भ होता है । भेद विज्ञानी प्राणी हेय और उपादेय के वास्तविक मर्म को पहचान लेता है और चाहे वह अपने ज्ञान के अनुसार आचरण न कर सके, फिर भी उसके चित्त मे से राग-द्वेष की सघन ग्रन्थि हट जाती हे और एक प्रकार का उदासीन भाव उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण वह अत्यासक्त नही बनता । वह ज़ल मे कमल की तरह अलिप्त रहता हुआ ससार व्यवहार चलाता है । तत्पश्चात् कषाय की अधिक मन्दता होने पर अणुव्रत आदि प्रारम्भ होते है । इससे स्पष्ट है कि व्रतो की आदि सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व को सामायिक मे परिगणित किया गया है, अतएव सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक को आदि मे मानना उचित ही है ।

एक चूल्हे-चौके का काम करने वाली महिला और दूकान पर बैठा व्यवसायी यदि सम्यक्त्व सामायिक से सम्पन्न होगा तो उसे सदैव यह ध्यान रहेगा कि मेरे निमित्त से, मेरी असावधानी से किसी भी जीव-जन्तु को पीड़ा न पहुँचे । चूल्हे और व्यवसाय का काम चल रहा है और वह महिला तथा पुरुष सामायिक भी कर रहे है। बाह्य दृष्टि से यह सामायिक नही है पर यदि वास्तव मे सामायिक न हो तो वह हिसा को कैसे बचाएगा ? अतएव कहा गया है कि वहा सामायिक की आदि है ।

और अन्त मे, जहा त्याग की पूर्णता है वहा तो सामायिक है ही । अनर्थ दण्ड विरमण व्रत के पश्चात् सामायिक को स्थान देकर महावीर स्वामी ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह सूचित की है कि भोगोपभोग की वृत्ति पर अकुश रखना चाहिए। ऐसा करने से साधना के मार्ग मे शान्त और स्थिर दशा सुलभ होगी । शान्ति और स्थिरता के बिना साधना नही हो सकती । जो स्वय अशान्त रहेगा वह दूसरो को कैसे शान्ति प्रदान कर सकता है ?

महापुरुष साधना के मार्ग मे सफल हुए, स्वयं शान्ति स्वरुप बन गए और दूसरो के पथप्रदर्शक बन गए । महावीर स्वामी ने आनन्द का पथ प्रदर्शन किया । भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को योग्य पात्र जान कर उनका पथप्रदर्शन किया । उन्हे श्रुत का अभ्यास कराया । श्रुताभ्यास के लिए पाच अवगुणो का परित्याग करना अत्यावश्यक है—

थभा कोहा पमाएण रोगेणालस्सएण य ।

ज्ञानार्थी पुरुष को (१) अहकार (२) क्रोध (३) प्रमाद (४) रोग और (५) आलस्य, इन पाच वातो से बचना ही चाहिए । इनसे बचने पर ही ज्ञान का अभ्यास किया जा सकता है ।

जैसे ऊँची जमीन पर पानी नही चढता उसी प्रकार अहकारी को विद्या की प्राप्ति नही होती । विद्या प्राप्ति के लिए विनम्रता चाहिए, विनयशीलता होनी चाहिए । इसी प्रकार जो क्रोधशील होता है चिडचिडा होता है जिसके हृदय मे क्रोध की ज्वालाएँ रहती है, वह भी श्रुत का अभ्यास करने मे असमर्थ रहता है । प्रमादी व्यक्ति चलते-चलते वहुत समय तक वाते करता रहता है, सोया तो सोता रहेगा खाने बैठा तो खाया करेगा । श्रृगार-सजावट करने मे घण्टो बिता देगा । वह कुछ समझेगा, कुछ करेगा । फिजूल की वातो मे उपयोगी समय नष्ट करेगा । दूसरो की निन्दा करेगा, विकथा करेगा और अपनी ओर जरा भी लक्ष्य नही देगा ।

आलसी आदमी भी विद्या का अभ्यास नही कर सकता । विद्याभ्यास के लिए स्फूर्ति आवश्यक है । नियमित कार्य करने की वृत्ति अपेक्षित है । आलस्य हि मनुष्याणा शरीरस्थो महारिपु अर्थात् आलस्य शरीर के भीतर पैठा हुआ महान् शत्रु है। वाहर के दुश्मन से बचना सरल होता है किन्तु अपने ही अन्दर छिपे वैरी से पार पाना कठिन होता है । आलसी मनुष्य उपस्थित कार्य को आगे सरकाने की चेष्टा करता है कर्त्तव्य को टालने और उससे बचने का प्रयत्न करता है और यही सोच कर समय नष्ट करता है कि आज नही, कल कर लेंगे । कल आने पर परसो का वहाना करता है और आप ही अपने को धोखा देता रहता है ।

इस प्रकार ज्ञानोपार्जन के बाधक कारणो को जान कर उनसे बचना चाहिए। जो उक्त पाचो दोषो से बचे रहते है वे ही श्रुत की आराधना करने मे समर्थ होते है ।

स्थूलभद्र के साथ कई सन्त श्रुताभ्यास के हेतु गए थे । किन्तु स्थूलभद्र के सिवाय शेष सभी वापिस लौट आए । उनमे उक्त पाच वातो मे से कोई न कोई वात रही होगी । जो व्यक्ति दृढ सकल्प के साथ हिम्मतपूर्वक किसी शुभ कार्य मे जुट जाता है उसे अवश्य सफलता प्राप्त होती है चाहे वह कार्य कितना ही दुस्साध्य हो ।

मनुष्य जीवन अल्पकालिक है । मृत्यु ज्ञानी और अज्ञानी मे गृहस्थ और गृहत्यागी मे एव राजा और रक मे कोई भेद नही करती । उसके लिए सभी समान है । जिसने जन्म लिया उसका मरण अवश्यभावी है । आचार्य सभूतिविजय भी अन्ततः स्वर्गवासी बने । उनके देहोत्सर्ग के बाद भद्रबाहु लौट कर आए और उन्होने

शासनसूत्र सभाला । स्थूलभद्र भी निश्चल सकल्प के साथ उनके पास रहे । इस समय तक दस पूर्वों के लगभग का ज्ञान उन्हे हो चला था । भद्रबाहु स्वामी ने कुशलता के साथ शासन चलाना प्रारम्भ किया । स्थूलभद्र उनके सहायक थे । वे ओजस्वी, तेजस्वी ओर सूक्ष्म सिद्धान्तवेत्ता हो गए थे तथा भद्रबाहु के बाद आचार्य पद के योग्य समझे जाने लगे थे ।

आगम या किसी भी अन्य विषय का शब्दार्थ प्राप्त करके यदि चिन्तन न किया गया तो आत्मा की उन्नति नही हो सकेगी । पढ़ कर चिन्तन और मनन करने से ही जीवन मे मोड़ आता है ओर मोड़ आने पर आत्मा का उत्थान होता है । पठित पाठ चिन्तन-मनन के द्वारा ही आत्मसात् या हृदयगम होता है और वही ज्ञान सार्थक है जो आत्मसात् हो जाए । स्थूलभद्र अपने गुरु भद्रबाहु से वाचना लेकर बाद मे अलग से चिन्तन करते और उसकी दृढ़ धारणा करने की कोशिश करते थे । ऐसा करने से उन्हे बहुत लाभ हुआ ।

आप लोगो ने भी चातुर्मास मे प्रतिदिन व्याख्यान श्रवण किया है । उसमे से क्या और कितना ग्रहण किया, इस बात पर आपको विचार करना चाहिए । चातुर्मास की समाप्ति के दिन सन्निकट आ रहे है । देवालय का कबूतर नगाड़ा बजाने पर भी नही उड़ता परन्तु कुआँ का कबूतर साधारण आवाज से भी उड़ जाता है । हमे देवालय के कबूतर के समान नही होना चाहिए जिस पर कहने-सुनने का कुछ असर ही नही पड़ता, बल्कि कुए के कबूतर के समान बनना चाहिए । आत्महित की जो भी बात कर्णगोचर हो उसको विवेक के साथ अपनाना चाहिए । अपनाने से ही ज्ञान सार्थक होता है । अगर जीवन मे कुछ भी न उतारा गया तो फिर कोरा ज्ञान किस मतलब का ?

स्थूलभद्र की सात बहिने भी थी जो बडी बुद्धिशालिनी थी । महामन्त्री शकटार ने उनके जीवन-निर्माण मे कोई कसर नही उठा रखी थी । उसने सोने से शरीर को सुसज्जित करने की अपेक्षा ज्ञान से जीवन को मण्डित करना अधिक कल्याणकर समझा । उन बहिनो ने भी प्राप्त ज्ञान का सदुपयोग किया और सयम को ग्रहण किया । इस प्रकार वे ज्ञान के साथ सयम की साधना करने लगी । सुशिक्षा और ज्ञान की उपसम्पदा प्राप्त कर लेने के कारण और साथ ही अपने भाई स्थूलभद्र के साधु हो जाने के कारण उन्होने अपने जीवन को राग की ओर बढ़ाना छोड़ दिया । राग रोग है, ऐसा समझ कर उन्होने विराग का मार्ग अपनाया—दीक्षा अगीकार कर ली । यही नही, तप और सयम की आराधना करके ज्ञान की ज्योति प्राप्त की ।

साता साध्वियां आचार्य भद्रबाहु की सेवा में पहुँची जिससे अपने भ्राता स्थूलभद्र के दर्शन कर सके।

बन्धुओ! जैसे इन सन्तगण का जीवन ज्ञान के अपूर्व आलोक से जगमगा उठा उसी प्रकार हम भी अपने जीवन को आलोकमय बनाना है। ऐसा करने पर ही उभयलोक में कल्याण होगा।

---

[६९]

सामायिक

वीतराग देव ने आध्यात्मिक साधना का बड़ा महत्व बतलाया और जब कोई भी साधक साधना के महत्व को हृदयंगत करके उसके वास्तविक रूप को अपने जीवन मे उतारता है तो उसके जीवन का मोड़ निराला हो जाता है । चाहे उसकी बाह्य प्रवृत्तिया एवं चेष्टाए बदली हुई प्रतीत न हों तथापि यह निश्चित है कि साधनाशीलता की स्थिति मे जो भी कार्य या ससार-व्यवहार किये जाते है, उनके पीछे साधक की वृत्ति भिन्न प्रकार की होती है । एक ही प्रकार का कार्य करने वाले दो व्यक्तियों की आन्तरिक वृत्ति मे जमीन-आसमान जितना अन्तर हो सकता है । उदाहरण के लिए भोजन क्रिया को लीजिए । एक मनुष्य जिह्वालोलुप होकर भोजन करता है और दूसरा जितेन्द्रिय पुरुष भी भोजन करता है । ऊपर से भोजन क्रिया दोनो की समान प्रतीत होती है । किन्तु दोनों की आन्तरिक वृत्ति में महान् अन्तर होता है । प्रथम व्यक्ति रसना के सुख के लिए अतिशय गृद्धिपूर्वक खाता है जबकि जितेन्द्रिय पुरुष लोलुपता को निकट भी न फटकने देकर केवल शरीर-निर्वाह की दृष्टि से भोजन करता है । उसके मन मे लेशमात्र भी गृद्धि नही होती ।

इस प्रकार एक-सी प्रवृत्ति में भी वृत्ति की जो भिन्नता होती है, उससे परिणाम मे भी महान् अन्तर पड़ जाता है । जितेन्द्रिय पुरुष के भोजन का प्रयोजन संयम-धर्म-साधक शरीर का निर्वाह करना मात्र होने से वह कर्म-बन्ध नही करता, जबकि रसनालोलुप अपनी गृद्धि के कारण उसे कर्म-बन्ध का कारण बना लेता है । यह साधना का ही परिणाम है । यही नही, साधना विहीन व्यक्ति रूखा-सूखा भोजन करता हुआ भी हृदय मे विद्यमान लोलुपता के कारण तीव्र कर्म बॉध लेता है जबकि साधना सम्पन्न पुरुष सरस भोजन करता हुआ भी अपनी अनासक्ति के कारण उससे बचा रहता है ।

साधना शून्य मनुष्य के प्रत्येक कार्य कलाप मे आसक्ति का विष घुला रहता है, साधनाशील उन्ही कार्यों को अनासक्त भाव से करता हुआ उनमे वीतरागता का अमृत भर देता है ।

अध्यात्म साधना का अर्थात् राग द्वेष की वृत्ति का परित्याग करके समभाव जागृत करने का महत्व कम नही है और यही साधक के जीवन को निर्मल और उच्च बनाने का कारण बनता है ।

आज व्रतो की साधना करने वाले थोडे ही दिखाई देते है इसका कारण यह है कि लोग साधना के महत्व को ठीक तरह समझ नही पाए है और इसी कारण वे साधना के मार्ग मे प्रवृत्त नही हो रहे है ।

भूतकाल और वर्तमान काल का इतिहास देखने से यह बात प्रमाणित होती है कि जिसने साधना को जीवन मे उतार लिया उसने अपना यह लोक और परलोक सुधार लिया ।

गृहस्थ आनन्द ने प्रभु महावीर के चरणो मे पहुँच कर बारह व्रत अगीकार किये और अपने जीवन को साधना के मार्ग मे लगा दिया । साधारण ऊपरी दृष्टि से भले ही दिखाई न दे कि उसके जीवन मे क्या परिवर्तन आया मगर उसके आन्तरिक जीवन मे आध्यात्मिकता की ज्योति जगमगा गई । यही कारण है कि आनन्द सभी अतिचारो का परित्याग करने के लिए दृढ प्रतिज्ञ हो जाता है ।

जो साधक भोगोपभोग के साधनो के विषय मे अपने मन को नियन्त्रित कर लेता है और उनकी सीमा निर्धारित कर लेता है वह मानसिक सन्तुलन को प्राप्त करके सामायिक की साधना मे तत्पर हो जाता है । सयम की साधना के विकसित करना उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है ।

भगवान् महावीर ने आनन्द को लक्ष्य करके उसके व्रतो की निर्मलता के लिए अतिचारो का निरूपण किया । यद्यपि शास्त्रकार का लक्ष्य आनन्द श्रावक है किन्तु आनन्द के माध्यम से वे ससार के सभी मुमुक्षुओ को प्रेरणा देना चाहते है । अतएव वह निरूपण जैसे उस समय आनन्द के लिए हित कर था उसी प्रकार अन्य श्रावको के लिए भी हित कर था और जैसे उस समय हित कर था वैसे ही आज भी हितकर है । शाश्वत सत्य त्रिकाल-अबाधित होता है । देश और काल की सीमाए उसे बदल नही सकतीं ।

भगवान् ने कहा–सामायिक व्रत के पाच दूषण है । साधक इन दूषणो को समीचीन रूप मे समझे और इनसे बचता रहे । इनका आचरण न करे ।

सामायिक तन और मन की साधना है । इस व्रत की आराधना मे तन की दृष्टि से इन्द्रियो पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है और मन की दृष्टि से उसके उद्वेग एव चाचल्य का निरोध किया जाता है । मन मे नाना प्रकार के जो सकल्प-विकल्प होते रहते है, राग की, द्वेष की, मोह की या इसी प्रकार की जो परिस्थिति उत्पन्न होती रहती है, उसे रोक देना सामायिक व्रत का लक्ष्य है । समभाव की जागृति हो जाना शान्ति प्राप्ति का मूल मन्त्र है । इस ससार मे जितने भी दुःख, द्वन्द, क्लेश और कष्ट है, वे सभी चित्त के विषम भाव से उत्पन्न होते है । उन सबके विनाश का एकमात्र उपाय समभाव है । समभाव वह अमोघ कवच है जो प्राणी को समस्त आघातो से सुरक्षित कर देता है । जो भाग्यवान् समभाव के सुरम्य सरोवर मे सदा अवगाहन करता रहता है, उसे ससार का ताप पीड़ा नही पहुँचा सकता । समभाव वह लोकोत्तर रसायन है जिसके सेवन से समस्त आन्तरिक व्याधिया—वैभाविक परिणतिया नष्ट हो जाती है । आत्मा रूपी निर्मल गगन मे जब समभाव का सूर्य अपनी समस्त प्रखरता के साथ उदित होता है तो राग, द्वेष, मोह आदि उलूक विलीन हो जाते है । आत्मा मे अपूर्व ज्योति प्रकट हो जाती है और उसके सामने आलोक ही आलोक प्रसारित हो उठता है ।

किन्तु अनादि काल से विभाव मे रमण करने वाला और विषम भावो के विष से प्रभावित कोई भी जीव सहसा समभाव की उच्चतर भूमिका पर नही पहुँच सकता । समभाव को प्राप्त करने और बढ़ाने के लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है । जैसे अखाड़े मे व्यायाम करने वाला व्यक्ति अपने शारीरिक बल को बढ़ाता है, वैसे ही सामायिक द्वारा साधक अपनी मानसिक दुर्बलताओ को दूर करके समभाव और सयम को प्राप्त करता है । अतएव प्रकारान्तर से सामायिक के साधनो को मन का व्यायाम कहा जा सकता है ।

सामायिक व्रत की आराधना करने मे अतिचार लग सकते है, वे इस प्रकार हैं—

(१) मणदुप्पणिहाणे—सामायिक का पहला अतिचार मनः दुष्प्रणिधान है जिसका तात्पर्य है मन का अशुभ व्यापार । सामायिक के समय मे साधक को ऐसे विचार नही करने चाहिए जो सदोष या पापयुक्त हों । सामायिक मे मन आत्मोन्मुख होकर एकाग्र बन जाना चाहिए । एकाग्रता को खण्डित करने वाले विचारों को मन मे स्थान देना या आत्म चिंतन से विमुख करने वाले विचारो का मन मे प्रवेश होने देना साधक की पहली दुर्बलता है ।

मन मे बडी शक्ति है । उसके प्रशस्त व्यापार से स्वग माक्ष और अप्रशस्त व्यापार से नरक तैयार समझिए । कहा है–

मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो ।

किसी जलाशय का पानी व्यर्थ बहाया जाय तो वह कीडे उत्पन्न करता है और सहारक बन जाता है और यदि उसी जल का उचित उपयोग किया जाय तो अनक खत लहलहाने लगते है । मानसिक शक्ति का भी यही हाल है । मानसिक शक्ति के सदुपयोग से अलौकिक शान्ति प्राप्त की जा सकती है । अतएव मन को काबू म करना साधना का प्रधान अग है । मन मे गर्व, क्रोध, कामना भय आदि को स्थान देकर यदि कोई सामायिक करता है तो ये सब मानसिक दोष इसे मलिन बना देते है । पति और पत्नी म या पिता और पुत्र मे आपसी रंजिश पैदा हो जाय तब रुष्ट होकर काम न करके सामायिक मे बैठ जाना भी दूषण है । अभिमान के वशीभूत होकर या पुत्र धन विद्या आदि के लाभ की कामना से प्रेरित होकर सामायिक की जाती है तो वह भी मानसिक दोष है । अप्रशस्त मानसिक विचारो के कारण सामायिक से आनन्द लाभ के बदले उलटा कर्म बन्ध होता है । अतएव साधक को इस ओर से सावधान रहना चाहिए और प्रसन्न एव शान्तचित्त से समभाव को जागृत करने के उद्देश्य से, वीतराग भाव की वृद्धि के लिए तथा कर्मनिर्जरा के हेतु ही सामायिक की आराधना करनी चाहिए ।

(२) वयदुप्पणिहाणे–सामायिक का दूसरा दोष है वचन का दुष्प्रणिधान अर्थात् वचन का अप्रशस्त व्यापार । सामायिक के समय आत्मचिन्तन भगवत् स्मरण या स्वात्मरमण की ही प्रधानता होती है अतएव सर्वोत्तम यही होगा कि मौन भाव से सामायिक का आराधन किया जाय । यदि आवश्यकता हो और बोलने का अवसर आए तो भी ससार-व्यवहार सम्बन्धी बाते नही करनी चाहिए । हाट हवेली या बाजार सम्बन्धी बाते न करें, काम कथा और युद्ध कथा से सर्वथा बचत रह । कुटुम्ब-परिवार के हानि लाभ की बाते करना भी सामायिक को दूषित करना है । भगवान् महावीर ने कहा–"मानव ! सामायिक आत्मोपासना का परम साधन है । अतएव सामायिक के काल म अपनी आत्मा के स्वरूप को निहार, आत्मा के अनन्त अनान वैभव को पहचानने का प्रयत्न कर, भेद विनान की अलौकिक ज्योति का दृष्टिगत कर मन की एकाग्रता के साथ वचन को गोपन कर और सम्पूर्ण कायपाग अपनी ही आत्मा म समाहित कर ले । इतना न हो सके तो कम से कम वचन का दुष्प्रणिधान तो मत कर । ऐसा बोल जो हित, मित, तथ्य पथ्य और निर्दोष हो ।"

सामायिक के समय परमात्मा की स्तुति और शास्त्र पठन म वाणी का उपयाग किया जा सकता है । ऐसा करना वचन का सुप्रणिधान है ।

योगाचार्य ऋषि पातजलि के बताये हुए योग के आठ अगो मे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि परिगणित है । योग की अन्तिम अवस्था समाधि है । समाधि-अवस्था को प्राप्त करने के लिए सामायिक व्रत का अभ्यास आवश्यक है ।

सामायिक व्रत के स्वरूप पर गहराई से विचार करेगे तो प्रतीत होगा कि इसमे योगागो का सहज ही समावेश हो जाता है । योग का प्रथम अग यम है । यम का अर्थ है अहिसा आदि व्रत । कहा भी है—'अहिसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।' सामायिक मे भी हिसा, असत्य, चौर्य, कुशील और ममत्व का त्याग किया जाता है । इस प्रकार सामायिक मे योग के प्रथम अंग का अनायास ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

सामायिक मे प्रभुस्मरण, स्वाध्याय आदि का अभ्यास किया जाता है जो योग का नियम नामक दूसरा अग है ।

सामायिक के समय शरीरिक चेष्टाओ का गोपन करके स्थिर एक आसन से साधना की जाती है । चलासन और कुआसन सामायिक के दोष माने गए हैं । अगर कोई पद्मासन या वज्रासन आदि से लम्बे काल तक न बैठ सके तो किसी भी सुखद एवं समाधिजनक आसन से बैठे किन्तु स्थिर होकर बैठे । पलथी आसन या उत्कुटुक आसन से भी बैठा जा सकता है । किन्तु बिना कारण बार-बार आसन न बदलते हुए स्थिर बैठना चाहिए ।

योगाचार्य ने योग के ८४ आसन बतलाए है किन्तु कौन किस आसन का प्रयोग करके साधना करे, इस सम्बन्ध मे किसी प्रकार का आग्रह न रखते हुए 'सुखासनम्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । जिस आसन से सुखपूर्वक बैठा जाय और जिसके प्रयोग से चित्त मे शान्ति रहे वही उपयुक्त आसन है । रुग्णावस्था मे जब बैठने की शक्ति न हो तो दण्डासन से लेटकर भी साधना कर सकते है । इस प्रकार आसन के अभ्यास मे योग का तीसरा अंग आ जाता है ।

ध्यान मे लोगस्स सूत्र आदि का चिन्तन बतलाया गया है । यदि उसमे सास को बिना तोड़े धीरे-धीरे स्मरण को बढ़ाया जाय तो अनायास ही प्राण की दीर्घता प्राप्त हो सकती है । इस प्रकार सामायिक मे प्राणायाम भी हो जाता है ।

महावीर स्वामी ने साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त तीव्र तपश्चर्या करके वीतराग दशा प्राप्त की और सामायिक का साक्षात्कार किया । उन्होने ससार को यह सन्देश दिया कि यदि शान्ति, स्थिरता और विमलता प्राप्त करनी है तो सामायिक की साधना करो ।

वीतरागता के सर्वोच्च शिखर पर आसीन अर्हन्ता न प्रकट किया है कि जब तक सामायिक का साक्षात्कार नही किया जाता जब तक सामायिक साधना कई बार आती है और चली भी जाती है चाहे साधक श्रमणोपासक हो अथवा श्रमण हो ।

(३) कायदुप्पणिहाणे–सामायिक का तीसरा दूषण शरीर का दुष्प्रणिधान है ।

शरीर के अग-प्रत्यग की चेष्टा सामायिक मे बाधक न हो इसके लिए यह आवश्यक है कि इन्द्रियो एव शरीर द्वारा अयतना का व्यवहार न हो । सामायिक की निर्दोष साधना क लिए यह अपेक्षित है । इधर-उधर घूमना बिना देखे चलना पैरो को घुमाते हुए चलना रात्रि म बिना पूजे चलना बिना देखे हाथ पैर फैलाना आदि काय के दुष्प्रणिधान के अन्तर्गत है । मन वचन और काय का दुष्प्रणिधान होने पर सामायिक का वास्तविक आनन्द प्राप्त नही होता ।

किसी गाव मे एक बुढिया थी । पुत्र आदि परिवार के होने पर भी स्नेहवशात् बेचारी रात दिन घर-गृहस्थी के कार्य म पचती रहती थी । सौभाग्य से उस गाव म एक महात्मा जा पहुँचे । बुढिया के पुत्र बहुत शिष्ट और साधु-सेवी थे । वे महात्मा की सेवा म पहुँच कर और बहुत आग्रह करके उन्ह अपने घर लाए । महात्मा से निवेदन किया– 'महाराज ! हमारी माता वृद्धावस्था मे भी कोई धर्मकृत्य नही करती । उन्हे यदि कुछ प्रेरणा करे और नियम दिला दे तो उनका कल्याण होगा ।'

महात्मा ने उत्तर दिया–जैसा अवसर होगा देखा जाएगा । पर सन्त महात्मा परोपकार परायण होते है । वे आत्म कल्याण के साथ पर कल्याण को भी अपने जीवन का परम लक्ष्य मानते ह । बल्कि यो कहना चाहिए कि परोपकार को भी वे आत्मोपकार का ही एक अग समझते है । अतएव महात्मा भिक्षा के अवसर पर उनके घर पहुँचे । लडके भिक्षा देने लगे तो वृद्धा ने कहा– आज तो मुझे भी लाभ लेने दो ।' लडके एक आर हो गए और वृद्धा महात्मा को आहार दान देने लगी ।

महात्मा ने उससे कहा– बाई ! तुम्हार हाथ से हम तभी भिक्षा ग्रहण करेग जब कुछ धार्मिक नियम ग्रहण करोगी ।

बुढिया नही चाहती थी कि महात्मा उसके द्वार पर पधार कर खाली लौटे अतएव उसन प्रतिदिन एक सामायिक करने का नियम ले लिया । महात्मा उसक हाथ से भिक्षा लेकर अपने स्थान पर चले गए ।

वृद्धा प्रतिदिन समय-असमय घडी भर साधना कर लेती थी । एक दिन भोजन से निवृत्त हो जाने क पश्चात् उसकी बहुएँ गाव म इधर-उधर मिलने चली

गई। चने भिगोये गये थे सो घर के बाहर चबूतरे पर सूख रहे थे। वृद्धा घर के बाहर सामायिक करने बैठी थी, अतएव बहुओ ने बाहर जाते समय मकान का ताला लगा दिया और चाबी द्वार पर एक ओर लटका दी।

सयोगवश उसके एक लड़के को पसेरी की आवश्यकता पड़ी और वह उसे लेने के लिए घर आया। उसने दरवाजा बन्द देख कर वापिस लौटने का उपक्रम किया। बुढ़िया बैठी-बैठी यह सब देख रही थी मगर सामायिक मे होने से कुछ कहने मे सकोच कर रही थी। किन्तु अन्त तक उससे रहा नही गया। उसने सोचा-लड़के को व्यर्थ ही चक्कर होगा और व्यापार के काम मे बाधा पड़ेगी।

इधर उसके मन मे यह सकल्प-विकल्प चल ही रहा था कि अचानक एक भैसा उधर आ निकला और चनो की ओर बढ़ने लगा।

बुढ़िया के लिए चुप रहना अब असम्भव हो गया, परन्तु सामायिक के भग होने का भय भी उसके चित्त मे समाया हुआ था। सामायिक भग करने से न मालूम क्या अनर्थ या अनिष्ट हो जाय, इस भय से वह उद्विग्न हो रही थी।

मनुष्य दूसरो को तो धोखा देता ही है, अपने आपको भी धोखा देने से नही चूकता। बुढ़िया ने इस अवसर पर आत्मवचना का ही अवलम्बन लिया। वह शान्तिनाथ भगवान् की प्रार्थना करने के बहाने कहने लगी—"बेटा जरा शान्तिनाथ की प्रार्थना सुन ले, मै सामायिक मे हूँ।" प्रार्थना यो है—

"पाड़ो दाल चरे, कूची घोड़ा परे,
पसेरी घट्टी तले, मोही तारो जी,
श्री शान्तिनाथ भगवान्, मोही पार उतारो जी।"

लड़के ने यह प्रार्थना सुनी और उसके मर्म को भी समझ लिया। उसने भैसे को भगा दिया, कूची प्राप्त कर ली और पसेरी लेकर चला गया।

इस प्रकार सामायिक करने का स्वाग करने से, दभ करने से और आत्मप्रवचना करने से अनन्त काल मे भी कार्य सिद्धि होने वाली नही है। धर्म उसी के मन मे रहता है जो निर्मल हो। माया और दभ से परिपूर्ण हृदय मे धर्म का प्रवेश नही हो सकता। बुढ़िया की जैसी चेष्टा करने से मन का, वचन का और काय का भी दुष्प्रणिधान होता है और इससे सामायिक का प्रदर्शन भले हो जाय, वास्तविक सामायिक के फल की प्राप्ति का तो प्रश्न ही नही उठता।

(४) सामाइअस्स सइ अकरणया—सामायिक काल मे सामायिक की स्मृति न रहना भी सामायिक का दोष है।

(५) सामाइअस्स अणवट्ठियस्स करणया–व्यवस्थित रूप से अर्थात् आगमोक्त पद्धति से सामायिक व्रत का अनुष्ठान न करने से इस दोष का भागी होना पडता है। सामायिक अगीकार करके प्रमाद मे समय व्यतीत कर देना नियम के निर्वाह के लिए जल्दी-जल्दी सामायिक करके समाप्त कर देना, चित्त मे विषम भाव को स्थान देना आदि अनौचित्य इस व्रत के दोष के अन्तर्गत है ।

सामायिक साधना की अन्तिम दशा समाधि है जैसे योगशास्त्र के अनुसार योग की अन्तिम स्थिति समाधि है । समाधि की स्थिति मे पहुँच जाने पर साधक शोक और चिन्ता के कारण उपस्थित हाने पर भी आनन्द मे मग्न रहता है । शोक उसके अन्तकरण को म्लान नही कर सकता और चिन्ता उसके चित्त मे चचलता उत्पन्न नही कर सकती । वह आत्मानन्द मे मस्त हो जाता है । इसी अदभुत आनन्द की प्राप्ति के लिए चक्रवर्तियो ने और वडे-वडे सम्राटो ने भी अपने साम्राज्य को तिनके की तरह त्याग कर सामायिक व्रत को अगीकार किया था । वस्तुत सामायिक मे निराला ही आनन्द है । उस आनन्द के सामने विषयजन्य सुख किसी गिनती मे नही है । मगर शर्त यही है कि सामायिक सच्ची सामायिक हो भाव सामायिक हो और उसके अनुष्ठान म स्व पर वचना को स्थान न हो ।

आत्मा मे जव तक शुद्ध दृष्टि नहा उत्पन्न होती शुद्ध आत्मकल्याण की कामना नही जागती और मन लौकिक एषणाओ से ऊपर नहा उठ जाता तव तक शुद्ध सामायिक की प्राप्ति नही होती । अतएव लौकिक कामना से प्रेरित होकर सामायिक का अनुष्ठान न किया जाय वरन् कर्मवन्ध से वचने के लिए–सवर की प्राप्ति के लिए सामायिक का आराधन करना चाहिए । कामराग और लोभ के झाको से साधना का दीप मन्द हो जाता है । और कभी कभी वुझ भी जाता है । अतएव आगमोक्त विधि से उत्कृष्ट प्रेम के साथ सामायिक करना चाहिये जो ऐसा करेगा उसका वर्तमान जीवन अलौकिक आनन्द से परिपूर्ण हो जाएगा और परलोक परम मगलमय वन जाएगा ।

---

[७०]

दीपावली की आराधना

दीपमालिका पर्व चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर की परम पावन स्मृति का जाज्वल्यमान प्रतीक है । प्रभु महावीर के निर्वाण की स्मृति आज के दिन ताजा हो जाती है। भगवान् ने इसी दिन निर्वाण लाभ किया था । तभी से यह पर्व लोग अपने-अपने स्तर पर एव मन्तव्य के अनुसार मनाते आ रहे है । कुछ मनीषियो का कथन हे कि दीपमालिका पर्व भगवान् महावीर के निर्वाण से पहले से ही आर्य जाति मे प्रचलित था, परन्तु इस मत की पुष्टि मे कोई स्पष्ट और ठोस प्रमाण उपलव्ध नहीं है ।

इस अवसर पर दीपमालिका के इतिहास की छानवीन नही करना है । यह तो सुनिश्चित है कि या तो पूर्व परम्परागत इस पर्व को भगवान् महावीर के निर्वाण ने सजीव एव मागलिक स्वरूप प्रदान किया या भगवान के निर्वाण के कारण ही इस पर्व का प्रतिष्ठान हुआ। दोनो स्थितियो मे इस पर्व के साथ भगवान् महावीर के निर्वाण का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

दीर्घतपस्वी श्रमणोत्तम महावीर जैसे लोकोत्तर महापुरुष की स्मृति मे मनाये जाने के कारण यह पर्व भी लोकोत्तर पर्व है । अतएव इसे लोकोत्तर भावना से एव लोकोत्तर लाभ की दृष्टि से मनाना चाहिए ।

आज की इस मगलमय वेला मे हम भगवान् महावीर की स्मृति को ताजा कर रहे है और उन स्मृतियो से जीवन-निर्माण का पथ-प्रदर्शन भी प्राप्त कर रहे है ।

पर्व के मगलमय रूप को सभी अपनाते है । जो रागी है वे राग की सीमा मे पर्व मनाते है, भोगी जीव उसे भोग का विशिष्ट अवसर मानते है, किन्तु जो विवेकशाली हैं वे पर्व की प्रकृति का विचार करते है । सोचते है कि इस पर्व के पीछे क्या इतिहास है ? क्या उद्देश्य है ? और वे उसी के अनुरूप पर्व का आराधन

करते है । जिस पर्व का सम्बन्ध वीतराग पुरुष के साथ हो उसे रागवर्द्धक ढग से मनाना वे उचित नही मानते । वे सोचते है कि यदि पर्व को राग वृद्धि मे लगा दिया गया तो पर्व को मनाने का क्या लाभ है ? ससारी प्राणी का समग्र जीवन ही राग द्वेषवर्द्धक कार्यो मे लगा रहता है अगर पर्व को भी ऐसे ही कार्यो मे व्यतीत कर दिया जाय तो पर्व की विशेषता ही क्या रहेगी ? जो पर्व को आमोद प्रमाद मे सीमित कर देते है वास्तव मे वे पर्व से कुछ भी लाभ प्राप्त नही करते ।

विवेक का तकाजा है कि इस प्रकार के अवसर का कुछ ऐसा उपयोग किया जाय जिससे आत्मा के स्वाभाविक गुणो का विकास हो राग-द्वेष की परिणति मे न्यूनता आए जीवन मगल का साधन बन जाए और आत्मोत्थान के पथ पर अधिक नही तो कुछ कदम आगे बढ सके ।

बालक हँसना गाना खाना पीना आदि चहल-पहल हो तो पर्व मानता है परन्तु समझदार का पर्व अन्तर्मुखी होता है । वह देखना चाहता है कि इन लहरा का मगलमय रूप क्या है ? वह पर्व को शाश्वत एव वास्तविक कल्याण का साधन बनाता है । मगर सर्वसाधारण लोग ऐसी चिन्ता नही करते । यह चेतना तो उन्हा प्रबुद्धजनो मे जागृत होती है जिनके जीवन मे तीव्र विषय तृष्णा और कामना नही है ।

सत्पुरुषा के चरण चिन्हो पर चलकर हम भी अपना उत्थान कर सकते है। उनके चरण-चिन्हो को पहचानने के लिए ही पर्वों का आयोजन किया जाता है । अतएव हमे देखना चाहिए कि किस पर्व की क्या विशेषता है और उसके पीछे क्या महत्व छिपा है ?

एक रूप बाह्य प्रकाश का है, दूसरा आन्तरिक प्रकाश का । एक आज चमक कर कल समाप्त हो जायेगा, दूसरा शाश्वत रहेगा ।

दीपावली का यह सन्देश है कि दीपक-प्रकाश के अभाव म अन्धेरी रात म घूमने वाला भटक जाएगा इसी प्रकार ज्ञान की रोशनी मे न चलने वाला टक्कर खाकर अपना विनाश बुला लेगा ।

भगवान् महावीर जन्म से ही अवधिज्ञान नामक अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न थे। दीक्षा अगीकार करते ही उन्हे मन पर्याय ज्ञान भी प्राप्त हो गया था । किन्तु वे इतने ही से सन्तुष्ट न हुए । उन्होने परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उग्र तपश्चरण किया और उसे प्राप्त किया। पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् वे दूसरा को भी ज्ञान देने म समर्थ हुए । इसी कारण उन्हे ज्ञान का दीपक कहा गया है ।

पेट्रोमेक्स और बिजली का बल्ब दूसरे दीपको को प्रकाशित करने मे समर्थ नही होता । दूसरे दीपको को तो टिमटिमाता मन्द प्रकाश वाला दीपक ही जला सकता है । टार्च, बल्ब आदि मे यह क्षमता नही है कि वे दूसरे को प्रकाशित कर सके । दीपक मे ही यह विशेषता है कि उससे हजारो और लाखो दीपक जलाये जा सकते है । ज्ञानी को प्रदीप की उपमा दी गई है, क्योंकि उसमे भी दीपक की खूबी मौजूद रहती है । वह अनेको को ज्ञान की ज्योति से जाज्वल्यमान कर सकता है ।

केवलज्ञान सभी ज्ञानो मे श्रेष्ठ है, परिपूर्ण है, अनन्त है, अनावरण है, मगर वह दूसरो को प्रतिबुद्ध नही कर सकता । केवली का वचनयोग ही दूसरो को ज्ञान का प्रकाश देने मे निमित्त होता है । श्रुतज्ञान अमूक और शेष ज्ञान मूक है । श्रुतज्ञान के माध्यम से एक साधक दूसरो के अन्तःकरण को जागृत कर सकता है । यह श्रुतज्ञान की अन्य ज्ञानो से विशिष्टता है ।

ज्ञान की सूक्ष्मता की दृष्टि से केवल ज्ञान सबसे अधिक सूक्ष्म है क्योंकि उसमे पूर्णता है, मगर केवलज्ञान रूपी सूर्य बहुत तेज होने पर भी प्रत्येक स्थान का अन्धेरा दूर नही कर सकता । कोने-कोने का अन्धेरा दूर करने के लिए तो दीपक काम आता है । श्रुतज्ञान दीपक के समान है ।

जब मानव के मानस में ज्ञान का प्रदीप जाग उठता है तो कुटेव और अज्ञानता की स्थिति का अन्त हो जाता है । सत्पुरुषो ने ज्ञान-प्रदीप जलाया है ।

भगवान् महावीर के ज्ञान का भास्कर ४२ वर्ष की अवस्था मे उदित हो गया था। उसके उदित होने पर उनकी आत्मा अलौकिक एव असाधारण आलोक से विभूषित हो गई । बारह वर्षो तक वे इसके लिए पुरुषार्थ करते रहे ।

केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भगवान् ने भिक्षुको से लेकर राजाओ तक के अज्ञान के निवारण का सफल प्रयत्न किया । आपका प्रेरक सन्देश पाकर नौ लिच्छवी और नौ मल्ली राजा धर्म श्रद्धालु बने । तात्कालिक गणतन्त्र के अधिपति सम्राट् चेटक का भी अज्ञान-मोह दूर हुआ ।

संसार के विशाल वैभव में रह कर भी मनुष्य के लिए परम साधना आवश्यक है । मनुष्य को समझना चाहिए कि सासारिक वैभव का सम्बन्ध शरीर के साथ है, सिर्फ एक भव तक सीमित है । शरीर त्यागने के पश्चात् जगत् का बड़े से बड़ा वैभव भी बिछुड़ जाता है । अगले जन्म मे वह काम नही आता । उससे आत्मा का किंचित भी उपकार नही होता । आत्मोपकार अथवा आत्महित के लिए तो वही साधना उपयोगी है जिससे आत्मिक विभूति की वृद्धि होती है । इस तथ्य को

भगवान् महावीर ने समझाया और जिन महापुरुषो ने समझा उनकी सुषुप्त चेतना जागृत हो गई । चेटक जैसा सम्राट भी श्रावक बन गया । राज्याधिकारी एव राजाधिराज होकर भी उसने श्रावक के बारह व्रत अगीकार किये । उसने सकल्प किया कि मै जान-बूझ कर निरपराध त्रस जीवो की हिसा नही करूगा । रक्षात्मक कार्य करूगा सहारात्मक कार्य नही करूगा । हानिकारक धोखाजनक और अविश्वासकारक असत्य का प्रयोग नही करूगा । उसने किसी के अधिकार को छीन कर लोलुपता के वशीभूत होकर राज्य की सीमाओ को बढाने की चेष्टा नही की । श्रावकोचित सभी व्रतो को अगीकार किया ।

गणतन्त्र मिली-जुली शासन व्यवस्था है । इस व्यवस्था मे जो सम्मिलित होता है उसके लिए व्रत ग्रहण करना साधारण बात नही है । चेटक चाहता तो बहाना कर सकता था किन्तु साधना के क्षेत्र मे आत्मवचना को तनिक भी स्थान नही । अतएव साझेदारी की राज्य व्यवस्था होने पर भी उसने किसी प्रकार का बहाना नही

अठारह राजा जिस गण मे सम्मिलित थे, उस गणराज्य का उत्तरदायित्व कुछ कम नही रहा होगा । एक राज्य को सभालना और इस बात का ख्याल रखना कि प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो राज्याधिकारी कोई अन्यायपूर्ण कार्य करके प्रजा को कष्ट न पहुँचावे सबल निर्बल को न दबावे प्रजाजनो मे नीति और धर्म का प्रसार हो किसी प्रकार के दुर्व्यसन उसमे घर न करने पावे सभी लोग अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए परस्पर सहयोग करे राजा प्रजा के बीच आत्मीयता का भाव बना रहे और साथ ही कोई लोलुप राजा राज्य की सीमा का उल्लघन न कर सके साधारण बात नही है । फिर चेटक को तो अठारह राज्यो के गण का अधिपति होने के कारण सीमा पर दृष्टि रखनी पडती थी । सबकी चिन्ता करनी पडती थी । फिर भी वह अपनी आत्मा को नही भूला । उसने लौकिक कर्त्तव्यपालन की धुन मे लोकोत्तर कर्त्तव्यो को विस्मृत नही किया । एक विवेकशील और दूरदर्शी सद्गृहस्थ के समान वह दोनो प्रकार के उत्तरदायित्व को बिना किसी विरोध के निभाता रहा । एक ओर वह गणतन्त्र का अधिपतित्व करता था तो दूसरी ओर अष्टमी चतुर्दशी अमावस्या और पूर्णिमा के दिन पौषध व्रत का भी आराधन करता था । पौषध व्रत मे समस्त आरम्भ समारम्भ का परित्याग करके धर्मध्यान मे दिन रात व्यतीत करना होता है । यह एक प्रकार से चौबीस घण्टा तक साधुपन का अभ्यास है । तन का पोषण तो पशु पक्षी भी करते है इसमे मनुष्य की कोई विशेषता नही है आत्मा का पोषण करना ही मानव की विशिष्टता है और उसी से जीवन ऊचा बनता है । इसी विश्वास से चेटक पौषध करता था ।

आज लक्ष्मी की पूजा करने वाले तो बहुत है किन्तु व्रत साधना के लिए आगे आने वाले कितने है ? राग और भक्ति तथा अर्थ और भक्ति मे क्या सामजस्य है, यथावसर इस पर प्रकाश डाला जाएगा ।

राजा उदायन ने भी पहले श्रावक के व्रतो को अगीकार किया फिर श्रमण-दीक्षा अगीकार की । गृहस्थ जीवन मे रहते हुए बिम्बसार, अजातशत्रु उदायन, चण्डप्रद्योत और चेटक आदि भगवान् के वचनो पर श्रद्धाशील बने । उन्होने राज्य सम्बन्धी उत्तरदायित्व एव बन्धन से अपने आपको मुक्त या हल्का कर लिया ।

बहत्तर वर्ष की आयु मे भगवान् ने अपना वर्षाकाल पावापुरी मे व्यतीत किया । यह उनका अन्तिम वर्षाकाल था । भगवान् के सिवाय कोई नहीं जानता था कि यह वर्ष उनके जीवन का अन्तिम वर्ष है । दीर्घकाल से चलने वाली भगवान् की साधना पूर्ण हो चुकी । महाराजा हस्तिपाल की रथशाला मे उनका अन्तिम चातुर्मास हुआ । अन्य राजाओ ने भी चातुर्मास काल मे भगवान् की उपस्थिति से लाभ उठाया । महाराजा हस्तिपाल के प्रबल सौभाग्य का योग समझिए कि उन्हे अन्तिम समय मे चरम तीर्थकर की सेवा, भक्ति, एव उपासना का दुर्लभ लाभ प्राप्त हुआ । कवियो ने भी इस प्रसग को लेकर अपनी वाणी को पवित्र बनाने का प्रयत्न किया है–

पर्व यह मगलमय आया रे, पर्व यह मगलमय आया।
अन्तिम वर्षाकाल प्रभु ने पावापुर ठाया ।....................
हस्तिपाल की राजकुशाला प्रभु ने पवित्र बनाया ।.....
वीर हुए निर्वाण गौतम ने केवलि पद पाया ।.........

कार्त्तिकी अमावस्या को लोक के एक असाधारण, अद्वितीय, महान साधक की साधना चरम सीमा पर पहुँची । उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न तो पहले ही हो चुकी थी, जीवन्मुक्त दशा पहले ही वे प्राप्त कर चुके थे, परम निर्वाण-विदेह-मुक्ति भी उन्हे प्राप्त हो गई । भगवान् सिद्ध हुए और गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।

गौतम स्वामी ने अपनी साधना का अभीष्ट मधुर फल प्राप्त किया । उनकी चेतना पर जो हल्के-से आवरण शेष रह गए थे, वे भी आज निश्शेष हो गए । उन्हे निरावरण उपयोग की उपलब्धि हुई । वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो गए । प्रभु के निर्वाण ने उनकी आत्मा को पूर्ण रूप से जागृत कर दिया। उन्हे महान् लाभ हुआ । एक कारीगर साधारण मलिन रत्न को शाण पर चढ़ा कर चमकीला बना देता है । उसकी चमक बढ जाती है और चमक के अनुसार

कीमत भी बढ जाती है । सत्पुरुष भी उसी कारीगर के समान है जो साधारण मानव के मानस म व्याप्त सघन अन्धकार को दूर कर देते है और उसम ज्ञान की चमक उत्पन्न कर देते है ।

प्रभु का निर्जल व्रत चल रहा था । यद्यपि वे पूर्ण वीतराग, पूर्ण निष्काम और पूर्ण कृतकृत्य हो चुके थे तथापि उनकी धर्मदेशना का प्रवाह बन्द नही हुआ था। श्रोताओ की ओर उनका ध्यान नही था । छद्मस्थ वक्ता श्रोताओ के चेहरा को लक्ष्य करके उनके उत्साह के अनुसार ही वक्तव्य देते है । वक्ता को जब प्रतीत होता है कि श्रोता जानकार है ध्यानपूर्वक वक्तव्य को सुन रहे है और हृदयगम कर रहे है तो वह अपनी ज्ञान गागर को उनके सन्मुख उडेल देता है । इस प्रकार उसका वक्तव्य सामने की स्थिति पर निर्भर रहता है । किन्तु वीतराग की आत्मा म ऐसा विकल्प नही होता । उसकी वाणी का प्रवाह सहज भाव से चलता है । वीतराग की वाणी मे अपूर्व और अद्भुत प्रभाव होता है। उससे श्रोताओ का अन्त करण स्वत तरोताजा हो जाता है । चित्त म अनायास ही आर्द्रता आ जाती है ।

वीतराग की वाणी की गगा का परमपावन शान्तिप्रदायक, शीतल प्रवाह जब प्रवाहित होता है तो क्या सभी उसमे अवगाहन करते है ? ससार के सभी जीव अपने ससारताप को शान्त कर लेते है ? नही ऐसा नही होता । बहुत से जीव सूखे भी रह जाते है । इसमे कोई आश्चर्य की बात भी नही है । बीज कितना ही अच्छा क्यो न हो ऊसर भूमि मे पडकर अकुरित नही होता ।यह भूमि का ही दोष समझना चाहिए, बीज का नही। प्रसिद्ध दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते है ~

सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य
यल्लोकबान्धव । तवापिऽखिलान्यभूवन् ।
तन्नादभुतं खगकुलेष्विह तामसेषु,
सूर्यांशवो मधुकरी चरणावदाता ।।

वे कहते है–प्रभु तो समस्त प्राणिया के बन्धु है–सब के समान रूप से सहायक है । किसी के प्रति उनका पक्षपात नही है । इसके अतिरिक्त धर्म रूपी बीज को बोने म उनका कौशल भी अद्वितीय है । फिर भी धर्मबीज के लिए कोई-कोई भूमि ऊसर साबित होती है जहा वह बीज अकुरित नहीं होता । मगर यह कोई अद्भुत बात नहीं है । सूर्य अपनी समस्त किरणो से उदित होता है और लोक म प्रकाश की उज्ज्वल किरण विकीर्ण करता है फिर भी कुछ निशाचर प्राणी एस होते है जिनके आगे उस समय भी अधेरा छाया रहता है । ऐसा है तो इसम सूर्य का क्या अपराध है ?

भव्य जीव भगवान् की वाणी के अमृत का पान करके अपने को कृतार्थ करते है। जो सम्यग्दृष्टि है या जिनका मिथ्यात्व अत्यन्त तीव्र नही है, वे उस उपदेश से लाभ उठाते है । धन्य है वे भद्र ओर पुण्यशाली जीव जिन्हे तीर्थंकर देव के समवसरण मे प्रवेश करके उनके मुखारविन्द से देशना श्रवण करने का सुयोग मिलता है।

इन्द्रभूति गौतम, नौ मल्ली और नौलिच्छवी राजा आदि ऐसे ही भाग्यवानो की गणना मे थे । उन्होने प्रभु के पावन प्रवचन-पीयूष का आकठ पान किया । भगवान् के उपदेश की अखण्ड धारा प्रवाहित हो रही थी । पुट्ठ वागरण और अपुट्ठ वागरण दोनो का सिलसिला चालू था । शुभ और अशुभ कार्यो के विपाक केसे होते है, यह प्ररूपणा चल रही थी ।

बन्धुओ ! शुभ और अशुभ को वास्तविक रूप मे समझ लेना बहुत बड़ी बात है । जो अशुभ को समझ लेता है वह अशुभ की ओर प्रवृत्ति करने से रुक जाता है । काम, क्रोध आदि के कटुक परिपाक यदि समझ मे आ जाएं तो उनकी ओर जीव का झुकाव ही नही हो सकता । टिमटिमाते प्रकाश मे बिच्छू को देख कर कोई उसके ऊपर हाथ नही रखता, क्योंकि यह बात जानी हुई है कि बिच्छू डक मारने वाला विषैला जन्तु है । उसे पकड़ने और बाहर ले जाकर छोड़ने के लिए चिमटे का उपयोग किया जाता है ।

पुरस्कार देने पर भी कोई साप के बिल मे हाथ नही डालेगा, क्योकि सर्पदश की भयानकता से सभी परिचित है, असत्य भाषण करने या अशिष्ट व्यवहार करने से पुरस्कार नही मिलता, फिर भी लोग ऐसा करते है । इसका एकमात्र प्रधान कारण यही है कि बिच्छू या सर्प के दश से जैसी प्रत्यक्ष एव तत्काल हानि होती है, वैसी असत्य भाषण, क्रोध आदि से प्रतीत नही होती । साधारण जनो की दृष्टि बहुत सीमित होती है । वे तात्कालिक हानि-लाभ को तो समझ लेते है, मगर भविष्य के हानि-लाभ की परवाह नही करते । दीर्घ दृष्टि की एक नजर वर्तमान पर रहती है तो दूसरी नजर भविष्य पर भी रहती है । जिस मनुष्य ने विष के समान पाप को भयजनक समझ लिया है, उसकी पाप में प्रवृत्ति नही होगी । सत्य यह है कि पापाचरण का परिणाम विष से असंख्यगुणित हानिकारक और भयप्रद है ।

नादान बच्चे को, माता-पिता को आग, बिच्छू, साप से डराना पड़ता है, बड़े बच्चे को डराना नहीं पड़ता, क्योंकि वह उनसे होने वाले अनर्थ से परिचित है । इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे पाप-पुण्य को समझ लेने से ज्ञानी पुरुष पाप से स्वय बचता रहता है । वह उसे जहर से भी ज्यादा सकटजनक मानता है । पाप, कामना और

विषयलोलुपता का जहर भव भव म शोचनीय परिणाम उत्पन्न करता है जब कि सर्प आदि का विष एक ही भव को नष्ट करता है या नही भी नष्ट करता ।

शरीर म काटा चुभने पर पीडा होती है, विष भक्षण करने से मृत्यु हो जाती है, विषैले जन्तु के डसन से दुख होता है किन्तु इनका उपचार समव है । सैकडो मील दूर के तीन-तीन दिन विष लगे हो जाने पर भी गारुडी उसके प्रभाव को नष्ट कर देता है । मनोबल और मन्त्रबल की ऐसी शक्ति आज भी देखी सुनी जाती है । झाडने फूकने वाले, समाचार कहने वाले को ही थाड फूक कर विष उतार देते है । आज भी जगल मे रहने वाले वन्य जाति के लोग विष उतारने का तरीका जानते है । इस प्रकार इस वाह्य विष को उतारना आसान है । किन्तु काम, क्रोध माया लोभ आदि के विष को परम गारुड़ी ही हल्का कर सकता है । वासना का घोर विष जन्म-जन्मान्तर तक हानि पहुँचाता है । इस विष के प्रभाव को दूर करने के लिए साधक भगवान् महावीर की साधना का लाभ प्राप्त करते है ।

अमावस्या को महावीर स्वामी ने निर्वाण प्राप्त कर लिया । उनका इस धरती पर सशरीर अस्तित्व नही रहा । माना मध्यलोक का सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया। किन्तु उनका उपदेश आज भी विद्यमान है । भगवान् का स्मरण करके और उनके उपदेश के अनुसार आचरण करके हम अब भी अपन जीवन को उच्च पवित्र एव सफल बना सकते है । हमे आज के दिन भगवान के पावन सदेश पर गहराई के साथ विचार करना चाहिए ।

छोटा और पुराना मकान भी पोत लेने साफ कर लेने से रमणीक लगने लगता है । दीवाली के अवसर पर लोग ऐसा करते है । तन की शोभा के लिए स्नान किया जाता है साबुन लगाया जाता है सुन्दर स्वच्छ वस्त्राभूषण धारण किय जाते है । मन्दिर का आदर देव के कारण है । देव के बिना मन्दिर आदरणीय नही होता । इसी प्रकार इस शरीर रूपी मन्दिर की जो भी शोभा या महत्ता है वह आत्म-देव के कारण है । घर की शोभा बढाई जाय मगर घर म रहन वाले नर की ओर ध्यान न दिया जाय, यह बहुत बडा प्रमाद है मूर्खता है । ऐसा करने स वह कमजोर हो जाएगा । विनम्रता आदि सद्गुणो से पोषित न होने के कारण आत्मदेव दुर्बल हो जाता है । दिव्य गुणो का विकास न करन से आत्मा का दानव रूप प्रकट होता है । अतएव जीवन मे सद्गुणो की सजावट करनी चाहिए ।

आपको अपनी आत्मा मे अमर आलोक प्रकट करना है आध्यात्मिक भावना के द्वारा जीवन को चमकाना है । यही दीपावली पर्व का महान् सन्देश है । यह बाह्य सजावट तो पर्व के साथ ही समाप्त हो जाएगी । इससे जीवन सार्थक न

होगा, आत्मा का किंचित् भी श्रेय न होगा । आत्मा के मगल के लिए सम्यग्ज्ञान और सदाचार को जीवन मे प्रश्रय देना चाहिए ।

भगवान् महावीर की देशना को श्रवण कर श्रोता कृतकृत्य हो गए ।

इस पर्व को हमे मगलमय स्वरूप प्रदान करना है, अन्यथा काल तो आता और जाता रहता है । वह टिककर रहने वाला नही । कौन जानता है कि अगली दीपावली मनाने के लिए कौन रहेगा और कौन नहीं ? अतएव आज आपको जो सुयोग प्राप्त है, उसका अधिक से अधिक लाभ उठाइए । अन्त.करण मे पावन ज्ञान की प्रदीपमाला आलोकित कीजिए । अनन्त ज्योतिर्मय आत्मा की आवृत्त ज्योति को प्रकट कीजिए । ऐसा करने से ही इस पर्व की आराधना सफल होगी ।

---

[७१]

वीर निर्माण

वर्तमान मे जो धर्मशासन चल रहा है उसके अधिपति चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ह । शासन का माध्यम भगवान् की वह वाणी है जिसे उनके प्रधान शिष्य गणधरा ने शास्त्र का स्वरूप प्रदान किया और स्थविर भगवन्तो ने वाद म लिपिबद्ध किया । इस शासन के सचालक सूत्रधार शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से होने वाले सन्त है । शासनपति हम सभी आत्म कल्याण के अभिलाषिया के लिए सदा स्मरणीय है । अज्ञान के अनन्त-असीम अन्धकार म भटकते हुए सासारिक प्राणिया का सम्यग्ज्ञान का आलोक प्रदान करने वाले वही है इस कृतज्ञता के कारण तथा गुणा के प्रति आदर भावना की दृष्टि से भी वे स्मरणीय है ।

गुणा की दृष्टि से सभी तीर्थंकर भगवान् समान होते ह अतएव सभी समान रूप से स्मरणीय है । भगवान् का स्मरण एक प्रकार से अपने असली स्वरप का स्मरण है क्याकि आत्मा और परमात्मा म मौलिक रूप म काई अन्तर नही है । मुक्त एव ससारी आत्मा समान स्वभाव धारक है । जैसे सिद्ध भगवान् अनन्त ज्याति के पुज है अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य एव सुख से परिपूर्ण हे निर्मल हे निर्मल आत्मपरिणति वाले है उसी प्रकार ससार की सब आत्माए भी है कहा भी है—

य परमात्मा स एवाह योऽह स परमस्तथा ।
अहमेव मयाऽऽराध्या नान्य कश्चिदिति स्थिति ॥

परमात्मा का जो स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है और जा मेरा स्वरूप है वही परमात्मा का । अतएव किसी अन्य की आराधना न करते हुए आत्मा की ही आराधना करना उचित है ।

इस प्रकार मूलत आत्मा-परमात्मा मे समानता होने पर भी आज जा अन्तर दृष्टिगोचर हो रहा है उसका कारण आवरण का होना और न होना है । जा आत्म सम्यक श्रद्धा के साथ विवेक दो आ करके साधना क क्षेत्र म अग्रसर

होती है, उसकी शक्तियो का - गुणो का पूर्ण विकास हो जाता है और आत्मिक शक्तियो के पूर्ण विकास की अवस्था ही परमात्मदशा कहलाती है, अनादिकाल से कर्मकृत आवरण जब तक विद्यमान है और वे आत्मा के स्वाभाविक गुणो को आवृत्त किये हुए है तब तक आत्मा आत्मा है । ज्ञान और क्रिया के समन्वय से जब आवरणो को छिन्न-भिन्न कर दिया जाता हे और निर्मल, सहज-स्वाभाविक स्वरूप प्रकट हो जाता है तो वही आत्मा परम आत्मा–परमात्मा बन जाता है । जो आत्मा परमात्मा के पद पर पहुँच गई है, उसका स्मरण करने से हमे भी उस पद को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है और हम उस पथ पर चलने को अग्रसर होते है जिस पर चलने से परमात्मदशा प्राप्त होती है ।

अतएव आज हम उन परमपावन, परमपिता, परम मंगलधाम महावीर स्वामी का जो स्मरण करते है, उसमे कृतज्ञता की भावना के साथ-साथ स्वात्मस्वरूप का स्मरण भी सम्मिलित है ।

महाप्रभु महावीर के प्रति हम कितने कृतज्ञ है । ससार के दु ख-दावानल से झुलसते हुए, अनन्त सन्ताप से सन्तप्त, मोह-ममता के निविड़ अन्धकार मे भटकते और ठोकरें खाते हुए, जन्म जरा मरण की व्याधियो से पीड़ित एवं अपने स्वरूप से भी अनभिज्ञ जगत् के जीवो को जिन्होने मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया, सिद्धि का समीचीन सन्देश दिया, ज्ञान की अनिर्वचनीय ज्योति जगाई, उनके प्रति श्रद्धा निवेदन करना हमारा सर्वोत्तम कर्त्तव्य है । भगवान् ने अहिसा का अमृत न पिलाया होता और सत्य की सुधा-धारा प्रवाहित न की होती तो इस जगत् की क्या स्थिति होती ? मानव दानव बन गया होता, धरा ने रौरव का रूप धारण कर लिया होता । भगवान् ने अपनी साधनापूत दिव्य-ध्वनि के द्वारा मनुष्य की मूर्च्छित चेतना को संज्ञा प्रदान की, दानवी वृत्तियों का शमन करने के दिए दैवी भावनाएँ जागृत की और मनुष्य में फैले हुए नाना प्रकार के भ्रम के सघन कोहरे को छिन्न-भिन्न करके विमल आलोक की प्रकाशपूर्ण किरणे विकीर्ण की ।

प्रश्न उठ सकता है कि ससार का अपार उपकार करने वाले भगवान् के निर्वाण को 'कल्याणक' क्यो कहा गया है ? निर्वाण-दिवस मे आनन्द क्यो मनाया जाता है ? इसका उत्तर यह है कि लोकोत्तर पुरुष दूसरे पामर प्राणियो जैसे नही होते। वे आते समय प्रेरणा लेकर आते है और जाते समय भी प्रेरणा देकर जाते है। अतएव महापुरुषो का जन्म भी कल्याणकारी होता है और निर्वाण भी ।

आस्तिकजन आत्मा को अजर, अमर और अविनाशी मानते है । आत्मा एक शाश्वत तत्त्व है । न उसका उत्पाद होता है व विनाश । सकर्म अवस्था मे वह

एक भव को त्याग कर दूसरे भव मे चला जाता है जैसे कोई व्यक्ति एक नगर को त्याग कर दूसरे नगर मे वस जाता है । ऐसी स्थिति म मृत्यु का अर्थ सिर्फ पर्याय और शरीर का परिवर्तन हो जाना मात्र है आत्मा का अस्तित्व समाप्त होना नही है। इसमे भी जो महापुरुष साधना के क्षेत्र मे अग्रसर होते है, उसमे सफलता प्राप्त करत हे और जीवनपर्यन्त स्व-पर के अभ्युदय मे निरत रह कर शरीर का परित्याग करते है वीतरागभाव का चरम विकास हो जान के कारण जीवन और मरण दानो जिन्हे एक समान प्रतीत होने लगते है, उनके लिए मरण एक साधारण-सी घटना है । यही नही वे मृत्यु को साधना के फल की प्राप्ति मे सहायक समझते है क्योकि शरीर का त्याग किय विना साधना का सम्पूर्ण फल प्राप्त नही होता । यही कारण है कि मृत्यु का महान् उत्सव का रूप दिया गया है फिर जा शरीर त्याग कर सिद्धि प्राप्त करत है सदा के लिए जन्म मरण के चक्र से छूट जाते हे और अव्यावाध सुख क भागी वनते है उनका शरीरोत्सर्ग तो किसी प्रकार भी शोचनीय नहीं होता।

जा नास्तिक जन आत्मा का पृथक अस्तित्व स्वीकार नही करते और यह समझते है कि शरीर के साथ आत्मा भी खत्म हो जाती है उनके लिए हाय हाय करत हुए मरन क सिवाय और कोई मार्ग नही । जव उनका अन्तिम समय सन्निकट आता हे जव उन्हे ऐसा प्रतीत हाता है कि मेरा अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हा रहा है और मै ऐसे अन्धकार म विलीन हो रहा हू जिसका कदापि अन्त आने वाला नही है तो उन्हे अतिशय उद्वेग एव दुःख होना स्वाभाविक है । इस प्रकार आस्तिक और धर्मनिष्ठ व्यक्ति क समक्ष उज्ज्वल भविष्य होता है जवकि नास्तिक क सामने निराशा का सघनतम तिमिर । आस्तिक शान्तिपूर्वक हँसता हुआ प्राण-त्याग करता है ता नास्तिक विलाप करता हुआ मरता है ।

भगवान् महावीर मृत्युजय थे । उन्होंने आध्यात्मिक जगत् की चरम सिद्धि प्राप्त की । अपने साधनाकाल म उन्हाने अज्ञानान्धकार का भेदन किया । प्रत्येक स्थिति म समभाव धारण किय हुए रहे । सुषुप्त जनो की आत्मा को जागृत किया और अन्त मे मुक्ति प्राप्त की ।

भगवान् के चरित को पढन और सुनने वाल के अन्तःकरण म उत्कठा जागृत हाती है कि हम भी निर्वाण प्राप्त करें । भगवान् न कहा है कि सभी जीव समान हैं अतएव जैसे वे निर्वाण प्राप्त करने म समर्थ हुए वैस हम भी समर्थ हो सकते है । इस विचार स साधक को साहस और धैर्य प्राप्त होता है । कर्मपाश स मानव मुक्त नही हा सकता, इस भ्रमपूर्ण विचार का निरसन हा जाता है । कुछ का कोई कारण नही रहता ।

निर्वाण से पूर्व महावीर स्वामी ने पोद्गलिक भावों का परित्याग कर दिया, आहार-पानी का त्याग कर दिया और कर्मपुद्गलो को निकाल देने की साधना वढ़ा दी। वे दिन और रात्रि मे सारे समय देशना देते रहे । अन्तिम समय मे उनके प्रशममय प्रवचन की धारा वह रही थी । सवके लिए उस धारा मे अवगाहन करने की छूट थी। उस दिन राजा चेटक ने पौषध व्रत की आराधना की । मल्लो और लिच्छवी राजाओ ने भी, जिनकी सख्या अठारह थी, पौषध व्रत अगीकार किया । उन्हे परमप्रभु की अन्तिमकालिक सेवा का सौभाग्य मिला । अन्तिम समय मे, स्वाति नक्षत्र के योग मे कार्त्तिकी अमावस्या के दिन प्रभु महावीर निर्वाण पद को प्राप्त हुए। जिन्हे उस समय प्रभु की सेवा का अवसर मिला, वे धन्य हे।

प्रश्न हो सकता हे—वीतराग की सेवा किस प्रकार की जा सकती हे ? वीतराग के निकट पहुच कर उनकी इच्छा के विपरीत कार्य करना सेवा नही हे । उनके गुणो के प्रति निष्कपट प्रीति होना, प्रमोदभाव होना और उनके द्वारा उपदिष्ट सम्यक् ज्ञान दर्शन और चारित्र के मार्ग पर चलना ही वीतराग की सच्ची सेवा है ।

मगर आज परिस्थिति यह है कि पूजक अपने पूज्य को अपने ही रग ढ़ग मे ढालना चाहता है । जिसकी जैसी दृष्टि या रुचि है, वह उसी के अनुरूप देव के स्वरूप की कल्पना कर लेता है । राजस्थान, वगाल और उत्तर प्रदेश मे ठाकुरजी का रूप अलग-अलग प्रकार का मिलेगा । राजस्थानी लोग सीता को घाघरा पहनाएँगे तो वगाली और विहारी भक्त साड़ी से सुशोभित करेगे । सीता वास्तव मे किस वेश मे रहती थी, इस तथ्य को जानने का परिश्रम किसी को नही करना हे । जैनो मे श्वेताम्बरो के महावीर अलग प्रकार के होंगे और दिगम्बरों के महावीर अलग प्रकार के। महावीर की आत्मा को पहचानना और उससे प्रेरणा प्राप्त करना ही वास्तव मे महावीर की पुजा है । साम्प्रदायिक रग मे रगने से महापुरुषो का रूप वदल जाता है। आश्चर्य की वात तो यह है कि यह खीचतान जानकार लोगो मे अधिक है, अज्ञानी कहे जाने वाले लोगो मे नही है ।

यदि उपासना का मूल आधार गुण मान लिया जाय तो सारी विडम्वनाएँ समाप्त हो जाएँ । 'गुणा पूजास्थानम्' इस उक्ति को कार्यान्वित करने की आवश्यकता है । महावीर मे अनन्त ज्ञान, दर्शन एव वीतरागता है । जगत् के प्रत्येक प्राणी पर उनका समभाव है । इन गुणों को अगर हम आदर्श मानकर भगवान् की उपासना करे और उन्हे अपने जीवन मे विकसित करने का प्रयत्न करे तो किसी प्रकार का सघर्ष ही उत्पन्न न हो । इन गुणो की प्राप्ति के लिए जो साधना करेगा उसकी साधना निराली ही होगी ।

मनोवृत्ति जब तक वीतरागतामयी नही हो जाती तब तक इस जीवन मे भी निराकुलता और शान्ति प्राप्त नही हो सकती । जितने जितने अशो मे वीतरागता का विकास होता जाता है उतने ही उतने अशो मे शान्ति सुलभ हो जाती है । अतएव अगर हम वीतराग परिणति को अपना सके तो श्रेयस्कर ही है । न अपना सके तो भी कम से कम वीतरागता की ओर बढने वालो को देखकर प्रमोद का अनुभव करे। वीतराग के प्रति प्रमोद का अनुभव करना भी वीतरागता के प्रति बढने का पहला कदम है ।

भगवान् के चरणो मे अन्तिम समय तक रह कर और उनसे वीतरागभाव की प्रेरणा प्राप्त करके अनेक राजाओ ने अपने जीवन को कृतार्थ समझा ।

साधना की प्राथमिक भूमिकाओ मे देव और गुरु के प्रति अनन्य अनुराग उपयोगी होता है । सुदेव और सुगुरु के प्रति दृढ अनुराग होने से साधक कुदेव और कुगुरु की उपासना से बच कर मिथ्यात्व से भी बचता है । किन्तु सिद्धान्त बतलाता है कि यह स्थिति भी उच्च भूमिका पर चढने मे एक प्रकार की रुकावट है । मैं आराधक हूँ और मुझसे भिन्न कोई आराध्य है इस प्रकार का विकल्प जब तक बना रहता है तब तक आराधना पूर्ण नही होती । चित्त मे आराध्य आराधक और आराधना का कोई विकल्प न रह जाना-तीनो का एक रूप हो जाना अर्थात् भेद प्रतीति का विलीन हो जाना ही सच्ची आराधना है । तात्पर्य यह है कि जब आत्मा अपने ही स्वरूप मे रमण करती है और बाह्य जगत् के साथ उसका कोई लगाव नही रह जाता है, वही ध्याता वही ध्येय और वही ध्यान के रूप मे परिणत हो जाता है-निर्विकल्प समाधि की दशा प्राप्त कर लेता है तभी उसकी अनन्त शक्तियाँ जागृत होती है ।

प्राथमिक स्थिति मे भी साधक को गुरु के शरीर के सहारे न रह कर गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान के सहारे रहना चाहिए । गौतम स्वामी ने प्रभु की सेवा मे ३० वर्ष व्यतीत कर दिए । वे कभी उनसे पृथक नही रहे । उन्होंने सच्चे अन्तेवासी (निकट ही निवास करने वाले) का धर्म निभाया । परन्तु उन्हे पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नही हुई। उनके हृदय मे अपने आराध्य भगवान् के प्रति जो प्रशस्त राग विद्यमान था उसने आवरणो का सम्पूर्ण क्षय नही होने दिया ।

महावीर स्वामी ने गौतम से कहा- 'मेरे प्रति तुम्हारा जो अनुराग है उसे बाहर निकाल दो तो केवलज्ञान की प्राप्ति होगी । जब तक साधक अपने से भिन्न किसी दूसरे पर अवलम्बित है तब तक बहिर्दृष्टि बना रहता है-वह पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी नही हो पाता । अन्तर्मुखता के बिना आत्मनिष्ठता नही आती और आत्मनिष्ठा क

अभाव मे आत्मा के सहज-स्वाभाविक स्वरूप का आविर्भाव नही होता । भगवान् ने कहा–

पुरिसा ! तुममेव तुम मित्त,
कि बहिया मित्तमिच्छसि ।

अर्थात्–हे आत्मन् ! अपना सहायक तू आप ही है, अपने से भिन्न सहायक की क्यो अभिलाषा करता हे ।

कितना महान् आदर्श है ! प्रभु की कैसी निस्पृहता है ! दूसरे धर्मों के देव कहते है–'तू मेरी शरण मे आ, मै तुझे समस्त पापो से मुक्त कर दूगा और पाप करने पर भी उसके फल से बचा लूगा ।' कोई कहता है–'मेरी उपासना जो करेगा उसे मै वहिश्त मे भेज दूगा, स्वर्ग का पट्टा लिख दूगा ।' मगर वीतराग की वाणी निराली है। उन्हे अपने भक्तो की टोली नही जमा करनी है, अपने उपासको को किसी प्रकार का प्रलोभन नही देना है । वे भव्य जीवो को आत्म-कल्याण की कुजी पकड़ा देना चाहते है, इसीलिए कहते है–"गौतम ! मेरे प्रति तेरा जो अनुराग है, उसे त्याग दे। उसे त्यागे बिना पूर्ण वीतरागता का भाव जागृत नही होगा ।" इस प्रकार की निस्पृहता उसी मे हो सकती है जिसने पूर्ण वीतरागता प्राप्त करली हो और जिसमे पूर्ण ज्ञान की ज्योति प्रकट हो गई हो । अतएव भगवान् का कथन ही उनकी सर्वज्ञता, पूर्ण कामना और महत्ता को सूचित करता है ।

गौतम स्वामी का भगवान् महावीर के प्रति जो शुभ राग था वह भगवान् के अन्तिम समय तक न छूट सका और परिणाम यह हुआ कि तब तक उन्हे कैवल्य की प्राप्ति भी न हो सकी । भगवान् के निर्वाण के पश्चात् ही उनका राग दूर हुआ और दूर होते ही उन्होने अरिहन्त अवस्था प्राप्त करली । उनका राग दूर होने मे एक विशेष घटना कारण बन गई ।

घटना इस प्रकार थी । गौतम स्वामी भगवान् का आदेश पाकर समीपवर्त्ती किसी ग्राम मे देवशर्मा को प्रतिबोधित करने गए हुए थे । उनके लौटकर आने से पूर्व ही भगवान् का निर्वाण हो गया । जो तीस वर्ष तक निरन्तर साथ रहा वह अन्तिम समय मे बिछुड़ गया । गौतम स्वामी के ह्रदय को इस घटना से चोट पहुँची । उन्होने विचार किया–'केवली होने के कारण भगवान् अपने निर्वाणकाल को तो जानते थे, फिर भी चिरकाल के अपने सेवक को अन्तिम समय मे पास न रहने दिया । मुझे अन्तिम समय की उपासना से वंचित कर दिया ।'

यह विचार गौतम का अनुरागी मन कर रहा था और अनुराग जब प्रबल होता है तो विवेक ओझल हो जाता है । किन्तु यह विचारधारा अधिक समय तक

टिक नही सकी । तत्काल ही विचारो की लगाम विवेक ने थाम ली । प्रभु की वाणी उन्हे स्मरण हो आई–

पुरिसा ! तुममेव तुम मित्त
किं बहिया मित्तमिच्छसि ।

बस उन्होंने सोचा–'प्रभु ने स्वावलम्बन की शिक्षा देने के लिए मुझे अपने से पृथक किया है । निर्वाण जाते-जाते भी वे मुझे मूक शिक्षा दे गए है । अब उसी शिक्षा का आधार लेकर मुझे अपनी आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए । बाहर की ओर देखने वाली दृष्टि को अन्दर की ओर मोड देना चाहिए ।

और उसी समय गौतम स्वामी की दृष्टि आत्मोन्मुख हो गई । बाहर के समस्त आलम्बनो का जैसे सद्भाव ही न रहा । इस प्रकार जब उनकी आत्मा अपने स्वरूप मे निमग्न हो गई तो तत्काल अनन्त ज्ञानालोक आविर्भूत हो गया और वे अपने आराध्य के समान बन गए । एक कवि ने कहा है–

चेतन ! तू ही तारसी तू परमेश्वर रूप ।
प्रभुजी के गुण गावता प्रकटे आत्मस्वरूप ।।

गौतम ने आत्मा के परमेश्वर रूप का चिन्तन किया । जो सिद्धि तीस वर्षो की साधना मे उन्हे प्राप्त नही हुई थी वह महावीर के निर्वाण के पश्चात् स्व स्वरूप के चिन्तन से स्वल्पकाल मे ही प्राप्त हो गई । उनके अन्तस् से ध्वनि निकली रज किसका ? दुख किसका ? वियाग किसका ? किसी भी परपदार्थ के साथ आत्मा का योग नही होता तो वियोग कैसा ? इस चिन्तन से उनकी विकलता दूर हो गई ।

जो वस्तु अलग हो सकती है वह आत्मा की नही है । जो आत्मीय है वह आत्मा से पृथक कदापि नही हो सकता । जिसका वियोग होता है वह सब पर पदार्थ है जिसे आत्मा राग भाव के कारण अपना समझ लेता है यह समझ मिथ्या है । जब यह मिथ्या धारणा दूर हो जाती है तब सच्चा प्रकाश आत्मा मे उत्पन्न होता है–हे चेतन ! तू स्वय ही अपने को तारने वाला है तू ही परमात्मा है । परमात्मा का सहारा लेकर उनके स्वरूप का चिन्तन करने से निज स्वरूप प्रकट होता है । निज गुणा को प्रकट करने मे परमात्मस्वरूप का चिन्तन एव गुणगान निमित्त होता है । इससे शुद्ध स्वरूप पर जो पर्दा पडा है वह दूर हा जाता है ।

इस प्रकार एक भास्कर (महावीर) अस्त हुआ और दूसरे भास्कर का उदय हुआ । गौतम स्वामी केवलज्ञानी हो गए । उनके चारो ज्ञान केवलज्ञान म उसी प्रकार विलीन हो गए जैसे हाथी क पैर म सबके पैर समा जाते हैं ।

मे सभी ज्योतियाँ विलीन हो जाती है । अपूर्णता मिट गई । अपूर्णता का कारण क्षयोपशम है और जब क्षयोपशम न रहा तो भेद भी नहीं रहा । समुद्र, सरोवर, कूप, नदी आदि के जल मे भाप बन जाने के बाद किसी प्रकार का भेद नही रहता । भारी-हल्का, खारा-मीठा, गन्दा-साफ—सभी प्रकार का जल वाष्प बन जाने पर एकरूप हो जाता है । जल मे विजातीय पदार्थ के सयोग से भिन्नता होती है, और उस सयोग के हट जाने पर भिन्नता दूर हो जाती हे । इसी प्रकार विजातीय द्रव्य का सयोग हटते ही सब आत्माओ का ज्ञान और सभी आत्माए समान हो जाती हे । उनमे किसी प्रकार की विलक्षणता नही रहती ।

गौतम स्वामी शुद्ध आत्मस्वरूप के अधिकारी बन गए । हमे भी आत्मचिन्तन द्वारा आत्मा को शुद्ध स्वरूप मे परिणत करना है । गौतम की शुद्धि से हमे सीख लेनी है । ज्ञान के द्वारा अपने निज गुणो को शुद्ध बनाना है । यह शुद्धता सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान से ही प्राप्त हो सकती हे ।

बन्धुओ, सत्पुरुषो का जीवन प्रदीप के समान है जो स्वय प्रकाशित होता है और दूसरो को भी प्रकाशित करता है । साधारण मानव मिथ्या धारणाओ और गलत शक्तियो के उपयोग के कारण यो ही समाप्त हो जाता है । आयु का तेल पाकर जीवन की बत्ती जलती रहती है, मगर कोई-कोई बत्ती होली का काम कर जाती है। दीपक फटाके, बीड़ी, सिगरेट अथवा दूसरों की वस्तुओं को जलाने के काम भी आ सकता है, किन्तु दीपक का यह सही उपयोग नही है । वह दूसरो को जला कर स्वयं भी खत्म हो जाता है । एक दीपक वह भी होता है जो पठन-पाठन मे और पथिको को पथ दिखलाने में काम आता है । वह दीपक बुझ जाता है तो पथिक उसे याद करते है कि रात मे भी उसने दिन के समान सुविधा दी । यह जीवन भी चलते दीपक के समान है । इससे प्रकाश प्राप्त करना चाहिए—अपने लिए तथा औरों के लिए ।

भगवान् महावीर 'लोकप्रदीप' थे । वे स्वय प्रकाशमय थे और समस्त जगत् को प्रकाश देने वाले थे । उस लोकोत्तर प्रदीप ने ससार को सन्मार्ग प्रदर्शित किया, कुमार्ग पर जाने से रोका और अज्ञान के अधकार का निवारण किया । किन्तु वह प्रदीप इस लोक मे नही रहा, उसकी स्मृति ही हमारे लिए शेष रह गई है ।

वासना और विकार की आधी से प्रभावित दीप बुझ जायेगे । वही दीपक अमर रहेगा जिसे वासना की आधी स्पर्श नही कर सकती ।

भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के जो प्रश्नोत्तर विद्यमान है, वे हमारे लिए प्रकाशपुज है । भगवान् ने न केवल वाणी द्वारा बल्कि

करणो द्वारा भी शिक्षा दी है । जो चल चुका है और पहुँच चुका है उसे चरण-चिह्न नही देखने पडते । पीछे चलने वाला को चरण चिह्न देखने पडते है । अगर हम उनके चरण चिह्नो को देखकर उनके मार्ग पर चलेगे जिन्होने सिद्धि प्राप्त की है या जो आत्मोत्थान के पथ के पथिक है तो जो सिद्धि गौतम को मिली वह हमे भी मिल सकती है । भले ही विघ्न आए, बाधाए हमे रुकने को मजबूर करें कालक्षेप हो किन्तु जिसका सकल्प अचल है और जो उस मार्ग से न हटने का निश्चय कर चुका है उसे सिद्धि प्राप्त हो कर ही रहेगी ।

दीपावली के प्रसग पर व्यापारी हानि-लाभ का हिसाब निकालते है । लाभ देखकर प्रसन्न और हानि देखकर दुखी होते है । हानि है तो आगे उसे लाभ मे परिणत करने का सकल्प करते है और दुगुना काम करते है । जीवन के इस महान व्यवसाय म भी यही नीति अपनानी चाहिए । उसकी भी चिन्ता करनी चाहिए । आर्थिक लाभ और हानि का सम्बन्ध सिर्फ वर्तमान जीवन तक ही सीमित है मगर जीवन व्यापार का सम्बन्ध अनन्त भविष्य के साथ है । यदि साधु, साध्वी श्रावक और श्राविका दीवाली की रात्रि म, वर्ष मे एक वार भी शुद्ध हृदय से गहरा विचार करे तो उन्हे लाभ होगा ।

व्यापारी चादी के टुकडो का हिसाब रखता है जिनमे कोई स्थायित्व नही है तो साधक को भी अपने जीवन का अपनी साधना अपने सद्गुणो के लाभा-लाभ का हिसाब रखना चाहिये । विना हिसाब वाला, रामभरोसे रहने वाला व्यापारी जैसे धोखा खा सकता है, उसी प्रकार व्रती साधक को आध्यात्मिक लेखा-जोखा न रखने से खतरे का सामना करना पड सकता है ।

साधक अपने जीवन को ज्ञान ज्योति से आलोकित रखे ज्ञान-आलोक म जीवन को निर्मलता की ओर अग्रसर करे और सम्पूर्ण रूप से ज्योतिर्मय बन जाए, यही दीपावली का संदेश है । इस सदेश को समझ कर जो आचरण करेगा उसका भविष्य आलोकमय बन जाएगा ।

---

[७२]

पत्रता

कोई भव्यजीव जब वास्तविक सम्यग्दृष्टि प्राप्त कर लेता है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझ लेता है, ससार की असारता को विदित कर लेता है, परिग्रह को समस्त दु खो का मूल समझ लेता है और यह सब जान लेने के पश्चात् आत्मस्वरूप मे निराकुलतापूर्वक रमण करने के लिए ससार से विमुख हो जाता है, तब जगत का विशालतम वैभव भी तुच्छ प्रतीत होने लगता है । राजसी भोग उसे भुजग के समान प्रतीत होने लगते है । तब वह मुनिधर्म की साधना मे तत्पर हो जाता है । ऐसा साधक शनै. शनै· कदम उठाने की अपेक्षा एक साथ शक्तिशाली कदम उठाना ही उचित मानता है ।

कुछ साधक ऐसे भी होते है जो धीरे-धीरे अग्रसर होते है । अन्तर मे ज्ञान की चिनगारी प्रज्वलित होते ही वे अकर्मण्य न रह कर जितना सम्भव हो उतनी ही साधना करते है । वह देशविरति को अगीकार करते है । कुछ भी न करने की अपेक्षा थोडा करना बेहतर है । हम कह सकते है—'अकरणान्मन्द करणं श्रेयः ।'

इस प्रकार देशविरति अविरति से श्रेष्ठ है । आनन्द सर्वविरति को अगीकार करने मे समर्थ नही हो सका, अतः उसने देशविरति ग्रहण की । इस प्रसग में नवमे व्रत सामायिक के अतिचारो का निरूपण किया जा चुका है । बतलाया गया था कि सामायिक की अवस्था मे मन, वचन और काया का व्यापार अप्रशस्त नही होना चाहिए। जिस व्यापार से समभाव का विघात हो, वह सब व्यापार अप्रशस्त कहलाता है । साथ ही उस समय 'मै सामायिक व्रत की आराधना कर रहा हूँ' यह बात भूलनी नही चाहिए। यह सामायिक का भूषण है, क्योंकि जिसे निरन्तर यह ध्यान रहेगा कि मै इस समय सामायिक मे हूँ, वह इस व्रत के विपरीत कोई प्रवृत्ति नही करेगा । इसके विपरीत सामायिक का भान न रहना दूषण है । सामायिक के समय भी वैसा

भी वैसा ही बोलना जैसा अन्य समय मे बोला जाता है या अन्य कार्य करना यह अनुचित है । इसी प्रकार सामायिक व्रत का आराधन व्यवस्थित रूप से करना श्रावक का परम कर्त्तव्य है । इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक व्रत म जिन मर्यादाआ का पालन करना आवश्यक है उन्हे पूरी तरह ध्यान मे रखा जाय और पालन किया जाय।

सामायिक के उक्त पाचो दोषो से ठीक तरह बचा जाय और भावपूर्वक विधि के साथ सामायिक का आराधन किया जाय तो जीवन मे समभाव की वृद्धि होगी और जितनी समभाव की वृद्धि होगी उतनी ही निराकुलता एव शान्ति बढेगी ।

श्रावक का दसवा व्रत देशावकाशिक है । यह व्रत एक प्रकार से दिग्व्रत म की हुई मर्यादाआ के संक्षिप्तीकरण से सम्बन्ध रखता है । दिग्व्रत म श्रावक ने जीवन भर के लिए जिस जिस दिशा मे जितनी जितनी दूर तक आवागमन करने का नियम लिया था उसे नियतकाल के लिए सिकोड लेना देशावकाशिक व्रत है । उदाहरणार्थ– किसी श्रावक ने पूर्व दिशा मे पाच सौ मील तक जाने की मर्यादा रखी है । किन्तु आज वह मर्यादा करता है कि मै बारह घन्टो तक पचास मील से अधिक नही जाऊगा–तो यह देशावकाशिक व्रत कहलाएगा ।

इस व्रत का उद्देश्य है आशा तृष्णा को घटाना और पापो से बचना । की हुई मर्यादा से बाहर के प्रदेश म हिसा आदि पापा का परित्याग स्वत हो जाता है और वहा व्यापार आदि करने का त्याग हो जाने के कारण तृष्णा का भी त्याग हो जाता है ।

पहले बतलाया जा चुका है कि व्रत को सोच समझ कर दृढ सकल्प के साथ अगीकार करना चाहिए और अगीकार करने के पश्चात् हर कीमत पर उसका पालन करना चाहिए । व्रत को स्वीकार कर लेना सरल है मगर पालना कठिन होता है । किन्तु जिसका सकल्प सुदृढ है उसके लिए व्रत पालन म कोई बडा कठिनाई नही होती । हा, यह आवश्यक है कि व्रत के स्वरूप को और उसके अतिचारा को भली भाँति समझ लिया जाए और अतिचारा से बचने का सदा ध्यान रखा जाए । इस व्रत के भी पाच अतिचार जानने योग्य है किन्तु आचरण करने योग्य नहा है । व इस प्रकार हैं–

(१) आनयन प्रयोग मनुष्य के मन म कभी कभी दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है । किसी प्रकार का व्रत की मर्यादा का उल्लघन करन वाला आकर्षण पैदा हो जाता है । उस समय वह कोई रास्ता निकालन की सोचता है । मर्यादित क्षेत्र से बाहर उसे जाना नहा है मगर वहा की किसी चाज की आवश्यकता उसे महसूस

होती है । ऐसी स्थिति मे स्वयं न जाकर किसी दूसरे से कोई वस्तु मगवा लेना, यह अतिचार है । इस प्रकार के प्रयोग से व्रत का मूल उद्देश्य नष्ट हो जाता है ।

(२) प्रेष्य प्रयोग : मर्यादित क्षेत्र से बाहर किसी को भेज कर काम करवा लेना भी अतिचार है । किसी श्रावक ने सैलाना की सीमा मे ही व्यापार करने का नियम लिया है, किन्तु इन्दौर या रतलाम मे विशेष लाभ देखकर पुत्र या मुनीम को भेजकर व्यापार करना, यह भी व्रत का अतिचार है । ऐसा करने से भी व्रत के उद्देश्य मे बाधा आती है ।

(३) शब्दानुपात : आवाज देकर किसी को मर्यादित क्षेत्र के भीतर बुला लेना और बाहर जाकर जो काम करना था वह उसी क्षेत्र मे कर लेना शब्दानुपात नामक अतिचार है । मान लीजिए किसी साधक ने पोषधशाला से बाहर न जाने का व्रत लिया । अचानक उसे बाहर का कोई काम पड गया । ऐसी स्थिति मे वह स्वय बाहर न जाकर किसी को आवाज देकर पोषधशाला मे ही बुला लेता है तो अपने स्वीकृत व्रत का अतिक्रमण करता है क्योंकि ऐसा करने से व्रत का उद्देश्य भग होता है ।

(४) रूपानुपात : मर्यादित क्षेत्र से बाहर के किसी व्यक्ति को बुलाने के अभिप्राय से अपना रूप-चेहरा दिखलाना भी अतिचार है । किसी प्रकार का इशारा करके काम करवा लेना भी इसी में सम्मिलित है । पौषधशाला मे बिस्तर नही आया या पानी नही आया । उसे मगवाने के अभिप्राय से अपने आपको दिखलाना या सकेत करना रूपानुपात है ।

(५) पुद्गल प्रक्षेप : मर्यादित क्षेत्र से बाहर के व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए ककर, पत्थर, रूमाल या ऐसी ही कोई अन्य वस्तु फेकना और बाहर की वस्तु मगवाकर काम मे लाना भी अतिचार है । यद्यपि वह बाहर गया नही किन्तु बाहर जाने का जो प्रयोजन था उसे उसने पूरा कर लिया । ऐसा करने से व्रत के मूल उद्देश्य मे बाधा उपस्थित हुई । अतएव व्रत का आंशिक खण्डन हो गया ।

उल्लिखित पॉच अतिचारो से बचने से ही देशावकाशिक व्रत को निर्मल रूप से पाला जा सकता है । इस व्रत का दायरा बहुत विशाल है । इसके अनेक रूप जो हो गए है, उसी से इसकी विशालता का अनुमान किया जा सकता है ।

देशावकाशिक और सामायिक व्रत मे क्या अन्तर है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधक के कार्यो का आरम्भ-समारम्भ का त्याग इस व्रत मे अनिवार्य नही

है। इस व्रत को धारण करने वाला साधक अपने मर्यादित क्षेत्र के बाहर आरम्भ आदि का त्यागी होता है किन्तु मर्यादित क्षेत्र के भीतर आरम्भ का त्याग करना उसके लिए अनिवार्य नहा है । सामायिक व्रत का पालन करने वाले साधक के लिए सावद्य याग का त्याग करना आवश्यक है । उसम सम्पूर्ण पाप के त्याग का लक्ष्य होता है । सामायिक मे देश सम्बन्धी कोई मयादा नही हाती । सामायिक व्रत की आराधना के विषय मे कहा गया है--

> सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।
> एएण कारणेण, बहुसो सामाइय कुज्जा ।।

सामायिक करने की अवस्था म श्रावक भी साधु के समान हो जाता है इस कारण श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह वार-बार सामायिक करे ।

तात्पर्य यह है कि आर्त्त रौद्र ध्यान का त्याग करक और सावद्य कार्यो का त्याग करके एक मुहूर्त्त पर्यन्त जो समताभाव धारण किया जाता है वह सामायिक व्रत कहलाता है । स्पष्ट है कि सामायिक म किसी प्रकार के सावद्य व्यापार की छूट नहीं है । किन्तु देशावकाशिक व्रत मे यह बात नही होती । उसका पालन करने वाला श्रावक मर्यादा के भीतर सावद्य व्यापार का त्यागी नही होता ।

सामायिक करना एक प्रकार से साधुत्व का अभ्यास है । अतएव सामायिक का आराधन करने से आगे की भूमिका तैयार होती है ।

इन दाना व्रतो के स्वरूप मे किंचित अन्तर हान पर भी यह नही समझना चाहिए कि इनमे किसी प्रकार का साम्य ही नहीं है । आखिर तो दोना ही व्रत अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार श्रावक के जीवन का सयम की ओर अग्रसर करने क लिए ही है । श्रावक किस प्रकार पूर्ण सयम के निकट पहुँचे इस उद्देश्य का पूर्ति म दोना व्रत सहायक है । श्रावक के जो तीन मनोरथ कहे गए है उनम एक मनारथ यह भी है कि कब वह सुदिन उदित होगा जब मै आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर अनगार धर्म का अगीकार करुगा ? इसी मनोरथ को लक्ष्य म रखकर श्रावक को प्रत्येक प्रवृत्ति करनी चाहिए और जिसका लक्ष्य ऐसा उदात्त और पवित्र होगा वह सदा सयम परायण सत्पुरुषा का गुणगान करेगा ।

आनन्द ने श्रावक व्रत की साधना स्वीकार की और अपन जीवन की कृतार्थता की आर कुछ कदम बढ़ाए । श्रावका क लिए आनन्द का जीवनचरित सदा आदर्श रहगा ।

कई दिनो से जो कथानक रुक गया है, उस ओर भी ध्यान देना है। बतलाया जा चुका है कि आचार्य सम्भूतिविजय का स्वर्गवास हो गया और यह दुस्सवाद सुनकर महामुनि भद्रबाहु नेपाल से लौट आए। स्थूलभद्र भी साथ आए। उनकी सातो भगिनियाँ स्थूलभद्र के दर्शनार्थ आई। वे एकान्त मे साधना कर रहे थे। उस समय आचार्य भद्रबाहु ने कहा–"चाहो तो उनके दर्शन कर सकती हो।"

भगिनियाँ तो दर्शन करने के लिए उत्कंठित थी ही, साथ ही उन्हे यह जानने की भी बड़ी अभिलाषा थी कि देखे मुनिराज स्थूलभद्र कैसी साधना कर रहे है? अब तक उन्होने क्या अभ्यास किया है? क्या स्थिति है उनकी? इस प्रकार की उत्कठा और प्रेरणा से वे स्थूलभद्र के पास पहुँची।

उधर स्थूलभद्र ने अपनी भगिनियो को आते देख विचार किया–'इन्हें कुछ चमत्कार दिखलाना चाहिए। मैने जो कुछ प्राप्त किया है, उसमे से जो कुछ दिखलाने योग्य है, उसकी बानगी दिखला देना चाहिए। अन्यथा इन्हे कैसे पता चलेगा कि नेपाल जैसे दूर देश मे जाकर मैने क्या प्राप्त किया है?' इस प्रकार विचार करके स्थूलभद्र गुफा के द्वार पर सिह का रूप धारण करके बैठ गए।

भगिनियाँ बड़ी उत्कठा के साथ महासाधक स्थूलभद्र के दर्शन को जा रही थी। वह स्थान एकान्त भयानक एव जनहीन वन्य प्रदेश था। मगर तपोव्रती जिस वन प्रदेश मे निवास करता है उसकी भयानकता कम हो जाती है, यहां तक कि एक बालक भी वहा जा सकता है। साध्वियां निर्भय होकर उसी ओर चली जा रही थी।

योगसाधना का सबसे बड़ा विघ्न लोकैषणा है। योग की साधना करते-करते साधक मे अनेक प्रकार की विस्मयजनक शक्तिया उत्पन्न हो जाती है। योग शास्त्र के कर्त्ता-आचार्य हेमचन्द्र ने योग के माहात्म्य को प्रदर्शित करते हुए लिखा है-

योगः सर्वविपदवल्ली-विताने परशुः शितः।
अमूलमन्त्रतन्त्रञ्च, कार्मण निर्वृत्तिश्रियः॥

भूयासोऽपि पापमानः, प्रलयं यान्ति योगतः।
चण्डवाताद घनघटना, घनाघनघटा इव॥

कफविप्रुण्मलामर्श–सर्वौषधमहर्द्धयः
सभिन्नश्रोतोपलब्धिश्च, योगं ताण्डवाडम्बरम्॥

अर्थात्–योग समस्त विपत्तिरूपी लताओं के वितान को छेदन करने वाला तीक्ष्ण कुल्हाड़ा है और मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वशीभूत करने के लिए बिना मन्त्र-तन्त्र

का कामण (जादु) है । योग के प्रभाव से सम्पूर्ण पापो का विनाश हो जाता है जैसे तेज आधी से मेघो की सघन घटाएँ तितर बितर हो जाती है । योग के अद्भुत प्रभाव से किसी-किसी योगी को ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो जाती है कि उसका कफ सब रोगो के लिए औषध का काम करता है उस के मल मे और मूत्र म रोगो को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है । किसी के स्पर्श मात्र से ही रोग दूर हो जाते है । किसी के मल मूत्र आदि सभी व्याधि विनाशक हो जाते हैं। योग के प्रभाव से संभिन्नश्रोतोपलब्धि भी प्राप्त होती है । जिसके प्राप्त होने पर किसी भी एक इन्द्रिय से पाचा इन्द्रियो का काम लिया जा सकता है । जीभ से सूघा जा सकता है आख से चखा जा सकता है कान से देखा जाता है इत्यादि। इनके अतिरिक्त अन्य समस्त लब्धिया भी योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं ।

फिर भी नाना प्रकार की प्राप्त होने वाली लब्धिया योग का प्रधान फल नही है । अध्यात्मनिष्ठ योगी इन्हे प्राप्त करने के लिए योग की साधना नही करता । ये तो आनुषागिक फल हैं । जैसे कृषक धान्य प्राप्त करने के लिए कृषि कार्य करता है किन्तु धान्य के साथ उसे भूसा (खाखला) भी मिलता है उसी प्रकार योगी मुक्ति के लिए साधना करता है परन्तु उक्त लब्धियाँ भी अनायास ही उस प्राप्त हो जाती है।

गौतम स्वामी लब्धितणा भण्डार' थे किन्तु उन्होंने अपनी किसी लब्धि का उपयोग लोको को चमत्कार दिखलाने के लिए नही किया । किन्तु सभी साधक समान नही होते । चमत्कारजनक शक्ति के प्राप्त होने पर भी उसका उपयोग न करने का धैर्य विरले साधक मे ही होता है । दुर्बल हृदय मार्ग चूक जाते है । वे लोकैषणा के वशीभूत होकर चमत्कार दिखलाने मे प्रवृत्त हो जाते है और यदि शीघ्र ही उस प्रवृति से विमुख न हुए तो आत्मकल्याण के मा से भी विमुख हो जाते है । सिद्धान्त का कथन है कि लब्धि के प्रयोग से सयम-चारित्र मलिन होता है ।

स्थूलभद्र महान् साधक मुनि थे, किन्तु इस समय उनके चित्त म दुर्बलता उत्पन्न हो गई । उन्होंने विचार किया– ये भगिनी साध्विया मेरे दर्शन के लिए आ रही हैं । वे छोटे-मोटे आग-उपाग श्रुत को जानकर साधना कर रही हैं और दृष्टिवाद अग के माहात्म्य को नहीं जानती है । क्या न उन्हें उस महान् श्रुत का परिचय दिया जाय ।'

प्राय प्रत्येक मनुष्य म अपनी महत्ता प्रदर्शित करने की [illegible] होती है । स्थूलभद्र जैसे उच्चकोटि क साधक भी इससे बच नहीं पाए ।

विज्ञान के द्वारा आज अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक आविष्कार हुए हे किन्तु यौगिक शक्ति के चमत्कारो की तुलना मे वे नगण्य है ।

प्राचीन भारतीय साहित्य भी अत्यन्त समृद्ध और परिपूर्ण था । द्वादशागी मे बारहवा अग दृष्टिवाद बहुत विशाल था । खेद है कि आज वह उपलब्ध नही है । तथापि उसके वर्णित विषयो का कुछ-कुछ परिचय अन्य शास्त्रो से मिलता है । उससे पता चलता है कि ज्ञान-विज्ञान की ऐसी कोई शाखा नही, जिसका दृष्टिवाद मे विवेचन न किया गया हो ।

'भूवलय' नामक ग्रन्थ के विषय मे आपने सुना होगा । वह एक अद्भुत ग्रन्थ है । वह अठारह भाषाओ मे पढ़ा जा सकता हे ओर ससार की समस्त विद्याएँ उसमे समाहित है, ऐसा दावा किया जाता है । कुछ वर्ष पूर्व भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसादजी आदि को वह दिखलाया गया था । वह एक जैनाचार्य की असाधारण प्रतिभा का प्रतीक है । कर्नाटक प्रान्त के एक जैन विद्वान् उसका परिशीलन कर रहे थे । उसके मुद्रण की योजना भी उन्होने बनाई थी । किन्तु अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण वह योजना अभी तक कार्यान्वित नही हो सकी । इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य का दिमाग कितना उर्वर और ज्ञान कितना व्यापक रहा होगा । यह ग्रन्थ अकलिपि मे है । दृष्टिवाद को न जानने वाले आचार्य का एक ग्रन्थ जब ससार को चकित कर सकता है तो दृष्टिवाद के ज्ञाता के ज्ञान की विशालता का क्या कहना है । वास्तव मे ज्ञान असीम हे, उसकी गरिमा का पार नही है ।

हॉ, तो स्थूलभद्र के मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि दर्शनार्थ आने वाली साध्वियों को क्या चमत्कार दिखलाया जाय । आखिर रूप परिवर्तन की विद्या का प्रयोग करके उन्होने सिंह का रूप धारण कर लिया ।

साध्विया मुनिराज के दर्शन के लिए पहुँचीं, मगर मुनिराज के दर्शन नही हुए। गुफा के द्वार पर एक सिह दृष्टिगोचर हुआ । साध्वियां उसे देखकर पीछे हट गई और वापिस लौट कर आचार्य भद्रबाहु के समीप पहुँची । उन्होने उनको बतलाया– "जान पड़ता है मुनिराज स्थूलभद्र कही अन्यत्र विहार कर गए है । जिस गुफा मे वे साधना करते थे वहा तो हमे एक सिह बैठा दिखाई दिया है ।"

आचार्य इस घटना के रहस्य को समझ गए । सोचने लगे–'क्या स्थूलभद्र दृष्टिवाद के ज्ञान के पात्र है ? उनको दृष्टिवाद का ज्ञान देना उचित है ? जैसे कच्चे घड़े मे पानी भरने से घड़ा गल जाता है–विनष्ट हो जाता है और जल की

भी हानि होती है उसी प्रकार अपात्र को दान देने से उसका और दूसरो का अकल्याण होता है ।' प्राचीन काल मे इस बात का बहुत विचार किया जाता था ।

आचार्य भद्रबाहु इस विषय मे क्या निर्णय करते है यह यथावसर विदित होगा । अगर हम भी पात्रता प्राप्त कर गरिमामय ज्ञान प्राप्त करने की साधना करेग तो इहलोक और परलोक मे हमारा परम कल्याण होगा ।

---

[७३]

पौषधव्रत के अतिचार

'अहिसा' धर्म का प्रधान अग है और ससार के समस्त धर्म अथवा सम्प्रदाय एक स्वर से अहिसा की महिमा को स्वीकार करते है । यद्यपि यह सत्य है कि जब तक जीव और अजीव की पूरी जानकारी न हो जाय तब तक अहिसा के परिपूर्ण स्वरुप को समझना और उस पर आचरण करना सभव नही है । इसके लिए विशिष्ट लोकोत्तर ज्ञान की अपेक्षा रहती है । तथापि जिसने जिस रूप मे जीवतत्व को पहचाना, उसी रूप मे अहिसा का समर्थन और अनुमोदन किया है । हिसा को धर्म मानने वाला कोई सम्प्रदाय या पथ नही है । जो हिसा के विधायक है वे भी उस हिसा को अहिसा समझ कर ही उसका विधान करते है ।

जैन धर्म के प्रवर्त्तक सर्वज्ञ थे, अतएव उन्होने सूक्ष्म और स्थूल, दृश्य और अदृश्य, सभी प्रकार के जीवों को समझ कर पूर्ण अहिसा का उपदेश दिया है । श्रीमद् आचाराग सूत्र के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है । इस सूत्र मे पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के जीवो की रक्षा करने को मुनिधर्म बताया है, इसे अत्यन्त सुन्दर और सुगम ढ़ंग से समझाया गया है । चलते-फिरते त्रस जीवो की अहिसा का विधान तो है ही ।

अहिसा का जो उपदेश दिया गया है, उसका प्रधान उद्देश्य आत्म-शुद्धि है । जब तक अन्त.करण मे पूर्णरूपेण मैत्री और करुणा की भावना उदित नही होती तब तक आत्मा मे कुविचारो की कालिमा बनी रहती है और शुद्ध आत्मस्वरूप प्रकट नही होता । उस कालिमा को हटाकर आत्मा को निर्मल बनाना और आत्मा की सहज स्वाभाविक शक्तियो को प्रकाश मे लाना, यही अहिसा के आचरण का लक्ष्य है ।

साधारण जन हिसा के स्थूल रूप को अर्थात् जीव की घात को ही हिसा समझते है, परन्तु ज्ञानी जनो का कथन है कि हिसा का स्वरूप यही तक सीमित नही है । आत्मिक विशुद्धि का विघात करने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति हिसा है । इस दृष्टिकोण

से देखने पर पता चलता है कि प्रत्येक पापाचरण हिंसा का ही रूप है । असत्य भाषण करना हिंसा है अदत्त वस्तु को ग्रहण करना हिंसा है, अब्रह्मचर्य का सेवन हिंसा है और ममता या आसक्ति का भाव भी हिंसा है । आचार्य अमृतचन्द्र ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया है । वे कहते है—

आत्मपरिणाम हिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्
अनृतवचनादि केवल मुदाहृत शिष्यबोधाय।।

तात्पर्य यह है कि असत्य भाषण अदत्तादान आदि सभी पाप वस्तुत हिंसा रूप ही है क्योंकि उनसे आत्मा के परिणाम का अर्थात् शुद्ध उपयोग का घात होता है। फिर भी असत्य स्तेय अब्रह्मचर्य और परिग्रह को हिंसा से पृथक जो निर्दिष्ट किया गया है उसका प्रयोजन केवल शिष्यो को समझाना ही है । साधारण जन भी सरलता से समझ सके इसी उद्देश्य से हिंसा का पृथक्करण किया गया है ।

आगे यही आचार्य कहते है—

अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसैव ।
तेषामेवोत्पत्ति हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ।।

जिनागम का आकार बहुत विशाल है । पूरी तरह उसे समझना बहुत कठिन है। उसके लिए असीम धैर्य गहरी लगन और ज्वलन्त पुरुषार्थ चाहिये । किन्तु सम्पूर्ण जिनागम का सार यदि कम से कम शब्दो मे समझना हो तो वह यह है— रागादि कषाय भावो की उत्पत्ति होना हिंसा है एव रागादि कषाय भावो का उत्पन्न न होना अहिंसा है।'

इस प्रसग मे वैदिक धर्म का कथन भी हमे स्मरण हो आता है जो इससे बहुत अशो मे मिलता जुलता है । वह है—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयम् ।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।

लम्बे-चौडे अठारह पुराणो मे व्यासजी ने मूल दो ही बातो का विस्तार किया है । वे दो बाते है—

(१) परोपकार से पुण्य होता है ।
(२) पर को पीडा उपजाना पाप है ।

इस प्रकार अहिंसा धर्म है और हिंसा पाप है, इस [illegible]न मे जैन शास्त्र और वैदिक शास्त्र का सार समाहित हो जाता है । दाना [illegible] के अनुसार शेष

समस्त धार्मिक क्रियाकाण्ड अहिसा के ही पोपक, सहायक एव समर्थक है, यह निर्विवाद है ।

भारतवर्ष के दो प्रधान धर्मो के जो उल्लेख आपके समक्ष उपस्थित किये गये है, उनमे अत्यन्त समानता तो स्पष्ट है ही किन्तु थोड़ा-सा अभिप्राय-भेद भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत हुए विना नही रहता। व्यासजी ने पर पीडा को पाप कहा है, मगर पर को पीडा पहुँचाना एक बाह्य क्रिया है। पर बाहर की क्रिया किससे प्रेरित होती है ? उसका मूल क्या है ? इस प्रश्न का उनके कथन मे उत्तर नहीं मिलता । व्यासजी ने इस बारीकी का विश्लेषण नही किया । मगर आचार्य अमृतचन्द्र ने उस ओर ध्यान दिया है । अन्त करण मे राग-द्वेष रूपी विकार जब उत्पन्न होता है तभी मनुष्य दूसरो को पीड़ा पहुँचाता है । इस कारण आचार्यजी ने रागादि को भी हिसा कहा है । इस कथन की विशेषता यह है कि कदाचित् परपीड़ा उत्पन्न न होने पर भी रागादि के उदय से जो भावहिसा होती है, उसका भी इसमे समावेश हो जाता है । इस प्रकार जैनागम की दृष्टि मूल-स्पर्शिनी और गम्भीर है ।

इतने विवेचन से आप समझ गए होगे कि मूल पाप हिसा है । असत्य, स्तेय आदि उसकी शाखाए अथवा प्रशाखाए है । शास्त्रकार अत्यन्त दयालु और सर्वहितकारी होते है । वे तत्त्व को इस प्रकार प्रस्तुत करते है कि सभी स्तरो के मुमुक्षु साधक उसे हृदयगम कर सके और जो आचरण करने योग्य है उसे आचरण में ला सके । अतएव आचरण की सुविधा के लिए विभिन्न व्रतो का पृथक्-पृथक् नामकरण किया गया है । अणुव्रतो, गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो का एक मात्र लक्ष्य यही है कि आराधक असयम से बच सके ओर स्वात्म रमण की और अग्रसर हो सके ।

इसी उद्देश्य से यहा भी व्रतो और उनके अतिचारो का विवेचन किया जा रहा है । ये सभी व्रत आत्मा का पोषण करने वाले है, अतएव पौषध है, किन्तु पौषध शब्द ग्यारहवे व्रत के लिए रूढ़ है ।

अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या, ये विशिष्ट दिन (पर्व) समझे जाते है । इनमे उपवास आदि तपस्या करना, समस्त पाप-क्रियाओ का परिहार करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नान आदि शारीरिक श्रृगार का त्याग करना पौषधव्रत कहलाता है । इसे 'पौषधोपवास' भी कहते है । 'पौषध' और 'उपवास' इन दो शब्दो के मिलने से 'पौषधोपवास' शब्द निष्पन्न होता है । 'उप-समीपे वसन उपवास' अर्थात् अपनी आत्मा एव परमात्मा के समीप वास करना और सासारिक प्रपचो से विरत हो जाना उपवास कहा गया है । खाना-पीना आदि क्रियाओं मे समय नष्ट न करके त्यागभाव से रहना, अपने स्वभाव के पास आना है । राग-द्वेष की परिणति से

रहित होकर अपने स्वभाव मे रमण करने का यह अभ्यास है । उपवास का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते ।
उपवास स विज्ञेय, शेष लघनक विदु ।।

क्रोध आदि कषायो का इन्द्रियो के विषयो के सेवन का और आहार का त्याग करना सच्चा उपवास है । कषायो और विषयो का त्याग न करके सिर्फ आहार का त्याग करना उपवास नही कहलाता—वह तो लघन मात्र है ।

सक्षेप म कहा जा सकता है कि पौषध का अर्थ है—आत्मिक गुणा का पोषण करने वाली क्रिया । जिस जिस क्रिया से आत्मा अपने स्वाभाविक गुणा का विकास करन मे समर्थ बने विभाव परिणति से दूर हो और आत्म स्वरूप के सन्निकट आए, वही पौषध है ।

पौषधव्रत अगीकार करत समय निम्नोक्त चार वाता का त्याग आवश्यक है—

(१) आहार का त्याग ।

(२) शरीर के सत्कार या सस्कार का त्याग—जैसे केशो का प्रसाधन स्नान चटकीले भडकीले वस्त्रो का पहिनना एव अन्य प्रकार से शरीर को सुशोभित करना ।

(३) अब्रह्म का त्याग ।

(४) पापमय व्यापार का त्याग ।

मन को सर्वथा निर्व्यापार बना लेना सभव नही है । उसका कुछ न कुछ व्यापार होता ही रहता है । तन का व्यापार भी चलेगा और वचन के व्यापार का विर्सजन कर देना भी इस व्रत के पालन के लिए अनिवार्य नही है । ध्यान यह रखना चाहिए कि ये सब व्यापार व्रत के उद्देश्य म बाधक न बन जाए । विष भी शोधन कर लेने पर औषध बन जाता है इसी प्रकार मन वचन और काया के व्यापार म आध्यात्मिक गुणा का घात करने की जा शक्ति है उसे नष्ट कर दिया जाय तो वह भी अमृत बन सक्ता है । तेरहव गुणस्थान म पहुँचे हुए सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान् के भी तीनो योग विद्यमान रहते है किन्तु वे उनकी परमात्म दशा म बाधक नहा हाते । इसी प्रकार सामान्य साधक का यौगिक व्यापार यदि चालू रहे किन्तु वह पापमय न हो ता व्रत की साधना मे बाधक नहा हाता ।

वास्तविकता यह है कि बाह्य प्रवृत्ति मात्र स कुछ बनता बिगडता नहा । नेत्र देखते है कान सुनते है अन्य इन्द्रिया अपना-अपना कार्य करती है । इन्द्रियदमन का अर्थ कइ लाग उनका बाहरा प्रवृत्ति को राक देना समझते है । आँखे फाड

लेना चक्षुरिन्द्रिय का दमन है, ऐसी किसी-किसी की समझ है । किन्तु भगवान् महावीर इसे इन्द्रियदमन नही कहते । अपने-अपने विषय को इन्द्रिया भले ग्रहण करती रहे मगर उस विषय ग्रहण मे राग द्वेप के विष का सम्मिश्रण नही होना चाहिए । किसी वस्तु को देख लेना ही पाप नही है, किन्तु उस वस्तु को हम अपने मन से सुन्दर अथवा असुन्दर रूप देकर उसके प्रति रागभाव और द्वेषभाव धारण करते है, यह पाप है ।

किन्तु यहा एक बात ध्यान मे रखनी होगी । उक्त कथन का आशय यह नही समझना चाहिये कि इन्द्रियो को स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और यह मान कर कि राग-द्वेष उत्पन्न नही होने दिया जायगा, उन्हे किसी भी विषय मे प्रवृत्त होने दिया जाय । राग-द्वेष की परिणति निमित्त पाकर उभर आती है । अतएव जब तक मन पूर्ण रूप से सयत न बन जाए, मन पर पूरा काबू न पा लिया जाय, तब तक साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह राग-द्वेष आदि विकारो को उत्पन्न करने वाले निमित्तो से भी बचे ।

क्या हमारे मन मे इतनी वीतरागता आ गई है कि उत्तम से उत्तम भोजन करते हुए भी लेशमात्र प्रीति का भाव उत्पन्न न हो ? क्या हम ऐसा समभाव प्राप्त कर चुके है कि खराब से खराब भोजन पाकर भी अप्रीति का अनुभव न करे ? क्या मनोहर और वीभत्स रूप को देखकर हमारा चित्त किसी भी प्रकार के विकारो का अनुभव नही करना ? इत्यादि प्रश्नो को अपनी आत्मा से पूछिये । यदि आपकी आत्मा सच्चाई के साथ उत्तर देती है कि अभी ऐसी उदासीन भावना नही आई है तो आपको इन्द्रियो के विषयों के सेवन से भी बचना चाहिए और विकारवर्धक निमित्तो से दूर रहना चाहिए । साधारण साधक मे इस प्रकार का वीतराग भाव उदित नही हो पाता । इसी कारण आगम मे 'चित्तभित्ति न निज्झाए' अर्थात् दीवार पर बने हुए विकारजनक चित्रो को भी न देखे, इस प्रकार के शिक्षा वाक्य दिये गए है।

पौषधव्रत मे भी विकार विवर्धक विषयो से बचने की आवश्यकता है ।

साधना जब एक धारा से चले तब उसमे पूर्ण-अपूर्ण का प्रश्न नही उठता, किन्तु मानसिक दुर्बलता ने प्रभाव डाला तो पूर्ण और अपूर्ण का भेद उपस्थित हो गया । पूर्वकाल मे सबल मन वाले साधक थे, अतएव उनका तप निर्झर रूप मे चलता था । अभी तक के शास्त्रो के आलोडन से इसमे कही अपवाद दृष्टिगोचर नही हुआ । किन्तु पौषधव्रत मे विभाग करने की आवश्यकता जब हुई तो आचार्यो ने भी उसे दो भागो मे विभक्त कर दिया—देशपौषध और सर्वपौषध । देश-आहार त्याग और पूर्ण-आहार त्याग नाम प्रदान किये गये । देशपौषध को दशम पौषध कहा जाने लगा । दशम पौषध का क्षेत्र काफी बड़ा है ।

यद्यपि पूर्वाचार्यो ने शारीरिक सत्त्व की कमी आदि कारणो स प्रशस्त इरादे से ही छूट दी किन्तु वह छूट क्रमशः बढती ही चली गई । मानव स्वभाव की यह दुर्बलता सर्व विदित है कि छूट जब मिलती है तो शिथिलता बढती ही जाती है ।

पौषधव्रत के भी पाच अतिचार है जिन्हे जानकर त्यागना चाहिए । वे इस प्रकार है —

(१) बिस्तर अच्छी तरह देखे बिना सोना पूर्वकाल मे राज घराने के लोग और श्रीमन्तजन भी घास आदि पर सोया करते थे । उसे देखन भालने की विशेष आवश्यकता रहती है । ठीक तरह देख भाल न करने से सूक्ष्म जन्तुआ के कुचल जाने की और मर जाने की सम्भावना रहती है । अतएव बिस्तर पर लेटने और सोने से पूर्व उसे सावधानी के साथ देख लेना प्रत्येक दयाप्रेमी का कर्त्तव्य है । जो इस कर्त्तव्य के प्रति उपेक्षा करता है वह अपने पौषधव्रत का दूषित करता है ।

(२) आसन को भलीभाँति देखे बिना बैठना यह भी इस व्रत का अतिचार है । इसके सेवन से भी वही हानि होती है जो बिस्तर को न देखने से होती है ।

(३) भूमि देखे बिना लघुशका-दीर्घशका करना मलमूत्र का त्याग करने से पहले भूमि का भलीभाँति निरीक्षण कर लेना आवश्यक है । इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भूमि म रध्र छिद्र, दरार या बिल आदि न हा तथा छाट मोटे जीव-जन्तु न हो। बहुत बार जमीन पोली होती है और कई जन्तु सर्दी गर्मी या भय से बचने के लिए उसके भीतर आश्रय लेकर स्थित होते है। उन्ह किसी प्रकार अपनी ओर से बाधा न पहुँचे इस बात की सावधानी रखना पौषधव्रती का कर्त्तव्य है ।

(४) पौषधव्रत का सम्यक प्रकार से विधिपूर्वक पालन न करना यह भी व्रत की मर्यादा को भग करना है अतएव यह भी अतिचारो म परिगणित है ।

(५) निद्रा आदि प्रमाद मे समय नष्ट करना यह भी अतिचार है । इस व्रत के अतिचारो पर विचार करने से यह स्पष्ट हुए बिना नही रहता कि श्रावक की चर्या किस प्रकार की होनी चाहिए । जीवन के क्या छोटे और क्या बडे सभी व्यवहारो मे उसे सावधान रहना चाहिए और ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि उसके द्वारा किसी भी प्राणी को निरर्थक पीडा न पहुँचे । जो छोटे छोटे जीव जन्तुआ की रक्षा करने की सावधानी रखेगा और उन्ह भी पीडा पहुँचाने स बचेगा वह अधिक विकसित बडे जीवो की हिंसा कदापि नही करेगा । कतिपय लोग जिन्होंने जैन धर्म मे प्रतिपादित आचार पद्धति का और विशेषत अहिंसा का [illegible]

ऐसा समझते है कि जैनधर्म मे कीड़ी-मकोड़े की दया पर अधिक जोर दिया गया है, किन्तु जो आनन्द श्रावक के द्वारा ग्रहीत व्रतो का विवरण पढ़ेंगे और उसे समझने का प्रयत्न करेंगे, उन्हे स्पष्ट विदित होगा कि इस आरोप मे लेश मात्र भी सचाई नही है। जैनाचार के प्रणेताओ ने अपनी दीर्घ और सूक्ष्म दृष्टि से बहुत सुन्दर और सुसम्बद्ध आचार की योजना की है । इसके अनुसार जीवन यापन करने वाला मनुष्य अपने जीवन को पूर्ण रूप से सुखमय, शान्तिमय और फलमय बना सकता है और उसके किसी भी लौकिक कार्य मे व्याघात नही होता ।

आचार का मूल विवेक है । चाहे कोई श्रमण हो अथवा श्रमणोपासक, उसकी प्रत्येक क्रिया विवेकयुत होनी चाहिए । जो विवेक का प्रदीप सामने रखकर चलेगा, उसे गलत रास्ते पर चल कर या ठोकर खाकर भटकना नही पड़ेगा । वह द्रुतगति से चले या मन्दगति से, पर कभी न कभी लक्ष्य तक पहुँच ही जाएगा ।

पौषधव्रत की आराधना एक प्रकार का अभ्यास है जिसे साधक अपने जीवन का अभिन्न अग बनाने का प्रयत्न करता है । अतएव पौषध को शारीरिक विश्रान्ति का साधन नही समझना चाहिए । निष्क्रिय होकर प्रमाद मे समय व्यतीत करना अथवा निरर्थक बाते करना पौषध व्रत का सम्यक् पालन नही है । इस व्रत के समय तो प्रतिक्षण आत्मा के प्रति सजगता होनी चाहिए । दूसरा कोई देखने वाला हो अथवा न हो, फिर भी व्रत की आराधना आन्तरिक श्रद्धा और प्रीति के साथ करनी चाहिए । ऐसा किये बिना रसानुभूति नही होगी । रसानुभूति तो विधिपूर्वक भीतरी लगन के साथ पालन करने से ही होगी । साधना मे आनन्द की अनुभूति होनी चाहिए । जब आनन्द की अनुभूति होने लगती है तो मनुष्य साधना करने के लिए बार-बार उत्साहित और उत्कण्ठित होता है ।

गृहस्थ आनन्द ने महावीर स्वामी के चरणो मे उपस्थित होकर अगीकार किये व्रतो के अतिक्रमणो को समझ लिया और दृढ़ सकल्प किया कि मुझे . : सबसे बचना है ।

यदि पूरी वस्तु प्राप्त न हो सके तो आधी मे सन्तोष किया जाता है, किन्तु जिसे पूरी प्राप्त हो वह आधी के लिए क्यो ललचाएगा ? गृहस्थ पर्वदिवसो मे विशिष्ट साधना को अपना कर आनन्द पाता है, किन्तु पूर्ण साधना मे निरत मुनि के लिए तो यावज्जीवन पूर्ण साधना ही रहती है । उनका जीवन सर्वविरति साधना मे लगा रहता है ।

मुनि आराधना के तीन वर्ग बना लेते है—(१) ज्ञान (२) दर्शन और (३) चारित्र । वे इन तीनो की साधना मे अपनी समग्र शक्ति लगा देते है । विराधना से उनके मन मे हलचल पैदा हो जाती है ।

आचार्य भद्रबाहु स्वयं ज्ञान और चारित्र की आराधना कर रहे हैं तथा दूसरे आराधकों का पथ प्रदर्शन भी कर रहे हैं। मुनि स्थूलभद्र प्रधान रूप से श्रुत ज्ञान की आराधना में संलग्न हैं।

पहले बतलाया जा चुका है कि आचार्य भद्रबाहु से श्रुत का अभ्यास करने के लिए कई साधु नेपाल तक गए थे परन्तु एक स्थूलभद्र के सिवाय सभी लौट आए थे। जितेन्द्रिय स्थूलभद्र विघ्नबाधाओं को सहन करते हुए डटे रहे। उनके मन में निराशा नहीं आई। उत्साह उनका भग्न नहीं हुआ। वे धैर्य रख कर अभ्यास करते रहे।

किन्तु मन बड़ा दगाबाज़ है। इसे कितना ही थाम कर रखा जाय कभी न कभी उच्छृंखल हो उठता है। इसी कारण साधकों को सावधान किया गया है कि मन पर सदैव अंकुश रखो। इसे क्षणभर भी छुट्टी मत दो। जरा सी असावधानी हुई कि चपल मन अवांछित दिशा में भाग खड़ा होता है। यह मन धृष्ट एवं दुस्साहसी है। वह बड़ी कठिनाई से काबू में आता है और सदैव सावधान रहे बिना काबू में रहता नहीं है।

स्थूलभद्र का जो मन रूपकोशा के रंगमहल में हिमालय के समान अविचल रहा और नेपाल तक जाकर विशिष्ट श्रुत के अभ्यास आदि की कठिनाइयों में भी दुर्बल न बना, वही मन लोकैषणा के मोह में पड़ कर मलिन हो गया। साध्वियों के पहुँचने पर एक घटना घटित हो गई। स्थूलभद्र अपनी अपूर्व सिद्धि को पचा न सके। वे गिरि गुफा के द्वार पर सिंह का रूप धारण करके बैठ गए।

आचार्य को जब इस घटना का पता चला तब एक नवीन विचार धारा उनके मानस में उत्पन्न हुई। उनका समुद्र के समान विशाल और गम्भीर हृदय भी क्षुब्ध हो उठा। वे सोचने लगे—मैंने बालक को तलवार पकड़ा दी। स्थूलभद्र में जिस ज्ञान को पचाने की पात्रता नहीं थी, वह ज्ञान उन्हें दे दिया। अपात्र को दान अनर्थकारी होता है। स्थूलभद्र अपनी साधना की सफलता को प्रकट करने के लोभ का संवरण न कर सके। वे अपनी भगिनियों के समक्ष अपनी विशिष्टता का प्रदर्शन करने के मोह को न जीत सके।

स्थूलभद्र की मानसिक स्थिति आचार्य भद्रबाहु से छिपी न रही। वे उनके आत्मप्रकाशन को देख कर आहत हुए। स्थूलभद्र की इस दुर्बलता से उनका गिरि सदृश हृदय भी कम्पित हो गया। वे सोचने लगे—साधु का जीवन [illegible] होता है। यदि समुद्र भी [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

कुछ वह जानता है उसे गोपन करके रखे और कोई न जान सके कि वह कितना जानता है । मगर स्थूलभद्र मे यह गोपनक्षमता नही रही । अभी क्या हुआ है ? आगे तो बड़ी अद्भुत विद्याएँ आने वाली है । मगर स्थूलभद्र को क्या दोष दिया जाय, यह काल का विषम प्रभाव है। आगे और अधिक बुरा समय आने वाला है।'

गोपनीय विद्या के लिए सुपात्र होना चाहिए । अपात्र को देना ऐसा ही है जैसे बच्चे के हाथ मे नगी तलवार या गोली-भरा रिवाल्वर देना । इससे स्व पर दोनो की हानि होती है—विद्यावान् को भी तथा दूसरो की भी । अतएव गोपनीय विद्याओ को अत्यन्त सुरक्षित रखा जाता है । आज का विज्ञान अपात्रो के हाथ मे पड़ कर जगत को प्रलय की ओर ले जा रहा है । अनार्यो के हाथ लगा भौतिक विज्ञान विध्वसक कार्यो मे प्रयुक्त हो रहा है । भौतिक तत्त्व के समान अगर कुछ अद्भुत विद्याएँ भी उन्हे मिल जाएँ तो अतीव हानिजनक सिद्ध हो सकती है । अतएव पात्र देखकर ही विद्या दी जानी चााहिए । अपात्र विद्या प्राप्त करके या तो अपना पेट भरने का साधन बना लेगा या दूसरो को आतंकित करेगा, सताएगा । इसी कारण सत्पुरुष विद्या को गोपनीय धन कहते है और फिर अतिशय उच्च्य-कोटि की विद्या तो विशेष रूप से गोपनीय होती है ।

आचार्य भद्रबाहु चौदह पूर्वो के ज्ञाता थे । उनके मन मे लहर उठी—क्या पूर्वो का ज्ञान देना बद कर देना चाहिए ? एक विद्या, जीवन को ऊँचा उठाने के लिए जिस किसी को भी दी जा सकती है । श्रोता चाहे सजग हो या न हो, चाहे क्रियाशील हो या निष्क्रिय हो, सभी को दी जा सकती है । मोक्ष-साधना सम्बन्धी ज्ञान देने मे पात्र-अपात्र का विचार नही किया जाता । किन्तु ज्ञेय विषयो का ज्ञान देने का जहाँ प्रश्न हो, वहाँ पात्र-अपात्र की परीक्षा करना आवश्यक है । जो पात्र हो और उस ज्ञान को पचा सकता हो उसी को वह ज्ञान देना चाहिए । बालक को गरिष्ठ भोजन खिलाना उसके कोमल स्वास्थ्य को हानि पहुँचाना है । इससे उसे लाभ की जगह रोग हो जाता है । इसी प्रकार अपात्र को अज्ञेय विषयक विद्या देना उसके लिए अहित कर है और दूसरो के लिए भी ।

ज्ञान एक रसायन है, जिससे आत्मा की शक्ति बढ़ती है इससे इस लोक और परलोक दोनो मे साधक का परम कल्याण होता है । जो पात्रता प्राप्त करके ज्ञान-रसायन का सेवन करेंगे, निश्चय ही उनका अक्षय कल्याण होगा ।

---

[७४]

विष से अमृत

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' अर्थात् मांगलमय कार्यों में अनेक विघ्न आया करते हैं। इस उक्ति के अनुसार साधना में भी अनेक बाधाओं का आना स्वाभाविक है क्योंकि आध्यात्मिक साधना महान् मंगलकारी है बल्कि कहना चाहिए कि संसार में आत्मसाधना से बढ़कर या उसके बराबर मांगलिक कार्य दूसरा नहीं है। जो साधक प्रबल वैराग्य और सुदृढ़ साहस के साथ इस क्षेत्र में अग्रसर होते हैं वे अनुकूल और प्रतिकूल बाधाओं के आने पर भी विचलित नहीं होते। बाधाएं उन्हें पराजित नहीं कर सकतीं। वे अप्रमत्त भाव से जागरण की स्थिति में रहते हैं और आने वाली बाधाओं को अपने आत्मिक सामर्थ्य के प्रकट होने में सहायक समझते हैं। आने वाली प्रत्येक विघ्नबाधा उनकी साधना को आगे ही बढ़ाती है।

शास्त्रों का पारायण कीजिए तो विदित होगा कि घोर से घोर संकट आने पर भी सच्चे साधक सन्त अपने पथ से चलायमान नहीं हुए बल्कि उस संकट की आग में तप कर वे और अधिक उज्ज्वल हो गए। जिस कष्ट की कल्पना मात्र ही साधारण मनुष्य के हृदय को थर्रा देती है उस कष्ट को वे सहज भाव से सहन कर सके। आखिर इस अद्भुत साहस और धैर्य का रहस्य क्या है ? किस प्रकार उनमें ऐसी दृढ़ता आ सकी ? इसके अनेक कारण हैं। उनके विवरण का यहां अवकाश नहीं तथापि इतना कह देना आवश्यक है कि आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र का साधक योगी इस तथ्य को भलीभांति समझता है कि आत्मा और देह एक नहीं है। यों जानने को तो आप भी जानते हैं कि दोनों में भेद है किन्तु योगी जनों का जानना उनकी ज्ञातोज्ञात अनुभूति बन जाता है। इस अनुभूति के कारण वे आत्मा को देह से पृथक अनन्त आनन्दमय चिन्मय तत्त्व समझते हैं और दैहिक कष्टों को आत्मा के कष्ट नहीं समझते। दैहिक अभ्यास (दुख दुख) से अनल हो जाने के कारण वे देह में स्थित होने हुए भी देह में (दैह) आस्था से अनासक्त

इस दशा मे पहुँचना और निरन्तर इसकी अनुभूति मे रमण करना आसान नही है। इसके लिए दीर्घकालीन अभ्यास की आवश्यकता हे । वह अभ्यास वर्त्तमान जीवन का भी हो सकता है ओर पूर्वभवो का सचित भी हो सकता है । गजसुकुमार मुनि ने भीषणतम उपसर्ग सहन करने मे जो विस्मयजनक दृढ़ता प्रदर्शित की, वह उनके पूर्वार्जित सस्कारो का ही परिणाम कहा जा सकता है । प्रत्येक आस्तिक इस तथ्य को स्वीकार करता है कि किसी भी जीव का जव जन्म होता हैं तो वह जन्म-जन्मातरो के सस्कार साथ लेकर ही जन्मता है । आत्मा की जो यात्रा अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए जारी है, एक-एक जन्म उसका एक-एक पड़ाव ही समझना चाहिए ।

इन्ही सब तथ्यो को सन्मुख रखकर महापुरुषो ने आचार-शास्त्र की योजना की है । पौपधोपवास भी इसी योजना की एक कड़ी हे । परिमितकालीन पोषधोपवास की साधना भी आत्मा के पूर्वोक्त सस्कार को सबल बनाती है और देहाध्यास से उसे ऊपर उठाने मे सहायक होती है । इस प्रकार आत्मा के गुणो को पुष्ट करने वाले सभी साधन पौषध है ।

भगवान् महावीर ने पोषधोपवास के पाच अतिचार आनन्द को बतलाए और आनन्द ने उनसे बचते रह कर साधना करने की प्रतिज्ञा की ।

यह सत्य है कि आत्मा शरीर से पृथक् है, मगर यह भी असत्य नही कि आत्मा जब तक अपने असली रूप मे न आ जावे तब तक शरीर के साथ ही, बल्कि उसके सहारे ही रहता है और शरीर का आधार अन्न-पानी है । 'अन्न वे प्राणा.' अर्थात् अन्न ही प्राण है—अन्न के अभाव मे जीवन लम्बे समय तक कायम नही रह सकता । कोई भी जीवधारी सदा अन्न के बिना काम नही चला सकता । भगवान् ने अन्न ग्रहण करने का निषेध भी नही किया है, अलबत्ता यह कहा है कि इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि जीवन खाने के लिए ही न बन जाए और खाने मे आसक्ति न रखी जाय ।

जब आहार ग्रहण करने की स्थिति साधक के समक्ष आती है तो वह खुराक मे संविभाग करता है । इसे अतिथि संविभाग या आहार संविभाग कहते है।

पौषध व्रत का काल समाप्त होने के पश्चात् जब साधक आहार ग्रहण करने को उद्यत होता है तब आराधक की यह अभिलाषा होती है कि महात्माओ को कुछ दान करके खाऊ तो मेरा खाना भी श्रेयस्कर हो जाय । अवसर के अनुसार इस अभिलाषा को पूर्ण करना अतिथि संविभाग है ।

पति पुत्र पुत्री जामाता आदि के आने का कारण निश्चित हाता है । प्राय ये पर्व आदि के समय आते ह किन्तु त्यागी महात्माआ के आने की काई तिथि नियत नही होती अतएव उन्हे अतिथि कहा गया है । जिसने ससार के समस्त पदार्थो की ममता तज दी है जो सव प्रकार के आरम्भ और परिग्रह से विमुक्त हो चुका है और सयममय जीवन यापन करता है वह अतिथि कहलाता है । कहा भी है–

हिरण्ये वा सुवर्णे वा धने धान्ये तथैव च ।
अतिथि त विजानीयाद्यस्य लोभो न विद्यते ।।

सत्यार्जवदयायुक्त पापारम्भविवर्जितम् ।
उग्रतपस्समायुक्तमतिथि विद्धि तादृशम् ।।

अर्थात् हिरण्य (चादी) स्वर्ण धन और धान्य आदि पदार्थो म जिसकी ममता नही है जो जागतिक वस्तुआ के प्रलोभन से ऊपर उठ गया है वह अतिथि है ।

जिसके जीवन मे सत्य सरलता और दया घुल मिल गए है जिसने समस्त पापमय व्यापारो का त्याग कर दिया है और जो तीव्र तपश्चर्या करके आत्मा को निर्मल वनाने मे सलग्न है वही अतिथि कहलाने के योग्य है ।

अपने निमित्त खाने और पहनने आदि के लिए जो सामग्री जुटाई हा उसमे से कुछ भाग अतिथि को अर्पित करना संविभाग कहलाता है । सहज रूप म अपने लिए वनाये या रखे हुए पदार्थो के अतिरिक्त त्यागियो के उद्देश्य स हा कोई वस्तु तैयार करना खरीदना या रख छोडना उचित नही ।

कई लोग यह सोचते है कि जैसा देंगे वैसा पाएंगे किन्तु यह दृष्टि भी ठीक नही है । भुने चने देने से चने ही मिलेंगे और हलुआ देने से हलुआ हा मिलेगा, यह धारणा भ्रमपूर्ण है । दान मे देय वस्तु के कारण ही विशेषता नही आती। वाचक उमास्वाति तत्त्वार्थसूत्र म कहते है–

विधिद्रव्य दातृपात्रविशेष न तद्विशेष

दान के फल मे जो विशेषता आती है उसके चार कारण हे–

(1) विधि (2) देय द्रव्य (3) दाता की भावना और (4) लेने वाला पात्र । जहा ये चारो उत्कृष्ट होते है वहा दान का फल भी उत्कृष्ट हाता है । किन्तु इन चारा कारणा म भी दाता की भावना ही सर्वोपरि है । अगर दाता निर्धन होने के कारण सरस एव वहुमूल्य भोजन नही दे सकता किन्तु उत्कृष्ट भक्ति भावना के साथ निष्काम भाव से सादा भाजन भा दता है ता निस्सन्देह वह उत्तम फल दे

भागी होता है । पवित्र भाव से समय पर दी गई सामान्य वस्तु भी कल्पवृक्ष है । अगर यह मान लिया जाय कि चिकना देने वाला चिकना पाएगा और रूखा देने वाला रूखा ही पाएगा, तो फिर भाव का मूल्य ही क्या रहा ?

चन्दनबाला तेले का पारणा करने को उद्यत थी । पारणा के लिए उसे उड़द के बाकले मिले थे । राजकुमारी होकर भी वह बड़ी विषम परिस्थितियो के चक्कर मे पड़ गई थी । मूला सेठानी अत्यन्त ईर्ष्यालु एवं कर्कशा स्वभाव की थी । उसकी बदौलत चन्दनबाला पर गहरा संकट था । पारणा के लिए प्राप्त बाकले उसके सामने थे । फिर भी वह प्रतीक्षा कर रही थी कि कोई सन्त-महात्मा इधर पधार जाएँ और कुछ भाग ग्रहण करले तो मेरी तपस्या मे चार चाद लग जाए, मै तिर जाऊं। उसका पुण्य अत्यन्त प्रबल था कि तीर्थनाथ भगवान् महावीर स्वय ही पधार गए ।

हथकड़ियो और बेड़ियो से जकड़ी चन्दनबाला द्वार पर बैठी प्रतीक्षा कर रही थी । उसका एक पैर द्वार के बाहर और एक पैर भीतर था । वह सकटग्रस्त अवस्था मे थी । फिर भी भगवान् को देखकर उसका रोम-रोम उल्लसित हो उठा । चित्त प्रफुल्लित हो गया । चेहरे पर दीप्ति चमक उठी । परन्तु यह क्या हुआ ? भगवान् चन्दनबाला के निकट तक आकर उल्टे पाव वापिस लौट पड़े । शारीरिक ताड़ना, तीन दिन की भूख, शिरोमुण्डन, तिरस्कार और जघन्य लांछना से भी जो हृदय द्रवित नही हुआ था और वज्र के समान कठोरता धारण किये था, वह भगवान् को भिक्षा लिये बिना वापिस लौटते देख धैर्य न धारण कर सका । चन्दना की आखो से मोती बरसने लगे । भगवान् की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई और उन्होंने पुनः लौट कर चन्दना के हाथो से बाकले ग्रहण किए । देवो ने सुवर्ण की वृष्टि की और 'अहो दानम्, अहो दानम्' की ध्वनि से गगनमण्डल गूज उठा ।

उड़द के छिलको का दान और उसकी इतनी कद्र हुई । देवताओ ने उस दान की प्रशसा की । यह सब उदात्त भक्ति-भाव का प्रभाव था । वास्तव मे मूल्य वस्तु का नही, भक्ति-भावना का है अतएव यह आवश्यक नही कि सत्पात्र को मूल्यवान् वस्तु दी जाय, मगर आवश्यक यह है कि गहरी भक्ति और प्रीति के साथ निर्दोष वस्तु दी जाय । अलबत्ता विवेकवान् दाता इस बात का ध्यान अवश्य रखेगा कि देश और काल कैसा है ? मेरे दान से महात्मा को साता तो पहुँचेगी ? तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट भक्ति के साथ, विधिपूर्वक उत्कृष्ट पात्र को दिया गया दान उत्कृष्ट फलदायक होता है ।

जिसने भोजन पकाना, पकवाना, खरीदना, खरीदवाना आदि आरम्भ सर्वथा त्याग दिया है, जो निरन्तर तप-सयम की आराधना मे निरत है, जो सयम-पालन के हेतु

ही देह धारण के लिए आहार ग्रहण करता है जिसने पक्षी के समान सग्रह एव सचय की इच्छा का भी त्याग कर दिया है, जो लाभ-अलाभ म समभाव रखता है और अपने आदर्श-जीवन एव वचनो से जगत् को शाश्वत कल्याण का पथ प्रदर्शित करता है वह दान का उत्कृष्ट पात्र है । ऐसा सत्पात्र जिसे मिल जाए वह महान् भाग्यशाली है।

सुपात्र को दान देना विष म से अमृत निकालना है । गृहस्थ आरम्भ समारम्भ करके दोष का भागी होता है किन्तु अपने निज के लिए किया हुआ वह दोष भी साधु को दान देने से महान् लाभ का कारण बन जाता है । इस दृष्टि से बारहवे व्रत का विशेष महत्त्व है ।

बारहवे व्रत के भी पाच अतिचार है जिनसे बचने पर ही व्रत का पूर्ण लाभ प्राप्त किया जा सकता है । वे अतिचार निम्नलिखित है जो ज्ञेय है पर आचरणीय नही ।

(१) देय वस्तु को उचित पदार्थ पर रख देना त्यागी जन पूर्ण अहिसा परायण और आरम्भ के त्यागी होने के कारण ऐसी किसी वस्तु का ग्रहण नही करते जिनसे किसी भी छोटे या मोटे जीव की विराधना होती हो । अतएव दान देते समय दाता को विशेष सावधानी रखनी पडती है । गृहस्थ विवेकशील न होगा तो वस्तु के विद्यमान होने पर भी दान का लाभ नही प्राप्त कर सकेगा । सचित्त फल फूल पत्र पानी आदि के ऊपर यदि खाद्य पदार्थ रख दिया जाता है ता उसे साधु नहा ग्रहण करते क्योकि उससे एकेन्द्रिय जीवो को आघात पहुँचता है । अतएव एसा करना साधु के लिए अन्तराय का कारण हो जाता है । गृहस्थ को हल्दी मिर्च धनिया आदि बहुत सी चीज रखनी पडती है पर सचित्त के साथ उन्हे नहा रखना चाहिए । साधु को सोठ चाहिए । वह सोठ यदि सचित्त पदार्थ के साथ रखी है तो साधु के लिए अन्तराय होगा । अतएव जो गृहस्थ और विशेषतः श्राविका विवकवति है उसे सचित्त एव अचित्त पदार्थो को मिलाकर नही रखन चाहिए । एसा करने से उसे साधु को दान देने का अवसर मिल सकता है और सहज ही लाभ कमाया जा सकता है।

(२) सचित्त से ढक देना अचित्त वस्तु पर कोई भी सचित्त वस्तु रख देना भी इस व्रत का अतिचार है । ऐसा करने से भी वही हानि होती है जो प्रथम अतिचार से होती है अर्थात् गृहस्थ दान स और दान के फल स वचित रह जाएगा।

(३) कालातिक्रम : उचित समय पर अतिथि के आगमन की भावना करनी चाहिए । जो सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय से पूर्व आहार ग्रहण नही करते, उनके लिए ऐसे समय मे आने की भावना करने से क्या लाभ ? दान देने से बचने के लिए काल का अतिक्रमण करके आगे-पीछे भोजन बनाना भी इस अतिचार मे सम्मिलित माना गया है । वस्तु की दृष्टि से भी कालातिक्रम या कालातिक्रान्त अतिचार का विचार किया जा सकता है । जो वस्तु अपनी कालिक सीमा लाघ चुकी हो, उसे देना भी अतिचार है, चाहे वह जल हो, अन्न हो या कुछ अन्य हो। प्रत्येक खाद्य पदार्थ, चाहे वह पक्का अर्थात् तला हुआ हो या कच्चा हो, एक नियत समय तक ही ठीक हालत मे रहता है । उसके बाद उसमे विकृति आ जाती है । वह सड़-गल जाता है और उसमे जीवो की उत्पत्ति भी हो जाती है । उस हालत मे वह न खाने योग्य रहता है, न देने योग्य ही ।

बहुत-सी बहिने अज्ञान और लालच के वशीभूत होकर खाने-पीने की चीजे जमा कर रखती है और जब वे विकृत हो जाती है तब उन्हें काम मे लेती है । यह आदत लौकिक और लोकोत्तर दोनो दृष्टियो से हानिकारक है । विकृत पदार्थो के खाने से स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है और हिसा के पाप से आत्मा का भी अकल्याण होता है । कई बार तो आज की रोटी कल ही बिगड़ जाती है । उसे तोडा जाय तो उसमे से एक तार-सा निकलता है । कहा जाता है कि वह तार वास्तव मे 'लार' नामक द्वीन्द्रिय जीव है । आम आदि फल भी जब कालातिक्रान्त हो जाते है तो उनमे त्रस जीव उत्पन्न हो जाते है । बड़े होने पर वे बिल-बिलाते नजर आने लगते है मगर प्रारम्भिक अवस्था मे उत्पन्न होने पर भी दिखाई नही देते। उनके सेवन से हिसा का घोर पाप होता है । अतएव महिलाओ को तथा भाइयों को भी इस ओर पूरा ध्यान रखना चाहिए और कालातिक्रान्त सड़ी-गली, घुनी वस्तुओ को खाने-पीने के काम में नही लेना चाहिए ।

जो बहिने विवेकशालिनी है वे आवश्यकता के अदाज से ही भोज्य पदार्थ बनाती है । किसी भी वस्तु को इतना अधिक नही राध रखना चाहिए कि वह कई दिनो तक काम आवे । कौन रोज-रोज राधे, एक दिन राध लिया और कई रोज़ तक काम मे लाते रहे, यह प्रमाद की भावना पाप का कारण है । ताज़ा बनी चीज़ स्वाद युक्त एव स्वास्थ्यकर होती है थोड़े-से श्रम से बचने के लिए उसे बासी करके खाना-खिलाना गुड़ को गोबर बनाकर खाना-खिलाना है । इससे निरर्थक पाप उत्पन्न होता है । बहिने प्रमाद का त्याग करे तो सहज ही इस पाप से बच सकती है ।

कोई वस्तु बिगड गई है या नही यह परीक्षा करना कठिन नही है। बिगाड होने पर वस्तु के रूप रग रस, गध मे परिवर्तन हो जाता है। उस परिवर्तन को देखकर उसके कालातिक्रान्त होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

शासन के कानून के अनुसार औषध निर्माताओ को इजक्शन आदि औषधो की शीशियो पर उसकी कालिक मर्यादा अकित करनी पडती है और यह जाहिर करना पडता है कि यह औषध अमुक तारीख तक ही काम मे लाई जा सकती है उसके बाद नहीं। इसी प्रकार धर्म शासन के अनुसार भोज्य पदार्थों को भी विकृत होने के पश्चात् काम मे नही लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि यदि वस्तु ठीक न हो तथा भावना दूषित हो तो उसके दान से लाभ नही होगा। वही दान विशेष लाभप्रद होता है जिसमे चित्त वित्त और पात्र की अनुकूल स्थिति हो।

गृहस्थ साधक की भावना सदा दान देने की रहती है। वह चौदह प्रकार की चीजे अतिथियो को देने की इच्छा करता है। इसी को मनोरथ भी कहते है। ये वस्तुए है—

चार प्रकार का आहार अर्थात्—(१) अशन (२) पान (३) पक्वान्न आदि खाद्य (४) मुखवास आदि स्वाद्य तथा (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (८) रजोहरण (९) पीठ-चौकी बाजोठ (१०) पाट (११) साठ लवग आदि औषधि (१२) भैषज्य-बनी हुई दवा (१३) शय्या मकान और (१४) सस्तारक अर्थात् पराल आदि घास।

उल्लिखित पदार्थों की दो श्रेणिया है-नित्य देने-लेने के पदार्थ और किसी विशेष प्रसग पर देने-लेने योग्य पदार्थ।

ये सभी वस्तुए साधुओ को गृहस्थ के घर से ही प्राप्त हो सकती है और गृहस्थ के यहा से तभी मिल सकती है जब वह स्वय इनका प्रयोग करता हो। *श्रावक का कर्तव्य है कि वह साधु की सयमसाधना मे सहायक बने। राग के वशीभूत होकर ऐसा कोई कार्य न करे या ऐसी कोई वस्तु देने का प्रयत्न न करे* जिससे साधु का सयम खतरे मे पडता हो। यदि गृहस्थ सभी रगीन दुपट्टा ओढने वाले हो तो साधुओ को श्वेत वस्त्र कहा से दगे? साधु तीन प्रकार के पात्र ही ग्रहण कर सकते है—तुम्बे के, मिट्टी के या काष्ठ के। अभिप्राय यह है कि श्रावक यदि विवेकशील हो तो साधुओ के व्रत का ठीक तरह से पालन हो सकता है।

(४) मात्सर्य मत्सरभाव से दान देना भी अतिचार है। मेरे पडौसी ने एसा दान दिया है मैं उससे क्या कम हूँ? इस प्रकार ईर्ष्या से प्रेरित होकर भी दान देना उचित नहीं।

(५) परव्यपदेश : यह वस्तु मेरी नही पराई है, इस प्रकार का बहाना करना भी अतिचार है । यह मलिन भावना का द्योतक है । गृहस्थ को सरल भाव से, कर्मनिर्जरा के हेतु ही दान देना चाहिए । उसमे किसी भी प्रकार की दुर्भावना अथवा लोकैषणा नही होनी चाहिए । तभी दान के उत्तम फल की प्राप्ति होती है । एक कवि ने कहा है–

बहु आदर बहु प्रिय वचन, रोमा चित बहु मान ।
देह करे अनुमोदना, ये भूषण परमान ।।

रत्नत्रय की साधना करने वाले के प्रति गहरी प्रीति एव आदर का भाव होना चाहिए । साधु का घर मे पांव पड़ना कल्पवृक्ष का ऑगन मे आना है । ऐसा समझ कर श्रद्धा और भक्ति के साथ निर्दोष पदार्थो का दान करना चाहिए । जो अनारंभी जीवन यापन कर रहा है वह गुणों की ज्योति को जगाता है । उसे आदर दिया ही जाना चाहिए ।

अतिथि संविभाग व्रत शिक्षाव्रतो मे अन्तिम और बारह व्रतो मे भी अन्तिम है। इन सब व्रतो के स्वरूप एव अतिचारो को भलीभांति समझकर पालन करने वाला श्रमणोपासक अपने वर्त्तमान जीवन को एव भविष्य को मगलमय बनाता है ।

आनन्द सौभाग्यशाली था कि उसे साक्षात् तीर्थंकर भगवान् महावीर का समागम मिला । किन्तु इस भरत क्षेत्र मे, महाविदेह की तरह तीर्थंकर सदा काल विद्यमान नही रहते है । आज तीर्थकर नही है मगर तीर्थकर की वाणी विद्यमान है । उनके मार्ग पर यथाशक्ति चलने वाले उनके प्रतिनिधि भी मौजूद है । वीतराग के प्रतिनिधियो की वाणी से भी अनेको ने अपना जीवन ऊँचा उठा लिया । वीतराग न हों, उनके प्रतिनिधि भी न हो, फिर भी उनकी वाणी का अध्ययन करने वालो में से हजारों उसके अनुसार आचरण करके तिर गए । आज भी उस वाणी का चिन्तन-मनन करने वाले अपना कल्याण कर सकते है ।

वीतराग के उपदेश का सुधाप्रवाह दीर्घकाल तक प्रवाहित होता रहे और भव्य जीव उसमे अवगाहन करके अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर सके, जन्म-जरा-मरण के घोर सन्ताप को शान्त कर सके, और अपनी आन्तरिक प्यास बुझा सके, इस महान् और प्रशस्त विचार से प्रेरित होकर आचार्यों ने उस वाणी का सकलन, सग्रह और रक्षण किया । भगवान् महावीर की वाणी सुरक्षित रही तो वह लोगो को कल्याणमार्ग की ओर प्रेरित करती रहेगी । माध्यम कोई न कोई मिल ही जाएगा । इसी उच्च्य भावना से मुनियो ने उसके सकलन का भरसक प्रयत्न किया ।

आचार्य भद्रबाहु स्वामी चौदह पूर्वो के ज्ञाता थे । महामुनि स्थूलभद्र उनके शिष्य बने । किन्तु उनकी एक स्खलना ने ज्ञानार्जन मे गतिरोध उत्पन्न कर दिया । दस पूर्वो के अभ्यास को वे समाप्त कर चुके थे ।

वाचना का नियत समय हुआ । प्रतिदिन की भाँति स्थूलभद्र मुनि गुरु के चरणो मे उपस्थित हुए । किन्तु आचार्य महाराज ने कहा– वाचना पूर्ण हो गई, अब मनन करो ।

आचार्य का यह कथन सुनकर स्थूलभद्र चौक उठे । उन्होने देखा– आज आचार्य का मन बदला हुआ है । उनके मुख पर नित्य की सी वात्सल्य की छाया दृष्टिगोचर नहीं हो रही है । आज आचार्य अनमने हैं ।

स्थूलभद्र विचार मे पड गए । क्या कारण है कि आचार्य ने बीच मे ही वाचना प्रदान करना रोक दिया । अभी तो चार पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करना शेष है। किन्तु उन्हे अपनी भूल समझने मे देरी न लगी । वे अपने प्रमाद को स्मरण करके चौक उठे । साध्वियो को चमत्कार दिखलाना ही इसका कारण है यह उन्हे स्पष्ट प्रतीत होने लगा । मगर अब क्या ? जो तीर हाथ से छूट गया वह क्या वापिस हाथ आने वाला है ?

स्थूलभद्र बडे ही असमजस मे पडे थे । उन्होने लज्जित होते हुए, हाथ जोडकर आचार्य से निवेदन किया–"देव भूल हो गई है किन्तु भविष्य मे पुनः उसकी आवृत्ति नही होगी । अपराध क्षमा करे मुझे इसका दड दे और यदि उचित प्रतीत हो तो आगे की वाचना चालू रखे । आचार्य सभूति विजय ने मुझे आपका शिष्यत्व स्वीकार करने का आदेश दिया था । उनकी दिवगत आत्मा को वाचना पूर्ण होने से सन्तोष प्राप्त होगा ।

स्थूलभद्र यद्यपि थोडी देर के लिए प्रमाद के अधीन हो गए थे तथापि सावधान साधक थे । उन्होने आत्मालोचन किया और अपने ही दोष पर उनकी दृष्टि गई । सच्चे साधक का यही लक्षण है । वह अपने दोष के लिए दूसरे को उत्तरदायी नही ठहराता । अपनी भूल दूसरे के गले नही मढता । उसका अन्तःकरण इतना ऋजु एव निश्छल होता है कि कृत अपराध को छिपाने का विचार भी उसके मन मे नहीं आता। पैर मे चुभे काटे और फोडे मे पैदा हुए मवाद के बाहर निकलने पर ही जैसे शान्ति प्राप्त होती है उसी प्रकार सच्चा साधक अपने दोष का आलोचन और प्रतिक्रमण करके ही शान्ति का अनुभव करता है । इसके विपरीत जो प्रायश्चित्त के भय से अथवा लोकापवाद के भय से अपने दुष्कृत को दबाने का प्रयत्न करता है वह नामका साधक नही विराधक है ।

पूर्वगत श्रुत का ज्ञान वास्तव मे सिहनी का दूध हे । उसे पचाने के लिए वड़ी शक्ति चाहिए । साधारण मनोवल वाला व्यक्ति उसे पचा नही सकता और जिस खुराक को पचा न सके, उसे वह खुराक देना उसका अहित करना हे । इसी विचार से विशिष्ट ज्ञानी पुरुपो ने पात्र-अपात्र की विवेचना की है ।

स्थूलभद्र के मनोवल में आगे के पूर्वाध्ययन के योग्य दृढ़ता की मात्रा पर्याप्त न पाकर आचार्य भद्रवाहु ने वाचना वद कर दी । अन्य साधुओं ने भी देखा कि आचार्य निर्वाध रूप से ज्ञानामृत की जो वर्षा कर रहे थे, वह अव वद हो गई हे । सुधा का वह प्रवाह रुक गया है । यह देखकर समस्त सघ को भी दु.ख हुआ । इसका कारण भी प्रकाश मे आ गया । श्रुत की सरक्षा का महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित था, अतएव सघ अत्यन्त चिन्तित हुआ ।

इसके पश्चात् क्या घटना घटित होती है, यह आगे सुनने से विदित होगा। जेन साहित्य के इतिहास मे यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना हे जिसने भविष्य पर गहरा प्रभाव डाला है ।

वन्धुओं ! जैसे उस समय का सघ ज्ञान-गगा के विस्तार के लिए यत्नशील था, उसी प्रकार आज का सघ भी यत्नशील हो और युग की विशेषता का ध्यान रखते हुए ज्ञान-प्रचार मे सहयोग दे तो सम्पूर्ण जगत् का महान् उपकार और कल्याण होगा ।

---

[७५]

श्रुतपचमी

दशवैकालिक सूत्र प्रधानत श्रमण निर्ग्रन्थ के आचार का प्रतिपादन करता है किन्तु जैन धर्म या दर्शन मे कही भी एकान्त वाद को स्वीकार नही किया गया है। यही कारण है कि आचार के प्रतिपादक शास्त्र मे भी अत्यन्त प्रभावपूर्ण शब्दो मे ज्ञान का महत्व प्रदर्शित किया गया हैं। प्रारम्भ मे कहा गया है–

पढम नाण तओ दया एव चिटठइ सव्वसजए ।

सभी सयमवान् पुरुप पहले वस्तुस्वरूप को यथार्थ रूप म समझते है और फिर तदनुसार आचरण करते हैं। यहा 'दया' शब्द समग्र आचार को उपलक्षित करता हैं।

दशवैकालिक मे अन्यत्र कहा गया है–

अण्णाणी कि काही कि वा नाही सेयपावग ।

अज्ञानी बेचारा कर ही क्या सकता है। उस भले-बुरे का विवेक कैसे प्राप्त हो सकता है ?

यह अत्यन्त विराट दिखलाई देने वाला जगत् वस्तुत. दो ही तत्त्वो का विस्तार है। इसके मूल मे जीव और अजीव तत्व ही है । अतएव समीचीन रूप से जीव और अजीव को जान लेना सम्पूर्ण सृष्टि के स्वरूप को समझ लेना है। मगर यही ज्ञान बहुतो को नही होता। कुछ दार्शनिक इस भ्रम मे रहे है कि जगत् म एक जाव तत्त्व ही है उससे भिन्न किसी तत्त्व का सत्त्व नही है। इससे एकदम विपरीत कतिपय लोगा की भ्रान्त धारणा है कि जीव कोई तत्व नही है–सब कुछ अजीव ही अजीव है अर्थात् जड भूता क सिवाय चेतन तत्व की सत्ता नही है। कोइ दोना तत्त्वा की पृथक सत्ता स्वीकार करत हुए भी अज्ञान के कारण जीव का सही रूप म नही समझ पात और अव्यक्त चेतना वाले जीवा को जीव ही नहा समझते। इसाइया के मतानुसार गाय जैसे समझदार पशु म भी आत्मा नहा है। बौद्ध आदि दृा आदि

वनस्पति को अचेतन कहते है। इस थोडे से उल्लेख से ही आप समझ सकेंगे कि जीव और अजीव की समझ मे भी कितना भ्रम फैला हुआ है।

जीव सम्बन्धी अज्ञान का प्रभाव आचार पर पड़े बिना नही रह सकता। जो जीव को जीव ही नही समझेगा, वह उसकी रक्षा किस प्रकार कर सकेगा ? वैदिक सम्प्रदाय के त्यागी वर्गों मे कोई पचाग्नि तप कर के अग्निकाय का घोर आरम्भ करते है, कोई कन्द-मूल-फल-फूल खाने मे तपश्चर्या मानते है। यह सब जीव तत्त्व को न समझने का फल है। वे जीव को अजीव समझते है, अतएव सयम के वास्तविक स्वरूप से भी अनभिज्ञ रहते है। नतीजा यह होता है कि सयम के नाम पर असयम का आचरण किया जाता है।

इससे आप समझ गये होंगे कि ज्ञान और आचार का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही कारण हे कि वीतराग भगवान् ने ज्ञान और चारित्र दोनो को मोक्ष प्राप्ति के लिए अनिवार्य बतलाया है। ज्ञान के अभाव मे चारित्र सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता और चारित्र के अभाव मे ज्ञान निष्फल ठहरता है। ज्ञान एक दिव्य एव आन्तरिक ज्योति है । जिसके द्वारा मुमुक्षु का गन्तव्य पथ आलोकित होता है। जिसे यह आलोक प्राप्त नहीं है वह गति करेगा तो अन्धकार मे भटकने के सिवाय अन्य क्या होगा ? इसी कारण मोक्षमार्ग मे ज्ञान को प्रथम स्थान दिया गया है। शास्त्र मे कहा गया है—

नाणेण जाणइ भावे, दसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ ।।

प्रत्येक वस्तु की अपनी-अपनी जगह पर अपनी-अपनी महिमा है। एक गुण दूसरे गुण से सापेक्ष है। परस्पर सापेक्ष सभी गुणो की यथावत् आयोजना करने वाला ही अपने जीवन को ऊचा उठाने मे समर्थ हो सकता है। हेय, ज्ञेय, और उपादेय का ज्ञान हो जाने पर भी यदि कोई उस पर श्रद्धा नही करेगा तो वह वेसे ही है जैसे कोई खाकर पचा न सके। इससे रस नही बनेगा। वह ज्ञान जो श्रद्धा का रूप धारण नही करेगा, टिक नही सकेगा। श्रद्धा सम्पन्न ज्ञान की विद्यमानता मे भी यदि चारित्र गुण का विकास नही होगा तो वह ज्ञान व्यर्थ है। ज्ञान के प्रकाश मे जब चारित्र गुण का विकास होता है तो वह पापकर्म को रोक देता है। फिर कुशील, हिसा, असत्य आदि पाप नही आ पाते। तप का काम है शुद्धि करना वह संचित पापकर्म को नष्ट करता है।

कर्मो को निश्शेष करने का उपाय यही है कि सयम का आचरण करके नवीन कर्मो के बन्ध को निरुद्ध कर दिया जाय और तप के द्वारा पूर्व संचित कर्मो को नष्ट

किया जाय । इस तरह दोहरे कर्त्तव्य से समस्त कर्म क्षीण हो जाते है और आत्मा अपनी स्वाभाविक मूल अवस्था प्राप्त कर लेती है। यही मुक्ति कहलाती है।

वही ज्ञान मुक्ति का कारण होता है जो सम्यक हो। यो तो ज्ञान का आविर्भाव ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम अथवा क्षय से होता है मगर सम्यग्ज्ञान के लिए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय क्षयोपशम या उपशम की भी आवश्यकता होती है। ज्ञानावरण का क्षयोपशम कितना ही हो जाय यदि मिथ्यात्व मोह का उदय हुआ तो वह ज्ञान मोक्ष की दृष्टि से कुज्ञान ही रहेगा।

अनन्त काल से यह आत्मा ससार म भ्रमण कर रही है। अब तक उसने अपने शुद्ध स्वरूप को नही पाया। जब बाह्य और अन्तरग निमित्त मिलते है तब सम्यग्ज्ञान दर्शन आदि की प्राप्ति होती है और जिसे प्राप्ति होती है उसका परम कल्याण हो जाता है।

बाह्य निमित्त किसी भाव की जागृति मे किस प्रकार कारण बनता है यह समझ लेना आवश्यक है। सोने की डली लोभ रूप विकार की उत्पत्ति म कारण है। किन्तु सोने और चादी की राशि एक जगह एकत्र कर दी जाय और कोई गाय या बैल वहा से निकले तो उस राशि के प्रति उनके मन मे लोभ नहीं जगेगा। वे उसे पैरा तले कुचल देगे या बिखेर देंगे। इसके विपरीत घास फल सब्जी, खली आदि वस्तुए पडी हो तो गाय-बैल के मन मे लोभ उत्पन्न होगा और वे उन्ह खा जाएँगे। इस प्रकार घास आदि उनके लोभ को जगान म निमित्त बने मगर सोने की डली निमित्त नहा बनी । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य कारण एकान्त कारण नहा है। इसी प्रकार अन्तरग कारण भी अकेला कार्यजनक नही होता। दोना का समुचित समन्वय ही कार्य को उत्पन्न करता है।

गृहस्थ आनन्द को राह चलते-चलते सोने, चादी हीरे जवाहरात की ढेरी मिल जाती तो उसके मन म लोभ उत्पन्न नही होता। ये वस्तुए उसके मन को विकृत नही कर सकती थी क्योंकि उसने श्रद्धापूर्वक परिग्रह परिमाण व्रत ग्रहण कर लिया था एव उस पर वह दृढता से आचरण कर रहा था । मोक्षमार्ग म प्रवृत्त होने के लिए मोह को क्षीण करना आवश्यक है। इसके लिए ज्ञानाचार की आवश्यकता है। आचार पाच माने गये है। उनम प्रथम ज्ञानाचार और अन्तिम वीर्याचार है। ज्ञान यदि विधिपूर्वक आचार के साथ प्राप्त किया जाय तो वह जीवनशोधक बनेगा। और ज्ञान की आराधना के बदले विराधना की जाय तो अशान्ति होगी और अधकार मे भटकना होगा। ज्ञान की आराधना करना सिखाया जाता है विराधना करना नहा । विराधना

से बचने का उपाय बतलाया जाता है। विक्षेप, अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, कलह आदि से विराधना होती है।

भरतखण्ड मे अजितसेन राजा का वरदत्त नामक एक पुत्र था। वह राजा का अत्यन्त दुलारा था । उसका बोध (ज्ञान) नहीं बढ़ पाया । अच्छे कलाविदो एव ज्ञानियो आदि के पास रखने पर भी वह ज्ञानवान् नही बन सका । उसकी यह स्थिति देखकर राजा बहुत खिन्न रहता था । सोचता था कि मूर्ख रहने पर यह प्रजा का पालन किस प्रकार करेगा।

पिता बन जाना बड़ी बात नही है। बड़ी बात है अपने पितृत्व का निर्वाह करना। पितृत्व का निर्वाह किस प्रकार किया जाता है, यह बात प्रत्येक पुरुष को पिता बनने से पहले ही सीख लेना चाहिये। जो पिता बन कर भी पिता के कर्त्तव्य को नही समझते अथवा प्रमाद वश उस कर्त्तव्य का पालन नही करते वे वस्तुतः अपनी सन्तान के घोर शत्रु है और समाज तथा देश के प्रति भी अन्याय करते है। सन्तान को सुशिक्षित और सुसस्कारी बनाना पितृत्व के उत्तरदायित्व को निभाना है। सन्तान मे नैतिकता का भाव हो, धर्म प्रेम हो, गुणो के प्रति आदरभाव हो, कुल की मर्यादा का भान हो, तभी सन्तान सुसस्कारी कहलायेगी । मगर केवल उपदेश देने से ही सन्तान मे इन सद्गुणो का विकास नही हो सकता । पिता और माता को अपने व्यवहार के द्वारा इनको शिक्षा देनी चाहिये। जो पिता अपनी सन्तान को नीति धर्म का उपदेश देता है पर स्वय अनीति और अधर्म का आचरण करता है, उसकी सन्तान दम्भी बनती है, नीति-धर्म उसके जीवन मे शायद ही आ पाता है ।

इस प्रकार आदर्श पिता बनने के लिये भी पुरुष को साधना की आवश्यकता है। माता को भी आदर्श गृहिणी बनना चाहिये। इसके बिना किसी भी पुरुष या स्त्री को पिता एव माता बनने का नैतिक अधिकार नही है ।

राजा अजितसेन ने सोचा–'मैने पुत्र उत्पन्न करके उसके जीवन-निर्माण का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लिया है। अगर इस उत्तरदायित्व को मै न निभा सका तो पाप का भागी होऊगा ।' इस प्रकार सोच कर राजा ने पुरस्कार देने की घोषणा करवाई कि जो कोई विद्वान् उसके राजकुमार को शिक्षित कर देगा उसे यथेष्ट पुरस्कार दिया जायेगा। मगर कोई भी विद्वान् ऐसा नही मिला जो उस राज कुमार को कुछ सिखा सकता । राजकुमार कुछ न सीख सका । उसके लिये काला अक्षर भैस बराबर ही रहा ।

शिक्षा के अभाव के साथ उसका शारीरिक स्वास्थ्य भी खतरे मे पड़ गया। उसे कोढ़ का रोग लग गया । लोग- उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगे। सैकडो

दवाए चला, पर कोढ न गया। एसी स्थिति म विवाह सम्बन्ध कैसे हो सकता था ? कौन अपनी लडकी उसे देने को तैयार होता ?

एक सिहदास नामक सेठ की लडकी को भी दैवयोग से ऐसा ही राग लग गया। उस सेठ की लडकी गुणमजरी भी कोढ से ग्रस्त हो गयी। वह लडकी गूगी भी थी। उस काल मे, आज के समान गूगा बहरा और अन्धो की शिक्षा की सुविधा नही थी। कोई लडका इस लडकी के साथ सम्बन्ध करने को तैयार नहा हुआ। गूगी और सदा बीमार रहने वाली लडकी को भला कौन अपनाता ?

एक बार भ्रमण करते हुए विजयसेन नामक एक धमाचार्य वहा पहुचे। वे विशिष्ट ज्ञानवान् थे और दुख का मूल कारण बतलान मे समर्थ थे। वे नगर के बाहर एक उपवन मे ठहरे । ज्ञान की महिमा के विषय मे उनका प्रवचन प्रारम्भ हुआ। उन्हान कहा– 'सभी दुखो का कारण अज्ञान और मोह है। जीवन के मगल क लिय इनका विसर्जन होना अनिवार्य है । कहा गया है–

अज्ञान से दुख दूना होता ।
अज्ञानी धीरज खा देता ।।

मन के अज्ञान को दूर करो ।
स्वाध्याय करो स्वाध्याय करो ।।

कई लाग भयकर विपत्ति आ पडने पर भी धीरज नही खोत तो कई साधारण ज्वर आते ही बेटी बेटे और दामाद को तार टलीफान करन लगत है। मृत्यु की विकराल छाया उन्ह अपने कल्पना नेत्रो म नजर आन लगती है। अज्ञान के कारण मनुष्य अपने शारीरिक मानसिक एव कुटुम्ब सम्बन्धी दुखो को बढा लेता है। इसस बचने का मुख्य उपाय यही है कि ज्ञानाराधना की जाय । ज्ञान ही समस्त बुराइया को दूर करन का कारण है । ज्ञानाराधना से अपूर्व शान्ति ओर सुख की प्राप्ति होती है। सच्चे ज्ञान की ज्योति जब जगती है तो दुखो के उलूक ठहर नहीं सकते । ज्ञान आत्मा का स्वभाव है । अतएव ज्यो-ज्यो उसका विकास होता है त्यो त्यो विभाव-परिणति विलीन होती जाती है।

कई लोगो म ज्ञानाराधना म विघ्न डालने की वृत्ति पाई जाती है। कई लोग स्वाध्याय करन वालो का उपहास करते है । मगर ताश शतरज और चौपड खेलन म समय नष्ट करने वालो का उपहास करने अथवा उनका यह व्यसन छुडा दन का प्रयत्न नहा करत । स्मरण रखिये कि ज्ञान के माग म बाधा डालन या रुकावट डालने स अशुभ कर्मों का बन्ध होता है और एसा करन वाल लाग मन्दमति

गूगे-बहरे आदि होते है । ज्ञानार्जन मे विघ्न उपस्थित करना ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध का कारण है।

आचार्य महाराज की देशना पूरी हुई। सिहदास श्रेष्ठी ने उनसे प्रश्न किया– "महाराज ! मेरी पुत्री की इस अवस्था का क्या कारण हे ? किस कर्म के उदय से यह स्थिति उत्पन्न हुई हैं ?"

आचार्य ने उत्तर मे बतलाया–"इसने पूर्वजन्म मे ज्ञानावरणीय कर्म का गाढ़ बन्धन किया है ।" वृत्तान्त इस प्रकार है–"जिनदेव की पत्नी सुन्दरी थी। वह पाच लड़को और पाच लड़कियो की माता थी। सब से बड़ी लड़की का नाम लीलावती था। घर मे सम्पत्ति की कमी नही थी। उसने अपने बच्चो का इतना लाड़प्यार किया कि वे ज्ञान नही प्राप्त कर सके ।"

विवेकहीन श्रीमन्त अपनी सन्तति को आमोद-प्रमोद मे इतना निरत बना देते है कि पठन-पाठन की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नही होती। सत्समागम के अभाव मे वे आवारा हो जाते है। आवारा लोग उन्हे घेर लेते है और कुपथ की ओर ले जाकर उनके जीवन को नष्ट करके अपना उल्लू सीधा करते है। आगे चलकर ऐसे लोग अपने कुल को कलंकित करे तो आश्चर्य की बात ही क्या ?

अपनी सन्तति के जीवन को उच्च, निर्मल और मर्यादित बनाने के लिये माता-पिता को सजग रहना चाहिये। उन्हे देखना चाहिये कि वे कैसे लोगों की संगत मे रहते है और क्या सीखते है ? इस प्रकार की सावधानी रख कर कुसगति से बचाने वाले माता-पिता ही अपनी सन्तान के प्रति न्याय कर सकते है।

सुन्दरी सेठानी के बच्चे समय पर पढ़ते नही थे। बहानेबाजी किया करते और अध्यापक को उल्टा त्रास देते थे। जब अध्यापक उन्हें उपालम्भ देता और डाटता तो सेठानी उस पर चिढ़ जाती। एक दिन विद्याशाला मे किसी बच्चे को सजा दी गयी तो सेठानी ने चण्डी का रूप धारण कर लिया। पुस्तकें चूल्हे मे झोक दी और दूसरी सामग्री नष्ट-भ्रष्ट कर दी। उसने बच्चो को सीख दी–शिक्षक इधर आवे तो लकड़ी से उसकी पूजा करना। हमारे यहा किस चीज की कमी है जो पोथियो के साथ माथापच्ची की जाय ? कोई आवश्यकता नही है पढ़ने-लिखने की।

अनेक श्रीमन्तो के यहा ऐसा ही होता है। पिता सन्तान को पढ़ाना चाहता है तो मां रोक देती है। मा पढ़ाना चाहती है तो पिता रुकावट डालता है। मैथिलीशरण ने ठीक लिखा है–

श्रीमान् शिक्षा दें उन्हे तो श्रीमती कहती–नही,
घेरो न लल्ला को हमारे नौकरी करनी नही ।

शिक्षे। तुम्हारा नाश हो तू नौकरी के हित बनी
लो मुखति। जीती रहो रक्षक तुम्हारे ह धनी।।

कई अज्ञान ज्ञानाराधना का विरोध एव उपहास करते हुए कहते है– जा पढतव्य सो मरतव्य ना पढतव्य सो मरतव्य दात कटाकट कि कर्त्तव्य यो मरतव्य त्यो मरतव्यम्' कोई कहते है–

अणभणिया घोडे चढे भणिया मागे भीख

अपढ लोगो ने राज्यो की स्थापना की है। पढाई लिखाई मे क्या धरा है होता वही है जो भाग्य मे लिखा होता है। इस प्रकार इतिहास तर्क और दर्शनशास्त्र तक का सहारा लिया जाता है मूर्खता के समर्थन के लिये।

भारतवर्ष मे अज्ञानवादी अत्यन्त प्राचीनकाल मे भी थे। वे अज्ञान को ही कल्याणकारी मानते थे और ज्ञान को अनर्थो का मूल। उनके मत से अज्ञान ही मुक्ति का मूल था। आज व्यवस्थित रूप मे यह अज्ञानवादी सम्प्रदाय भले ही न हो तथापि उसके बिखरे हुए विचार आज भी कई लोगो के दिमाग म घर किये हुए है। अज्ञानवाद का प्रभाव किसी न किसी रूप मे आज भी मौजूद है। मगर अज्ञानवादियो को सोचना चाहिये कि वे अज्ञान की श्रेष्ठता की स्थापना ज्ञानपूर्वक करते है या अज्ञानपूर्वक ? अगर ज्ञानपूर्वक करते है तो फिर ज्ञान ही उपयोगी और उत्तम ठहरा जिसके द्वारा अज्ञानवाद का समर्थन किया जाता है। यदि अज्ञानपूर्वक अज्ञानवाद का समर्थन किया जाय तो उसका मूल्य ही कुछ नही रहता। विवेकीजन उसे स्वीकार नही कर सकते।

हा तो सेठानी के कहने से लडके पढने नही गये। दो-चार दिन बीत गये। शिक्षक ने इस बात की सूचना दी तो सेठ ने सेठानी से पूछा। सेठानी आगबबूला हो गयी। बोली–'मुझे क्यो लाछन लगाते हो। लडके तुम्हारे लडकिया तुम्हारी। तुम जानो तुम्हारा काम जाने।'

पति-पत्नि के बीच इस बात को लेकर खीचतान बढ गयी। खीचतान ने कलह का रूप धारण किया और फिर पत्नी ने अपने पति पर कुडी से प्रहार कर दिया।

आचार्य बोले– गुणमजरी वही सुन्दरी है। ज्ञान के प्रति तिरस्कार का भाव होने स यह गूगी के रूप म जन्मी है।

राजा अजितसेन ने भी अपने पुत्र वरदत्त का पूर्व वृत्तान्त पूछा। कहा– भगवन्! अनुग्रह करके बतलाइये कि राजकुल मे उत्पन्न होकर भी यह निरक्षर और कोढी क्या है ?

आचार्य ने अपने ज्ञान का उपयोग लगाकर कहा–"वरदत्त ने भी ज्ञान के प्रति दुर्भावना रखी थी। इसके पूर्व जीवन मे ज्ञान के प्रति घोर उदासीनता की वृत्ति थी। श्रीपुर नगर मे वसु नाम का सेठ था। उसके दो पुत्र थे–वसुसार और वसुदेव। वे कुसगति मे पड़कर दुर्व्यसनी हो गये। शिकार करने लगे। वन मे विचरण करने वाले और निरपराध जीवो की हत्या करने मे आनन्द मानने लगे। एक बार वन मे सहसा उन्हे एक मुनिराज के दर्शन हो गये। पूर्व संचित पुण्य का उदय आया और सन्त का समागम हुआ । इन कारणो से दोनो भाइयो के चित्त मे वैराग्य उत्पन्न हो गया। दोनो पिता की अनुमति प्राप्त करके दीक्षित हो गये, दोनो चरित्र की आराधना करने लगे ।

शुद्ध चारित्र के पालन के साथ वसुदेव के हृदय मे अपने गुरु के प्रति श्रद्धाभाव था। उसने ज्ञानार्जन कर लिया। कुछ समय पश्चात् गुरुजी का स्वर्गवास होने पर वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुआ। शासन सूत्र उसके हाथ मे आ गया।

उधर वसुसार की आत्मा मे महामोह का उदय हुआ। वह खा-पीकर पड़ा रहता, सत कभी प्रेरणा करते तो कहता कि "निद्रा मे सब पापो की निवृत्ति हो जाती है" निद्रा के समय मनुष्य न झूठ बोलता है, न चोरी करता है, न अब्रह्म का सेवन करता है, न क्रोधादि करता है, अतएव सभी पापो से बच जाता है, इस प्रकार की भ्रान्त धारणा उसके मन मे पैठ गयी।

वसुसार अपना अधिक से अधिक समय निद्रा मे व्यतीत करने लगा और कहने लगा–सुषुप्ति से मन वचन काय की सुन्दर गुप्ति होती है। जागरण की स्थिति मे योगो का सवरण नही होता। ज्ञानोपासना आदि सभी साधनाओ मे खटपट होती है, अतएव शयन साधना ही सर्वोत्तम है। अतएव मै अधिक से अधिक समय निद्रा मे व्यतीत करना ही हितकर समझता हू।

वसुदेव ने गुरुभक्ति के कारण गंभीर तत्वज्ञान प्राप्त किया था । अतः वह आचार्य पद पर आसीन हो गये थे । जिज्ञासु सन्त सदा उन्हे घेरे रहते थे । कभी कोई वाचना लेने के लिये आता तो कोई शका के समाधान के लिये। उन्हे क्षण भर का भी अवकाश नही मिलता । प्रात.काल से लेकर सोने के समय तक ज्ञानाराधक साधु-सन्तो की भीड़ लगी रहती । मानसिक और शारीरिक श्रम के कारण वासुदेव थक कर चूर हो जाते थे ।

सहसा उनको विचार आया कि छोटा भाई वसुसार ज्ञान नही पढ़ा, वह बड़े आराम से दिन गुजारता है। मैने सीखा, पढ़ा तो मुझे क्षण भर भी आराम नही। विद्वानो ने ठीक ही कहा है–

पढने से तोता पिंजरे मे बन्द किया जाता है और नही पढने से बगुला स्वच्छन्द घूमता है। मेरे ज्ञान ध्यान का क्या लाभ ? अच्छा होता भाई की तरह मै भी मूर्ख ही होता, तो मुझे भी कोई हैरान नही करता। कहा भी है–

मूर्खत्व सुलभ भजस्व कुमते, मूर्खस्य चाष्टौ गुणा ।
निश्चिन्तो बहुभोजकोऽतिमुखरो रात्रि दिवा स्वप्नभाक ।।

कार्याकार्य विचारणान्धबधिरो मानापमाने सम ।
प्रायेणामयवर्जितो दृढवपु मूर्ख सुख जीवति ।।

अपने आठ गुणो के कारण मूर्ख मनुष्य आराम से अपनी जिन्दगी व्यतीत करता है। वे गुण ये है– (१) निश्चिन्तता (२) बहुभोजन (३) अति मुखरता (४) बडबडाना (५) करणीय-अकरणीय पर विचार न करना। जो धुन मे जचे सो करते जाना और कोई भलाई की बात कहे तो बहिरे के समान उसे अनसुनी कर देना (६) मान-अपमान की परवाह न करना (७) रोग रहित होना और (८) बेफिक्री के कारण हट्टा कट्टा होना।

कहा जाता है कि इस प्रकार नानाराधना से थक कर उसने ३३ दिन के लिय बोलना बन्द कर दिया ।

बुद्धिमान और ज्ञानी व्यक्ति कोई भी वक्तव्य देने को सहसा तैयार नही होगा– जो बोलेगा सोच समझ कर ही बोलेगा । मूर्ख को सोचने समझने की आवश्यकता नही होती । वह बहुत बोलेगा । और शुद्धि-अशुद्धि या सत्य-असत्य की चिन्ता नहीं करेगा। निद्रा देवी की दया मूर्खराज पर सदा बनी रहती है । वह गधे की सवारी करने पर भी अपमान अनुभव करके लज्जित नही हागा ।

कर्मोदय के कारण वसुदेव के अन्तकरण म दुर्भावना आ गयी । उसने ज्ञान की विराधना की । इस प्रकार दीक्षा एव तपस्या के प्रभाव से उसने राजकुल मे जन्म तो लिया किन्तु ज्ञान की विराधना करने से कोढी और निरक्षरता प्राप्त की ।

आज कार्तिक शुक्ला पचमी है। यह पचमी श्रुतपचमी और ज्ञानपचमी भी कहलाती है। इसकी विधिवत् आराधना करने से और ज्ञान की भक्ति करने से कोढ भी नष्ट हो जाता है ऐसा महर्षियो का कथन है ।

श्रुतपचमी सन्देश देती है कि ज्ञान के प्रति दुर्भाव रखने से ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होता है। अतएव हमे ज्ञान की महिमा को हृदयगम करके उसकी आराधना करनी चाहिये। यथा शक्ति ज्ञान प्राप्त करन का प्रयत्न करना चाहिये। और दूसरो के पठन-पाठन मे योग देना चाहिय। वह योग कई प्रकार स दिया जा सकता है। निधन

विद्यार्थियो को श्रुत-ग्रन्थ देना आर्थिक सहयोग देना, धार्मिक ग्रन्थो का सर्वसाधारण में वितरण करना, पाठशालाए चलाना, चलाने वालो को सहयोग देना, स्वय प्राप्त ज्ञान का दूसरो को लाभ देना आदि। ये सब ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण है ।

विचारणीय है कि जब लौकिक ज्ञान प्राप्ति में बाधा पहुचाने वाली गुणमजरी को गूगी बनना पड़ा तो धार्मिक एव आध्यात्मिक ज्ञान मे बाधा डालने वाले को कितना प्रगाढ़ कर्मबन्ध होगा ? उसे कितना भयानक फल भुगतना पड़ेगा ? इसीलिये भगवान् महावीर ने कहा–"हे मानव ! तू अज्ञान के चक्र से बाहर निकल और ज्ञान की आराधना मे लग ! ज्ञान ही तेरा असली स्वरूप है। उसे भूलकर क्यो पर-रूप में झूल रहा है ? जो अपने स्वरूप को नही जानता उसका बाहरी ज्ञान निरर्थक है ।"

यह ज्ञानपचमी अपने पर्व श्रुतज्ञान के अभ्युदय और विकास को प्रेरणा देने के लिये है। आज के दिन श्रुत के अभ्यास, प्रचार और प्रसार का सकल्प करना चाहिये। द्रव्य और भाव, दोनो प्रकार से श्रुत की रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिये। आज ज्ञान के प्रति जो आदर वृत्ति मन्द पड़ी हुई है, उसे जागृत करना चाहिये। और द्रव्य से ज्ञान दान करना चाहिये। ऐसा करने से इहलोक-परलोक मे आत्मा को अपूर्व ज्योति प्राप्त होगी और शासन एव समाज का अभ्युदय होगा ।

किसी ग्रन्थ, शास्त्र या पोथी की सवारी निकाल देना सामाजिक प्रदर्शन है इससे केवल मानसिक सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है। असली लाभ तो ज्ञान के प्रचार से होगा । ज्ञानपचमी के दिन श्रुत की पूजा कर लेना, ज्ञान-मन्दिरो के पट खोल कर पुस्तको के प्रदर्शन कर लेना और फिर वर्ष भर के लिये उन्हे ताले मे बन्द कर देना श्रुतभक्ति नही है। ज्ञानी महापुरुषो ने जिस महान् उद्देश्य को सामने रखकर श्रुत का निर्माण किया, उस उद्देश्य को स्मरण करके उसकी पूर्त्ति करना हमारा कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है ।

मैने शरणार्थियो के एक मोहल्ले मे एक बार देखा–गुरुद्वारा से गुरु ग्रन्थ साहब की सवारी निकाली जा रही है। ग्रन्थ साहब को जरी के कपड़े में लपेट कर एक सरदार अपने मस्तक पर रख कर ले जा रहे है इस प्रकार मस्तक पर रखकर अथवा हाथी के होदे पर सवार करके जुलूस निकालना वास्तविक श्रुतपूजा नही है। इससे तो यही प्रदर्शित होता है कि समाज की उस ग्रन्थ के प्रति कैसी भावना है, यह दूसरे भाइयो के चित्त को उस ओर खीचने का साधन है किसी भी ग्रन्थ की सच्ची भक्ति तो उसके सम्यक् पठन-पाठन मे है ।

भारतीय जैन एव जैनेतर साहित्य के सरक्षण मे जैन समाज का असाधारण योगदान रहा है। उन्होने ज्ञानोपासना की गहरी लगन से साहित्य भण्डार बनाये और

सहस्रो ग्रन्था को नष्ट होने से बचाया है। किन्तु आज जैनो मे भी पहले के समान भीतरी और बाहरी शास्त्र सरक्षण का भाव नही दीख पडता । यह स्थिति चिन्तनीय है।

श्रुत के विनय चार है जो इस प्रकार है–
(१) सूत्र की वाचना करना ।
(२) सूत्र की अर्थ के साथ वाचना करना।
(३) हित रूप वाचना करना।
(४) श्रुत के कल्याण रूप का चिन्तन मनन करना।

आज जैन समाज को श्रुत के प्रचार और प्रसार की ओर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है । जैन शास्त्रो मे जो उच्चकोटि का तर्क विज्ञान सम्मत और कल्याणकारी तत्वज्ञान निहित है उसका परिचय बहुत कम लोगो का है। शास्त्रो के लोकभाषाओ मे अनुवाद भी पूरे उपलब्ध नही है। आधुनिक ढग के सुन्दर मूल-प्रकाशन भी नही मिलते है। जिज्ञासुजनो की प्यास बुझाने की पर्याप्त सामग्री हम प्रस्तुत नही कर सके है। यह खेद की बात है। इतने सुन्दर और समृद्ध साहित्य को भी हम आज उचित तरीके से लोगो के हाथो मे न पहुचा सके तो हमारी ज्ञानाराधना ही क्या हुई।

ज्ञानपचमी के इस पर्व पर आपको निश्चय करना चाहिये कि हम अपनी पूर्व सचित विपुल ज्ञाननिधि को जगत् मे फैलायेंगे स्वय ज्ञान के अपूर्व आलोक मे विचरण करेंगे और दूसरा को आलोक मे लाने का प्रयत्न करेंगे। आप ऐसा करेंगे तो पूर्वज महापुरुषो के ऋण से मुक्त होंगे और स्व 'पर' के परम कल्याण के भागी बनेंगे ।

---

[७६]

जीवनसुधार से ही मरणसुधार

आत्मा अजर, अमर, अविनाशी द्रव्य है । न इसकी आदि है, न अन्त । न जन्म है, न मृत्यु है । किन्तु जब तक इसने अपने निज रूप को उपलब्ध नही किया है और जब तक इसके साथ पोद्गलिक शरीर का सयोग है, तब तक शरीर के सयोग-वियोग के कारण आत्मा का जन्म-मरण कहा जाता है । वर्तमान स्थूल शरीर से वियोग होना मरण और नूतन स्थूल शरीर को ग्रहण करना जन्म कहलाता है । जन्म से लेकर मरण तक का रूप जीवन है । इस प्रकार जन्म, जीवन और मरण, ये तीन स्थितिया प्रत्येक ससारी आत्मा के साथ लगी हुई है ।

आत्मा के जो निज गुण है, उनका विकास आत्मसुधार कहलाता है । आत्मसुधार का प्रथम सोपान जीवनसुधार है । जीवनसुधार का तात्पर्य है जीवन को निर्मल बनाना । जीवन मे निर्मलता सद्गुणो और सद्भावनाओ से उत्पन्न होती है ।

जीवनसुधार से मरणसुधार होता है । जिसने अपने जीवन को दिव्य और भव्य रूप मे व्यतीत किया है, जिसका जीवन निष्कलक रहा है और विरोधी लोग भी जिसके जीवन के विषय मे उगली नही उठा सकते, वास्तव मे उसका जीवन प्रशस्त है । जिसने अपने को ही नही, अपने पड़ोसियो को, अपने समाज को, अपने राष्ट्र को और समग्र विश्व को ऊचा उठाने का निरन्तर प्रयत्न किया, किसी को कष्ट नही दिया मगर कष्ट से उबारने का ही प्रयत्न किया, जिसने अपने सद्विचारो एव सद्आचार से जगत् के समक्ष स्पृहणीय आदर्श उपस्थित किया, उसने अपने जीवन को फलवान् बनाया है । इस प्रकार जो अपने जीवन को सुधारता है, वह अपनी मृत्यु को भी सुधारने मे समर्थ बनता है, जिसका जीवन आदर्श होता है, उसका मरण भी आदर्श होता है ।

कई लोग समझते है कि अन्तिम जीवन को सवार लेने से हमारा मरण सवर जाएगा, मगर स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के सस्कार मरण के समय उभर कर

आगे आते हं । जिसका समग्र जीवन मलिन पापमय और कलुषित रहा है वह मृत्यु के ऐन मौके पर पवित्रता की चादर ओढ लेगा यह सभव नही है । अतएव जो पवित्र जीवन यापन करेगा वही पवित्र मरण को वरण कर सकेगा और जो पवित्र मरण को वरण करेगा उसीका आगामी जीवन आनन्दपूर्ण बन सकेगा ।

जीवनसुधार के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपनी स्थिति के अनुकूल व्रतो को अगीकार करके प्रामाणिकता के साथ उनका पालन करे । जो ससार से उपरत हो चुके है और जिनके चित्त मे वैराग्य की ऊर्मिया प्रवल हो उठी है वे गृहत्यागी बनकर महाव्रतो का पालन करते है । जिनमे इतना सामर्थ्य विकसित नहीं हो पाया या जिनका मनोवल पूरी तरह जागृत नही हुआ वे गृहस्थ मे रहते हुए श्रावकधर्म का परिपालन करते है । व्रतसाधना ही जीवनसुधार का अमोघ उपाय है । मरणसुधार जीवनसुधार की चरम परिणति है ।

शास्त्र मे चार प्रकार के विश्राम वतलाए गए है । उदाहरण के द्वारा उन्हे समझने मे सुविधा होगी-एक लकडहारा जगल से जलाऊ लकडी काट कर लाता है। लकडियो का भारा बनाकर और उसे सिर पर रखकर वह लम्बी दूरी तय करता है । वोझ और चाल के कारण उसका शरीर थक जाता है । भारा उसके सिर के लिए दुस्सह हो जाता है । तव वह सिर के भारे को कधे पर रख लेता है । जब उस कधे मे दर्द होने लगता है तो उसे दूसरे कधे पर रखता है । यह उस लकडहारे का पहला विश्राम है ।

सिर का भार हल्का करने के लिए वह भार को ऊँचा उठा लेता है या लघुशका करने वैठ जाता है तो यह उसका दूसरा विश्राम कहलाता है। यह भी अस्थायी विश्राम है ।

कुछ और आगे चलने पर जब अधिक थक जाता है तो किसी चवूतरे पर या देवस्थान पर भारा टिकाकर खड खडे विश्राम लेता है । भार को वह वहा सुनियोजित भी कर लेता है । यदि भार विक्रय के लिए है तो वह एक के दो कर लेता है या बडा-सा दिखलाने के लिए उसे विशेष तरीके से जमाता है । यह उसका तीसरा विश्राम है ।

अपनी मंजिल तक पहुँचने पर या किसी को वेच देने पर उसे चौथा विश्राम मिलता है । यह द्रव्यविश्रान्ति का रूप है ।

सासारिक जीवो के लिए भी इसी प्रकार के चार विश्रान्तिस्थल है । चौबीसा घटे आरम्भ-समारम्भ का भार लाद कर चलने वाला मानव सौभाग्य से जब सतसग

पा लेता है तो वह कधा वदलने के समान पहला विश्रान्तिस्थल हे । इस स्थिति मे शारीरिक और वाचनिक व्यापार का भार उतर जाता हे, सिर्फ मन पर भार लदा रहता है । सन्त समागम की दशा मे भी ससारी जीव के मन की कड़ी पर आरम्भ समारम्भ का भार अटका रहता हे । इस पर भी उसे किंचित विश्राम मिलता है । इस पर श्रमणो के सान्निध्य मे उपाश्रय मे आकर वेठने से गृहस्थ को पहला विश्राम मिलता है ।

सामायिक व्रत को अगीकार करना या देशावगाशिक व्रत धारण करना ओर कुछ पापो का निरोध करना दुसरा विश्रामस्थल हे, इन व्रतो को धारण करने से अशान्त मन को कुछ शान्ति मिलती हे ।

समस्त आरभ-समारभ को चौवीस घटे के लिए त्याग कर पोषध व्रत धारण करना तीसरा विश्रामस्थल है ।

दिन रात अमर्यादित जीवन, लालच, तृष्णा एव असयम के कारण सन्तप्त रहने वाला मनुष्य जव वारह व्रतो को धारण करता हे तो परिग्रह आदि की मर्यादा के अन्तर्गत हो जाने से अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव करने लगता है । उसकी असीम कामनाएँ सीमित हो जाती है, अनियन्त्रित मन नियन्त्रित हो जाता है, विना किसी लगाम के स्वच्छन्द विचरण करने वाली इन्द्रिया सयत हो जाती हे । उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो माथे पर का वोझा उतर गया हे ।

यदि शासन यह नियम वना दे कि किसी भी मजदुर से वीस सेर से अधिक वोझ न उठवाया जाय तो मजदूरो को प्रसन्नता होगी । मजदूर के सिर की गठरी अगर मालिक रखले तो भी उसे प्रसन्नता का अनुभव होगा । भार हल्का होने से प्रसन्नता होती है, शान्ति मिलती है, यह अनुभव सिद्ध तथ्य है ।

भगवान् महावीर कहते है–"पाप की गठरी को उतार फेको तो तुम्हे शान्ति मिलेगी । पूरी नही उतार सकते तो उसे हल्की ही करलो । यह शान्ति प्राप्त करने का उपाय है ।" मगर ससारी जीव की बुद्धि विपरीत दिशा मे चलती है । वह भार लादने का कुछ ऐसा अभ्यासी हो गया है कि भारहीन दशा के सुख की कल्पना ही उसके मन मे उदित नही हो पाती । परिणामस्वरूप वह जिस भारयुक्त स्थिति मे है उसी मे मगन रहना चाहता है । किन्तु जो भारहीन या परिमित भारवाली दशा को अगीकार कर लेते है वे अपूर्व शान्ति अनुभव करने लगते है । उनका मन निराकुल हो जाता है ।

जिसका मानस मूढ़ बन गया है वह भार को भार नही समझ पाता और भारहीन दशा मे आने से झिझकता है । मगर समय-समय पर पापो की गठरी को इधर-उधर रखकर मनुष्य को शान्ति प्राप्त करनी चाहिए ।

अनादिकाल से आत्मा भाराक्रान्त है । भाराक्रान्त होने से अशान्त है और अशान्ति म उसे सच्चे आनन्द की अनुभूति नही हो पाती । महावार स्वामी ने श्रमणोपासक आनन्द को सच्चा आनन्द मार्ग प्रदर्शित किया और आनन्द के माध्यम स जगत् के समस्त सन्तप्त प्राणिया को वह मार्ग दिखलाया ।

निसर्ग के नियम को कौन टाल सकता है ? प्रतिदिन सुनहरा प्रभात उदित हाता है तो सन्ध्या भी अवश्य आती है । प्रभात हा किन्तु सन्ध्या न आए, यह कदापि समव नही है। प्राणी के जीवन म भी प्रभात और सन्ध्या का आगमन होता है । जन्म प्रभात है तो मरण सध्यावेला है ।

जातस्य हि ध्रुव मृत्यु ध्रुव जन्म मृतस्य च ।

जिसन जन्म ग्रहण किया है उसका मरण अनिवार्य है और जो मरण शरण हुआ है उसका जन्म भी निश्चित है ।

पशु पक्षी और कीट-पतग की तरह मरना जन्म मरण के वन्धन को बढाना है। भगवान् महावीर ने कहा– 'मानव । तू मरने की कला सीख । मृत्यु जब सत्य है ता उसे शिव और सुन्दर भी बना । उसके विकराल रूप की कल्पना करके तू मृत्यु के नाम से भी थर्रा उठता है, मगर उसके शिव-सुन्दर स्वरूप को क्यो नही देखता ?'

कहा जा सकता है कि मृत्यु विनाश है सहार है जीवन का अन्त है । उसम शिवत्व और सौन्दर्य कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि अज्ञानी जीव प्रायः प्रत्येक वस्तु का काला पक्ष ही देखा करते है । शुक्ल पक्ष उन्हे दृष्टिगत नही होता । मृत्यु यदि विनाश है तो क्या नवजीवन का निर्माण नही है ? सहार है तो क्या सृष्टि नही है ? जीवन का अन्त है ता क्या नूतन जीवन की आदि नहा है? क्या मृत्यु के विना किसी की भेट नवजीवन से हो सकती है ?

ज्ञानी और अज्ञानी की विचारणा म बहुत अन्तर होता है। ज्ञानीजन कहते है

कृमिजाल-शताकीर्णे जर्जरे देहपजरे ।
भिद्यमाने न भेतव्य यतस्त्व ज्ञान विग्रह ।।

हे आत्मन् । सैकडो कीडो स व्याप्त और जर्जर यह देह रूपी पिजरा अगर भेद को प्राप्त होता है तो होने दे । इसस भयभीत हाने की क्या बात है । जैसे पक्षी के लिए पिजरा हाता है वैसे ही तेरे लिए यह देह है । वह तेरा असली देह नही है । तेरा असली देह ता चेतना है जो तुझसे कदापि पृथक नहीं हो सकती ।

ज्ञानी जन मृत्यु को मित्र मानकर उससे भेंट करने के लिए सदा उद्यत रहते है । मृत्यु उनके लिए विषाद का कारण नही होती । वे समझते है कि मैने जीवन भर जो पुण्यकर्म किया है, उसका फल तो मृत्यु के माध्यम से ही प्राप्त होना है । तो फिर मृत्यु से भयभीत क्यो होना चाहिए ? शरीर के कारागार से आत्मा को मुक्त कराने वाली मृत्यु भयावह कैसे हो सकती है ?

मगर अज्ञानी और अधर्मी जन मृत्यु की कल्पना से सिहर उठते है । वे समझते है कि वर्तमान जीवन मे किये हुए पापो का दुष्फल अब भुगतना पड़ेगा ।

तो मृत्यु को और उसके पश्चात् के जीवन को सुन्दर और सुखद बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इस जीवन को उज्ज्वल और पवित्र बनाया जाय, जीवन मे पाप का स्पर्श न होने दिया जाय । जिसने इस प्रकार की सावधानी रखी उसके लिए मृत्यु मगल है, महोत्सव है, शिव है, सुन्दर है और सुखद है ।

भगवान ने आनन्द को मृत्यु के दो भेद बतलाये –

(१) पश्चिम मरण, बालमरण, असमाधिमरण (२) अपश्चिममरण, पण्डितमरण, समाधिमरण।

प्रथम प्रकार के मरण के लिए कला की आवश्यकता नही । रेल की पटरी पर सो जाना, विषपान कर लेना, फासी लगा देना या कुए मे कूद जाना उसके सरल साधन है । कषाय-पूर्वक मरना और हाय-हाय करते हुए मरना भी बालमरण है । आत्म-हत्या के रूप मे बालमरण की घटनाएँ आजकल बहुत बढ़ गई है । सौराष्ट्र प्रान्त मे तो ऐसी घटनाएँ इतनी अधिक होती है कि वहा के मुख्यमन्त्री के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई है । गृह-कलह और घोर निराशा आदि इसके कारण होते है । पति के विछोह मे पत्नी की और पुत्र के वियोग मे पिता की मृत्यु होना भी बालमरण है । भारत मे पहले प्रचलित सती प्रथा भी बालमरण का ही भयानक रूप था । इस प्रकार अनेक रूपो मे यह बालमरण आज प्रचलित है । यह मरण कलाविहीन मरण है और पाप का कारण है । भगवान् महावीर ने कहा कि मृत्यु को कलात्मक स्वरूप प्रदान करना मानव का सर्वश्रेष्ठ कौशल है, जीवनगत विकारो को समाप्त करके, जीवन का शोधन करके और माया-ममता से अलग होकर जो हॅसते-हॅसते मरता है, वह जीवन की कला जानता है ।

किसी सन्त का शिष्य बड़ा तपस्वी था । तप करते-करते उसका शरीर क्षीण हो गया अतएव उसने समाधिमरण अगीकार करने का निर्णय किया । गुरु से समाधिमरण की अनुमति मागी । गुरु ने कहा–अभी समय नही आया है । शिष्य पुनः

तप म निरत हो गया । उसने शरीर सुखा दिया । अस्थिया ही शेष रह गई । तब वह फिर गुरु के पास पहुँचा और समाधिमरण की अनुमति माँगी । गुरु बोले—अभी अवसर नही आया है ।

शिष्य फिर कठिन तपस्या करने लगा । अब उसे चलने-फिरने म उठने बैठने मे यहा तक कि बोलने मे भी कठिनाई होने लगी । उसने फिर गुरु से अनुमति माँगी । गुरु न कहा अभी अवसर नही आया है । सलेखना करो ।

गुरु का वही पुराना उत्तर सुन कर शिष्य को इस बार रोष आ गया । उसने अपनी उगली तोड कर बतलाया कि देखिये मेरे शरीर म रुधिर नही रह गया है।

गुरु ने शान्ति और वात्सल्य से समझाया कि सलेखना करने का अर्थ कषाय का त्याग करना है । काय का त्याग करन पर भी कषाय का त्याग किये विना आत्महित नही होता ।

शिष्य समझ गया । उसे अपनी भूल मालूम हो गई । वास्तव म मृत्यु कलाविद् वही है जो वीतराग दशा म समभावपूर्वक शरीर का उत्सर्ग करता है ।

कषाय को कृश करना सलेखना है । कषाय को कृश कर देने पर मृत्यु का अनिष्ट रूप नहा रह जाता । उस समय मृत्यु कलात्मक बन जाती है जिसे समाधिमरण कहते है । हजारो लाखो म कोई विरला ही व्यक्ति समाधिमरण का अधिकारी होता है । अधिकाश लोग तो कषायो से ग्रस्त होकर हाय हाय करते ही मरते है । जिनका जीवन साधना म व्यतीत हुआ जिन्होने काल कारनामो से अपना मुँह मोड लिया या जिनके जीवन म उज्ज्वलता रही उन्ही को मृत्यु-सुधार का अवसर मिलता है । उनकी भूमिका तैयार होती है अतएव कोई गडबड पैदा करने वाला निमित्त न मिल गया तो उनकी मृत्यु सुधर जाती है ।

परीक्षा म उत्तीर्ण होना या अनुत्तीर्ण होना तीन घण्टे के कर्तृत्व पर निर्भर है । जिसने तीन घण्टो म सही सही उत्तर लिख दिये उसे सफलता अवश्य मिलती है। मगर सही उत्तर वही लिख सकेगा जिसने पहले अभ्यास कर रखा हो पूर्वाभ्यास के अभाव मे केवल तीन घटे के श्रम से उत्तीर्णता प्राप्त करना सभव नहा है । इसी प्रकार समाधिमरण भी एक कठोर परीक्षा है । इसम उत्तीर्ण होने के लिए जीवन व्यापी अभ्यास की आवश्यकता है । अतएव जो अपनी मृत्यु को सुधारना चाहते हो उन्हें अपना जीवन सुधारना होगा । जीवन को सुधारे विना मृत्यु को सुधारने की आशा रखने वालो को निराश होना पडेगा ।

आई. ए. एस. जैसी परीक्षाओ म सामान्यज्ञानपरीक्षा भी होती है । उसम

इटरव्यू कहते है । इटरव्यू मे दस-पन्द्रह मिनट मे ही पास-फेल होने का खेल समाप्त हो जाता है । उस समय क्या पूछा जाएगा, पता नही रहता । मगर प्रत्याशी अगर अभ्यासशील है और उस समय अपना मानसिक सन्तुलन कायम रखता है तो सफलता प्राप्त करता है । इसी प्रकार मरण के समय यदि मानसिक सन्तुलन रहा तो मुमुक्षु को सफलता प्राप्त होती है । यदि उस समय मोह-ममता जाग उठी तो अनुत्तीर्ण हो जायेगा ।

भगवान् महावीर ने व्रताराधना के बाद आनन्द को मरणसुधार का उपाय बतलाया । मरणसुधार करने वालो को विकारो पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है । उग्र से उग्र भय कष्ट आदि आने पर भी सावधान साधक ज्ञान वल द्वारा विकारो को उत्पन्न नही होने देता ।

विकारो के शमन के लिए अध्यात्मज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता होती है । ऊचे से ऊँचा अन्य ज्ञान प्राप्त करने वाले ने भी यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त नही किया तो सब व्यर्थ है ? विद्वान् पुरुष से यदि बोलते समय स्खलना हो जाय तो उसका उपहास नही करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक छद्मस्थ स्खलना का पात्र है ।

स्थूलभद्र ने आचार्य भद्रबाहु से दस पूर्वो का ज्ञान प्राप्त कर लिया किन्तु अपने प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिए साध्वियो के समक्ष सिंह का रूप धारण किया। इस घटना को जानकर आचार्य भद्रबाहु को खेद हुआ और उन्होंने आगे का अभ्यास कराना बन्द कर दिया । अहभाव आने पर आगे की साधना के समक्ष दीवार खड़ी हो जाती है ।

आचार्य भविष्य का विचार करके चौकन्ने हो गए । उन्होने सोचा—इस गहरे पात्र मे भी जब छलकन आ गई तो इससे अधिक का समावेश इसमे कैसे हो सकेगा? अब अभ्यास को रोक देना ही उचित है । आचार्य ने यह निर्णय कर लिया । ज्ञानी पुरुष अपनी भूल को जल्दी समझ लेता है, स्वीकार कर लेता है और उसका प्रतीकार करने मे विलम्ब भी नही करता ।

एक घुड़सवार घोड़े से गिर पड़ा । किसी ने उससे कहा—क्या भाई, गिर पड़े ? उसने लजाते हुए कहा—नहीं, कहा गिरा हूँ । उसका पाव तो पायदान मे लटक रहा था, तथापि उपहास के भय से उसने प्रत्यक्ष गिरने को भी स्वीकार नही किया ।

भूल होना कोई असाधारण बात नही । प्रत्येक छद्मस्थ प्राणी से कभी न कभी भूल हो ही जाती है । मगर उस भूल को स्वीकार न करना और छिपाने का

प्रयत्न करना भूल पर भूल करना है । ऐसा करने वाले के सुधार की समावना बहुत कम होती है । अतएव प्रत्येक समझदार व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह खूब सोच समझकर ही कोई कार्य करे और भूल न होने दे तथापि कदाचित् भूल हो जाय तो उसे स्वीकार करन और सुधारने मे आनाकानी न करे । भूल को स्वीकार करना दुर्वलता का नहा वलवान होने का ल ण है । भगवान् महावीर का कथन है कि अपनी भूल को गुरु क समक्ष निश्छल भाव से निवेदन कर देने वाला ही आराधक होता है । ऐसे साधक की साधना ही सफल होती है ।

अपनी भूल को छिपाना ऐसा ही है जैस शरीर म उत्पन्न हुए फोडे को छिपाना । फोडे को छिपाने से वह वढ जाता है उसमे जहर उत्पन्न हो जाता है और अन्त मे वह प्राणो को भी ले वैठता है । उस उत्पन्न होते ही चिकित्सक को दिखला देना बुद्धिमत्ता है। इसी प्रकार जो भूल हो गई है कोई दुष्कृत्य हो गया है उसे गुरुजन के सामने प्रकट न करना अपने साधना-जीवन को विषाक्त वनाना है।

मुनि स्थूलभद्र महान् साधक थे । उन्होने अपनी भूल को स्वीकार करने म तनिक भी आनाकानी नही की । सघ ने भी उनकी सिफारिश की । सघ ने कहा-एक वार की चूक के कारण ज्ञान देने का कार्य वन्द नही होना चाहिए । मुनिमडल ने आचार्य के चरणो म प्रार्थना की-भगवन् । महामुनि स्थूलभद्र से स्खलना हो गई है । उसकी हम अनुमोदना नही करते किन्तु चलन वाले से स्खलना हो ही जाती है । उसका परिमार्जन किया जाय । भगवान् महावीर रूपी हिमाचल से प्रवाहित होता चला आन वाला श्रुत-गगा का यह परमपावन प्रवाह आपके साथ समाप्त नही हो जाना चाहिए । मुनि स्थूलभद्र का आप अपनी ज्ञाननिधि अवश्य दीजिए । वे सघ के प्रतिनिधि है अतएव स्थूलभद्र का ज्ञान देना साधारण व्यक्ति का ज्ञान देना नही है वरन् सघ को ज्ञान देना है । अनुग्रह करके उनकी एक भूल को क्षमा की आखो से देखिए और उन्हे चौदह पूर्वो का ज्ञान अवश्य दीजिए ।

आचार्य भद्रवाहु महान् थे किन्तु सघ का व सर्वोपरि मानते थे । जिन शासन मे सघ का स्थान बहुत ऊचा है । अतएव सघ क आग्रह को अस्वीकार करन की कोई गुजाइश न थी । उधर भद्रवाहु के मन म असन्तोष था । वे सोचते थे कि काल के प्रभाव स मुनियो के मन म भी उतनी सरलता नही रहने वाली है । अतएव यह ज्ञान उनके लिए भी हानिकारक ही सिद्ध होगा । इस प्रकार एक ओर सघ का आग्रह और दूसरी ओर अन्तःकरण का आदेश था । आचार्य दुविधा म पड गए । सोच विचार के पश्चात् उन्होने मध्यम मार्ग ग्रहण किया । अपना निर्णय घोषित कर दिया कि अवशेष श्रुत का ज्ञान दिया किन्तु सूत्र रूप म ही वह ज्ञान दिया जाएगा अर्थ रूप म नही । इस निर्णय का सघने मान्य किया ।

आगम के दो रूप होते है–सूत्र और अर्थ । सूत्र मूल सामग्री रूप है और अर्थ उससे बनने वाला विविध प्रकार का भोजन । मूल सामग्री से नाना प्रकार के भोज्य पदार्थ तैयार किये जा सकते है । सबल एव नीरोग व्यक्ति बाफला जैसे गरिष्ठ भोजन को पचा सकता है किन्तु बालक और क्षीणशक्ति व्यक्ति नही पचा सकता है। अर्थागम को पचाने के लिए विशेष मनोबल की आवश्यकता होती है । वह न हुआ तो अनेक प्रकार के अनर्थो की सभावना रहती है । अध्येता अगर व्यवहार दृष्टि को निश्चय दृष्टि समझ ले या निश्चय दृष्टि को व्यवहार दृष्टि समझ ले तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा । उत्सर्ग को अपवाद या अपवाद को उत्सर्ग समझ लेने से भी अनेक प्रकार की भ्रांतिया (भ्रमणाए) फैल सकती है ।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नही बिगाड़ सकता, इस कथन मे सत्यता है, मगर इसका अर्थ यदि यह समझ लिया जाय कि धन, पुत्र, कलत्र आदि के प्रति आसक्ति रखने से भी आत्मा मे किसी प्रकार की विकृति नही हो सकती तो यह अनर्थ होगा ।

स्थानाग सूत्र का प्रथम वाक्य है–'एगे आया ।' यदि इसका आशय वही समझा जाय जैसा कि आत्माद्वैतवादी वेदान्ती कहते है, अर्थात् समस्त विश्व मे, सभी शरीरो मे, एक ही आत्मा है–प्रत्येक शरीर मे अलग-अलग आत्मा नहीं है, तो कितना अनर्थ होगा ।

आत्मा अजर, अमर, अविनाशी, शुद्ध, बुद्ध एव सिद्धस्वरूप है, यह निरूपण आपने सुना होगा । पर क्या इसका आशय यह है कि किसी को साधना करने की आवश्यकता नही है ?

तात्पर्य यह है कि सूत्र के सही अर्थ को समझने के लिए नयदृष्टि की आवश्यकता होती है । जिन प्रवचन का एक भी वाक्य नयनिरपेक्ष नही होता । जिस नय से जो बात कही गई है, उसे उसी नय की अपेक्षा समझना चाहिए । दूसरे नय की दृष्टि को सर्वथा ओझल नही कर देना चाहिए । यदि ऐसा हुआ तो घोर अनर्थ होगा । आज जिन शासन मे भी अनेक प्रकार के जो वितडावाद चल पड़ते है और विभिन्न प्रकार के साम्प्रदायिक मतभेद दृष्टिगोचर होते है, उसका आधार अपेक्षा, नयदृष्टि या विवक्षाभेद को न समझना ही है । गहराई के साथ नयदृष्टि को न समझने से कलह का बीजारोपण होता है । अतएव निष्पक्षभाव से, शुद्ध बुद्धि से आगम के अर्थ को इस प्रकार समझना चाहिए जिससे लौकिक और पारलौकिक कल्याण हो ।

---

[७७]

सुधासिंचन

धर्म और धर्म साधना के सम्बन्ध मे साधारण लोगो मे अनेक प्रकार की भ्रमपूर्ण धारणाए फैली हुई है । बहुतो की समझ है कि धर्मस्थान मे जाकर अपनी परम्परा के अनुकूल अमुक विधि विधान या क्रिया कर लेने मात्र से धर्म साधना की इति श्री हो जाती है । अधिकाश लोग ऐसा ही करते है और अपने मन को सन्तुष्ट कर लेते है । इनकी समझ के अनुसार धर्मस्थान से बाहर के व्यवहार के साथ धर्म का कोई सम्बन्ध नही । गार्हस्थिक व्यवहार और व्यापार मे धर्म का कोई स्थान नही है ।

ज्ञानी जनो का कथन है कि इस प्रकार की धारणा बहुत ही भ्रमपूर्ण है । धर्म साधना जीवन के प्रत्येक व्यवहार का विषय है । जिसके चित्त मे धर्म की महत्ता समा गई है जिसके रोम रोम म धर्म व्याप गया है और जिसने धर्म को परम मगलकारी समझ लिया है वह क्षण भर के लिए भी धर्म को विस्मृत नही करेगा । उसके समस्त लौकिक कहलाने वाले कार्यो मे भी धर्म का पुट रहेगा ही । जब वह व्यापार करेगा तो भावताव करने म असत्य का प्रयोग नही करेगा । अबोध बालक को भी ठगने का प्रयत्न नही करेगा । अच्छी वस्तु दिखला कर खराब नही देगा । किसी भी वस्तु मे भेल सेल नही करेगा । कम नापने-तोलने म पाप समझेगा । विवाह करेगा तो उसका उद्देश्य भोग विलास की स्वच्छन्दता प्राप्त करना नही होगा वरन् अपने जीवन को मर्यादित करना होगा । पर स्त्रिया को माता बहिन समझकर बर्ताव करना होगा । इस प्रकार सभी कार्यो मे उसका दृष्टिकोण धर्मयुक्त होगा ।

ऐसा धार्मिक व्यक्ति धर्मस्थान मे अवश्य जाएगा और वहा विशिष्ट साधना भी करेगा मगर यही सोचेगा कि धर्मस्थान मे प्राप्त की हुइ प्रेरणा मेरे जीवन व्यवहार म काम आनी चाहिए । अगर जीवन क व्यवहार अधर्ममय बने रह तो धर्मस्थान म ली हुई शिक्षा किस काम की ? वह शिक्षा जीवन म ओत-प्रोत हो जानी चाहिए ।

अद्येव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पद न धीरा. ।।

पद्य मे इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है–

कोई बुरा कहो या अच्छा,
लक्ष्मी आवे या जावे ।

लाखो वर्षो तक जीऊ या,
मृत्यु आज ही आ जावे ।

अथवा कोई कैसा भी भय,
या लालच देने आवे ।

तो भी न्यायमार्ग से मेरा,
कभी न पद डिगने पावे ।।

व्रत साधना मरणसुधार की सुदृढ़ भूमिका है, क्योंकि व्रत साधना के लिए पर्याप्त समय मिलता है । मरण के समय के क्षण थोड़े होते है । अतएव उस समय प्रायः पूर्वकालिक साधना के सस्कार ही काम आते है । अतएव साधक को अपने व्रती जीवन मे विशेष सावधान रहना चाहिए ।

इन पाच अतिचारो की वृत्तिया जीवन मे एव व्रताराधना मे मलिनता न उत्पन्न होने दे तो साधक महान् कल्याण का भागी होता है । एक बार की मृत्यु बिगाड़ने से जन्म-जन्मान्तर बिगड़ जाता है और मृत्यु सुधारने से मोक्ष का द्वार खुल जाता है। छात्र वर्ष भर मेहनत करके भी यदि परीक्षा के समय प्रमाद कर जाय और सावधान न रहे तो उसका सारा वर्ष बिगड़ जाता है । मरण के समय प्रमाद करने से इससे भी बहुत अधिक हानि उठानी पड़ती है । इसी कारण भगवान् ने पांच दोषो से बचने की प्रेरणा की है ।

व्रतो के समस्त अतिचारो से बचने वाला व्रती गृहस्थ भी अपने जीवन को निर्मल बना सकता है । अतएव जो शाश्वतिक सुख के अभिलाषी है उन्हे निरतिचार व्रत पालन के लिए ही सचेष्ट रहना चाहिए ।

बारह व्रतो और उनके अतिचारो को श्रवण कर आनन्द ने प्रभु की साक्षी से व्रतो को ग्रहण करने का सकल्प किया । व्रतो का पालन तो यो भी किया जा सकता है तथापि देव या गुरु के समक्ष यथाविधि सकल्प प्रकट करना ही उचित है । ऐसा करने से सकल्प मे दृढता आती है और अन्तःकरण के किसी कोने मे कुछ

दुर्बलता छिपी हो तो वह भी दूर हा जाती है । किसी नाजुक प्रसग क आने पर भी उस सकल्प से विचलित न हाने मे सहायता मिलती है । अपने मन मे ही व्रत पालन का विचार कर लेने से वह दृढता नही उत्पन्न होती और समय पर विचलित होने की समावना बनी रहती है । अतएव जो भी व्रत अगाकार किया जाय उसे गुरु की साक्षी से ग्रहण करना ही श्रेयस्कर हे । कदाचित् एसा योग न हो तो भी धर्मनिष्ठ बन्धुओ के समक्ष अपने सकल्प को प्रकट कर देना चाहिय ।

आनन्द सोचता है कि मै अत्यन्त सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे साक्षात् जिनेन्द्र देव तीर्थंकर के चरणो मे अपने जीवनोत्थान एव आत्मकल्याण के लिए व्रतग्रहण का सुअवसर प्राप्त हो सका । यह साच कर उसे अपूर्व प्रमोद हुआ । उसन निश्चय किया कि मै अपने इस प्रमोद को अपने तक ही सीमित नही रखूगा । मै अपने मित्रो और बन्धुजनो को भी इस आनन्द का भागी बनाऊगा । मै उनके जीवन को भी सफल बनाने मे सहायक बनूगा ।

साधक स्वय ग्रहणीय बातो को गुरुजनो से ग्रहण करके दूसरो मे प्रचारित करता है । उसे वह धर्म की सच्ची प्रभावना मानता है । सच्चा साधक उन बातो का सरक्षण और सवर्द्धन करता है । यदि साधक सद्विचारो को अपने तक ही सीमित रखता है और उन्हे प्रचारित नही करता तो वे विचार वृद्धि नही पाते । भारत की अनेक विद्याए और औषधियाँ इसी कजूसी के फलस्वरूप नष्ट हो गईं और हो रही है।

धर्म सीमित और अधर्म विस्तृत हो जाता है तो वासना का दौर शुरु होता है । वासना सहज प्रवृत्ति है । मनुस्मृति मे कहा है-

प्रवृत्तिरेषा भूताना निवृत्तिस्तु महाफला ।

प्रवृत्ति प्रत्येक प्राणी के लिए सहज बना हुई है बच्चो को खुराक चबाने की कला नही सिखलानी पडती । भूख मिटाने के लिए खाना चाहिए, इस उपदेश की आवश्यकता नही होती । बच्चे नौजवान होकर उदर-पूर्ति के साधन आवश्यकता होने पर जुटा लेते हे । नौजवानो को सुन्दर वस्त्र पहनने की शिक्षा नही दी जाती। ये सब बात देखादेखी आप ही सीख ली जाती हे ।

सद्विचारो एव धर्म को सुरक्षित रखने के लिए तथा देश का सस्कृति की रक्षा करने के लिए शस्त्रधारी सैनिको स काम नहीं चलता । इसके लिए शास्त्रधारी सैनिक चाहिए । सन्त महन्तो के नेतृत्व मे शास्त्रधारी सैनिक देश की पवित्र सस्कृति की रक्षा करते थे । सन्तो को सदा चिन्ता रहती थी कि हमारा

आध्यात्मिक सस्कृति अक्षुण्ण बनी रहे और उसमे अपावनता का सम्मिश्रण न होने पावे जिससे मानव सहज ही जीवन के उच्च्य आदर्शो तक पहुँच सके ।

सम्भूतिविजय का प्रयास था कि शास्त्रधारी सैनिको की शक्ति कम न होने पावे । उनका प्रयास बहुत अशो मे सफल हुआ । सर्वाश मे नही । स्थूलभद्रजी की स्खलना ने उसमे बाधा डाल दी । सघ के अधिक आग्रह पर शेष चार पूर्वो को सूत्र रूप मे देना ही उन्होने स्वीकार किया । स्थूलभद्र स्वय इस विषय में कुछ अधिक नही कह सकते थे । उनकी स्खलना इतना विषम रूप धारण कर लेगी, इसकी उन्हे लेश मात्र भी कल्पना नही थी । इस विषम रूप को सामने आया देखकर उन्हे हार्दिक वेदना हुई, पश्चात्ताप हुआ । ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि ज्ञानवान् साधक से जब भूल हो जाती है तो वह जल्दी उसे भूल नही सकता ।

जैन शास्त्र मे जाति शब्द का वह अर्थ नही लिया जाता जो आजकल लोक प्रचलित है । प्रचलित अर्थ तो अर्वाचीन है । शास्त्रो मे मातृपक्ष को जाति और पितृ पक्ष को कुल कहा गया है–

मातृपक्षो जाति; पितृ पक्षः कुलम् ।

जिसकी सात पीढ़िया निर्मल रही हो वह कुलीन कहलाता था । जिस पुत्र का मातृ वश और पितृ वश निर्मल होगा वह कुलीन और जातिमान् कहलाएगा । किसी बालक मे कोई दुर्गुण दिख पड़े तो उसके पितृ वश के इतिहास की खोज करनी चाहिए । पता चल जाएगा कि उसके किसी पूर्वज मे यह दोष अवश्य रहा होगा ।

महागगा की धारा को मोड़ना जैसे शक्य नही, उसी प्रकार भद्रबाहु की विचारधारा को मोड़ना भी शक्य नही था । उन्होने स्थूलभद्र को चौदह पूर्व सिखा दिये किन्तु उन्हे यह आदेश भी दे दिया कि आगे चौदह पूर्व किसी को न सिखाना।

सिद्धसेन एक बड़े विद्वान व्यक्ति थे । उनका कहना था कि मेरे मुकाबिले का कोई विद्वान् मिले तो उसके साथ शास्त्रार्थ करूं ; किन्तु कोई उनका सामना करने को तैयार नही होता था । उनकी विद्वता की दुदुभि बजने लगी । कहते है–उन्होने अपने पेट पर पट्टा बाध रखा था । कोई पट्टा बाधने का कारण पूछता तो वे कहते–"पट्टा न बाधू तो विद्या की अधिकता के कारण पेट फट जाएगा ।"

उसी समय वृद्धवादी नामक एक जैन विद्वान थे । किसी ने सिद्धसेन से पूछा–"क्या आपने कभी वृद्धवादी से चर्चा की है ?" सिद्धसेन बोले–"बूढ़े बैल की मेरे सामने क्या बिसात है । फिर भी देख लूगा ।"

सिद्धसेन एक बार वृद्धवादी के पास पहुँचे । उन्होंने कहा—मैं उपदेश सुनने नहीं वाद करने के लिए आया हूँ । आचार्य वृद्धवादी ने उन्हें ऊपर से नीचे तक देखा और अध्ययन करके कहा— वाद करना स्वीकार है परन्तु मध्यस्थ चाहिए जो वाद के परिणाम (जय पराजय) का निर्णय करे ।

जंगल में दोनों विद्वानों की मुलाकात हुई थी । वहाँ इन दो महारथियों के वाद का निर्णय करने योग्य मध्यस्थ विद्वान कहाँ मिलता ? आखिर एक ग्वाला मिल गया और उसे ही निर्णायक बनाया गया । व्याकरण ज्योतिष, वेदान्त द्वैताद्वैत की बात चली । वृद्धवादी अतिशय विद्वान होने के साथ अत्यन्त लोक व्यवहार निपुण भी थे । उन्होंने लोकभाषा में संगीत सुनाया और सभी उपस्थित ग्वाले प्रसन्न हो गए । निर्णायक ग्वाले को भी प्रसन्नता हुई । उसने वाद का निर्णय कर दिया—आचार्य वृद्धवादी विजयी हुए ।

भड़ौच की राजसभा में वृद्धवादी ने सिद्धसेन को पुन. पराजित किया । सिद्धसेन वृद्धवादी के शिष्य बन गए ।

सिद्धसेन अपने समय के प्रभावशाली विद्वान थे । विक्रमादित्य ने उन्हें अपना राजपुरोहित बनाया । सिद्धसेन की विद्वता से सन्तुष्ट होकर विक्रमादित्य ने उनसे यथेष्ट वर मांगने को कहा । मगर त्यागी सिद्धसेन को अपने लिए कुछ मांगना नहीं था । उन्हें कोई अभिलाषा नहीं थी । अतएव उन्होंने प्रजा को ऋणमुक्त करने का वर मांगा ।

राजपुरोहित होने के नाते सिद्धसेन पालकी में आने-जाने लगे । वृद्धवादी को जब यह समाचार मिला तो उन्होंने सिद्धसेन को सही राह पर लाने का विचार किया। राजसी भोग भोगना साधु के लिए उचित नहीं है । इससे संयम दूषित हो जाता है। एक दिन वृद्धवादी छिप रूप में भारवाहक के रूप में वहाँ पहुँचे । जब सिद्धसेन पालकी में सवार हुए तो वृद्धवादी भी पालकी के उठाने वालों में सम्मिलित हो गए । सिद्धसेन उन्हें पहचान नहीं सके मगर उनकी वृद्धावस्था देख कर सहानुभूति प्रकट करते हुए बोले ।

भूरिभार भराक्रान्तः स्कन्धः किं बाधति तव ?

अर्थात् अधिक भार के कारण क्या कन्धा दुख रहा है ? सिद्धसेन के भाषा प्रयोग में व्याकरण सम्बन्धी एक भूल थी । वृद्धवादी को वह बुरी तरह चुभी और उन्होंने झट उत्तर दिया— भार के कारण कन्धा उतना नहीं दुख रहा जितना 'बाधते' के बदले तुम्हारा 'बाधति' प्रयोग हृदय में दुख रहा है ।

सिद्धसेन यह उत्तर सुन कर चौक उठे । उन्होंने सोचा—"मेरी भूल मेरे गुरुजी के सिवाय और कौन बतला सकता है । हो न हो, भारवाहक के रूप मे ये मेरे गुरुजी ही है ।"

सचमुच वे सिद्धसेन के गुरु ही थे । उन्होंने प्रकट होकर उन्हे उपदेश दिया—"हम साधुओ का यह कर्त्तव्य नही है कि पालकी की सवारी करे और विलासमय जीवन व्यतीत करे । जिसे ऐसा जीवन बिताना है वह साधु का वेष धारण करके साधुता की महिमा को क्यो मलिन करे ?"

गुरु का उपदेश सुनते ही सिद्धसेन प्रतिबुद्ध हो गए । विद्वान को इशारा ही पर्याप्त होता है । ज्ञानवान् पुरुष कर्मोदय से कदाचित् गड़बड़ा जाय तो भी ज्ञान की लगाम रहने से शीघ्र सुधर जाता है । इसी कारण ज्ञान की विशेष महिमा है । सूर्य के प्रखर आलोक मे जिसे सन्मार्ग दृष्टिगोचर हो रहा हो, वह कुपथ मे जाकर भी शीघ्र लौट आता है, परन्तु अमावस्या की घोर अन्धकारमयी रात्रि मे, सुपथ पर आना चाहकर भी आना कठिन होता है । यही बात ज्ञानी और अज्ञानी के विषय मे समझनी चाहिए । अज्ञान मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है । अज्ञान के कारण मानव अपना शारीरिक और कौटुम्बिक दुःख बढ़ा लेता है । मगर ज्ञान भी वही श्रेयस्कर होता है जो सम्यक् श्रद्धा से युक्त होता है । वह ज्ञान, जो श्रद्धा का रूप धारण नही करता, टिक नही सकता । कदाचित् टिका रहे तो भी विशेष उपयोगी नही होता। कभी-कभी तो श्रद्धाहीन ज्ञान अज्ञान से भी अधिक अहितकर सिद्ध होता है । इसी दृष्टि से कहा जाता है कि कुज्ञान से अज्ञान भला । अज्ञानी अपना ही अहित करता है परन्तु श्रद्धाहीन कुज्ञानी अपने कुतर्कों के बल से सैकड़ो, हजारों और लाखो को गलत राह पर ले जा कर उनका अहित कर सकता है । धर्म के नाम पर नाना प्रकार के मिथ्या मतो के जो प्रवर्तक हुए है, वे इसी श्रेणी के थे, जिन्होने अज्ञ जनो को कुमार्ग पर प्रेरित किया । अतएव वही ज्ञान कल्याणकारी है जो सम्यक् श्रद्धा से युक्त होता है । श्रद्धासम्पन्न ज्ञान की महिमा अपार है मगर उसका पूरा लाभ तभी प्राप्त होता है जब ज्ञान के अनुसार आचरण भी किया जाय । चारित्र गुण के विकास के अभाव मे ज्ञान सफल नही होता ।

जो मनुष्य ज्ञानोपासना मे निरत रहता है, वह अपने सस्कारो मे मानो अमृत का सिचन करता है । अपनी भावी पीढ़ियो के सुसस्कारो का बीजारोपण करता है । उसका इस लोक और परलोक मे परम कल्याण होता है ।

---

[७८]

विराट जैन दर्शन

आचारांग सूत्र में अत्यन्त गम्भीरता और स्पष्टता के साथ साधक की जीवनचर्या का चित्रण किया गया है। उसमें आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की चर्चाएँ अत्यन्त भावपूर्ण शैली में निरूपित की गई हैं। पहले बतलाया जा चुका है कि सदाचार का मूल आधार अहिंसा है। अहिंसा आचार का प्राणतत्व है। जहां अहिंसा है वहां सदाचार है और जहां अहिंसा नहीं वहां सदाचार नहीं।

आचारांग में दर्शाया गया है कि जीवों के प्रति अमैत्री भाव तथा अनात्म बुद्धि आत्मा को भारी बनाने वाली चीज है। हिंसक जब अन्य जीवों का हनन करता है तो अपनी भी हिंसा करता है। पर हिंसा के निमित्त से आत्महिंसा अवश्य होती है। अगर आप गहराई से सोचेंगे तो समझ जायेंगे।

भगवान् महावीर ने कहा है–'हे मानव! संसार के सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। अतएव किसी जीव पर कुठाराघात करना अपने ही ऊपर कुठाराघात करना है। अपनी आत्मा में कषाय का भाव जागृत करने से क्या आत्महिंसा नहीं हो सकती है? अतएव सभी प्राणियों को आत्मवत् समझना चाहिये।'

संसार के विविध व्यापार एवं आरम्भ-समारम्भ करने वाला पूरी तरह हिंसा से नहीं बच सकता, तथापि दृष्टि को शुद्ध रखना चाहिए। दृष्टि को शुद्ध रखने का आशय यह है कि पाप को पाप समझना चाहिए–हिंसा को हिंसा मानना चाहिए और उससे बचने की भावना रखनी चाहिए।

आज की स्थिति में कोई विरला ही होगा जिसके मस्तक पर ऋण का भार न हो। यद्यपि ऋण के भार को कोई अच्छा नहीं समझता फिर भी परिस्थिति विवश करती है और ऋण लेना पड़ता है। अगर कोई ऋण को बुरा नहीं समझता तो

[illegible]

[illegible]

[illegible] ऐसा [illegible]

आनन्द इसी प्रकार [illegible] महावीर की सेवा में उपस्थित होकर [illegible] आकार किए। उसने भगवान् [illegible] अनुमोदना करने में ही [illegible], वरन् अपनी [illegible] के अनुसार [illegible] आचरण भी किया। [illegible] जाय तो पाप का भार कैसे कम होगा? कर्मबन्ध कैसे ढीला होगा? उसने व्रत ग्रहण करके भगवान् के प्रति अपनी गाढ़ी निष्ठा प्रकट की।

आराध्य देव और अपने गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा होनी चाहिए। यदि आराध्य देव के प्रति श्रद्धा न हुई तो वह पापों का त्याग नहीं कर सकेगा। अलबत्ता मनुष्य को अपने निर्मल विवेक से देव और गुरु के वास्तविक स्वरूप को समझ लेना चाहिए और निश्चय कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् अपने आध्यात्मिक जीवन की नौका उनके हाथों मे सौंप देनी चाहिये। ऐसा किये बिना कम से कम प्रारम्भिक दशा में तो काम नहीं चल सकता। गुरु मार्ग प्रदर्शक है। जिसने मुक्ति के मार्ग को जान लिया है, जो उस मार्ग पर चल चुका है, उस मार्ग की कठिनाइयों से परिचित है, उसकी सहायता लेकर चलने वाला नवीन साधक सरलता से अपनी यात्रा मे आगे बढ़ सकता है। वह अनेक प्रकार की बाधाओं से बच सकता है और सही मार्ग पर चल कर अपनी मंजिल तक पहुँच सकता है।

आनन्द अत्यन्त भाग्यवान था। उसे साक्षात् भगवान् ही गुरु के रूप मे प्राप्त हुए थे। वह कहता है—"मैंने समझ लिया है कि देव कौन है? जिन्हे परिपूर्ण ज्ञान और वीतरागता प्राप्त है, जो समस्त आन्तरिक विकारो से मुक्त हो चुके है, जो

अपने निर्मल स्वरूप को प्राप्त कर परम-ब्रह्म परमात्मा बन गए है वे ही मेरे लिए आराध्य है ।'

पतिव्रता नारी जिसे वरण कर लेती है आजीवन उसके प्रति पूर्ण निष्ठा रखती है । वह अन्य पुरुष की कामना नही करती है । पति के प्रति निष्ठा न रखने वाली नारी कुशीला कहलाती है । साधक भी परीक्षा करने के पश्चात् सर्वज्ञ एव वीतराग देव को अपने आराध्य देव के रूप मे वरण कर लेता है और फिर उनके प्रति अनन्य निष्ठा रखता है । उसकी निष्ठा इतनी प्रगाढ होती है कि देवता और दानव भी उसे विचलित नही कर सकते ।

जो वीतराग मार्ग का आराधक है जो अनेकान्त दृष्टि का ज्ञाता है और आरम्भ परिग्रहवान नही है उसकी श्रद्धा पक्की ही होगी । साधक को सौ टच के सोने के समान खरा ही रहना चाहिये ।

केशी श्रमण का वेष अलग प्रकार का था और गौतम गणधर का अलग तरह का । प्रश्न खडा हुआ-दोनो का उद्देश्य एक है मार्ग भी एक है फिर यह भिन्नता क्यो है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए दोनो महामुनि परस्पर मिले । दोना मे वार्तालाप हुआ । उसी समय गौतमस्वामी ने स्पष्टीकरण किया-' लिग अर्थात् वेष को देखकर अन्यथा सोच विचार नही करना चाहिये । द्रव्यलिग का प्रयोजन लौकिक है । वह पहचान की सरलता के लिये है । कदाचित् द्रव्यलिग अन्य का हो किन्तु भावलिग अर्हदुपदिष्ट हो तो भी साधक मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

देव गुरु और धर्म का स्वरुप बतलाते हुए कहा है-

सो धम्मो जत्थ दया दसट्ठदोसा न जस्स सो देवो ।
सो हु गुरु जो नाणी आरम्भ परिग्गहा विरओ ।।

अर्थात्-जहा दया है वहा धर्म है । जिसमे दया का विधान नही है वह पन्थ सम्प्रदाय या मार्ग धर्म कहलाने योग्य नही । कबीरदास भी कहते है-

जहाँ दया तह धर्म है जहा लोभ तहा पाप ।
जहा क्रोध तहा ताप है जहा क्षिमा तहा आप ।।

आराध्य देव का क्या स्वरूप है ? इसका उत्तर यह है कि जिसम अठारह दोष न हो वह देव पदवी का अधिकारी है । अठारह दोष इस प्रकार है-(१) मिथ्यात्व (२) अज्ञान (३) मद (४) क्रोध (५) माया (६) लोभ (७) रति (८) अरति (९) निद्रा (१०) शोक (११) असत्य भाषण (१२) चौर्य (१३) मत्सर्य (१४) भय

(१५) हिसा (१६) प्रेम (१७) क्रीड़ा और (१८) हास्य । इन दोषो का अभाव हो जाने से आत्मिक गुणो का आविर्भाव हो जाता है । अतएव जिस आत्मा मे पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वीतरागता प्रकट हो गए हो, उसे ही देव कहते है । आदिनाथ, महावीर, राम, महापद्म आदि नाम कुछ भी हो, उनके गुणो मे अन्तर नही होता । नाम तो सकेत के रूप मे है । अठारह दोष दूसरी तरह से—१. अज्ञान, २. निद्रा ३—७ दानादि पाच अन्तराय ८ मिथ्यात्व ९, अव्रत १०. राग, ११. द्वेष १२. हास्य १३. रति १४. अरति १५. भय १६. शोक १७. जुगुप्सा १८. वेद (काम) इस प्रकार है । असल मे तो गुण ही वन्दनीय है । जिसमे पूर्वोक्त दोषो के आत्यन्तिक क्षय से सर्वज्ञता एव वीतरागता का पूर्ण विकास हो गया है, उसका नाम कुछ भी हो, देव के रूप में वह वन्दनीय है ।

गुरु वह है जिसने विशिष्ट तत्त्व ज्ञान प्राप्त किया हो और जो आरम्भ तथा परिग्रह से सर्वथा विरत हो गया हो । पापयुक्त कार्य-कलाप 'आरम्भ' कहलाता है और वाह्य पदार्थों का सग्रह एव तज्जनित ममता को 'परिग्रह' कहते है । जिसे आत्मतत्त्व का समीचीन ज्ञान नही है, उसे शोधन करने की साधना का ज्ञान नही है, जो ससार की झझटो से ऊब कर या किसी के वहकावे मे आकर या क्षणिक भावुकता के वशीभूत होकर घर छोड़ वैठा है, वह गुरु नही है ।

यो तो ज्ञान अनन्त है, किन्तु गुरु कहलाने के लिए कम से कम इतना तो जानना चाहिए कि आत्मा का शुद्ध स्वरूप क्या है ? आत्मा किन कारणो से कर्म वद्ध होती है ? वन्ध से छुटकारा पाने का उपाय क्या है । धर्म-अधर्म, हिसा-अहिसा एव हेय उपादेय क्या है ? जिसने जड़ और चेतन के पार्थक्य को पहचान लिया है, पुण्य-पाप के भेद को जान लिया है और कृत्य-अकृत्य को समझ लिया है, वह गुरु कहलाने के योग्य है वशर्ते कि उसका व्यवहार उसके ज्ञान के अनुसार हो :—अर्थात् जिसने समस्त हिसाकारी कार्यो से निवृत्त होकर मोह-माया को तिलाजलि दे दी हो । जो ज्ञानी होकर भी आरम्भ-परिग्रह का त्यागी नही है वह सन्त नही है ।

अंबड़ नामक एक तापस था । वह सात सौ तापसो का नायक था । गेरुआ वस्त्र पहनता था । वह भगवान् महावीर के सम्पर्क में आया । उसने वस्तुतत्त्व को समझ लिया । उसका कहना था—जव तक मै पूर्ण त्यागी न वन जाऊँ तव तक दुनिया से वन्दन करवाने योग्य नही हूँ । कम करूँ और अधिक दिखलाऊँ तो क्या लाभ ? ऐसा करने से तो आत्मा का पतन होता है । वह कन्द मूल फल खाता था, किन्तु उसमें हिसा है ऐसा भी समझता था । वह मानता था कि कन्दमूल फल भक्षण मे हिसा अवश्य है । अवड़ जल से दो वार स्नान करता था, मगर

उसने जल की मर्यादा करली थी । अदत्तादान का ऐसा त्यागी था कि दूसरे के दिये बिना पानी भी ग्रहण नही करता था ।

एक बार वह कही जा रहा था । सभी शिष्य उसके साथ थे । रास्ते मे प्यास लगी । मार्ग मे नदी भी मिली किन्तु जल ग्रहण करने की अनुज्ञा देने वाला कोई नही था । प्यास के मारे कठ सूख गया प्राण जाने का अवसर आ पहुँचा, फिर भी अदत्त जल ग्रहण नही किया । वह दुर्बल मनोवृत्ति का नही था । यद्यपि कहा जाता है आपात्काले मर्यादा नास्ति' अर्थात् विपदा आने पर मर्यादा भग कर दी जाती है, परन्तु उसने इस छूट का लाभ नही लिया । अन्त मे अनशन धारण करके समाधिमरणपूर्वक प्राण त्याग दिये किन्तु प्रण का परित्याग नही किया । ऐसी दृढ मनोवृत्ति होनी चाहिए साधक की ।

साधना यदि देशविरति की है और उसे सर्वविरति की मानी जाय तो यह दृष्टिदोष है । जो ज्ञानी हो और आरम्भ तथा परिग्रह से विरत हो उसे गुरु बनाना चाहिए । साधना के मार्ग मे आगे बढने के लिए साधक के हृदय मे श्रद्धा की दृढता तो चाहिए ही गुरु का पथ प्रदर्शन भी आवश्यक है । गुरु के अभाव मे अनेक प्रकार की भ्रमणाएँ घर कर सकती है जिनसे साधना अवरुद्ध हो जाती है और कभी कभी विपरीत दिशा पकड लेती है ।

जा व्यक्ति आनन्द की तरह व्रता को ग्रहण करता है उसकी मानसिक दुर्बलता दूर हो जाती है और वस्तु के सही रूप को समझने की कमजोरी भी निकल जाती है ।

जैन सिद्धान्त की दृष्टि अत्यन्त व्यापक है । उसके उपदेष्टाआ की दृष्टि दिव्य थी, लोकोत्तर थी । अतएव सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी भी उनकी दृष्टि से ओझल नही रह सके । उन्होंने अपने अनुयायियो को 'सत्त्वेषु मैत्रीम्' अर्थात् प्रत्येक प्राणी पर मैत्रीभाव रखने का आदेश दिया है और प्राणियो मे त्रस तथा स्थावर जीवो की गणना की है । स्थावर जीवा मे पृथ्वीकायिक जलकायिक और वनस्पतिकायिक आदि वे जीव भी परिगणित है जिन्हे अन्य धर्मों के उपदेष्टा अपनी स्थूल दृष्टि के कारण जीव ही नही समझ सके । विनान का आज बहुत विकास हा चुका है मगर जहा तक प्राणि शास्त्र का सम्बन्ध है, जैन दर्शन आज के तथाकथित विज्ञान से आज भी बहुत आगे है । जैन महर्षि अपनी दिव्य दृष्टि के कारण जिस गहराइ तक पहुँचे हुए हैं विज्ञान को वहाँ तक पहुँचने म अगर कुछ शताब्दिया और लग [illegible] ना भी

वनस्पतिकायिक जीवो को समझ पाया है, चार प्रकार के शेष स्थावर-जीवों को समझना अभी शेष है।

परमाणु आदि अनेक जड़ पदार्थों के विषय मे भी जैन साहित्य मे ऐसी प्ररूपणाएँ उपलब्ध है जिन्हे आज वैज्ञानिक मान्यताओ से भी आगे की कहा जा सकता है । किन्तु इसके सम्वन्ध मे यहा विवेचन करना प्रासंगिक नही ।

हाँ, तो जैनागम की दृष्टि से जीवो का दायरा वहुत विशाल है । उन सव के प्रति मैत्री भावना रखने का जैनागम मे विधान किया गया है । जिसकी मैत्री की परिधि प्राणि मात्र हो उसमे सकीर्णता नही आ सकती । चाहे कोई निकटवर्ती हो अथवा दूरवर्ती सभी को अहित से वचाने की वात सोचना है । उसमे किसी प्रकार का भेदभाव नही करना है । किन्तु इसका अर्थ यह भी नही समझना चाहिए कि किसी प्रकार के अनुचित साम्य को प्रश्रय दिया जाय । गुड़ और गोवर को एक-सा समझना समदर्शित्व नही है । जिनमे जो वास्तविक अन्तर हो, उसे तो स्वीकार करना ही चाहिए, मगर उस अन्तर के कारण राग-द्वेष नही करना चाहिए । विभिन्न मनुष्यो मे गुणधर्म के विकास की भिन्नता होती है, समभाव का यह तकाज़ा नही है कि उस वास्तविक भिन्नता को अस्वीकार कर दिया जाय । क्षयोपशम के भेद से प्राणियो मे ज्ञान की भिन्नता होती है । किसी मे मिथ्याज्ञान और किसी मे सम्यग्ज्ञान होता है । कोई सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है, कोई नही कर पाता । इस तथ्य को स्वीकार करना ही उचित है । सव औषधो को समान समझ कर किसी भी रोग मे किसी भी औषध का प्रयोग करने वाला वुद्धिमान नही गिना जाएगा । तात्पर्य यह है कि समभाव वही प्रशस्त है जो विवेकयुक्त हो । विवेकहीन समभाव की दृष्टि गलत दृष्टि है । वृद्धता के नाते सेवनीय दृष्टि से एक साधारण वृद्ध मे और वृद्ध माता-पिता मे अन्तर नही है, परन्तु उपकार की दृष्टि से अन्तर है । माता-पिता का जो महान् उपकार है उसके प्रति कृतज्ञता का विशिष्ट भाव रहता ही है । इसे राग-द्वेष का रूप नही कहा जा सकता । यही बात अपने वन्दनीय देव और अन्य देवो के सम्वन्ध मे भी समझनी चाहिए । दूसरो के प्रति द्वेष न रखते हुए अपने आराध्य देव के प्रति पूर्ण निष्ठा तथा श्रद्धा भक्ति रखी जा सकती है ।

आनन्द श्रावक ने इन सव बातो की जानकारी प्राप्त की । किन अपवादो से छूट रखनी है, यह भी उसने समझ लिया ।

साधु जगत् से निरपेक्ष होता है । किसी जाति, ग्राम या कुल के साथ उसका विशिष्ट सम्वन्ध नही रह जाता । साधना ही उसके सामने सब कुछ है । मगर गृहस्थ का मार्ग सापेक्ष है । उसे घर, परिवार, जाति, समाज आदि की अपेक्षा

रखनी पडती है । उसे व्यवहार निभाना होता है । उसका सम्बन्ध केवल श्रमणवर्ग, सघ और अपने भगवान्-आराध्य देव के साथ होता है । जनरजन के स्थान पर जिनरजन करना उसका लक्ष्य होता है । जिनरजन के मार्ग से गडवड्डाया कि उसके हृदय को वहुत क्षोभ होता है ।

कभी कभी जीवन मे एक दुविधा आ खडी होती है । हम दूसरे को राजी रखें अथवा उसका हित करे ? राजी रखने से उसका हित नही होता और हित करने जाते है तो वह नाराज होता है ? ऐसी स्थिति मे किसे प्रधानता देनी चाहिए ? जिसके अन्त करण म तीव्र करुणा भाव विद्यमान होगा एव अपना स्वार्थ साधन जिसके लिए प्रधान न होगा वह दूसरे को राजी करने के वदले उसके हित को ही मुख्यता देगा । हाँ जिसे दूसरे से अपना मतलव गाठना है वह उसके हित का ध्यान न करके भी उसे राजी करने का प्रयत्न करता है किन्तु जो निस्पृह है और लौकिक लाभ को तुच्छ समझता है वह ऐसा नही करेगा । आवश्यकता होने पर डॉक्टर कडवी दवा पिलाने मे सकोच नही करता । भले ही रोगी को वह अप्रिय लगे तथापि उसका हित उसी मे है ।

भद्रवाहु स्वामी के विषय मे यही घटित हुआ । वे सव को राजी नही रख सके । उन्होने हित की वात को ही प्रधानता दी । अन्य लोगो ने भी उनके निर्णय को स्वीकार किया । स्थूलभद्र चौदह पूर्वो के ज्ञाता हो गए । भद्रबाहु स्वामी ने स्थूलभद्र को चौदह पूर्वो के ज्ञाता के रूप मे तैयार किया । व्यावहारिक दृष्टि से वे वृहत्कल्प के रचयिता कहे जाते है । व्यवहार सून तथा दशाश्रुतस्कध की रचना भी उन्होने की ।

इतिहास अतीत के गहन अन्धकार म प्रकाश की किरण फेकने का प्रयास करता है । इतिहास के विषय मे दुराग्रह को कतई स्थान नही होना चाहिए । आज जो सामग्री किसी विषय मे उपलब्ध है उसके आधार पर एक निष्कर्ष निकाला जाता है । कालान्तर म अन्य पुष्ट प्रमाण मिलने पर वह निष्कर्ष वदल भी सकता है । विभिन्न ग्रन्थो मे मिलने वाले उल्लेख स्वतन्त्र कृतिया प्रशस्तिया शिलालेख, सिक्के आदि के आधार पर इतिहास की खोज की जाती है । इसके लिए वडे पुरुषार्थ की आवश्यकता है । जैन परम्परा का इतिहास साहित्य एव कला आदि सभी क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण है पर जैन समाज ने उस ओर पर्याप्त ध्यान नही दिया है ।

धर्मदासजी महाराज का जन्म अठारहवी शताब्दी मे मध्यप्रदेश म हुआ किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी कृतिया उपलब्ध नही है । उनके जन्मकाल का तथा माता पिता का निर्विवाद उल्लेख भी नही मिलता । उनकी कृतिया कहा दवी पडी है कहा नहा जा

सकता । जिनके पास हस्तलिखित ऐतिहासिक सामग्री हे उन्हे चाहिए कि वे उसे प्रकाश मे लावे और अन्वेषण कार्य को आगे वढ़ाने मे सहायक वनें ।

जव आधुनिक काल के सन्तो का भी हम प्रामाणिक परिचय प्राप्त नही कर पाये तो प्राचीनकाल के सन्तो का तथ्यपूर्ण इतिहास खोज पाना कितना कठिन हे, इस वात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

भद्रवाहु स्वामी आदि प्राचीनकालिक महर्षि हे । उनके सम्वन्ध मे पूर्ण प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत होना चाहिए । जहा तक भद्रवाहु का सम्वन्ध है, नि.सकोच कहा जा सकता हे कि शासन सेवा मे उनका योगदान असाधारण रहा है । स्थूलभद्र ने उत्कृष्ट सयमपालन का उज्ज्वल उदाहरण हमारे समक्ष प्रस्तुत किया । आचार्य सभूतिविजय के चरणो मे रहकर उन्होने अपूर्व काम विजय की । सिह का रूप धारण करने की एक वार भूल अवश्य हो गई किन्तु दूसरी वार कभी भूल नही की ।

भद्रवाहु के पश्चात् कोन उनका उत्तराधिकारी हो ? इस प्रश्न पर जव विचार हुआ तो स्वय भद्रबाहु ने कहा–"स्थूलभद्र ही उत्तराधिकार प्राप्त करने के लिए सवसे अधिक उपयुक्त है । उनसे वढ़कर कोई परमयोगी नही है ।" इस प्रकार भद्रबाहु के बाद स्थूलभद्र ही उनके उत्तराधिकारी हुए । उन्होने वड़ी योग्यता के साथ जिन शासन की सेवा की । यौगिक साधना के साथ श्रुत की भी साधना की ।

कहॉ राजसी जीवन वाला स्थूलभद्र और कहॉ परमकामविजेता स्थूलभद्र ! वह अपने महान् प्रयत्न से कहॉ से कहॉ पहुँच गए । मनुष्य जव पवित्र चित्त और दृढ़ सकल्प लेकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करता है तो सफलता उसके चरण चूमती है।

आज देश सकट मे से गुजर रहा हे । सकट भी साधारण नही हे । प्रत्येक देशवासी को यह सकट महसूस करना चाहिए और उससे किसी भी प्रकार का लाभ उठाने का प्रयत्न नही करना चाहिए । यह काल मुख्य रूप मे 'राष्ट्र धर्म' के पालन का है । देश की रक्षा पर हमारे धर्म, सस्कृति, साहित्य ओर शासन की रक्षा निर्भर है । अतएव इस ओर ध्यान रखकर शान्ति और धैर्य के साथ परिस्थिति का सामना करना योग्य है । सकट को दूर करने अथवा कम करने मे जो जिस प्रकार का योग दे सकता हो, उसे वह देना चाहिए । ऐसे प्रसंग पर मिष्टान्न आदि का सेवन न करना, अनावश्यक खर्च न करना एव विदेशी वस्तुओ का उपयोग न करना आवश्यक है । प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र के सकट के समय हर तरह से अधिक से अधिक त्याग और बलिदान करे और अपनी आवश्यकताओ को कम करके सयत जीवन बनाने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से अवश्य कल्याण होगा ।

---

[७९]

निमित्त-उपादान

जीवन को साधना मे लगाने के लिए निरन्तर प्ररणा की आवश्यकता होती है। वह प्रेरणा आन्तरिक और वाह्य दोनो प्रकार की होनी चाहिए । ससार मे जितने भी कार्य दृष्टिगोचर होते है, उनकी उत्पत्ति किसी भी एक कारण से नही होती दूसरे शब्दो मे यो कह सकते है कि कार्य का उत्पाद सामग्री से होता है । सामग्री का अर्थ है–उपादान एव विविध निमित्त कारणो की समग्रता । निमित्त के अभाव मे अकेले उपादान से कार्य नही होता और न उपादान के विना निमित्त कारण से ही कार्य का होना सभव है । साधना कार्य मे भी यही व्यापक नियम लागू होता है ।

वाह्य कारण भी प्राय अनायास नही मिलता फिर भी उसका मिलना आसान है । किन्तु वाह्य कारण के द्वारा यदि अतरग कारण न मिला तो साधक अपना जीवन सफल नही वना सकेगा ।

साधना के क्षेत्र म अनेक वाह्य कारण उपयोगी होते है । साधक की योग्यता रुचि वातावरण आदि पर यह अवलम्वित रहता है कि कौन सा कारण किसके लिए उपयोगी हो जाय । तथापि सत्सग वाह्य कारणो मे सबसे ऊँचा है । वीतराग के सत्सग का लाभ मिलना सौभाग्य की वात है, परन्तु वाह्य कारण ही सब कुछ नही है । वाह्य कारण के मिलने से सभी को लाभ हो जाएगा, ऐसी वात नही है। वाह्य कारण के साथ आन्तरिक कारण को भी जागृत करना अनिवार्य रूप से आवश्यक है ।

गृहस्थ आनन्द को वाहरी कारण मिला । परम प्रकृष्ट पुण्योदय से वह साक्षात् तीर्थंकर देव का सान्निध्य प्राप्त कर सका । उसका अन्तःकरण पहल से कुछ वना हुआ था और कुछ भगवान् महावीर ने तैयार कर दिया । भगवान् की देशना का उस पर गहरा प्रभाव पडा ।

अन्त.करण वस्तुत. भीतर की योग्यता है । उस योग्यता को चमकाने वाला बाह्य कारण है । आन्तरिक योग्यता के अभाव मे बाह्य कारण अकिंचित्कर होता है। यदि मिट्टी मे घर निर्माण करने की अर्थात् घटपर्याय के रूप मे परिणत होने की योग्यता नही है तो लीद, पानी, कुभकार, चाक आदि विद्यमान रहने पर भी घट नही बनेगा । कुभकार चाक को घुमा-घुमाकर हैरान हो जाएगा मगर उसे सफलता प्राप्त न होगी । चाक मे कोई दोष नही है, कुभकार के प्रयत्न मे भी कोई कमी नहीं है, मगर मिट्टी मे वह योग्यता नही है । आगरे के पास की मिट्टी से जैसा अच्छा घड़ा बनेगा, वैसा राजस्थान की मिट्टी से नही । यह नित्य देखी जाने वाली वस्तु का उदाहरण है ।

अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना आत्मा का मूल कार्य है । द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा सत्सग ओर स्वाध्याय निमित्त कारण है । इनसे आत्मा मे शक्ति आ जाती है ।

तार कमजोर हो गया था । वह गिरने वाला ही था कि उस पर कौवा बैठ गया । लोग कौवा को निमित्त कहने लगे । किन्तु तार मे यदि कच्चापन न होता तो कौवा क्या कर सकता था ? सूरदास तथा भक्त विल्वमगल को क्या वेश्या चिन्तामणि जगा सकी थी ? वास्तव मे वैराग्य की भूमिका उनके हृदय मे बन चुकी थी, रही-सही कमजोरी चिन्तामणि की उक्ति ने पूरी कर दी । सामान्यतः विल्वमगल और सूरदास के वैराग्य के लिए लोग चिन्तामणि को निमित्त मानते है परन्तु तथ्य यह है कि आत्मा मे यदि थोड़ी जागृति हो तो सामान्य निमित्त मिलने से भी पूरी जागृति उत्पन्न हो जाती है ।

प्रभु महावीर का निमित्त पाकर आनन्द का उपादान जागृत हो गया । जब साधक की मानसिक निष्ठा स्थिर हो जाती है तो वह अपने को व्रतादिक साधना मे स्थिर बना लेता है । किन्तु साधना के क्षेत्र मे देव और गुरु के प्रति श्रद्धा की परम आवश्यकता है । जिसको हम देव और गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहे, पहले उनकी परीक्षा कर ले । जो कसौटी पर खरा उतरे उससे अपने जीवन मे प्रेरणा ग्रहण करे । इसका अर्थ यह नही कि दूसरो के प्रति किसी प्रकार की द्वेष भावना रखी जाय । साधक भूतमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखता है परन्तु जहाँ तक वन्दनीय का प्रश्न है, जिसने अध्यात्ममार्ग मे जितनी उन्नति की है, उसी के अनुरूप वह वन्दनीय होगा । गुरु के रूप मे वही वन्दनीय होते है, जिन्होने सर्व आरभ और सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया हो और जिनके अन्तर में सयम की ज्योति प्रदीप्त हो। जिन्होने किसी भी पथ या परपरा के साधु का वाना पहना हो परन्तु जो सयमहीन हो वे वन्दनीय नही होते। जिसकी आत्मा मिथ्यात्व के मैल से मलिन है और

चित्त कामनाओ से आकुल है उसको सच्चा श्रावक वन्दनीय नही मान सकता। खाने पीने की सुविधा और मान सम्मान के लोभ से कई साधु का वेष धारण कर लेते है पर उतने मात्र से ही वे वन्दना के योग्य नही होते है ।

इसी प्रकार जिसमे अठारह दोष विद्यमान नही हे जो पूर्ण वीतराग निष्काम सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा है, वही देव के रूप म स्वीकरणीय वन्दनीय और महनीय है । जिनम राग द्वेष, काम आदि विकार मौजूद है वे आत्मार्थी साधक के लिए कैसे वन्दनीय हो सकते है ? राग द्वेष आदि विकार ही समस्त सकटा कष्टो और दु खो के मूल है । इन्हे नष्ट करने के लिए ही साधना की जाती है । ऐसी स्थिति मे साधना का आदर्श जिस व्यक्ति को बनाया गया हो और अगर वह स्वय इन विकारो से युक्त हो तो उससे हमारी साधना को कैसे प्रेरणा मिलेगी ?

कोई किसी मे देवत्व का आरोप भले करले कलम और तलवार की पूजा भले कर ली जाय परन्तु वे देव की पदवी नही पा सकते । यह पूजा तो कोरा व्यवहार है । अगर कोई व्यक्ति परम्परा या प्रवाह के कारण अथवा भय की भावना से देव की पूजा करता है ता उसकी समझ गलत है । हम जिस शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं उसे जिन्होंने प्राप्त कर लिया है जिस पथ पर हम चल रहे हैं उस पर चलकर जो मंजिल तक पहुँच चुके है व ही हमारे लिए अनुकरणीय है। हम उन्ही को आदर्श मानते ह और उन्ही के चरणचिन्हो पर चलते है । यही हमारी आदर्शपूजा समझो या देवपूजा समझ लो ।

ज्ञानबल के अभाव मे मानव तत्व को नही समझ पाता । बहुत लाग समझते है कि हमारे सुख दु ख का कारण दैवी कृपा या अकृपा हे । अर्थात् देव के रोष से दु ख और तोष से सुख होता है । पर इस समझ म भ्रान्ति है । यदि आपके पापकर्म का उदय नही है तो दूसरा कोई भी आपको दु खी नहीं बना सकता। सुख हो या दु ख उसका अन्तरग कारण ता हमारे भीतर ही विद्यमान रहता है ।

जहाँ बीज हाता है वही अकुर उगता है इस न्याय के अनुसार जिस आत्मा मे सुख दु ख की उत्पत्ति होती है, उसीमे उसका कारण होना चाहिए । इससे यही सिद्ध होता है कि अपना शुभाशुभ कर्म ही अपने सुख दुख का जनक है । आचार्य अमितगति कहते ह—

स्वय कृत कर्म यदात्मना पुरा, फल तदीय लभत शुभाशुभम् ।
परण दत्त यदि लभ्यत स्फुट स्वय कृत कर्म निरर्थक

अर्थात् आत्मा ने पूर्वकाल मे जो शुभ और अशुभ कर्म उपार्जित किये है, उन्ही का शुभ और अशुभ फल उसे प्राप्त होता है । अगर आत्मा दूसरे के द्वारा प्रदत्त फल को भोगने लगे तो उसके अपने किये कर्म निरर्थक-निष्फल हो जाएँगे ।

हे आत्मन् ! तू सब प्रकार की भ्रान्तियो को त्याग कर सत्य तत्व पर श्रद्धा कर । तुझे कोई भी दूसरा सुखी या दु.खी नही बना सकता । तू भ्रम के वशीभूत होकर पर को सुख-दु.खदाता समझता हे । इस भ्रम के कारण तेरी बहुत हानि होती है । जिसके निमित्त से सुख प्राप्त होता हे उसीको तू सुखदाता समझकर उस पर राग करता है और जिसके निमित्त से दु ख प्राप्त होता है उसे दु खदाता समझकर उस पर द्वेष धारण करता है । राग-द्वेष की इस भ्रमजनित परिणति से आत्मा मलिन होती है । इसके अतिरिक्त इससे चित्त को अशान्ति होती हे और अनेक प्रकार के अनर्थ भी उत्पन्न होते है । तू दूसरो को अपना शत्रु मान कर उनसे बदला लेने का प्रयत्न करता है । इससे आत्मा मे अशुद्धि की एक लम्बी परम्परा चल पड़ती है ।

इसके विपरीत, जिसने इस सचाई को समझ लिया हे कि आत्मा स्वय ही अपने सुख-दु ख का निर्माता है, वह घोर से घोर दु.ख का प्रसग उपस्थित होने पर भी, अपने आपको ही उसका कारण समझ कर समभाव धारण करता है और उसके लिए किसी दूसरे को उत्तरदायी नही ठहराता । आगम मे भी स्पष्ट कहा गया है–

अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।। (उत्तराध्ययन, अ. २०, गाथा ३७)

आत्मा ही अपने सुख-दु.ख का कर्त्ता और हर्त्ता है और आत्मा ही अपनी मित्र व शत्रु है ।

तात्पर्य यह है कि यदि पापकर्म का उदय न हो तो दूसरा कोई भी आपको कष्ट नही दे सकता, अतएव बहिर्दृष्टि को त्याग कर अन्तर्दृष्टि को अपनाओ और बाह्य निमित्त को ही सब कुछ न समझो ।

आधी के समय साधारण फूस से आख जाते-जाते बचती है तो फूस को देवता नही माना जा सकता ।

सरागी देवो का असम्मान नही करना है, परन्तु उनसे मागना भी नही है । देवाधिदेव के चरणो मे वन्दन किया जाय तो देवो का प्रसन्न हो जाना सामान्य बात है । सरागी देवो को वन्दन, नमन, उनसे आलाप, सलाप, आदान और प्रदान, ये छह बाते नही करनी चाहिए ।

श्रमणोपासक आनन्द प्रभु महावीर के समक्ष कहता है– मै अपने जीवन म विशुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहता हूँ ।" दर्शन मे अशुद्धि होने से बुद्धि की वास्तविक निर्णायिका शक्ति समाप्त हो जाएगी । वह वन्दनीय और अवन्दनीय को क्या समझ सकेगा ? आनन्द चाहता है कि मेरी बुद्धि मे निर्णायक शक्ति और स्वरूप म निश्चलता आ जाए । वह बुद्धि की इस शक्ति पर पर्दा नही डालना चाहता ।

जिनका व्यवहार शुद्ध न हो जिनका आचार शुद्ध न हो, उनके साथ लेन देन करना व्रती श्रावक के लिए उचित नही है । व्यक्ति की योग्यता शील स्वभाव किन उपायो से वह द्रव्य उपार्जन करता है आदि की जाँच करके लेन देन किया जाना चाहिए । जो व्यवहार मे ऐसा ध्यान रखेगा वह आध्यात्मिक क्षेत्र मे क्या नही सजग रहेगा ?

परमात्मा की आराधना शान्ति प्राप्त करने के लिए की जाती है मन की आकुलता यदि बनी रही तो शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? गलत तरीके से आया धन मन को अशान्त बना देगा अतएव साधक अर्थार्जन के लिए किसी प्रकार का अनैतिक कार्य न करे । न्याय नीति से ही धनोपार्जन करना श्रावक का मूलभूत कर्त्तव्य है ।

साधक के लिए विचारो की शुद्धि और अपरिग्रह की वृद्धि अत्यन्त आवश्यक है । विचार शुद्धि से वह देव, गुरु, धर्म सबधी विवेक प्राप्त करेगा और उनके विषय मे निश्चल स्थिति प्राप्त कर लेगा । अपरिग्रह की भावना से हाथ लम्बे नही करेगा । जिसके व्यवहार मे ये दानो तत्त्व नही होगे जिसका व्यवहार बेढग तौर पर चलेगा वह शान्ति नही पाएगा ।

इतना सम्यग्ज्ञान आवश्यक होता है । अन्य ज्ञान की कमी हो तो काम चल सकता है, परन्तु जीवन बनाने का ज्ञान न हो तो जीवन सफल नही हो सकता। ज्ञेय विषय अनन्त है और एक-एक पदार्थ मे अनन्त-अनन्त गुण और पर्याय है । ज्ञान का पर्दा पूरी तरह हटे बिना उन सबको जानना सभव नही है । परन्तु हमे सर्वप्रथम जीवन की कला का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । उसे प्राप्त करने म अधिक समय नही लगता । अगर आपको जीवन के उत्तम कलाकार गुरु का सान्निध्य मिल गया तो उसे पाने म विशेष कठिनाई भी नही होती । बस, भीतर जिज्ञासा गहरी होनी चाहिए । जीवन की कला का ज्ञान प्रयोजन भूत ज्ञान है और उसे पा लिया तो सभी कुछ पा लिया । जिसने उसे नहीं पाया उसने और सब पा लेने पर भी कुछ भी नही पाया ।

जीवन-कला का ज्ञान न होता तो स्थूलभद्र काम पर विजय प्राप्त करके वेश्या रूपकोषा को श्राविका नही बना पाते । उस समय उन्हे पूर्वश्रुत का ज्ञान अवश्य नही था, मगर जीवन की कला को उन्होने भलीभाँति अधिगत कर लिया था । उसी के सहारे वे आगे बढ़ सके और बड़ी से बड़ी सफलता प्राप्त कर सके ।

रूपकोषा को जीवन की कला प्राप्त करने मे स्थूलभद्र का अनुकूल निमित्त मिल गया । कई लोग समझते है कि निमित्त कुछ नही करता, केवल उपादान ही कार्यकारी है । मगर यह एकान्त युक्ति और अनुभव से बाधित है । निमित्त कारण कुछ नही करता तो उसकी आवश्यकता ही क्या है ? निमित्त कारण के अभाव मे अकेले उपादान से ही कार्य क्यो नही निष्पन्न हो जाता ? उदाहरण के लिए कर्मक्षय को ही लीजिए । कर्मक्षय या मोक्ष का उपादान कारण आत्मा है, अगर आत्मा के द्वारा ही कर्मक्षय होना हे तो फिर प्रत्येक आत्मा मुक्त हो जानी चाहिए । आत्मा अनादिकालीन है, उसे अब तक ससार-अवस्था मे क्यो रहना पड़ रहा है ?

कहा जाता है कि निमित्त कारण करता कुछ नही है, फिर भी उसकी उपस्थिति आवश्यक हे । मगर इस कथन मे विशेष तथ्य नही है । जो कुछ भी नही करता, प्रथम तो उसे निमित्त कारण ही नही कहा जा सकता । कदाचित् कहा भी जाय तो उसकी उपस्थिति की आवश्यकता ही क्या है ? कुछ न करने वाले पदार्थ की उपस्थिति यदि आवश्यक है तब तो एक कार्य के लिए ससार के सभी पदार्थों की उपस्थिति आवश्यक होगी और उनकी उपस्थिति होना सभव न होने से कोई कार्य ही नही हो सकेगा ।

अनेकान्त सिद्धान्त का अभिमत यह है कि उपादान और निमित्त दोनो कारणो के सुमेल से कार्य की निष्पत्ति होती है । निमित्त कारण मिलने पर भी उपादान की योग्यता के अभाव मे कार्य नही होता और उपादान की विद्यमानता मे भी यदि निमित्त कारण न हो तो भी कार्य नही होता ।

शास्त्र की बात जो चल रही है, उसके सुनाने मे मै भी निमित्त हूँ और मेरे सुनाने मे आप निमित्त है । घड़ी भर पहले भले ही कुछ दूसरी लहरे आपके चित्त मे उठती रही हो किन्तु आगमवाणी का निमित्त पाकर कुछ प्रशस्त भावना आपके मन में आई होगी । मगर मूल कारण उपादान है जो छिपा हुआ है ।

महामुनि भद्रबाहु के साथ स्थूलभद्र की ज्ञानाराधना की चर्चा पिछले दिनो से चल रही है । ज्ञानामृत को वितरण करते-करते उन्होने देहोत्सर्ग किया । श्रुत के बीज आज जो उपलब्ध है, वे उनकी ज्ञानाराधना का मधुर फल है । समाधिमरणपूर्वक महामुनि भद्रबाहु ने अपनी जीवन-लीला समाप्त की । उन्होने श्रुतकेवली का पद प्राप्त

किया था । ७६ वर्ष की समग्र आयु पाई । स्थूलभद्र उनसे अधिक दीर्घजीवी हुए । उनकी आयु ९९ वर्ष की हुई । भद्रबाहु के पश्चात् ४५ वर्ष तक स्थूलभद्र ने जैन सघ का नेतृत्व किया । अपनी विमल साधना से साधु साध्वी वर्ग को सयम के पथ पर चलाते हुए कुशलतापूर्वक उन्होंने शासन का सचालन किया । जिनशासन मे वह काल परम्परा भेदो या गच्छ भेदो का नही था ।

दस पूर्वों के ज्ञाता को वादी और चौदह पूर्वो के ज्ञाता को श्रुतकेवली कहा जाता है । श्रुतकेवली भद्रबाहु के सबध मे काफी अन्वेषण किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त एक भद्रबाहु दूसरे भी हुए है । वे निमित्त वेत्ता भद्रबाहु माने गये हे श्रुतकेवली के ज्ञान मे निमित्तज्ञान भी उस ज्ञान के अन्तर्गत रहता है परन्तु श्रुतकेवली उसे प्रकट नही करते ।

भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त का सबध बतलाया जाता है । चद्रगुप्त भी एक महापुरुष हो गए है ।

आज हमे श्रुत का जो भी अश उपलब्ध है वह इन्ही सब महामनीषी आचार्यों की ज्ञानाराधना का सुफल है । इन महान् आत्माओ ने उस युग मे श्रुत का सरक्षण किया जब लेखन की परम्परा हमारे यहाँ प्रचलित नही हुई थी । आज तो अनेको साधन उपलब्ध है और श्रुत सभी के लिए सुलभ है । ऐसी स्थिति मे हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस श्रुत का श्रद्धा और भक्ति के साथ अध्ययन कर दूसरो के अध्ययन मे सहायक बने और ऐसा करके अपने जीवन को ऊँचा उठावे । ज्ञातव्य विषयो का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नही है मगर जो उपादेय है आचरणीय है उस पर आचरण करे और जो त्याज्य है उसका त्याग करे । ज्ञान हमारा पथ-प्रदर्शन कर सकता है । वह भाव-आलोक है मगर प्रदर्शित पथ पर चलने से ही मंजिल प्राप्त की जा सकती है ।

दीपक के प्रकाश से एक छात्र ज्ञानार्जन कर सकता है और कुसस्कारो वाला दूसरा छात्र उसी प्रकाश से चोरी भी कर सकता है । दीपक दोनो के लिए समान है, दोनो को आलोक देता है । भगवान् महावीर स्वामी द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर हम यथा शक्ति चले और चलने की अधिक से अधिक शक्ति सचित करे यही इस जीवन का सर्वश्रेष्ठ साध्य है । आत्मा के शाश्वत कल्याण का द्वार खोलने की अमोघ चाबी भगवान् की देशना है । कितने सौभाग्य और पुण्य के प्रभाव से हमे इसके श्रवण मनन-आचरण करने की अनुकूल सामग्री आज मिली है । भव्य पुरुषो । प्रमाद मत करो । निस्सार वस्तुओ के लिए और अमगलकारी प्रवृत्तिया म ही समय न

बिता दो। जीवन की घड़िया परिमित है और भविष्य अनन्त हे। इस स्वल्प समय मे अनन्त भविष्य को सुखमय बनाने मे ढील न करो। जो वीतराग की वाणी को समझने का प्रयत्न करेगा और उसे जीवन मे व्यवहृत करेगा, उसका अक्षय कल्याण होगा।

---

[८०]

राष्ट्रीय सकट और प्रजाजन

सस्कृत भाषा मे एक उक्ति प्रसिद्ध है– चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुखानि सुखानि च'। अर्थात् दुःख और सुख चक्र की तरह बदलते रहते है । ससारी जीव का जीवन दो चक्रो पर चलता है कभी दुख और कभी सुख की प्रबलता होती है । प्रत्येक प्राणी के लिये यह स्थिति अनिवार्य है क्योंकि कर्म सक्षेप म दो प्रकार के हे–शुभ और अशुभ । शुभ कर्म का परिणाम सुख और अशुभ कर्म का परिणाम दुख होता है । जिस जीव ने जिस प्रकार के कर्मों का बन्ध किया है उसे उसी प्रकार का फल भोगना पडता है ।

कर्म के बन्ध और उदय का यह गोरखधधा अनादि काल से चल रहा है। पूर्वबद्ध कर्मों का जब उदय होता है तो जीव उनके उदय के कारण राग द्वेष करता है और राग द्वेष के कारण पुन नवीन कर्मों का बन्ध कर लेता है । इस प्रकार बीज और वृक्ष की अनादि परम्परा के समान रागादि विभाव परिणति और कर्मबन्ध का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है । अज्ञानी जीव इस तथ्य को न जानकर कर्मप्रवाह मे बहता रहता है ।

मगर ज्ञानी जनो की स्थिति कुछ भिन्न प्रकार की होती है । वे शुभ कर्म का उदय होने पर जब अनुकूल सामग्री की प्राप्ति होती है तब हर्ष नही मानते और अशुभ कर्म का उदय होने पर दुख से विह्वल नही होते । दोना अवस्थाओ मे उनका समभाव अखण्डित रहता है । पूर्वोपार्जित कर्म को समभाव से भोग कर अथवा तपश्चर्या करके नष्ट करना और नवीन कर्मबन्ध से बचना ज्ञानी पुरुषो का काम है ।

जब मनुष्य सुख की घडियो मे मस्त होकर आसमान मे उडने लगता है नीति-अनीति और पाप पुण्य को भूल जाता है और भविष्य को विस्मृत कर देता है तब वह अपने लिये दुख के बीज बोता है । रावण यदि प्राप्त विभूति एव सम्पदा

के कारण उन्मत्त न बनता और दुष्कर्म की ओर प्रवृत्त न होता तो उसे सर्वनाश की घड़ी देखने को न मिलती । जन, धन, सत्ता, शस्त्र, विज्ञान, बल आदि अनेक कारणों से मनुष्य को उन्माद पैदा होता है । यह उन्माद ही मनुष्य से अनर्थ करवाता है । वह अपने को प्राप्त सामग्री से दूसरो को दुःख मे डालता है । उनके सुख मे विक्षेप उपस्थित करता है । उसे पता नही होता कि दूसरो को दुःख मे डालना ही अपने को दुःख में डालना है और दूसरे के सुख मे बाधा पहुँचाना अपने ही सुख में बाधा पहुँचाना है । सुख में बेभान होकर वह नही सोच पाता कि ऐसा कार्य उसके लिए, मानवसमाज, देश एव विश्व के लिए हितकारी है अथवा अहितकारी? इतिहास मे सैकड़ो घटनाए घटित हुई है जबकि शासकों ने उन्मत्त होकर दूसरो पर आक्रमण किया है, यहा तक कि अपने मित्र, बन्धु और पिता पर भी आक्रमण करने मे संकोच नही किया । महाभारत युद्ध क्या था ? भाई का भाई के प्रति अन्याय करने का एक सर्वनाशी प्रयत्न । श्रीकृष्ण जैसे पुरुषोत्तम शान्ति का मार्ग निकालने को उद्यत होते है, महाविनाश की घड़ी को टालने का प्रयत्न करते है, भारत को प्रचण्ड प्रलय की घोर ज्वालाओं से बचाने के लिए कुछ उठा नही रखते, किन्तु उनके प्रयत्नो को ठुकरा दिया जाता है । कौरव वैभव के नशे मे बेभान न हो गए होते, उनकी मति यदि सन्तुलित रहती तो क्या वह दृश्य सामने आता कि भाई को भाई के प्राणो का अन्त करना पड़े और शिष्य को अपने कलाचार्य पर प्राणहारी आक्रमण करना पड़े? मगर शक्ति के उन्माद में मनुष्य पागल हो गया और उसने अपने ही सर्वनाश को आमंत्रित किया ! नीतिकार ने ठीक ही कहा है–

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषा परिपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।।

किसी दुष्ट जन को विद्या प्राप्त हो जाती है तो उसकी जीभ मे खुजली चलने लगती है । वह विवाद करने के लिए उद्यत होता है और दूसरो को नीचा दिखला कर अपनी विद्वत्ता की महत्ता स्थापित करने की चेष्टा करता है । वह समझता है कि दुनिया की समग्र विद्वत्ता मेरे भीतर ही समाई हुई है । मेरे सामने सब तुच्छ है, मै सर्वज्ञ का पुत्र हूँ ! किन्तु ऐसा अहंकारी व्यक्ति दयनीय है, क्योंकि वह अपने अज्ञान को ही नही जानता ! जो सारी दुनिया को जानने का दंभ करता है, वह यदि अपने आपको ही नही जानता तो उससे अधिक दया का पात्र अन्य कौन हो सकता है ? सत्पुरुष विद्या का अभिमान नही करता और न दूसरो को नीचा दिखा कर अपना बड़प्पन जताना चाहता है ।

खल (दुष्ट) जन के पास लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से यदि धन की प्रचुरता हो जाती है तो वह मद मे मस्त हो जाता है और धन के बल से कुकर्म

करके अपने लिए गडढा खोदता है । अगर उसे शक्ति प्राप्त हो जाय तो दूसरो को पीडा पहुँचाने मे ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है ।

मगर सज्जन पुरुष की विद्या दूसरो का अज्ञानान्धकार दूर करने मे काम आती है । उसका धन दान मे सफल होता है । सज्जन पुरुष धन को दीनो, असहायो और अनाथो को साता पहुँचाने मे व्यय करता है और इसी मे अपने धन एव जीवन को सफल समझता है । सज्जन की शक्ति दूसरो की रक्षा मे लगती है । वह यह नही सोचता कि अमुक व्यक्ति अगर पीडा पा रहा है किसी सबल के द्वारा सताया जा रहा है तो हमे क्या लेना देना है ? वह जगत् की शान्ति मे अपनी शान्ति समझता है । देश की समृद्धि म ही अपनी समृद्धि समझता है और अपने पडौसी के सुख म ही अपने सुख का अनुभव करता है ।

शक्ति की सार्थकता इस बात म है कि उसके द्वारा दूसरो के दुख को दूर किया जाय । अपनी ओर से किसी को पीडा न पहुँचाना अच्छी बात है किन्तु कर्त्तव्य की इतिश्री इसी मे नही है । कर्त्तव्य का तकाजा यह है कि पीडितो की सहायता की जाय सेवा की जाय और उनकी पीडा का निवारण करने मे कोई कसर न रखी जाय ।

सत्पुरुष सदैव स्मरण रखता है कि मानव जाति एक और अखण्ड है तथा पारस्परिक एव सौहार्द्र से ही शान्ति की स्थापना की जा सकती है । मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरो के सुख दुख को अपना सुख दुख माने और सब के प्रति यथोचित सहानुभूति रखे ।

लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप और उद्देश्य को नही समझते । इसी कारण बहुतो की ऐसी धारणा बन गई है कि धर्म का सम्बन्ध इस लोक और इस जीवन के साथ नही है वह तो परलोक और जन्मान्तर का विषय है । किन्तु यह धारणा भ्रमपूर्ण है । धर्म का दायरा बहुत विशाल है । धर्म में उन सब कर्त्तव्यों का समावेश है जो व्यक्ति और समाज के वास्तविक मगल के लिए हैं जिनसे जगत् में शान्ति एव सुख का प्रसार होता है । धर्म मनुष्य के भीतर घुसे हुए पिशाच को हटा कर उसमे देवत्व को जागृत करता है । वह भूतल पर स्वर्ग को उतारने की विधि बतलाता है । धर्म कुटुम्ब ग्राम नगर देश और अखिल विश्व मे सुखद वातावरण के निर्माण का प्रयत्न करता है । आज दुनिया म यदि कुछ शिव, सुन्दर एव श्रेयस्कर है तो वह धर्म की ही मूल्यवान देन है ।

धर्म की शिक्षा अगर सही तरीके से दी जाय तो किसी प्रकार के सघर्ष वैमनस्य या विग्रह का अवकाश नही रह सकता । थोडी देर के लिए कल्पना कीजिए

उस विश्व की जिसमे प्रत्येक मनुष्य दूसरो को अपना सखा समझता हो, कोई किसी को पीड़ा न पहुँचाता हो बल्कि परपीड़ा को अपनी ही पीड़ा मान कर उसके प्रतिकार के लिए सचेष्ट रहता हो, प्रत्येक व्यक्ति सयममय जीवन वना कर अपने सद्‌गुणो के विकास मे निरत रहता हो और अपनी-परायी मुक्ति के लिए यत्नशील हो । ऐसा विश्व कितना सुन्दर, कितना सुखद और कितना सुहावना होगा ! धर्म ऐसे ही विश्व के निर्माण की प्रेरणा युग-युग से देता आ रहा है ।

धर्मशास्त्र शिक्षा देता है कि जिन वस्तुओ के लिए तू लड़ता है और दूसरो का अधिकार छीनता है, वे सारी वस्तुएँ नाशवान् है । जो आज तेरे हाथ मे है, उसका ही पता नही तो वलपूर्वक छीनी हुई परायी वस्तु कहाँ तक स्थायी रह सकेगी? जो दूसरे को सताएगा वह हत्यारा कहलाएगा और सदा भय से पीड़ित रहेगा । उसके चित्त मे सदैव धुकपुक रहेगी कि दुश्मन मुझ पर कही हमला न कर दे ! कोई नया शत्रु पैदा न हो जाय । वह लड़कर और लड़ाई में विजयी होकर भी शान्ति से नही रह सकता । एक शत्रु को समाप्त करने के प्रयत्न मे वह सैकड़ो नवीन शत्रु खड़े कर लेगा । न स्वय चैन से रह सकेगा और न दूसरो को चैन से रहने देगा। शत्रुता ऐसी पिशाचिनी है कि जो मर-मर कर भी पुनः पुनः जीवित होती रहती है और जिसका मूलोच्छेद कभी नही होता । इस कारण धर्मशास्त्र कहता है कि शान्ति और सुख का मार्ग यह नही है कि किसी को शत्रु समझो और उसको समाप्त करने का प्रयत्न करो; सच्चा मार्ग यह है कि अपने मैत्रीभाव का विकास करो और इतना विकास करो कि कोई भी प्राणधारी उसके दायरे से वाहर न रह जाय । किसी को शत्रु न समझो और न दूसरो को ऐसा अवसर दो कि वे तुम्हे अपना शत्रु समझे ।

जो बात व्यक्तियो के लिए है वही समाज जाति व देशो के लिए भी समझना चाहिए । विस्मय का विषय है कि आज के युग मे भी एक देश के सूत्रधार दूसरे देश के साथ युद्ध करने को तत्पर हो रहे है । पराधीन देश आज स्वाधीन होते जा रहे है, सदियो की राजनैतिक गुलामी खत्म हो रही है और साम्राज्यवाद अपनी अन्तिम घड़िया गिन रहा है । ऐसी स्थिति मे क्या अब यह सभव है कि कोई देश किसी अन्य देश की स्वाधीनता को समाप्त कर उस पर अधिक समय तक अपना प्रभुत्व कायम रख लेगा ?

आज का युद्ध कितना महँगा पड़ता है, यह किसी से छिपा नही है । पूर्व-काल मे सीमित तरीके से युद्ध होता था । उसमें सेना ही सेना के साथ लड़ती थी और उस लड़ाई मे भी कतिपय सर्वसम्मत नियम होते थे । सर्वनाश के आज जैसे साधन भी उस समय नही थे । मगर आज सैनिक और नागरिक सभी युद्ध की

ज्वालाओ मे भस्म होते है और थोडी ही देर मे घोर प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है । ऐसी स्थिति मे युद्ध की बात कहना और किसी पर युद्ध थोपना बडी से बडी मूर्खता है ।

ससार के कतिपय शान्ति प्रेमियो ने इस बुराई की गहराई को समझा है । उन्होने आवाज बुलन्द भी की है कि युद्ध बद करो निशस्त्रीकरण को अपनाओ और सयुक्तराष्ट्र सघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के द्वारा अपने मतभेदो को दूर करो । मगर यह आवाज अभी तक कारगर साबित नही हो सकी । इसके अनेक कारण है। प्रथम तो कुछ लोग शान्ति मे विश्वास ही नही करते और वे सदैव लडने की कोशिशे करते रहते है । दूसरे सयुक्त राष्ट्रसघ जैसी जिम्मेवार सस्था को जैसा निष्पक्ष और न्यायशील होना चाहिए, वह वैसी नही है । वह भी बडे राष्ट्रो के स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण से सचालित होती है । इस कारण सच्चा न्याय करने मे असफल रही है। मगर इन कारणो के अतिरिक्त सबसे बडा जो कारण है वह मै मानता हूँ कि धर्मभावना की कमी है । कोई भी राजनैतिक समाधान तब तक स्थायी और कार्यकारी नही हो सकता जब तक कि उसे धार्मिक रूप मे मान्य न किया जाय । राजनैतिक समाधान दिमाग को ही प्रभावित करता है जब कि धार्मिक समाधान आत्मा को स्पर्श करता है और इसी कारण उसका प्रभाव स्थायी होता है । हृदय की शुद्धि के बिना बाहर का कोई भी प्रयास सफल नही हो सकता । विश्वशान्ति के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्नो के बावजूद लडाइया हो रही है और होती रहेगी । उनके रुकने का एक ही अमोघ उपाय है और वह यही है कि मानव हिसा को ईश्वर के आदेश के रूप मे निषिद्ध माने और अहिसा एव पारस्परिक सहयोग को धार्मिक विधान मान कर हृदय से उसको स्वीकार करे ।

मनुष्य को चाहिए कि वह आन्तरिक वासना को शान्त करे ऊपर से ही शान्ति की बाते न करे । मैत्री के कोरे नारो से काम नही चल सकता अन्तरतर मे मित्रता की भावना उत्पन्न होनी चाहिए । शिक्षा पद्धति मे नीति और धर्म का समावेश हुए बिना यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता ।

दूसरे के प्रति प्रेम का भाव न हो स्वार्थ छलकपट और रोष ही रोष हो तो विद्वेष की ही आग भडकेगी । भारत की सस्कृति विश्वबन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है मगर विदेशी प्रभाव से यहाँ की शिक्षा मे परिवर्तन हो गया है । चीनी यात्रियो (ह्वेन साग फाहियान आदि) ने अपने यात्रा विवरणो मे लिखा है कि मगध राज्य मे मकानो पर ताला लगाने की आवश्यकता नही पडती । इस बात से दूसरे देशो को आश्चर्य हुआ । उन यात्रियो को बतलाया गया कि भारत मे चोरी की

कहानियाँ सुनी जाती है परन्तु भारतीय चोरी नही करते। यात्रियो को इस बात पर विश्वास नही हुआ परीक्षा के लिए वे अपनी गठरी एक कुएँ के पास छोड़ कर आगे बढ़ गए। कोई राहगीर अपनी गठरी भूल गया है, यह कह कर लोगों ने गठरी राजकर्मचारियों के सुपुर्द कर दी। एक घुड़सवार राजकर्मचारी उस गठरी को लेकर चला और उन यात्रियो को सौप दी। उसने यात्रियो को सावधान किया कि यात्रा में अपना सामान सँभाल कर रखना चाहिए। ताकि हवा-वर्षा-धूप आदि से अथवा इधर-उधर बिखर कर वह नष्ट न हो जाय। यात्री भारत की इस उच्च-कोटि की प्रामाणिकता को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए।

आज सारा नक्शा बदल गया है। चोरी का माल कदाचित् मिल जाए तो माल के असली मालिक को उसे हस्तगत करने मे भी कठिनाई होती है, पुलिस मे पचनामा आदि कई झझटे करनी पड़ती है। लोगों को एक-दूसरे का विश्वास नही रहा है। यात्रा के समय जेबो मे पैसा सुरक्षित नही रहता। प्रत्येक वर्ग मे अप्रामाणिकता बढ़ गई है। रिश्वत, चोरबाजारी आदि बुराइयाँ, जो देश को अध.पतन की ओर ले जाने वाली है, बढ़ती जा रही है।

सुख और दुःख के मूल दो कारण होते है—आन्तरिक और बाह्य। हवा लग जाना, खान-पान मे गड़बड़ हो जाना दुःख के बाह्य कारण हैं; असातावेदनीय कर्म का उदय होना अन्तरग कारण है। दुःख की रोक-थाम के लिए जैसे बाहरी उपाय किये जाते हैं, उसी प्रकार आन्तरिक उपाय भी किये जाने चाहिए। यदि अन्तर के कारण को दूर कर दिया गया तो बाह्य कारण अपने आप ही दूर हो जायेगा।

युद्ध के वातावरण के रूप मे देश पर जो सकट आया है, वह सामूहिक पाप का प्रतिफल है। सामूहिक कर्म के दूषित होने से करोड़ों लोगो के मन पर उसका असर पड़ रहा है। मोर्चे पर युद्ध करने वाले तो गिनती के सैनिक है परन्तु शासक, व्यवसायी, कृषक, मजदूर आदि सभी के मन में अशान्ति है, देश सकटग्रस्त है, अतएव सभी के चित्त पर दुख की छाया होनी स्वाभाविक है। आक्रमण का मुकाबला करने का व्यवहारिक तरीका शक्ति से प्रतिरोध करना तो माना ही जाता है, किन्तु हमे आत्मपरीक्षण भी करना चाहिए कि हमारे भीतर कही गड़बड़ तो नही है? पूर्वकाल में अकाल आदि संकट आने पर राजा लोग आत्म-शोधन करते थे। शासक अपनी त्रुटियो और स्खलनाओ का प्रतीकार करते थे।

भारत को आज भी अपनी पुरानी सस्कृति से निर्वाह करना चाहिए। शासक वर्ग को आत्म-निरीक्षण करना चाहिए और अपनी त्रुटियो को तत्काल दूर कर

देना चाहिए । भारतीया की सबसे बडी गलती यह है कि स्वाधीनता पाने के पश्चात् उन्होने नैतिकता को एकदम विस्मृत कर दिया है । पश्चिम के प्रभाव म आकर भारत ने अपनी मौलिक मर्यादा और धर्मसस्कृति को त्याग दिया है तथा भक्ष्य-अभक्ष्य गम्य-अगम्य और पाप पुण्य के विवेक को भुला दिया है । लोगा मे लालच तृष्णा और स्वार्थपरायणता बढती जा रही है । अर्थलाभ ही मुख्य दृष्टिकोण बन गया है । इन सब कारणो से प्रामाणिकता गिर गई है तथा नैतिक दृष्टि से देश का पतन होता जा रहा है । इन सब बुराइयो को दूर किये बिना देश का सामूहिक जीवन समृद्ध और सुखमय नहीं बन सकता और इन बुराइयो को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय देश-जाति आदि दस प्रकार के धर्म की शरण म जाना है ।

धर्म की रक्षा करना अपनी रक्षा करना है और धर्म का विनाश करना आत्मविनाश को आह्वान करना है । नीतिकार ने ठीक ही कहा है–

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षित ।

निस्सन्देह आज देश पर सकट के बादल मँडरा रहे है (उस समय चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया था–सम्पादक) परन्तु यह सकट भी वरदान सिद्ध हो सकता है यदि हम उससे सही शिक्षा ले । हमे इस सकट के समय धैर्य रखना है और इससे प्रेरणा लेनी है । अतीत की भूला को दूर करना है और नवीन जीवन का सूत्रपात करना है । नवीन जीवन' कहने का कारण केवल यही है कि हम उस जीवन को भूल गये है अन्यथा वह प्राचीन जीवन ही है जिसमे प्रत्येक वर्ग अपने-अपने धर्म का पालन करता था ।

आज सकट की इन घडिया मे देश के सभी राजनीतिक दल एक सूत्र मे आबद्ध हो गए है । सभी वर्गों के नेता यह अनुभव करने लगे है कि एकता के द्वारा ही राष्ट्रीय सकट को सफलता के साथ पार किया जा सकता है । धर्म जाति, प्रान्त, भाषा या किसी अन्य आधार से उत्पन्न कटुता के वातावरण को समाप्त कर बन्धुता प्रीति और एकता की भावना का विकास किया गया तो देश का मनोबल बढेगा और सारा सकट टल जायगा । यदि कोई देश परास्त होता है तो वह भीतर की गडबड से परास्त होता है । जिस देश की जनता मे हार्दिक एकता हो उसे कोई परास्त नही कर सकता । वह आक्रमणकारी को निकाल बाहर कर देगा ।

किसी भी सगठन को शुद्ध बनाये रखने के लिए नैतिकता अनिवार्य रूप स आवश्यक है । कृषक श्रमिक शासक व्यवसायी आदि सभी अपने-अपन कर्त्तव्य क प्रति प्रामाणिक रहे अप्रामाणिकता और वैयक्तिक स्वार्थ का त्याग द ।

जागरण आ जाए तो देश के लिए अत्यन्त हितकर होगा । खास तौर से शासकवर्ग को सोचना है कि अनैतिक आचरण करने से और नैतिकता के प्रति उपेक्षा भाव रखने से क्या अनीति को बढ़ावा नही मिलेगा ? जनता चाहे जिस तरह से धर्नाजन करे, सरकार का खजाना भरना चाहिए; यह नीति आगे चलकर देश को रसातल मे नही पहुँचा देगी ? क्या यह दुर्नीति सरकार के लिए ही सिरदर्द नही बन जाएगी ? आज नैतिकता की भावना को सजीव और साकार बनाना है यही सच्ची देशसेवा है। दिखावा करने का समय व्यतीत हो गया । भोग-विलास की वेला बीत गई है । देशवासियो ! अपने देश के महापुरुषो के जीवन, आदेश और उपदेश को याद करो । जीवन को संयममय और सादगीपूर्ण बनाओ । गृहस्थो के व्रतो एव नियमो को पालो। खाद्यान्न की कमी है तो महीने में दो-चार उपवास करने का नियम ग्रहण करो । धर्मशास्त्र का विधान है कि प्रत्येक गृहस्थ को अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या या अपनी पसद की किन्ही भी तिथियों मे अनशन करना चाहिए । यह धार्मिक नियम आज देश की सबसे जटिल समस्या का सरलता से समाधान कर सकता है । खाद्यान्न की कमी मासभक्षण से पूरी करने की प्रेरणा देश को भारी खतरे मे डाल देगी । एक बार मनुष्य के हृदय मे जव निर्दयता और क्रूरता जाग उठती है तो वह दूसरे मनुष्यो के प्रति भी सदय नही रह सकता । अगर हम चाहते है कि मनुष्य-मनुष्य का घातक न बने तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसके हृदय मे करुणाभाव जागृत करे और करुणाभाव की जागृति के लिए प्राणिमात्र के प्रति दयावान् बनने के सिवाय अन्य कोई चारा नही है । जो पशुओ की हत्या करने मे संकोच नही करेगा या मांसभक्षण करेगा, वह मनुष्यों के प्रति भी करुणाशील नही रह सकेगा । अतएव खाद्य-समस्या का समाधान धर्म के अनुकूल ही होना चाहिए । परिमित दिनो का अनशन (उपवास) उसका उत्तम उपाय है ।

यदि नागरिको के व्यवहार मे प्रामाणिकता आ जाय तो सरकारी कर्मचारियो की सख्या मे भी कमी हो जाय और लाखो-करोड़ो का खर्च बच जाए और परिणामस्वरूप कर का भार भी कम हो जाय । शासनतत्र को भी चाहिए कि वह जनता मे प्रामाणिकता के प्रोत्साहन के लिए समुचित व्यवस्था करे । विविध प्रकार के व्यवसायी आज जो मिलावट कर रहे है उसके विषय में उन्हें मार्गदर्शन किया जाना चाहिए, जिससे कि वे वैसा न करे । व्यवसायियों को भी सन्मार्ग ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार प्रजा और शासकवर्ग के सम्मिलित प्रयास से प्रामाणिकता की सुदृढ़ भूमिका तैयार हो सकती है । इससे भ्रष्टाचार, घूसखोरी, मिलावट, काला बाजार आदि बुराइयाँ, जो देश के स्वास्थ्य के लिए क्षय के कीटाणुओ के समान है, नष्ट की जा सकती है । एक कवि ने कहा है—

वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजा नृणाम्, असाधु चरितार्जिता न पुनरुपार्जिता सम्पदः ।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं, विपाकविरसा न तु श्वयथुसम्भवा स्थूलता ।।

धन की गरीबी बुरी नही है । पर दुष्कृत्यो के द्वारा उपार्जित की गई लक्ष्मी अच्छी नही है । परिणाम मे सुन्दर स्वाभाविक कृशता मे कोई बुराई नही है मगर सूजन के कारण उत्पन्न होने वाली मोटाई श्रेयस्कर नही है । मधुमक्खियाँ काट ले और उससे शरीर फूल जाय तो क्या वह खुशी की चीज होगी ? नही शरीर मे सूजन आ जाने से चिन्ता होगी और अस्पताल भागना पडेगा । यह रोग है । इसी प्रकार अनीति से प्राप्त धन का मोटापन भी रोग है । कृशता शोभा देती है जो सहज है परन्तु अनुचित मोटापन बीमारी की निशानी है ।

व्यापारी आदि सभी वर्ग अगर इस नीति को व्यवहार मे लावे तो इस सकट के समय मे स्वय को तथा देश को भी निर्भय बना सकेगे । पाप घटने से दुख आप ही आप घट जाएँगे । दुख को घटाने के लिए बाह्य उपाय भी किया जाय किन्तु अन्तरग को भी सुधारा जाय इससे दुख का शीघ्र निकन्दन होगा । यह अनुभूत वाणी है अटकलपच्चू की बात नही है ।

भारत की आत्मा सास्कृतिक रूप मे उज्ज्वल रही होती तो उसे पदाक्रान्त करने की सामर्थ्य किसी मे नही होती । देश की पुण्य प्रकृति बढेगी ता पाप घटेगा और पाप घटने से सताप भी अवश्य घटेगा । सिर्फ बाहर के उपाया से सन्ताप नही घटता । छलन्चल वाले को जल्दी सफलता मिलती दीख पडती है मगर वह ठोस और स्थायी नही होती । स्थायी विजय और शान्ति तो सुजन के साथ ही रहेगी। यद्यपि दुर्योधन को तात्कालिक लाभ दीख पडा ऐसा प्रतीत हुआ कि वह सम्राट बन गया है और युधिष्ठिर धर्म की रट लगाते हुए सर्वस्व गँवा कर जगला मे भटक रहे है किन्तु अन्तिम परिणाम क्या हुआ ? विजय युधिष्ठिर की हुई, कीर्त्ति युधिष्ठिर को प्राप्त हुई । दुर्योधन के छलन्चल ने अन्याय ने उसका और कौरवदल का सर्वनाश कर दिया ।

भारत अपनी सस्कृति पर सदा अडिग रहेगा । हस अपनी वृत्ति को नही बदलता । वह मानसरोवर म रहता है । वह काक की देखादेखी नही करता । काक मानसरोवर के पास यदि पर्वत की चोटी पर बैठ जाय तो भी काक ही रहेगा । कहा है—

'स्वर्णाद्रिश्रृगाग्रमधिष्ठितोऽपि काको वराक' खलु काक एव ।

सुमेरु के शिखर पर बैठा हुआ काक भी आखिर काक ही रहता है ।

भारत की सस्कृति उच्चकोटि की, उदार और पवित्र है । उसने अपनी संस्कृति और नीति की पवित्रता के कारण ही कभी किसी पर आक्रमण नही किया । उसने विश्वशान्ति और विश्वहित की ही सदा कामना की है । इस नीति को बहुत लोग भारत की दुर्बलता समझते है, यह उनका भ्रम है । भारत की आत्मा दुर्बल नही है । वह आक्रमणकारी को सदैव करारा उत्तर देता रहा है और जो उससे टकराएगा, कभी सफल नही हो पाएगा ।

इसी विश्वास के साथ भारतीय प्रजा को अनैतिकता से बचना चाहिए और देश के गौरव के प्रतिकूल कोई कार्य नही करना चाहिए । अगर भारत की जनता अनैतिकता, अधार्मिकता और स्वार्थपरायणता से ऊपर उठेगी तो निश्चय समझिए कि ससार की कोई भी शक्ति उसे नीचा नही दिखा सकती । उसका गौरव सदा अक्षुण्ण रहेगा, उसकी प्रतिष्ठा सदा बढ़ती रहेगी और वह ससार को आदर्श राष्ट्रीय नीति का उज्ज्वल सदेश देता रहेगा ।

भारत की एक कमजोरी खाद्यान्न की कमी कही जाती है । यह कमी वास्तव मे है या लालची लोगो ने, अधिक मुनाफा कमाने के उद्देश्य से अन्न का सग्रह करके उत्पन्न कर दी है, यह कहना कठिन है । लेकिन यदि वह वास्तविक है तो भी उसके प्रतीकार का उपाय है और ऐसा उपाय है जिसकी हिमायत हजारो-लाखो वर्षो से भारत के ऋषि-मुनि करते आए है । महीने मे कुछ उपवास करने की भारतीय धार्मिक परम्परा रही है और कुछ लोग आज भी इसका पालन करते है। इसे व्यापक रूप दिया जाय तो सारी समस्या सहज ही हल हो जायगी । मगर खाद्यान्न की समस्या को हल करना उसका आनुषंगिक फल ही समझना चाहिए । वास्तव मे उपवास का असली फल आत्मशुद्धि हे । आत्मशुद्धि से शुभ भाव की वृद्धि होती है, आत्मिक शक्ति बढ़ती है और उससे जीवन में जागृति आती है । ससार के प्राणी मात्र को आत्मवत् मानने की प्रेरणा देने वाली भूमि इस प्रकार के उदात्त और पावन उपायों को अपना कर ही अपनी विशेषता एव गुरुता कायम रख सकती है ।

दुःख की घड़ियो मे मनुष्य को भय होता है । गाव-गाव, नगर-नगर और झौपड़ी-झौपड़ी मे नास्तिक लोग भी सोचने लगे थे कि न जाने इस अष्टग्रही से क्या गज़ब होने वाला है ? लाखो का अन्न लुटाया गया, भजन-कीर्त्तन हुए । ये चीजे भय की भावना से हुईं । उस समय केवल आशंकित भय था, मगर आज वास्तविक भय उपस्थित है । हमारे नीतिकार कहते है—

तावद् भयस्य भेत्तव्य, यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भय वीक्ष्य, नरः कुर्याद्यथौचितम् ।।

भय जब उपस्थित हो जाय तो रोने और किनारा काटने से काम नही चल सकता । विपत्ति के समय धीरज नही खोना चाहिए । धीरज खो देना अनर्थ का कारण हो जाएगा । इससे विपत्ति शतगुणा भीषण हो जाती है । कहा है—

ज्ञानी को दुःख नही होता है ज्ञानी धीरज नही खोता है ।
सद्ग्रन्थ पढो स्वाध्याय करो, मन के अज्ञान को दूर करो ।
स्वाध्याय करो स्वाध्याय करो ।

भ्रान्त विचारो, अधीरता और चचलता के भावो को दूर करने का उपाय सम्यग्ज्ञान है । ज्ञानी पुरुष सकट के समय धैर्य नही खोता और व्यर्थ चिन्ता नही करता । अगर दुःख सिर पर आ पडे तो हाय हाय करने से क्या लाभ है ? ज्ञान का बल होने से मनुष्य धीरज से समय काट सकता है । ऐसे ज्ञान की प्राप्ति सत्सग और स्वाध्याय से होती है ।

शुभ कर्म को बढाना पाप को घटाने का कारण हो जाता है । शुभ कर्म से आध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है और आध्यात्मिक शक्ति वह शक्ति है जिससे मनुष्य कौटुम्बिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय शक्ति मे वृद्धि करता है ।

अकसर एक प्रश्न उठता है कि राष्ट्र रक्षा मे सन्तसमाज का क्या योगदान है ? ऐसे प्रश्न वही कर सकते है जो ऊपर-ऊपर की दृष्टि से विचार करने के आदी है । गहराई से राष्ट्रीयता या राष्ट्रहित के सम्बन्ध मे विचार करने वाला के मन मे ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता । राष्ट्र की रक्षा केवल भौतिक साधनो से होती है यह समझ घातक है । भौतिक साधन और समृद्धि की प्रचुरता होने पर भी यदि राष्ट्र की आन्तरिक चेतना जागृत नही है राष्ट्र के निवासियो मे नैतिकता उदारता त्यागवृत्ति और धार्मिक भावना नही है तो वह राष्ट्र कदापि सुरक्षित नही रह सकता । अतएव राष्ट्र की रक्षा उसमे निवास करने वाली प्रजा के सद्गुणो पर निर्भर है । जिस देश की प्रजा के आन्तरिक जीवन का स्तर जितना ऊँचा होगा वह देश उतनी ही अधिक उन्नति कर सकेगा । इसके विपरीत जिस देश के निवासी नैतिक दृष्टि से गिरे होगे अधार्मिक होगे स्वार्थपरायण होगे वह देश कदापि ऊँचा नही उठ सकता । कदाचित् ऐसा कोई देश समृद्ध और शक्तिमान दीख पडता हो तो यही मानना होगा कि उसकी समृद्धि और शक्ति सिर्फ ऊपरी है उसमे स्थायित्व नही है । थोडे ही समय म उसका पतन बालू की दीवाल की तरह हो जाएगा । इस प्रकार देश की असली सुरक्षा उसकी आन्तरिक चेतना की दिव्यता और भव्यता म निहित है । सन्त जन इस चेतना को जागृत करने, जागृत रखने और विकसित करने म सदा सलग्न रहते है । वे मानव समाज को अपने सकीर्ण स्वार्थ से ऊपर उठ कर राष्ट्र के

व्यापक हित मे विचार करने की प्रेरणा देते है और सब के हित मे अपना हित मानने की बुद्धि प्रदान करते है। अतएव राष्ट्र के ठोस और आधारभूत हित और सरक्षण मे उनका यह योगदान असाधारण है ।

प्रत्येक वर्ग का कर्त्तव्य पृथक्-पृथक् होता है । मजदूर अपनी जगह रह कर और अपने कर्त्तव्य का पालन करके देश की सेवा करता है । किसान अधिक उपज बढ़ाकर सेवा करता है उद्योगपति अपने ढग से सेवा कर सकता है । अगर सभी वर्ग एक ही ढग अखत्यार कर ले तो देश का काम चल नही सकता । इसी प्रकार सन्तसमाज भी अपनी मर्यादा मे रह कर ही देश की सेवा करता हे । वह देशवासियो मे उन सद्गुणो के विकास के लिए प्रयत्न करता है जिनके अभाव मे देश की आत्मा सबल नही हो सकती और सबल हुए बिना देश की सुरक्षा भी सभव नही हे ।

जम्बूद्वीप के चारो ओर खाई की तरह फैला हुआ समुद्र जम्बूद्वीप को आप्लावित क्यो नही कर देता ? यह प्रश्न श्रीगोतम ने भगवान् महावीर से पूछा । महावीर स्वामी ने उत्तर दिया यह अनादिकालिक मर्यादा है । इसके अतिरिक्त इसमे अनेक सन्तो, सतियो और भक्तो की विद्यमानता है, इस कारण भी यह आप्लावित नही होता । तेजस्वी साधना वाला साधकजन यदि किसी नगर मे मौजूद हो तो वह उस नगर को बचा सकता है । अगर सभी लोग अपने आत्मबल को बढ़ावे तो देश का कल्याण होगा । सकट काल मे आध्यात्मिक बल बहुत लाभकारी हो सकता है। मै आपको यही प्रेरणा देना चाहता हूँ कि आगमो के आधार पर चलो और आर्य सस्कृति को भूलने के बजाय अपने जीवन मे उसको अधिक से अधिक स्थान दो । शासक और शासित दोनो उदारतापूर्वक कार्य करे, समझदारी अपनाएँ जिससे किसी की भूल से किसी को हानि न हो ।

देश ऋण के भार से दबा जा रहा हो और देश की प्रजा मे भोग-विलास की मनोवृत्ति बढ़ती जाए, तो इससे किसी का कल्याण नही होगा । ऐसे समय मे प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है कि वह देश के हित मे ही अपना हित समझे, देश के उत्थान-पतन मे अपना उत्थान-पतन माने, देश के गौरव में ही अपना गौरव अनुभव करे और सादगी, सयम तथा त्याग भावना को अधिक से अधिक अपनाए । राष्ट्रीय संकट के समय, उससे लाभ उठा कर व्यक्तिगत स्वार्थसाधन की बात सोचना अपनी आत्मा को गिराना है और अपने पैरो पर आप ही कुठाराघात करना है । समूह के मगल मे ही व्यक्ति का मंगल है ।

व्रत और नियम का सबल लेकर आध्यात्मिक विचार, सदाचार, सच्चाई और वाणी का बल बढ़ाकर प्रत्येक नागरिक यदि अपने जीवन को ऊँचा उठाएगा तो स्वतः ही समाज और देश का कल्याण होगा और आन्तरिक जीवन भी मंगलमय बन जाएगा ।

---

[८१]

मानसिक सन्तुलन

जीवन को उन्नत बनाने तथा आध्यात्मिक बल को बढाने के लिए महावीर स्वामी ने जिस साधना का सदेश दिया है आनन्द श्रमणोपासक के माध्यम स उसका निरूपण किया गया है । उसका उद्देश्य यही है कि उस साधना का विकास किया जाय और अपने आपको ऊँचा उठाया जाय ।

आज देश की स्थिति बडी विषम है । युद्ध की परिस्थिति बनी है । भारतीय सैनिक अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए अपने प्राणो की बलि चढा रहे ह । शत्रु देश सिर ऊँचा उठा रहे है और देश की स्वाधीनता तथा सुरक्षा को जोखिम मे डालने का प्रयत्न कर रहे है । ऐसे समय म अध्यात्म की चर्चा कहाँ तक उपयुक्त है ? इस समय तो देशवासियो मे वीरता जगाना चाहिए और आक्रान्ताओ को देश की सीमा के बाहर भगा देने की प्रेरणा करनी चाहिए । इस अवसर पर धर्म की बात करना असामयिक है । कइयो के हृदय मे इस प्रकार के विचार उत्पन्न हो सकते है।

मगर मै कहना चाहूँगा कि अगर ऐसे विचार आपके चित्त मे आते है तो समझना चाहिए कि आपने गभीर विचार नहीं किया है । देश और समाज की रक्षा के दो उपाय होते हैं—बाह्यरक्षा और आन्तरिक रक्षा ।

देश पर आक्रमण होने की स्थिति म आक्रान्ता को भगाने के लिए सैनिक बल का प्रयोग करना शस्त्रो का निर्माण करना, उद्योगधन्धो को बढाना आदि कार्य बाह्यरक्षा म सम्मिलित हैं । देशवासियो म ऐसी नैतिक भावना जाग्रत करना कि व धीरज और साहस रखे, एकता को कायम रखे राष्ट्रीय हितो को सर्वोपरि स्थान द, जीवन को इतना सयममय बनाएँ कि अल्प से अल्प सामग्री स अपना काम चला सक लोभ-लालच के वशीभूत होकर स्वार्थ साधन म लिप्त न हो, विलास का परित्याग कर त्यागभावना की वृद्धि कर और प्रत्येक अनैतिक एव अधार्मिक कार्य से बचते रह यह देश की आन्तरिक सुरक्षा है ।

बाह्य सुरक्षा आन्तरिक सुरक्षा पर निर्भर है । अगर नागरिक जन अपने कर्त्तव्य और धर्म से विमुख होते है तो सैनिक का साहस, पराक्रम और बलिदान सार्थक नही हो सकता । अतएव युद्ध मे विजय प्राप्त करने के लिये भी यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि प्रजाजन भी अपने जीवन को सॅभाले, देश मे आन्तरिक शान्ति कायम रखे । जैसे नागरिकों को शस्त्रास्त्र देकर सबल बनाया जाता है, उसी प्रकार उन्हे कर्त्तव्यनिष्ठा, धीरता, सहनशीलता और नैतिकता के द्वारा प्रबल बनाना भी अत्यावश्यक है । इसके अभाव मे भीतरी गड़बड़ी हो जायेगी । शस्त्रशिक्षा की अपेक्षा शास्त्रशिक्षा का महत्व कम नही है । भारतीय सस्कृति मे दोनो की हिमायत की गई है, जो प्रजा दोनो प्रकार की शिक्षा से शिक्षित नही, वह जाति, समाज और देश के लिए खतरनाक हो सकती है ।

नागरिको मे अज्ञान न हो, यह भी देशरक्षा के लिए आवश्यक है । इतिहास से विदित होता है कि कई लोग अज्ञानतावश शत्रुपक्ष मे मिल गए । इससे बड़ा खतरा किसी देश के लिए दूसरा क्या हो सकता है ?

मानसिक वृत्ति में सन्तुलन लाने वाला शास्त्रशिक्षण है । इससे आन्तरिक जीवन का निर्माण होता है, फिर चाहे वह शासक हो कृषक हो या कुछ अन्य हो। अज्ञानी का अपना विनाश देश के अनिष्ट का भी कारण बनेगा । अतएव आन्तरिक विजय प्राप्त करने के लिए शास्त्रशिक्षा की आवश्यकता है ।

शास्त्रीय शिक्षा मे सामायिक साधना का स्थान बहुत ही महत्व का है । सामायिक से अन्त.करण मे विषमता के स्थान पर समता की स्थापना होती है । उसका दूसरा उद्देश्य मानव के अन्तस्तल मे धधकती रहने वाली विषय-कषाय की भट्टी को शान्त करना है ।

सामायिक साधना के सच्चे, गहरे और व्यापक अर्थ को समझा नही जा रहा है । प्रतिदिन सामायिक करने वालो मे भी अधिकाश जन ऊपरी विधिविधान करके ही सन्तोष मान लेते है । वे उस साधना को स्पर्श करने का प्रयत्न नही करते । उसे सजीव एवं स्फूर्त रूप प्रदान कर जीवनव्यापी नहीं बनाते । अगर सामायिक साधना हमारे जीवन का प्रेरणास्रोत और मूलमंत्र बन जाए तो उससे अपूर्व लाभ हो सकता है । जीवन मे जो भी विषाद, वैषम्य, दैन्य, दारिद्र्य, दुःख और अभाव है, उस सब की अमोघ औषध सामायिक है । जिसके अन्त.करण मे समभाव के सुन्दर सुमन सुवासित होंगे, उसमे वासना की बदबू नही रह सकती । जिसका जीवन साम्यभाव के सौम्य आलोक से जगमगाता होगा, वह अज्ञान, आकुलता एव चित्त विक्षेप के अन्धकार मे नही भटकेगा ।

जीवन मे अनेक प्रकार की टक्कर लगती रहती है उनसे पूरी तरह बचना सभव नही है किन्तु टक्करे लगने पर भी उनसे आहत न होने का उपाय सामायिक है । आप जानते है कि मनुष्य जब रज की हालत म आता है तो अपने आपको ससार म सबसे अधिक दुखी मानने लगता है और आदरणीय का आदर करना एव वन्दनीय को वन्दन करना भी भूल जाता है । इस प्रकार विषमता की स्थिति म पडकर वह दोलायमान होता रहता है और अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक तरह नही कर पाता है । इससे बचने के लिए और सन्तुलित मानसिक स्थिति बनाये रखने के लिए सामायिक साधना ही उपयोगी होती है । जो खुशी के प्रसग पर उन्माद का शिकार हो जाता है और दुख मे आपा भूलकर विलाप करता है वह इहलोक और परलोक दोना का नही रहता । युद्ध के समय सैनिक यदि घबरा जाता है धैर्य गँवा बैठता है तो पीछे हट जाता है और यदि सन्तुलित अवस्था कायम रखता है तो शत्रु का सामना कर सकता है । कौटुम्बिक मामला मे यदि सन्तुलन बिगाड दिया जाय तो घरू व्यवहार बिगड जाता है और वह कुटुम्ब छिन्नभिन्न होकर बिखर जाता है ।

मानसिक दशा सन्तुलित न हो तो ज्ञानी पुरुष कुछ समय टाल कर बाद म जवाब देता है । शास्त्र, अध्यात्मशिक्षा सामायिकसाधना ही मन को सन्तुलित रखना सिखा सकते है ।

शम की स्थिति प्राप्त करने के लिए सामायिक साधना चाहिए । काम क्रोध मोह माया आदि के कुसस्कार इतने गहरे होते है कि उनकी जड उखाडने का दीर्घकाल तक प्रयास करने पर भी वे कभी कभी उभर आते है । अध्यात्मसाधना म निरत एकाग्र साधक भी कभी कभी उनके प्रभाव म आ जाता है । कभी कोई निमित्त पाकर तृष्णा या काम की आग भडक उठती है । यह आग अनादिकाल स जीव को सन्तप्त किये हुए है । इस शान्त करने का उपाय क्या है ? सामायिक साधना रूपी जल के बिना यह ठडी नही हो सकती । भट्टी पर चढाए हुए उबलते पानी को भट्टी स अलग हटा देने से ही उसमे शीतलता आती है । इसी प्रकार नाना विध मानसिक सन्तापो स सन्तप्त मानव सामायिक साधना करके ही शान्तिलाभ प्राप्त कर सकता है ।

प्राणी के अन्तर म कषाय की जो ज्वाला सतत प्रज्वलित रहती है उसे शान्त किये बिना वास्तविक शान्ति कदापि प्राप्त नही हो सकती । ऊपर का कोई उपचार यहाँ काम नहीं आ सकता । उसके लिए तो सामायिक साधना ही उपयोगी हो सकती है । अनवरत साधना चालू रहने से स्थायी शान्ति का लाभ मिलेगा । साधना ज्यो ज्यो सबल होती जाएगी साधक की आनन्दानुभूति भी त्यो त्यो ही बढती जाएगी । इसलिए कहा गया है–

करलो जीवन का उत्थान, करो नित समता रस का पान –
नितप्रति हिंसादिक जो करते, त्याग को मान कठिन जो डरते,
घड़ी दो कर अभ्यास महान् बनाते जीवन को बलवान् ।।

महात्मा लोग आत्म-शान्ति के लिए साधना करते हैं, परन्तु उनकी साधना का फल उन्ही तक सीमित नही रहता । सारा जगत् उस फल से लाभान्वित होता है । भगवान् महावीर ने जो उत्कृष्ट साधना की उसका फल सारे संसार को मिला । महापुरुष ऐसे कृपण नही होते कि अपनी अनुभूतियो को लुका-छिपा कर रखे और दूसरो को उनसे लाभान्वित न होने दे । उनका अन्त.करण बहुत विशाल होता है और उसमे दया का महासागर उमड़ता रहता है । अतएव जगत् के दुःखी और अज्ञानान्धकार में ठोकरे खाने वाले जीवों पर अपार करुणा करके वे अपनी साधना जनित अनुभूतियो को जगत् के सामने प्रस्तुत करते है । प्रत्येक सत्पुरुष के लिए यही उचित है कि उसके पास जो कुछ भी साधन-सामग्री है, उससे दूसरों को लाभ पहुँचावे । जिसने ज्ञान प्राप्त किया है, वह दूसरो का अज्ञान दूर करे, जिसके पास धन है, उसका कर्त्तव्य है कि वह निर्धनों, अनाथो एव आजीविकाहीन जनो की सहायता करे । इस प्रकार अपनी सामग्री से दूसरों को सुख-शान्ति पहुँचाना ही प्राप्त सामग्री का सदुपयोग कहा जा सकता है ।

जैसे कजूस श्रीमन्त अपने धन का लाभ दूसरों को नही देता, अपने समाज और अड़ौस-पड़ौस के लोगो की भी वह सहायता नही करता, वह अपनी दुनिया को अपने और अपने परिवार तक ही सीमित समझता है, मानो दूसरों से उसका कोई वास्ता ही नही है, इसी प्रकार ज्ञानी जनो ने अगर कंजूसी से काम लिया होता तो इस ससार की क्या स्थिति होती ? आज हमे शास्त्रो के रूप मे जो महानिधि प्राप्त है, वह कहॉ से प्राप्त होती ? हमे अपने कल्याण का मार्ग कैसे सूझता ? उस दशा मे दुनिया की स्थिति कितनी दयनीय और दुःखमय बन गई होती ? मगर ऐसा होता नही है उदारहृदय महात्मा अपने आत्मकल्याण मे विघ्न डाल कर भी जगत् के जीवो का पथप्रदर्शन करते है । वे अपने अनमोल वैभव को दोनों हाथों से लुटाते है और मानव-जाति के श्रेय के लिए यत्नशील रहते है ।

तो महात्माओ ने अपनी गहन एवं रहस्यमय अनुभूतियों को भी प्रकाशित किया है । उन्होने हमें बतलाया है कि आधियो, व्याधियों और उपाधियों से मुक्ति चाहते हो तो आत्मसाधना के पथ पर अग्रसर होओ ।

दु.ख से छुटकारा पाना कौन नही चाहता ? मनुष्यों की बात जाने दीजिए, छोटे से छोटे कीट भी दु:ख से बचना और सुख प्राप्त करना चाहते हैं । इसी के

लिए वे निरन्तर प्रयास कर रह हे। मगर दुखा स मुक्ति मिलती नही। कारण स्पष्ट है दुनिया समझती है कि वाह्य पदार्थो को अपने अधिकार म कर लेन स दुख का अन्त आ जाएगा। मनोहर महल खडा हा जाय सोने-चाँदी स तिजारियाँ भर जाएँ विशाल परिवार जुट जाए, मोटर हो विलास की अन्य सामग्री प्रस्तुत हो तो मुख सुख मिलेगा। इस प्रकार पर-पदार्थो के सयोग मे लोग सुख की कल्पना करते हे। किन्तु ज्ञानी कहते है–

सयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःख परम्परा।

ससार के समस्त दुखा का मूल सयोग है। आत्मभिन्न पदार्थो के साथ सम्बन्ध स्थापित करना ही दुख का कारण है। अब आप ही सोचिए कि सुख प्राप्त करने के लिए जो दुख की सामग्री जुटाता है उसे सुख की प्राप्ति कैसे हा सकेगी ? जीवित रहने के लिए विष को भक्षण करने वाला पुरुष अगर मूढ है ता सुख प्राप्ति के लिए वाह्य पदार्थो की आराधना करने वाला क्या मूढ नही है ? मगर आपकी समझ म बात कहाँ आ रही है ? आप तो नित्य नय नय पदार्थों के साथ ममता का सम्बन्ध जोड रहे ह। यह दुख को बढाने का प्रयत्न है। इससे सुख की प्राप्ति नही होगी। सच्चा सुख आत्मसाधना मे है। आध्यात्मिक साधना जितनी-जितनी सबल होती जाएगी सुख भी उतना ही उतना बढता जाएगा। आर्त्त और रौद्र वृत्तियो को मिटाना ही शान्ति और मुक्ति का साधन है। शस्त्रविद्या इसम सफल नही होती। शस्त्रविद्या तो रौद्र भाव को बढाने वाली है ज्यो-ज्यो शस्त्रा का निमाण होता गया मनुष्य का रौद्र रूप बढता गया। रौद्र रूप की वृद्धि के लिए आज तो शारीरिक बल की आवश्यकता भी नहीं है कमजोर व्यक्ति भी यन्त्रा की सहायता से हजारा लाखो मनुष्यो को मौत के घाट उतार सकता है।

शस्त्र प्रयोग तो आखिरी उपाय है। जब अन्य साधन न रह जाय तभी शस्त्र का उपयाग किया जा सकता है। शास्त्र विद्या यह विचारधारा देती है कि *शस्त्र विद्या का प्रयोग विवक को तिलाजलि देकर नही किया जाना चाहिए।* अन्याय अत्याचार और दूसरा को गुलाम बनाने के लिए शस्त्र का प्रयाग करना मानवता का हत्या करना है। आज जा देश अपनी सीमा विस्तार करन के लिए सना और शस्त्र का प्रयोग करते है दूसरा का गुलाम बनाने के इरादे स अत्याचार करते है, वे मानवता के घोर शत्रु है और उनका अत्याचार उन्हा को खा जाएगा, हिटलर का उदाहरण पुराना नही पडा है। उसकी विस्तारवादी नीति ने ही उसे मार डाला।

शस्त्र विद्या यही शिक्षा देती है कि शस्त्र का प्रयाग रक्षण के लिए होना चाहिए, भक्षण के लिए नहीं। सद् गृहस्था को कभी शस्त्र भी सभालना पडता है मगर उस समय भी उसकी वृत्ति सन्तुलित रहती है।

महाराज चेटक व्रतधारी श्रावक थे । मगर कोणिक के अत्याचार का प्रतीकार करने का जब अन्य उपाय न रहा तो उन्हे सेना और शस्त्र का उपयोग करना पड़ा। इस समय शस्त्र न सँभाल कर अगर वह कायरता का प्रदर्शन करते तो अत्याचार बढ़ता, न्याय-नीति की जड़ें उखड़ जाती और धर्म को भी बदनाम होना पड़ता ।

वर्णनाग नतुआ पौषधशाला मे बैठे हुए आत्मसाधना कर रहे थे । बेले की तपस्या मे थे । उसी समय उन्हे युद्धभूमि मे जाने और युद्ध करने का आदेश मिला। वे कह सकते थे कि तपस्या कर रहा हूँ युद्ध के लिए नही जा सकता । मगर नही, वे विवेकशील साधक थे । उन्होने ऐसा नही कहा । धर्म, अहिंसा और तपश्चर्या को कलंकित करना उन्होने घोर अपराध समझा । युद्ध का आह्वान आने पर उनके मन मे खेद नही हुआ । हिचक नही हुई । उन्होंने बेला के बदले तेला कर लिया और उसी समय युद्ध के लिए तैयार हो गए । देश रक्षा का आदेश मिलने पर जी चुराना उन्होने पाप समझा । वे पौषधशाला से बाहर निकले और रथ तैयार करवा कर युद्ध के मोर्चे पर चल दिए ।

शास्त्रो के ये उल्लेख अहिसा के स्वरूप को समझने में हमारे लिए बहुत सहायक है । इनसे स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसा की गोद मे कायरता को नही छिपाया जा सकता । अहिसा कर्त्तव्यभ्रष्टता का समर्थन नही करती । अहिसा के नाम पर अगर कोई देश की रक्षा से मुँह मोड़ता है, शस्त्र उठाने से इन्कार करता है, और अत्याचार को सहन करता है तो वह अहिसा को बदनाम करता है । एक व्यक्ति जब शासन सूत्र अपने हाथ मे लेता है या सेनापति का पद ग्रहण करता है तो देश और प्रजा की रक्षा करने का उत्तरदायित्व उस पर आ जाता है । किन्तु उस उत्तरदायित्व को निभाने का अवसर आने पर अगर अहिसा की आड़ मे उससे बचने का प्रयत्न करता है तो वह कायर है, उसे धर्मनिष्ठ नही कहा जा सकता ।

अत्याचार करना हिंसा है तो कायर बनकर अत्याचार सहना, अत्याचार होने देना और उसका प्रतीकार न करना भी हिंसा है ।

यो तो श्रावक स्थूल सकल्पजनित हिसा का त्यागी होता है किन्तु निरपराध की हिसा का ही वह त्याग करता है । स्वरक्षा या देशरक्षा मे होने वाली हिसा का वह त्याग नही करता । उस समय भी उसका विचार रक्षा का ही होता है । हिसा का अवलम्बन वह विवशता से करता है ।

वर्णनाग तपश्चर्या की स्थिति मे भी युद्ध मे सलग्न हो गया । युद्ध करते-करते जब देखा कि शरीर अब टिक नही सकता तो वह सावधान हो गया और

अन्तिम समय की साधना मे तत्पर हो गया । युद्ध करते समय भी शत्रुओ पर गाढा प्रहार करते समय भी हिंसा मे रसानुभूति उसे नही हो रही थी । गीता मे जिसे निष्काम कर्म कहा गया है, वही कर्म वह दत्तचित्त होकर प्रामाणिकतापूर्वक कर रहा था ।

अन्त मे वर्णनाग समस्थिति मे आकर स्वर्गवासी हुआ । उसकी स्वर्गप्राप्ति का कारण था-विषम स्थिति से समस्थिति मे आना आर्त्त रौद्र भाव त्यागना और विषय-कषायो से विमुख होकर शान्तचित्त होना ।

सामायिक साधना का प्रथम सोपान सम्यक्त्व सामायिक है । सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही श्रुत के वास्तविक मर्म को समझा जा सकता है । अतएव श्रुत सामायिक को दूसरा सोपान कहना चाहिए । श्रुत सामायिक प्राप्त कर लेने पर चारित्र सामायिक को प्राप्त करना आसान होता है । चारित्र सामायिक श्रुत सामायिक के बिना स्थिर नही रह सकती । श्रुत सामायिक के द्वारा साधक को एक ऐसा बल मिलता है जिसके कारण देव और दानव भी उसका अहित नही कर सकते । आनन्द, कामदेव, कुण्ड कोलिक आदि गृहस्थ साधक सामायिक साधना के बल पर ही अमर हो गये है ।

भगवान् महावीर स्वामी ने श्रमणो को सम्बोधित करते हुए कहा कि कामदेव के समान साधना करो । देव ने हाथी सर्प आदि का विकराल रूप धारण करके कामदेव को धर्म से च्युत करने म कुछ उठा नही रखा किन्तु उसकी एक न चली । कामदेव अपनी साधना मे अडिग रहा । जिसके जीवन म साधना नही होती, वह थोडे से विक्षेप से भी चलायमान उद्विग्न और अधीर हो जाता है चुटकी से भी विचलित हो जाता है किन्तु आज साधना के शुद्ध स्वरूप को दुर्लक्ष्य किया जा रहा है ।

सामायिक साधना वह शक्ति है जो व्यक्ति मे नहीं समाज और देश म भी बिजली पैदा कर सकती है । व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन मे यह साधना आनी चाहिए जिससे उसका व्यापक प्रभाव अनुभव किया जा सके ।

प्राचीन भारतीय विद्वानो म एक चीज की कमी रही जो आज भी खटकती है । उन्होने पृथक-पृथक रूप से जो अनुभव और चिन्तन किया उसका सकलन करके उसे एक सगठित रूप प्रदान नहीं किया । इसके अभाव मे उसके आगे की कडी के रूप मे चिन्तन अबाध गति से चालू नहीं रह सका । उसकी शृखला बीच म टूट गई । उनके महत्त्वपूर्ण प्रयास बिखरे बिखरे रहे । उनका मेल मिलाने का कोई प्रयास नहीं किया गया । पश्चिम मे इस प्रकार का प्रयास दृष्टिगोचर होता है—

वहाँ एक सिद्धान्त को आधार मान कर उससे आगे का विचार किया गया है । वहाँ के चिन्तन मे एक सिलसिला है, कड़ी है, हालांकि उनका यह चितन एकान्त भौतिक रूप मे रहा ।

हमारे देश की आध्यात्मिक साधना को व्यावहारिक रूप मिलने से जीवन में ताकत आ जाती है, और असभव भी सभव हो जाता है । एक कवि ने कहा है–

कर लो सामायिक रो साधन, जीवन उज्ज्वल होवेला ।
तन का मैल हटाने खातिर, नितप्रति न्हावेला ।
मन पर मल चहुँ ओर जमा है, कैसे धोवेला ।।१।।

सामायिक से जीवन सुधरे, जो अपनावेला ।
निज सुधार से देश जाति, सुधरी हो जावेला ।।२।।

गिरत-गिरत प्रतिदिन रस्सी भी, शिला घिसावेला ।
करत-करत अभ्यास, मोह का जोर मिटावेला ।।३।।

रस्सी की बार-बार की रगड़ से शिला पर भी निशान पड़ जाते है । 'रसरी आवत जात ते सिल पर परत निशान ।' इसी प्रकार साधना के बल से मनुष्य की प्रकृति भी घिस सकती है । सामायिक साधना के समय काम-क्रोध आदि विकारो को नित्य 'टच' करो, टाचो और उन्हे अकुश मे लाओ तो धीरे-धीरे वे विकार कम हो जाएगे । अगर प्रतिदिन विकारो पर चोट मारने का काम प्रारभ किया गया तो जीवन मे अवश्य ही मोड़ आएगा ।

सामायिकसाधना करना अपने घर मे रहना है । सामायिक से अलग रहना बेघरबार रहना है । सामायिकसाधना करना आत्मा का घर मे आना है । काम-क्रोध आदि विकारो मे परिणत होना पराये घर में जाना है । किन्तु साधना के लिए अन्तःकरण को तैयार किया जाना चाहिए । नित्य की साधना बड़ी बलशालिनी होती है। घटा भर की साधना अगर नही हो सकती तो १०-१५ मिनिट श्रुतसाधना ही की जानी चाहिए । उससे भी शान्ति मिलेगी ।

मगर साधना मे बैठने वालो को सांसारिक प्रपंचो से मन को पृथक् कर लेना चाहिए । चित्त को प्रशान्त और एकाग्र करके साधना करने से अवश्य ही लाभ होगा । अन्तरंग साधना सामायिक के अभ्यास से ही सिद्ध होती है ।

अगर इस प्रकार से सामायिकसाधना जीवन मे अपनाई गई तो इहलोक और परलोक मे कल्याण होगा ।

---

[८२]

जीवन का कुगतिरोधक – संयम

आत्मा का स्वाभाविक गुण चैतन्य है। वह अनन्त ज्ञान दर्शन का पुंज परमज्योतिर्मय आनन्दनिधान निर्मल निष्कलंक और निरामय तत्व है। किन्तु अनादिकालीन कर्मावरणों के कारण उसका स्वरूप आच्छादित हो रहा है। चन्द्रमा मेघों से आवृत्त होता है तो उसका स्वाभाविक आलोक रुक जाता है मगर उस समय भी वह समूल नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के सहज ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव है कर्मरूपी मेघो द्वारा आवृत्त हो जाने पर भी उनका समूल विनाश नहीं होता। वायु के प्रबल वेग से मेघों के छिन्न भिन्न होने पर चन्द्रमा का सहज आलोक जैसे चमक उठता है उसी प्रकार कर्मों का आवरण हटने पर आत्मा के गुण अपने नैसर्गिक रूप में प्रकट हो जाते है। इस प्रकार जो कुछ प्राप्य है वह सब आत्मा को प्राप्त ही है। उसे बाहर से कुछ ग्रहण करना नहीं है। उसका अपना भण्डार अक्षय और असीम है।

बाहर से निधि प्राप्त करने के प्रयत्न में भीतर की निधि खो जाती है। यही कारण है कि जिन्हें अपनी निधि पानी है वे बड़ी से बड़ी बाहरी निधि को भी ठुकरा कर अकिंचन बन जाते है। चक्रवर्ती जैसे सम्राटों ने यही किया है और ऐसा किये बिना काम चल भी नहीं सकता।

बाह्य पदार्थों को ठुकरा देने पर भी अन्दर के खजाने को पाने के लिए प्रयास करना पड़ता है। वह प्रयास साधना के नाम से अभिहित किया गया है। भगवान् महावीर ने साधना के दो अंग बतलाए हैं – संयम और तप। संयम का सरल अर्थ है – अपने मन, वचन और शरीर को नियन्त्रित करना, इन्हें उच्छृंखल न होने देना, कर्मबन्ध का कारण न बनने देना। मन से अशुभ चिन्तन करने से, वचन का दुरुपयोग करने से और शरीर के द्वारा अप्रशस्त कृत्य करने से कर्म का बन्ध होता है। इन तीनों साधनों का रोध लेना ही साधना का प्रधान अंग है। अब देखें पूरी

तरह साध लिया जाता है तो कर्म वन्ध रुक जाता हे । नया कर्मवन्ध रोक देने पर भी पूर्ववद्ध कर्मों की सत्ता वनी रहती हे । उनसे पिण्ड छुड़ाने का उपाय तपश्चर्या है। तपश्चर्या से पूर्ववद्ध कर्म विनष्ट हो जाते हे । भगवान् महावीर ने तपश्चर्या को विशाल और आन्तरिक स्वरूप प्रदान किया हे । साधारण लोग समझते हे कि भूखा रहना और शारीरिक कष्टो को सहन कर लेना ही तपस्या है । किन्तु यह समझ सही नही है । इन्द्रियो को उत्तेजित न होने देने के लिए अनशन भी आवश्यक है, ऊनोदरी अर्थात् भूख से कम खाना भी उपयोगी है, जिह्वा को सयत वनाने के लिए अमुक रसो का परित्याग भी करना चाहिए, ऐश-आराम का त्याग करना भी जरूरी है और इन सव की गणना तपस्या मे हे, किन्तु सत्साहित्य का पठन, चिन्तन, मनन करना, ध्यान करना अर्थात् वहिर्मुख वृत्ति का त्याग कर अपने मन को आत्मचिन्तन मे सलग्न कर देना, उसकी चचलता को दूर करने के लिए एकाग्र वनाने का प्रयत्न करना, निरीह भाव से सेवा करना, विनयपूर्ण व्यवहार करना, अकृत्य न होने देना और कदाचित् हो जाय तो उसके लिए प्रायश्चित्त-पश्चात्ताप करना, अपनी भूल को गुरुजनो के समक्ष सरल एव निष्कपट भाव से प्रकट कर देना, इत्यादि भी तपस्या के ही रूप है । इससे आप समझ सकेंगे कि तपस्या कोई 'होआ' नही हे, वल्कि उत्तम जीवन बनाने के लिए आवश्यक ओर अनिवार्य विधि है ।

जिसके जीवन मे सयम और तप को जितना अधिक महत्व मिलता है, उसका जीवन उतना ही महान् वनता है । सयम और तप सिर्फ साधु-सन्तो की चीजे है, इस धारणा को समाप्त किया जाना चाहिए । गृहस्थ हो अथवा गृहत्यागी, जो भी अपने जीवन को पवित्र और सुखमय बनाना चाहता हे, उसे इनको स्थान देना चाहिए। सयम एव तप से विहीन जीवन किसी भी क्षेत्र मे सराहनीय नही वन सकता। कुटुम्ब, समाज, देश आदि की दृष्टि से भी वही जीवन धन्य माना जा सकता है जिसमे संयम और तप के तत्व विद्यमान हो ।

मोटर कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, अगर उसमे 'ब्रेक' नही है तो किस काम की ? ब्रेक विहीन मोटर सवारियो के प्राणो को ले वैठेगी । इसी तरह सयम जीवन का ब्रेक है । जिस मानव-जीवन मे सयम का ब्रेक नही, वह आत्मा को डुबा देने के सिवाय और क्या कर सकता है ?

मोटर के ब्रेक की तरह सयम जीवन की गति-विधि को नियन्त्रित करता है और जब जीवन नियन्त्रण मे रहता है तो वह नूतन कर्मबन्ध से बच जाता है । तपस्या पूर्वसंचित कर्मो का विनाश करती है । इस प्रकार नूतन कर्म बधनिरोध और पूर्वार्जित कर्मनिर्जरा होने से आत्मा का कार्मिक भार हल्का होने लगता है और

शनै शनै समूल नष्ट हो जाता है । जब यह स्थिति उत्पन्न होती है तो आत्मा अपनी शुद्ध निर्विकार दशा को प्राप्त करके परमात्मपद प्राप्त कर लेती है जिसे मुक्तदशा सिद्धावस्था या शुद्धावस्था भी कह सकते है ।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन मे सयम एव तप की साधना अत्यन्त उपयोगी है । जा चाहता है कि मेरा जीवन नियन्त्रित हो मर्यादित हो, उच्छृखल न हो, उसे अपने जीवन का सयत बनाने का प्रयास करना चाहिए । तीर्थंकर भगवन्तो ने मानव मात्र की सुविधा के लिए, उसकी परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए साधना की दो श्रेणियाँ या दो स्तर नियत किये है ।

(१) सागार साधना या गृहस्थधर्म और
(२) अनगार साधना या मुनिधर्म ।

अनगार धर्म का साधक वही गृहत्यागी हो सकता है जिसने सासारिक मोह ममता का परित्याग कर दिया है जो पूर्ण त्याग के कटकाकीर्ण पथ पर चलने का सकल्प कर चुका है जो परिग्रहो और उपसर्गो क सामने सीना तान कर स्थिर खडा रह सकता है और जिसके अन्त करण मे प्राणीमात्र के प्रति करुणा का भाव जागृत हो चुका है । यह साधना कठोर साधना है । विरल सत्त्वशाली ही वास्तविक रूप से इस पथ पर चल पाते है । सभी कालो और युगो मे ऐसे साधको की सख्या कम रही है परन्तु सख्या की दृष्टि से कम होने पर भी इन्होंने अपनी पूजनीयता त्याग और तप की अमिट छाप मानव समाज पर अंकित की है । इन अल्पसख्यक साधका ने स्वर्ग के देवो को भी प्रभावित किया है । साहित्य, सस्कृति और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र मे ये ही साधक प्रधान रहे है और मानवजाति के नैतिक एव धार्मिक धरातल को इन्होने सदा ऊँचा उठाए रखा है ।

जो अनगार या साधु के धर्म को अपना सकने की स्थिति म नही होते वे आगार धर्म या श्रावक धर्म का पालन कर सकते है । आनन्द ने अपने जीवन को निश्चित रूप से प्रभु महावीर के चरणो मे समर्पित कर दिया । उसने निवेदन किया– 'मैने वीतरागो का मार्ग ग्रहण किया है अब मै सराग मार्ग का त्याग करता हूँ। मै धर्मभाव से सराग देवा की उपासना नही करूगा । मै सच्चे सयमशील त्यागियो की वन्दना के लिये प्रतिज्ञाबद्ध होता हूँ । जो साधक अपने जीवन मे साधना करते करते मतिवैपरीत्य से पथ से विचलित हो जाते है अथवा जो सयमहीन होकर भी अपने को सयमी प्रदर्शित और घोषित करते हे उन्हे मै वन्दन नमन नही करूगा ।

आनन्द ने सकल्प किया– 'मै वीतरागवाणी पर अटलश्रद्धा रखूगा और शास्त्रो के अर्थ को सही रूप मे समझ कर उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करूगा ।

यदि शास्त्र का अर्थ अपने मन से खींचतान कर लगाया गया तो वह आत्मघातक होगा । उसके मर्म को समझने मे वाधा उपस्थित होगी । शास्त्र का अध्ययन तटस्थ दृष्टि रखकर किया जाना चाहिए, अपना विशिष्ट दृष्टिकोण रखकर नही । जब पहले से कोई दृष्टि निश्चित करके शास्त्र को उसके समर्थन के लिए पढ़ा जाता हे तो उसका अर्थ भी उसी ढग से किया जाता है । कुरीतियो, कुमार्गो और मिथ्याडम्वरो को एव मान्यताभेदो को जो प्रश्रय मिला हे, उसका एक कारण शास्त्रो का गलत ओर मनमाना अर्थ लगाना भी हे । ऐसी स्थिति मे शास्त्र शस्त्र का रूप ले लेता है । अर्थ करते समय प्रसग आदि कई वातो का ध्यान रखना पड़ता है ।

कोई सज्जन भोजन करने वैठे । उन्होंने अपने सेवक से कहा—'सैन्धव 'आनय ।' वह सेवक घोड़ा ले आया, भोजन का समय था फिर भी वह 'सैन्धव' मंगाने पर घोड़ा लाया । खा-पीकर तैयार हो जाने के पश्चात् कही वाहर जाने की तैयारी करके पुनः उन्होने कहा—''सैन्धव आनय ।' उस समय सेवक नमक ले आया । यद्यपि सैन्धव का अर्थ घोड़ा भी है और नमक भी, कोप के अनुसार दोनो अर्थ सही है । फिर भी सेवक ने प्रसग के अनुकूल अर्थ न करके अपनी मूर्खता का परिचय दिया । उसे भोजन करते समय 'सैन्धव' का अर्थ 'नमक' ओर यात्रा के प्रसग मे 'घोड़ा' अर्थ समझना चाहिए । यही प्रसगानुकूल सही अर्थ है । ऊट-पटांग अथवा अपने दुराग्रह के अनुकूल अर्थ लगाने से महर्षियो ने जो शास्त्र रचना की है, उसका समीचीन अर्थ समझ मे नही आ सकता ।

आनन्द ने अपरिग्रही त्यागी सन्तों को चौदह प्रकार का निर्दोष दान देने का सकल्प किया, क्योंकि आरम्भ और परिग्रह के त्यागी साधु दान के सर्वोत्तम पात्र है। उसने जिन वस्तुओ का दान देने का निश्चय किया, वे इस प्रकार है— (१) अशन (२) पान (३) खाद्य-पक्वान्न आदि (४) स्वाद्य-मुखवास चूर्ण आदि (५) वस्त्र (६) पात्र (७) कम्बल (८) रजोहरण (९) पीठ-चौकी वाजौट (१०) पाट (११) औषध-सोठ, लवग, कालीमिर्च आदि (१२) भैषज्य बनी-बनाई दवाई (१३) शय्या मकान और (१४) सस्तारक-पराल आदि ।

रजोहरण पॉव पोछने का वस्त्र है, जो धूल साफ करने के काम आता है जिससे कि सचित्त जीवादि की विराधना न हो । शय्या मकान के अर्थ मे रूढ़ हो गया है । इसका दूसरा अर्थ है बिछाकर सोने का उपकरण पट्टा आदि । पैरों को समेट कर सोने के लिए करीब अढ़ाई हाथ लम्बे बिछौने को 'सथारा-सस्तारक' कहते है। प्रमाद की वृद्धि न हो, ऐसा सोचकर साधक सिमट कर सोता है । इससे नीद भी

जल्दी खुल जाती है । आवश्यकता स अधिक निद्रा होगी तो साधना म बाधा आएगी, विकृति उत्पन्न होगी और स्वाध्याय ध्यान मे विघ्न होगा । ब्रह्मचारी गद्दा बिछा कर न सोए, यह नियम है । ऐसा न करने से प्रमाद तथा विकार बढेगा ।

साधु-सन्तो को औषध भैषज का दान देने का भी बडा माहात्म्य है । औषध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है– ओष-पोष धत्ते इति औषधम्' । सोठ लवग, पीपरामूल हर्र आदि वस्तुए औषध कहलाती है । यूनानी चिकित्सा पद्धति मे भी इसी प्रकार की वस्तुओ का उपयोग होता है ।

प्राचीन काल मे भारतवर्ष मे आहार विहार के विषय मे पर्याप्त सयम से काम लिया जाता था । इस कारण उस समय औषधालय भी कम थे । कदाचित् कोई गडबड हो जाती थी तो बुद्धिमान मनुष्य अपने आहार-विहार मे यथोचित् परिवर्तन करके स्वास्थ्य प्राप्त कर लेते थे । चिकित्सको का सहारा क्वचित् कदाचित् ही लिया जाता था । करोडो पशु पक्षी वनो मे वास करते है । उनके बीच कोई वैद्य डॉक्टर नही है। फिर भी वे मनुष्यो की अपेक्षा अधिक स्वस्थ रहते है । इसका कारण यही है कि वे प्रकृति के नियमो की अवहेलना नही करते । मनुष्य अपनी बुद्धि के घमण्ड मे आकर प्रकृति के कानूनो को भग करता है और प्रकृति कुपित होकर उसे दण्डित करती है । मास मदिरा आदि का सेवन करना प्रकृति के विरुद्ध है । मनुष्य के शरीर मे वे आते नही होती वह पाचन सस्थान नहीं होता जो मासादि को पचा सके । मासभक्षी पशुओ और मनुष्यो के नाखून दात आदि की बनावट मे भी अन्तर है । फिर भी जिह्वालोलुप मनुष्य मास-भक्षण करके प्रकृति के कानून को भग करते है । फलस्वरूप उन्हे दड का भागी होना पडता है । पशु के शरीर मे जब विकार उत्पन्न होता है तो वह चारा खाना छोड देता है । यह रोग की प्राकृतिक चिकित्सा है । किन्तु मनुष्य से प्राय यह भी नही बन पडता । बीमार कदाचित् खाना न चाहे तो उसके अज्ञानी पारिवारिक जन कुछ न कुछ खा लेने की प्रेरणा करते है और खिला कर ही छोडते हैं । इस प्रकार पशु अनशन के द्वारा ही अपने रोग का प्रतीकार कर लेते हैं। इसके विपरीत बीमार मनुष्य बीमारी मे भी खाना ठूसकर अधिक बीमार होता जाता है।

गर्भावस्था मे मादा पशु न समागम करने देती है और न नर समागम करने की इच्छा ही करता है । मनुष्य इतना भी विवेक और सन्तोष नही रखता ।

मनुष्य का आज आहार सम्बन्धी अकुश बिलकुल हट गया है । वह घर मे भी खाता है और घर से बाहर दुकानो और खोमचो पर जाकर भी दोने चाटता है। ये बाजारू चीजे प्राय स्वास्थ्य का विनाश करने वाली विकार वर्द्धक और हिंसाजनित होने के कारण पापजनक भी होती है । दिना दिन इनका प्रचार बढता-

रहा है और उसी अनुपात में व्याधियां भी बढ़ती जा रही है । अगर मनुष्य प्रकृति के नियमो का प्रामाणिकता के साथ अनुसरण करे और अपने स्वास्थ्य की चिन्ता रखे तो उसे डॉक्टरो की शरण मे जाने की आवश्यकता ही न हो । डॉक्टरो और वैद्य-हकीमों से और इनकी अप्राकृतिक कृत्रिम औषधियों से त्रस्त होकर कुछ बुद्धिजीवी एव साहसी व्यक्तियो ने इस दिशा मे निरन्तर खोज की—उनकी खोजो ने प्रमाणित कर दिया है कि पुरातन काल मे हमारी जो खान-पान एव रहन-सहन की सात्विक, नैसर्गिक एवं प्राकृतिक पद्धति थी—वह उत्तम थी ।

आज इन अन्वेषियो ने पुनः स्थापना की है कि यह शरीर स्वय अपना डॉक्टर वैद्य या हकीम है—इसे किसी बाहरी डॉक्टर, वैद्य, हकीम की आवश्यकता नही है । जो कुछ हम खाते है या पीते है शरीर अपनी पाचन-क्रिया द्वारा उनका रस बना कर अपने शरीर का अंग बना लेता है । जो अंग नहीं बन सकता उन विजातीय अंशो को यह शरीर टट्टी-पेशाब, पसीना आदि माध्यमो द्वारा बाहर निकाल देता है । इसके बाद भी अगर कोई विजातीय पदार्थ शरीर मे रह गया तो शरीर पाचन क्रिया बन्द करके उस विजातीय द्रव्य को शरीर से बाहर निकालने का असाधारण प्रयत्न करता है—जुकाम, बुखार आदि के द्वारा । ऐसे समय मे बुद्धिमान मानव को चाहिये कि शरीर के इस प्रयत्न को समझे और उसके इस प्रयत्न मे उसकी मदद करे । प्रकृति का संकेत होता है और जुकाम-बुखार में व्यक्ति को भूख भी नही लगती क्योंकि शरीर उस अवस्था में पाचन क्रिया बन्द कर के शरीर की सफाई मे लग जाता है । शरीर के इस सकेत को समझ कर व्यक्ति को तत्काल भोजन बन्द करके लंघन द्वारा शरीर की सफाई की क्रिया में मदद करनी चहिये । पर व्यक्ति लंघन करने के स्थान पर और खाता जाता है और शरीर के सफाई करने के प्रयत्न को निष्फल करता जाता है । दवाईयो के डडे मार-मार कर प्रकृति के प्रयत्नों में दखल देता जाता है ।

पर जब तक विजातीय द्रव्य शरीर से नही निकलेगा और शरीर मे जीवनी शक्ति विद्यमान है शरीर उन विजातीय द्रव्यों को निकाल कर ही दम लेगा । ऐसा करते-करते जीवनी शक्ति जब चुक जाएगी तब कोई डॉक्टर वैद्य या हकीम और उनकी औषधिया कितने ही प्रयत्न करे वे निरर्थक होगे ।

इसी तरह का उद्‌बोधन प्रभु महावीर ने भी मानव को अपनी अन्तिम देशना में भी दिया है । इसी से इसका महत्त्व स्वतः प्रकट है । उत्तराध्ययन के १९वें अध्ययन मे इसे विस्तार से समझाते हुए अन्त मे कहा है—

मिग चारिय चरिस्सामि,
सव्व दुक्ख विमोक्खणिं । (गाथा-८५)

अर्थात् साधक कहता है कि मै सभी दु खो का क्षय करने वाली मृगचर्या का आचरण करूगा । आगमो मे भी यत्र-तत्र इस तरह के उपदेश कण सर्वत्र बिखरे पडे है ।

इन्ही सब वीतराग पुरुषो ऋषि मुनियो के उपदेशो से सार ग्रहण करके इस देश के निर्माताओ ने इस देश की खान पान एव रहन सहन प्रमुख एक परम वैज्ञानिक ग्राम्य जीवन पद्धति की नीव डाली ।

आज पुन उसी जीवनपद्धति के पुनरज्जीवन की आवश्यकता है । इसके बिना देश का स्वास्थ्य खतरे मे है । वैज्ञानिक इस ओर अपनी खोज को और आगे बढावे और देश की एक अपनी स्वतन्त्र खान-पान एव रहन सहन की राष्ट्रीय जीवन-पद्धति का आज की परिस्थितियो को देखकर पुन निर्धारण करे । इसम जैन आगमो ने 'मृगचर्या' पद्धति के अलावा यम नियम-सयम ब्रह्मचर्य योगासन ध्यान प्राणायाम, व्रत उपवास आयबिल आदि का भी स्थान स्थान पर उल्लेख किया है । सात्विक एव प्रकृति जन्य शुद्ध औषध प्रयोग की बात का उल्लेख भी मिलता है ।

जैन-सिद्धान्त म नित्य प्रति द्रव्यो का परिमाण प्रत्येक सद्गृहस्थ द्वारा करने का भी विधान है । इसके पीछे भी आध्यात्मिकता के साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे भी गहरा अर्थ छिपा हुआ है । शरीर-स्वास्थ्य की दृष्टि से भी जितने कम से कम सुपाच्य एव शुद्ध सात्विक पदार्थ खाने मे आवेंगे पाचन शक्ति को कम श्रम मे उतने ही अधिक पोषक तत्त्व प्राप्त हो जाएँगे । उसे अतिरिक्त पाचन शक्ति खर्च नही करनी पडेगी । इससे स्वत ही स्वास्थ्य की रक्षा एव उसकी वृद्धि होती रहेगी । व्यक्ति के बीमार होने का अवसर ही नही रहेगा । इसीलिये आज के प्राकृतिक चिकित्सक कहते भी है कि मानव बीमार होने के लिए पैदा ही नही हुआ । उसके लिये स्वस्थ रहना अधिक आसान है बीमार होना कठिन है बशर्ते कि वह प्रकृति के निकट रहे । उसका आचरण रहन-सहन खान पान प्रकृति के पूर्ण अनुकूल हो ।

इस विषय मे आज प्राकृतिक चिकित्सा एव रहन सहन, खान-पान विषयक बहुत सा सामायिक साहित्य भी निकल रहा है । इसका भी अध्ययन करना स्वास्थ्य की दृष्टि से उपयोगी है । मनीषियो ने कहा भी है—

शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्

धर्म-आराधना निष्कटक होती रहे इसके लिये शरीर के स[illegible] भी ध्यान रखना गृहस्थ के लिये अति आवश्यक है । उनका [illegible] [illegible]हन आर

सुन्दर-स्वस्थ व प्रकृति के अनुकूल होगा तो हम साधु-साध्वी वर्ग का स्वास्थ्य भी सुन्दर व सही रहेगा क्योंकि यह साधु-साध्वी वर्ग भी तो खान-पान के मामले मे गृहस्थ वर्ग पर ही पूर्णतः निर्भर है ।

कहा भी है – जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन' इस दृष्टि से शुद्ध-सात्विक-सादा शाकाहारी भोजन जो प्रकृति के अनुकूल हो हित-मित एव परिमित हो वही उत्तम हे । ऐसा करने से अधिकाधिक स्वास्थ्य की रक्षा हो सकेगी । इसे समझना और तदनुकूल आचरण करना आज के समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। हम पश्चिम के खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार के अन्धानुकरण से वचे । इसी मे हम सब का हित निहित है । धर्म साधना के लिये भी शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है ।

आज के प्राकृतिक चिकित्सको ने जैनियो के इस द्रव्य-परिमाण के महत्त्व को समझकर अपने सतत् परीक्षणो आदि से यहाँ तक प्रतिपादित कर दिया है कि केवल मात्र हाथ की घट्टी से पिसे चोकरदार गेहू अथवा जौ अथवा गेहूँ-जौ-चने की मिश्रित एक मात्र मोटी रोटी को बिना किसी साग-चटनी आदि के सहारे के अकेली को पूरी तरह चबा-चबाकर लगातार साल भर या छः माह तक भी खाते रहने मात्र से कैसी से कैसी बीमारी से व्यक्ति छुटकारा पाकर पूर्ण स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर सकता है कितनी सरल एव सस्ती चिकित्सा की खोज इन लोगों ने कर ली है ।*

अनेक प्रकार के दुर्व्यसनो ने आज मनुष्य को बुरी तरह घेर रखा है । केसर जैसा असाध्य रोग दुर्व्यसनो की बदौलत ही उत्पन्न होता है और वह प्रायः प्राण लेकर ही रहता है । अमेरिका आदि मे जो शोध हुई है, उससे स्पष्ट है कि धूम्रपान इस रोग का प्रधान कारण है । मगर यह जान कर भी लोग सिगरेट और बीड़ी पीना नही छोड़ते । उन्हे मर जाना मजूर है मगर दुर्व्यसन से बचना मजूर नही । यह मनुष्य के विवेक का दीवाला नही तो क्या है ! क्या इसी बूते पर वह समस्त प्राणियो मे सर्वश्रेष्ठ होने का दावा करता है ? प्राप्त विवेकबुद्धि का इस प्रकार दुरुपयोग करना अपने विनाश को आमन्त्रित करना नही तो क्या है ?

लोग, सोठ आदि चीजे औषध कहलाती है । तुलसी के पत्ते भी औषध मे सम्मिलित हैं । तुलसी का पौधा घर में लगाने का प्रधान उद्देश्य स्वास्थ्य लाभ ही है।

---

* इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक श्री जानकी शरण वर्मा द्वारा लिखित एव भारती भडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित पुस्तक "रोगो की अचूक (प्राकृतिक) चिकित्सा" द्रष्टव्य है । (सम्पादक)

पुराने जमाने मे इन चीजा का ही दवा के रूप मे प्राय इस्तेमाल हाता था । आज भी देहात मे इन्ही का उपयोग ज्यादा हाता है । इन वस्तुओ को चूण गोली रस आदि के रूप म तैयार कर लेना भेषज है ।

आनन्द ने साधु साध्वी वर्ग को दान देने का जो सकल्प किया उसका तात्पर्य यह नही कि उसने अन्य समस्त लागा की ओर से पीठ फर ली । इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वह दुखी दीन, पीडित अनुकम्पापात्र जनो को दान ही नही देगा । सुख की स्थिति मे पात्र-अपात्र का विचार किया जाता है दुख की स्थिति मे पडे व्यक्ति मे तो पात्रता स्वत आ गई । अभिप्राय यह है कि कर्म निर्जरा की दृष्टि से दिये जाने वाले दान म सुपात्र कुपात्र का विचार होता है किन्तु अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले दान मे यह विचार नही किया जाता । कसाइ या चोर जैसा व्यक्ति भी यदि मरणान्तिक कष्ट म हो तो उसको कष्ट मुक्त करना उसकी सहायता करना और दान देना भी पुण्यकृत्य है क्योकि वह अनुकम्पा का पात्र है । दाता यदि अनुकम्पा की पुण्यभावना से प्रेरित होकर दान देता है तो उसे अपनी भावना के अनुरूप फल की प्राप्ति होती है ।

गृहस्थ आनन्द भगवान् महावीर स्वामी की देशना का श्रवण करके और व्रतो को अगीकार करके घर लौटता है । उसने महाप्रभु महावीर के चरणा मे पहुँच कर उनसे कुछ ग्रहण किया । उसने अपने हृदय और मन का पात्र भर लिया । आप्त पुरुष की वाणी श्रवण कर जैसे आनन्द ने अपने जीवन-व्यवहार मे उसे उतारने की प्रतिज्ञा की उसी प्रकार प्रत्येक श्रावक का जिनवाणी को व्यावहारिक रूप देना चाहिए। ऐसा करने से ही इह परलोक मे उसका कल्याण होगा ।

जीवन मे आमोद प्रमोद के भी दिन होते है । जीवन का महत्त्व भी हमारे सामने है । यथोचित सीख लेकर हमे उस महत्त्व का उपलब्ध करना है । यो तो य सासारिक मेले आप बहुत करते है किन्तु मुक्ति का मेला मनुष्य कर ल आध्यात्मिक जीवन बना ले तो उसे स्थायी आनन्द प्राप्त हो सकता है । कवि ने कहा है–

मुक्ति का मेला कर लो भाव से अवसर मत चूको ।
दया दान की गोठ बनाओ भाग भगति की पीओ ।।

ससार मे दो किस्म के मेले होते है– (१) कर्मबध करने वाले और (२) कर्म बध को काटने वाले अथवा या कहले कि (१) मन को मलिन करने वाले और (२) मन को निर्मल करने वाले ।

प्रथम प्रकार के मेले काम, कुतूहल एव विविध प्रकार के क्रिया करते है । एस मेल वाल-जीवा को ही रुचिकर होने है । ससार

देखे है और उन्हे देख कर मनुष्यो ने अपने मन मैले किये है । उनके फलस्वरूप ससार मे भटकना पड़ा है । अब यदि जन्म-मरण के बन्धनो से छुटकारा पाना है तो मुक्ति का मेला कर लो ।

कबीरदासजी ने भाव की भंग, मरम की काली मिर्च डाल कर पी थी और अपने हृदय मे प्रेम की लालिमा उत्पन्न की थी ।

आनन्द आदि साधको ने बन्धन काटने वाले मेले के स्वरूप को समझा । उन्होने नियम-सयम का नशा लिया । इससे उनका जीवन आनन्दमय बन गया । जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त करने के लिए आनन्द के समान ही साधना को अपनाना होगा । इसी मे मानव का स्थायी कल्याण है ।

---

[८३]

स्वाध्याय

आज का दिन चातुर्मासिक पर्व के नाम से जाना जाता है । चार मास पर्यन्त इस वर्षावास मे ज्ञान-गगा की जो धारा प्रवाहित हो रही थी वह अपनी दिशा बदलने वाली है । चार मास से ज्ञान और सत्सग का जो यज्ञ चल रहा था आज उसकी पूर्णाहुति है। श्रमणवर्ग अपना स्थिर निवास त्यागकर पुन विहारचर्या अपनाएँगे ।

अन्त के इन तीन दिनो मे 'सामायिक सम्मेलन' के आयोजन ने इस पर्व को सोने मे सुगध की तरह भर दिया है । आज स्वाध्याय की ज्योति को जगाने का दिवस है ।

यह आत्मशोधक पर्व है जिसमे इस जीवन की शुद्धि सफलता और श्रेय का विचार करना है और भविष्य का निर्माण करना है ।

भगवान् महावीर का अनेकान्तमार्ग जिसने कोटि-कोटि बन्धनबद्ध प्राणियो को मुक्ति और स्वाधीनता का मार्ग प्रदर्शित किया है ज्ञान और क्रिया के समन्वय का समर्थन करके चलता है । उसने हमे बतलाया है कि एकागी कर्म से अथवा एकागी ज्ञान से निस्तार नही होगा । जब तक ज्ञान और क्रिया एक-दूसरे के पूरक बनकर सयुक्त बल न प्राप्त कर लेगे, तब तक साधक की साधना मे पूर्णता नही आएगी वह लगडी रहेगी और उससे सिद्धि प्राप्त नही की जा सकेगी । क्रियाहीन ज्ञान मस्तिष्क का भार है और ज्ञानहीन क्रिया अन्धी है । दोनो एक-दूसरे के सहयोग के बिना निष्फल है । उनसे आत्मा का कल्याण नहीं होता । कहा भी है—

हत ज्ञान क्रियाहीन हता चाज्ञानिना क्रिया ।

अर्थात् क्रिया से रहित ज्ञान और ज्ञान से रहित क्रिया वृथा है । वह विशाल से विशाल और गम्भीर स गम्भीर ज्ञान आखिर किस काम का है जो कभी व्यवहार मे नही आता ? उसस परमार्थ की तो बात दूर व्यवहार म भी लाभ नही हो

सकता । जो मनुष्य अपनी मन्जिल तक जाने के मार्ग को जानता हे, दूसरो को बतला भी देता है, मगर स्वय एक कदम भी नही उठाता, उस ओर चलने का कष्ट नही उठाना चाहता, वह क्या जीवनपर्यन्त भी अपनी मन्जिल पर पहुँच सकेगा ? कदापि नही । ज्ञान पथ को आलोकित कर सकता है मगर मन्जिल तक पहुँचा नही सकता ।

एक दीर्घकाल का रोगी है । अनेको चिकित्सको के पास पहुँच कर उसने रोग की औषध पूछी है । उन औषधो को वह भलीभांति समझ गया है, मगर जब तक औषध का सेवन नही करेगा, तब तक क्या ज्ञान मात्र से वह स्वास्थ्य लाभ कर लेगा ?

इससे भलीभांति सिद्ध है कि कोरा ज्ञान, क्रिया के अभाव मे कार्यसाधक नही होता । इसी प्रकार ज्ञानहीन क्रिया भी फलप्रद नही होती । एक मनुष्य अपनी मन्जिल पर पहुँचने के लिए चल रहा है, चल रहा है और चलता ही जा रहा है । मगर उसे पता नही कि किस मार्ग से चलने पर मन्जिल तक पहुँच पाएगा । ऐसी दशा मे उसका चलना किस काम आएगा ? अज्ञान के कारण सभव है उसका चलना उसकी मन्जिल को और अधिक दूर कर दे । मन्जिल तक पहुँचने के लिए, मजिल के विरुद्ध दिशा मे चलने वाला कब मन्जिल तक पहुँच सकेगा ? रोगी रोग के शमन के लिए औषध को जानने का प्रयत्न न करे और अनजाने कुछ भी अंटसंट खाता रहे तो क्या वह रोग का निवारण करने मे समर्थ हो सकेगा ?

जो मनुष्य यह नही देखता कि जिसे वह खा रहा है वह गुणकारी है या हानिकारक, उसे गभीर परिणाम भुगतना पड़ सकता है । ऐसी स्थिति मे कई लोगो को जिन्दगी से हाथ धोना पड़ा है । पदार्थ को न पहचानने तथा गुणदोष को न देखने से भयकर हानिया होती है । नायलोन का कपड़ा पहनकर उसकी तासीर को न जानने के कारण सैकड़ो लोग जल मरे है । आए दिन महिलाओ के जल मरने के समाचार पढ़ने मे आते रहते है । वस्तु अमुक गुण-धर्मवाली है, यह ख्याल रहे तो मनुष्य हानि से बच सकता है । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र मे कहा है–

स्वय परेण वा ज्ञातं फलमद्याद्विशारदः ।
निषिद्धे विषफले वा, मा भूतस्य प्रवर्त्तनम् ।।

अर्थात् बुद्धिमान मनुष्य को उसी फल का भक्षण करना चाहिए जिसे वह स्वयं जानता हो या दूसरा कोई जानता हो, जिससे कि निषिद्ध या विषैला फल खाने मे न आ जाए । निषिद्ध फल खाने से व्रतभग होता है और विषाक्त फल खाने से प्राणहानि हो सकती है ।

मान लीजिए एक तश्तरी में शिलाजीत और अफीम का टुकड़ा पड़ा है। यदि शिलाजीत के बदले अफीम खाली जाय तो सब खेल खत्म हो जाएगा। परन्तु जो शिलाजीत को पहचान कर खाएगा, उसे कोई खतरा नहीं होगा। इसी कारण अज्ञात वस्तु खाने का निषेध किया गया है।

तात्पर्य यह है कि क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य है यह जानने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। इसके बिना की जाने वाली क्रिया सफल नहीं होती।

ज्ञान नेत्र है तो क्रिया पैर है। नेत्र मार्ग दिखलाएंगे पैर रास्ता तय करेंगे।

पाप पुण्य बन्ध मोक्ष जीव-अजीव आदि का ज्ञान मानो नेत्र है। इस ज्ञान को क्रिया रूप में परिणत किया जाय तो यह वरदान सिद्ध होगा। अतएव सच्चा आराधक वही है जो ज्ञान और क्रिया का समन्वय साध कर अपने जीवन को उन्नत करता है।

अनेक जानकार व्यक्ति साधना के पथ पर नहीं चलते, परन्तु वे साधना के महत्व को स्वीकार करते हैं। सच्चे ज्ञान के होने पर यदि बहिरंग क्रिया न भी हो तो अन्तरंग क्रिया जागृत हो ही जाती है। ऐसा न हो तो सच्चे ज्ञान का अभाव ही समझना चाहिए।

इस प्रकार जीवन को ऊँचा उठाने के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों के संयुक्त बल की आवश्यकता है। सामायिक साधना में भी ये दोनों अपेक्षित हैं। इन दोनों के आधार पर सामायिक के भी दो प्रकार हो जाते हैं-(1) श्रुत सामायिक और चारित्र सामायिक।

मुक्तिमार्ग में चलना चारित्र सामायिक है। इसके पूर्व श्रुत सामायिक का स्थान है जिससे जीवन की प्रगति या आत्मिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक रहा प्रकाश मिलता है। इसी प्रकाश में साधक अग्रसर होता है और यदि वह प्रकाश उपलब्ध न हो तो वह लड़खड़ा जाता है।

व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन में विकारों का जो प्रभाव होता है उसका कारण सही ज्ञान न होना है। ज्ञान के आलोक के अभाव में मनुष्य विकारों का मार्ग ग्रहण कर लेता है। इस कुमार्ग पर चलते चलते वह ऐसा अभ्यस्त हो जाता है एक ऐसे ढांचे में ढल जाता है कि उसे त्यागने में असमर्थ बन जाता है। ऐसी स्थिति में उसका सही राह पर आना तभी संभव है जब फिर प्रकाश उसे ज्ञान का प्रकाश मिले। ... के लिए आवश्यक है कि मनुष्य निरन्तर ज्ञान का स्वाध्याय करे।

स्वाध्याय जीवन के सस्कार के लिए अनिवार्य है । स्वाध्याय ही प्राचीनकालीन महापुरुषो के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित करता है और उनके अन्तस्तल को समझने मे सहायक होता है । भगवान् महावीर, गौतम और सुधर्मा जैसे परमपुरुषो के वचनो और विचारो को जानने का एकमात्र उपाय स्वाध्याय ही है । आज स्वाध्याय के प्रचार की बडी आवश्यकता है और उसके लिए साधको की मण्डली चाहिए । ज्ञानबल के अभाव मे त्यागियो के ज्ञानप्रकाश को ग्रहण करने वाले पर्याप्त पात्र नही मिलते । इसका कारण स्वाध्यायविषयक रुचि का मन्द पड़ जाना है । श्रुतबल की मन्दता वाले श्रोता स्वाध्याय के महत्व को नही समझ पाते ।

सम्यक्त्व मे श्रद्धा का बल निहित होता है । भरत को यह बल प्राप्त था। चारित्र सामायिक का बल उसे प्राप्त नही था तथापि श्रुत सामायिक का बल प्राप्त होने से उन्हे केवल-ज्ञान प्राप्त हो सका । यही नही, भरत की आठ पीढ़ियां महल मे निवास करती हुई भी मुक्ति पा गई । इसका कारण भी सम्यक्त्व एव श्रुत सामायिक का बल था ।

इसका आशय यह न समझ ले कि भरत और उनकी सन्तान ने चारित्र के बिना ही मोक्ष प्राप्त कर लिया । नही, चारित्र के अभाव मे मोक्ष कदापि सभव नही है । इस कथन का आशय यह है कि सम्यक्त्व और श्रुत सामायिक का प्रबल बल होने पर बाह्य क्रिया काण्ड रूप व्यवहारचारित्र के बिना भी स्वात्मरमण रूप निश्चय चारित्र प्राप्त हो सकता है । सामान्य मनुष्य काम-क्रोध आदि की विविध तरगो मे बहता-उछलता रहता है । भरत भारतवर्ष के छहों खडो के अधिपति होकर भी इन तरगो के प्रभाव से प्रभावित नही हुए । घर का आनुवंशिक सस्कार भी और मनुष्य के अतीतकालिक सस्कार भी ऐसी जगह वह काम कर जाते है जो कॉलेज की शिक्षा या शास्त्राध्ययन से भी प्राप्त नही हो सकते । पी.एच.डी. की उच्च उपाधि प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति का दिमाग भले ही गुमराह हो जाय परन्तु सुसस्कृत व्यक्ति गुमराह नही हो सकता । भरत अपने अन्तिम जीवन को निर्वाण के योग्य बना सके, इसका प्रधान कारण श्रुत और सम्यक्त्व है ।

सामायिक के दो रूप है—साधना और सिद्धि । श्रुत सामायिक से साधना सकल्प का आरभ और उदय होता है । वह विकास पाकर ज्ञान और चारित्र के द्वारा आत्मा मे स्थिरता उत्पन्न करता है । यह आत्मस्थिरता ही सामायिक की पूर्णता है । आत्मप्रदेशो का स्पन्दन या कम्पन जब समाप्त हो जाय तभी सामायिक की पूर्णता समझनी चाहिए। इसे आगम की भाषा मे अयोगी दशा की प्राप्ति कहते है ।

आज केवलज्ञानी इस क्षेत्र मे विद्यमान नही है श्रुतकेवली भी नही है । किन्तु महापुरुषो की श्रुताराधना के फलस्वरूप उनकी वाणी का कुछ अश हमे सुलभ है । इसीके द्वारा हम उनकी परोक्ष उपासना का लाभ प्राप्त कर सक्ते है । इसके लिए स्वाध्याय करना आवश्यक है । स्वाध्याय चित्त की स्थिरता और पवित्रता के लिए भी सर्वोत्तम उपाय है ।

जीवन को ऊँचा उठाने का अमोघ उपाय श्रुताराधन है । यदि व्रत विकृत होता हो उसमे कमजोरी आ रही हो तो स्वाध्याय की शरण लेनी चाहिए । स्वाध्याय से बल की वृद्धि होगी, आनन्द की अनुभूति और नूतन ज्योति की प्राप्ति होगी ।

आनन्द ने साधना द्वारा पन्द्रह वर्ष के पश्चात् साधुजीवन की भूमिका प्राप्त कर ली । वास्तव म साधना एक अनमोल मणि है जिससे मानव की आत्मिक दरिद्रता दूर की जा सकती है । साधना के क्रम और सही पथ को विस्मृत न किया जाय और उसे रूढिमात्र न बना दिया जाय । साधना सजीव हो प्राणवान् हो और विवेक की पृष्ठभूमि मे की जाय तभी उससे वास्तविक लाभ उठाया जा सकता है । अन्यथा मणिधर होते हुए भी अन्धकार मे भटकने के समान होगा । जब साधना के द्वारा आत्मा सुसस्कृत बनती है तो उसमे ज्ञान की ज्योति जागृत हो जाती है जीवन ऊँचा उठता है और ऐसा व्यक्ति अपने प्रभाव एव आदर्श से समाज को भी ऊँचा उठा देता है ।

जीवमात्र मे राग और द्वेष के जो गहरे सस्कार पडे है उनके प्रभाव से किसी वस्तु को प्रेम की दृष्टि से और किसी को द्वेष की दृष्टि से देखा जाता है । जिस वस्तु को एक मनुष्य राग की दृष्टि से देखता है उसी को दूसरा द्वेष की दृष्टि से देखता है । भगवान् महावीर जैसे वीतराग निर्मल, निष्कलक सर्वहितकर परम परमात्मा को भी विपरीत दृष्टि से देखने वाले मिल जाते है तो अन्य के विषय मे क्या कहा जाय ?

विरोधमय दृष्टि से दूसरो की बुराइयाँ तो दिखेगी पर अच्छाइया दृष्टिगोचर न होगी । अनादिकाल से मनुष्य स्वार्थ के चक्र मे फँसा है । स्वार्थ मे थोडी ठेस लगने से विरोधी भाव जागृत हो जाते है । अतएव आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने जीवन मे तटस्थता के दृष्टिकोण को विकसित करे । ऐसा करने से किसी भी वस्तु के गुण दोषो का सही मूल्याकन किया जा सकता है ।

लौकाशाह जैसे व्यक्ति समय पर आगे आए जिन्होंने गृहस्थो के लिए भी श्रुत के अध्ययन का मार्ग खोला । इससे पूर्व बाबा लोगो ने आगम श्रुत पर

एकाधिकार कर लिया था । मगर लौकाशाह ने समाज को अधेरे से वाहर निकाला । वस्तुस्वरूप को उन्होने समझा था, इस कारण मार्ग का स्वरूप सामने आया । श्रुतज्ञान का अभाव कुछ हद तक दूर हुआ । मगर आज की नयी पीढ़ी श्रुतज्ञान के प्रति उदासीन होती जा रही है । धार्मिक विज्ञान की दृष्टि से कितने प्रकार के जीव होते है, तरुण पीढ़ी वाले यह नही वता सकेंगे । जहाँ इतनी वात का भी पता न हो वहा धर्म एव शास्त्रो के हार्द को समझे जाने की क्या आशा की जा सकती है? लौकाशाह ने सोचा कि श्रुतज्ञान तो प्रत्येक मानव के लिए आवश्यक है, और लौकाशाह के कहलाने वाले अनुयायी आज श्रुतज्ञान के प्रति उपेक्षाशील हो रहे है, यह खेद और विस्मय की ही वात है ।

धार्मिक सघर्ष के समय साहित्य के विनाश का क्रम भी चला था । जैसे सैनिक दल विरोधी पक्ष के खाद्य और शस्त्रभण्डार आदि का विनाश करते है, वैसा ही विरोधी धर्मावलम्वियो ने साहित्य का विनाश किया । फिर भी आज हमारे समक्ष जो श्रुतराशि है, वह सत्य मार्ग को समझने-समझाने के लिए पर्याप्त है ।

लौकाशाह ने उनके अध्ययन का गृहस्थो के लिए भी समर्थन किया । उन्होने समाज मे फैले उन विकारों को भी दूर किया, जो सम्यग्दर्शन के लिहाज से वुरे थे । सामायिक-पौषध को उड़ाने की बात उन्होने नही कही, सिर्फ विकारो पर ही चोट लगाई ।

हम बँधे है जिन वचनो से । जिन वचन के नाम पर की गई या की जाने वाली स्खलनाओ से हम नही बँधे है । हम महावीर के वचनो से बँधे है जिनके लिए आत्मोत्सर्ग करना अपना सौभाग्य समझेंगे ।

विक्रम सम्वत् १५३१ मे ५४ जनो के साथ लौकाशाह जिन-धर्म मे दीक्षित हुए। उन्होंने कोई नयी चीज नही रखी, सिर्फ भूली वस्तु की याद दिलाई । जैसे भूगर्भशास्त्रवेत्ता जलधारा को जान कर गाव के पास उस स्रोत को ला सकता है, ऐसी ही बात लौकाशाह के प्रति कह सकते हैं । मगर यह भी कोई कम महत्व की वात नही है । सोयी जनता को उन्होने जगाया और कहा कि महात्मा जो कहे सो मान ले, यह ठीक नही है । हम स्वय श्रुत की आराधना करे । कवि ने कहा है–

कर लो श्रुत वाणी का पाठ, भविक जन, मन-मल हरने को ।
विन स्वाध्याय ज्ञान नही होगा, ज्योति जगाने को ।
राग-रोष की गाठ गले नही, वोधि मिलाने को ।
जीवादिक स्वाध्याय से जानो, करणी करने को ।
वन्ध-मोक्ष का ज्ञान करो, भवभ्रमण मिटाने को ।।

लौकाशाह की समाज को सबसे बडी देन है–भूली हुई स्वाध्यायवृत्ति को पुन जागृत करना । स्वाध्याय के अभाव मे जीवन म विकार आ जाना स्वाभाविक है । रेशमी या अन्य किसी बढिया से बढिया वस्त्र को कितना ही समाल कर रखा जाय फिर भी कुछ दिनो मे उसका रग बदल जाएगा या उसमे दाग लग जाएँगे ।

विषय कषाय का मूल स्रोत कायम है अतएव मानव के गडबडाने की समावना बनी रहती है । किन्तु बातो से या सम्भाषण से काम नही चलेगा । अच्छे से अच्छे प्रस्ताव पास कर लेने से भी क्या होना जाना है ? शासन ऊँचा उठेगा क्रियात्मक रूप देने से । पॉच वीर यदि दढ सकल्प के साथ कार्य मे जुट जाएँ तो पॉच सौ आदमियो से भी अधिक काम कर सकते है ।

लौकाशाह के विचारो का देश भर म फैलाव हुआ । सबकी हृत्तत्री यकत हुई । किन्तु प्रत्येक आन्दोलन कुछ समय के पश्चात मन्द पड जाता है चिन्तनधारा भी धीमी हो जाती है । बीच मे यदि कोई प्रभावशाली व्यक्ति उदित हो जाय ता समाज पुन जागृत हो जाता है ।

महिमा पूजा के प्रलोभन मे या प्रवाह मे बहने से साधना विकृत हो जाती है। जो इस चक्कर मे पडता है वह पतित हुए विना नही रहता । वह फिर स अधोगामी हो जाएगा । राजसन्मान की कामना जब अन्तर मे उत्पन्न हा जाती है तो साधना का सारा चक्र बदल जाता है ।

इस तरह लौकाशाह के पश्चात् भी समय समय पर क्रियोद्धार के लिए अनेक महात्मा सामने आए और उन्ही का प्रताप है कि हम वीतराग की वाणी का लाम आज ले रहे है । यह उन्ही स्वाध्यायशील महर्षियो के कठिन परिश्रम का फल है । यह समयना बडी भूल होगी कि श्रुतरक्षा का भार साधुसमाज पर ही है गृहस्था पर नही । श्रमणवर्ग की अपेक्षा सघ एव समाज पर श्रुतरक्षण का भार अधिक है । मुनियो की छोटीसी टुकडी इधर-उधर बिखरी हुई है । उनका सर्वत्र पहुँचना समव नही है । गृहस्थ वर्ग को वीतराग की वाणी का प्रसार करने की अनेक सुविधाए प्राप्त है। उसके प्रसार का अर्थ यह है कि जिनासुजना को श्रुत की प्रतिया सुलभ हा युगानुकूल भाषाशैली मे उनका अनुवाद हो उनके महत्व को प्रदर्शित करने वाली सामग्री प्रस्तुत हो समालोचनात्मक एव तुलनात्मक पद्धति स उनका अध्ययन मनन करके उन पर सुन्दर प्रकाश डाला जाय इत्यादि । छोटे स छाट ग्रामो मे भा आगम उपलब्ध किय जान चाहिए । वहा अगर स्वाध्याय चलता रहे तो साधु सन्ता क न पहुँचने पर भी धार्मिक वातावरण बना रह सकता है ।

आज देश मे युद्ध का वातावरण होने से सकट का काल है, उसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से भी यह सकटकाल हे । आज का मानव भौतिक वस्तुओं और आवश्यकताओ मे इतना लिप्त हो गया हे कि वह धर्म को सुध भूल रहा हे । ऐसे समय मे धर्मप्रिय लोगो को विशेष रूप से सजग होना चाहिए । साक्षरता के इस युग मे अन्यान्य विषयो को पढ़ने की रुचि यदि धर्मशास्त्र पठन रुचि मे बदल जाय तो कुछ कमियाँ दूर हो जायँ । आज तो स्थिति ऐसी हे कि अध्यात्म साधना के लिए समय निकालना लोगो को कठिन प्रतीत हो रहा है यदि लगन वाले लोग इस ओर ध्यान दे तो बड़ा लाभ होगा । धर्म के प्रति रुचि जगाने के लिए ऐसे व्यक्तियो की सेवा अपेक्षित है । आध्यात्मिक-सगठन के निर्माण के लिए तरुणो को तैयार किया जाना चाहिए ।

अजमेर मे एक मियासाहब प्रवचन सुनने आया करते थे । उन्होंने बतलाया कि नवजवानो मे इबादत करने की रुचि घट रही है । इबादत करने नहीं आने वाले नवयुवको की तालिका बनानी पड़ रही हे । इससे कुछ लाभ हुआ है । इबादत करने वालो की सख्या मे कुछ वृद्धि हुई हे । किन्तु आप लोग ऐसा प्रयास कहा करते है? महाजनो को तो जन्म से ही अर्थ की घूटी पिलाई जाती हे । पचहत्तर वर्ष के वृद्ध भी अर्थ-सचय मे सलग्न रहते हे । जिन लोगों ने अर्थ को ही जीवन का सर्वस्व या परमाराध्य मान लिया हे और जिनका यह सस्कार पक्का हो गया है, उनके विषय मे क्या कहा जाय ? मगर नयी पीढ़ी को अर्थ की घूटी से कुछ हटा कर धर्म की घूटी दी जाय तो उनका और शासन का भला होगा ।

गृहस्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो की साधना कर सकता है । वृद्धावस्था मे ईश्वर-भजन मे अधिक समय व्यतीत हो, इस परम्परा को पुनः जीवित करने की आवश्यकता है । नयी पीढ़ी के जीवन का मोड़ बदलना आवश्यक है । श्रावकवर्ग यदि श्रुतसेवा के मार्ग को अपना ले तो वह अपने धर्म का पालन करता हुआ श्रमणो को भी प्रेरणा दे सकता हे ।

स्वाध्याय की ज्योति घर-घर मे फैले, लोगो का अज्ञान दूर हो, वे प्रकाश मे आए और आत्मा के श्रेय मे लगे, यही सैलाना–वासियो को मेरा सन्देश है ।

---

[८४]

विदाई की वेला में

भगवान् महावीर ने जीवन को उच्च बनाने और आत्मा को निर्मल बनाने के लिए रत्नत्रयी का सन्देश दिया है जिसम (१) सम्यग्ज्ञान (२) सम्यग्दर्शन और (३) सम्यकचारित्र का समावेश होता है। साधु साध्वीवर्ग इन तीन रत्नो की उपासना को ही अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य मान कर प्रवृत्ति करता है। श्रावक-श्राविकाओ को भी यथाशक्ति इनकी आराधना करनी होती है। इनकी यथासभव आराधना से ही श्रावक श्राविका का पद प्राप्त होता है।

अपनी श्रेयस् साधना के लिए ही साधु साध्वीवर्ग निरन्तर भ्रमण करते रहते है-एक स्थान पर स्थिर रह कर निवास नही करते। यदि साधु साध्वी एक स्थान मे रहे तो उनका जीवन गतिशील नही रह जाएगा। सत एक विशिष्ट लक्ष्य को लेकर चलते है। वह लक्ष्य विराग से ही प्राप्त किया जा सकता है। न किसी पर राग न किसी पर द्वेष हो। समभाव या तटस्थ वृत्ति का जीवन म जितना अधिक विकास होगा उतनी ही शान्ति और निराकुलता की प्राप्ति हो सकेगी। मनुष्य दुख शोक सन्ताप आदि से ग्रस्त रहता है इसका मूल कारण उसकी राग-द्वेषमय वृत्ति है। इसस पिण्ड छुडाना सुख शान्ति और आत्मकल्याण के लिए आवश्यक ही नही अनिवार्य भी है।

एक स्थान मे स्थिर रहने से स्नेह सम्बन्ध आसक्ति के रूप म न बदल जाय इस सम्भावना को ध्यान मे रखते हुए भगवान् ने सन्त सतियो के लिए सतत् विचरण करने का विधान किया है। प्रभु ने कहा-'ह साधको। भ्रमण करन से शारीरिक श्रम होगा काययोग का हलन-चलन होगा और धर्म की वृद्धि भी होगी। यदि तुम विचरणशील रहोग तो तुम्हारी कोई हानि नही होगी और दूसरो को लाभ होगा। कहा है-

वहता पानी निर्मला पडा गदीला होय।
साधु तो रमता भला दाग न लाग कोय।

साधु रमता-रमता कही भी चला जाता है । एक ग्राम या नगर मे अधिक से अधिक कितने दिनो तक ठहरना चाहिए, इसकी मर्यादा बाँध दी गई है । साधुओ के समान साध्वियो के लिए उग्र विहार का रूप नही है । उनके लिए एक जगह रहने का काल द्विगुणित माना गया है । कभी लोद का महीना आ गया या जीव-जन्तुओ का सचरण बन्द न हुआ या कोई अन्य विशेष कारण उपस्थित हो गया तो छह मास तक स्थिर-निवासकाल बढाया जा सकता है । किन्तु कारण के बिना उसे नही बढाया जा सकता । साधुओ की इस विहारचर्या का दूसरा उद्देश्य भगवान् वीतराग की ज्ञानगगा को दूर-दूर और सर्वत्र प्रवाहित करना भी है । आधियो, व्याधियो और उपाधियो से पीडित और अनेकविध सासारिक सन्तापो से सन्तप्त प्राणियो को शान्ति प्रदान करना है ।

चार मास के वर्षाकाल का साधना के चार मार्गो के साथ बड़ा ही सुन्दर मेल बैठता है । इस काल मे ज्ञान के आदान-प्रदान का कार्य चलता रहता है ।

हम आषाढ़ शुक्ला नवमी को सैलाना मे आए और कार्तिकी पूर्णिमा तक रहे । यहाँ के नागरिको की श्रद्धा, भक्ति, सुजनता तथा शील-व्यवहार का हमारे हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा है । चातुर्मास के समय कुछ साधु-साध्वियो को शारीरिक वेदना का अनुभव करना पड़ा, किन्तु अब वे स्वस्थ हो गए है । हमने अपनी चातुर्मासिक साधना का समय पूर्ण कर लिया है । लोगो की सरलता, सुजनता एव श्रद्धा से हमे बड़ा प्रमोद मिला है । सैलाना वासियो का धार्मिक योगदान बडा उत्तम रहा । यहाँ सघनायक न होते हुए भी आदर-सम्मान की प्रवृत्ति, साधुओ के प्रति, श्रद्धाभक्ति ऐसी थी जैसे सब एक शासन सूत्र मे बँधे हो । अब नियमित रूप से सघ का निर्वाचन हो गया है और श्री तखतमलजी अध्यक्ष, श्री राकाजी उपाध्यक्ष एव लोढ़ाजी मन्त्री चुने गए है । ये निर्वाचित पदाधिकारी भविष्य मे अधिक उत्साह और शक्ति के साथ कार्य करेगे, ऐसी आशा है ।

यहा के बालको तथा नवयुवको ने बहुत उत्साह दिखलाया । इन भाइयो से मै अपेक्षा रखता हूँ कि वे शारीरिक श्रम के कार्यों मे रुचि लेते रहेगे तथा ज्ञान का बल संचित करके अपने अन्तरग और बहिरग को क्षमतायुक्त बनाएँगे । इन्हे ससार के उत्तरदायित्वो का निर्वाह करना है और शासन के उत्थान का भार भी वहन करना है। जीवन भव्य, दिव्य एव आध्यात्मिक दृष्टि से उच्च्य बनाने की दिशा मे प्रयास करना सर्वोपरि कर्त्तव्य है, इस तथ्य को आपको कभी विस्मृत नही करना चाहिए । जन-साधारण मे नैतिक और आध्यात्मिक जागरण आये बिना किसी भी देश की उन्नति लगड़ी है । वह टिकाऊ नही होगी । अतएव राष्ट्रीय उन्नति के दृष्टिकोण से भी धर्म के प्रचार की अनिवार्य आवश्यकता है ।

सैलाना म २०-२० वर्ष पूर्व से ज्ञानापासना की रुचि रही है । मै चाहता हूँ कि मेरे जाते जाते आप लाग प्रतिज्ञाबद्ध होकर आश्वासन देंगे कि आप निरन्तर धर्म की सेवा करेंगे और जीवन का उच्च बनाएँगे । आप एसा करेग ता मुझ अतीव सन्तोष होगा ।

जो कुछ खाया जाता है उस पचाने स ही शरीर पुष्ट होता है । प्रवचना द्वारा आपने जो कुछ ज्ञानसग्रह किया है उसका उपयोग करन का अब समय है । ऐसा करने से आपका जीवन सुखमय बनेगा ।

भूमि म बीज पडने से और अनुकूल हवा पानी आदि का सयोग मिलन स अकुर फूट निकलते हैं । भूमि म बीज जब पडता है तो भूमि उसे ढँक लती है । आपके हृदय रूपी खेत म धर्म के बीज डाले गए है सिचाई भी हा गई है । अब उन्हे सुरक्षित रखना और फल पका कर खाना यह हम आपके हाथ म छोड जान है। अगर आप उन फला का ठीक तरह से उपभोग करेंगे तो अपना जीवन सफल बना लगे ।

एक छोटा सा व्यक्ति भी यदि बस्ती के कार्यों मे रस ले तो दूसरे उसका अनुकरण करते है । सत्कर्म भी अनुकरणीय है । यहा साधुओ की वाणी को सुनने कृषकबन्धु तथा अन्य काम काजी लोग भी आए । यदि सत्सग का क्रम निरन्तर चलता रहा तो ज्ञान सदा जागृत रहेगा ।

आज कोई विशेष नवीन बात नही कहनी है पिछले दिना कही गई बाता को ही सामान्य रूप से स्मरण कराना है और उनकी आर सदा ध्यान रखने की प्ररणा करनी है ।

आनन्द का श्रावकमार्ग आपके लिए ज्वलत उदाहरण बन । ऊँच कुल म जन्म लेन मात्र से कोई भक्त या ऊँचा नहा होता अच्छी करनी करन स भक्त बनेगा और ऊँचा कहा जाएगा । आरम्भ-परिग्रह का आकर्षण अनर्थों का मूल है । इसे नियन्त्रित करने का सदैव ध्यान रखना चाहिए । सदैव जीवन को सयममय बनान का प्रयत्न करना चाहिए । राष्ट्रीय सकटकाल म यदि मानव सयम नहा रखगा ता देश की महती हानि होगी । प्रदर्शन करने और महला म सोए पड रहने के दिन लद गए। अब सादगी स्वावलम्बन, श्रमशीलता वैयक्तिक स्वार्थ के त्याग तथा धर्मसाधना क प्रति आदर का युग है । धर्म सजीवनी बूटी के समान सारे ससार क त्रास को नष्ट करने वाला है । धर्म से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का भी कल्याण होगा ।

जिसके जीवन म सत्य, सरलता श्रमशीलता और धर्मनिष्ठा आ जाती है वह समाज म स्वत आदरणीय बन जाता है । आनन्द का सयममय

अनुकरणीय बन गया । उसने अपने जीवन के साथ अपनी पत्नी के जीवन को भी सयम के मार्ग पर चलाया । व्रत ग्रहण कर घर लोटते ही अपनी पत्नी को व्रतग्रहण की प्रेरणा की । पत्नी ने भी भगवान् के चरणो मे उपस्थित होकर श्राविका के योग्य व्रतो को अगीकार किया । इस प्रकार पति और पत्नी दोनो अनुरूप हो गए ।

पति ओर पत्नी के विचार एव आचार मे जब समानता होती है तभी गृहस्थी स्वर्ग बनती हे ओर परिवार मे पारस्परिक प्रीति एव सद्‌भावना रहती है । जिस घर मे पति-पत्नी के आचार-विचार मे विरूपता-विसदृशता होती हे, वहाँ से शान्ति और सुख किनारा काट कर दूर हो जाते हे । पत्नी-पति का आधा अग कही गई है, इसका तात्पर्य यही हे कि दोनो का व्यक्तित्व पृथक्-पृथक् प्रकार का न होकर एकरूप होना चाहिए । दोनो मे एक-दूसरे के लिए समर्पण (स्व-अर्पण) का भाव होना चाहिए। जैसे आदर्श पत्नी स्वय कष्ट झेल कर भी अपने पति को सुखी बनाने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार पति को भी पत्नी के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए । दोनो मे से कोई एक यदि श्रावकधर्म से विमुख होता हो तो दूसरे को चाहिए कि वह प्रत्येक संभव और समुचित उपाय से उसे धर्मोन्मुख बनावे । महारानी चेलना ने किस प्रकार धर्म मे दृढ़ रह कर सम्राट श्रेणिक को धर्मनिष्ठ बनाने का प्रयास किया था, यह बात आप जानते होंगे ।

आनन्द दूरदर्शी गृहस्थ था । उसने सोचा कि घर मे विषमता होने से शान्ति प्राप्त न होगी । अतएव उसने अपनी पत्नी शिवानन्दा से कहा—"मेने बारह व्रत अगीकार किये हे, देवानुप्रिये ! तू भी प्रभु के चरणो मे जाकर व्रत अगीकार कर ले।" शिवानन्दा ने अतीव हर्ष और उल्लास के साथ व्रत स्वीकार कर लिये ।

भगवान् महावीर स्वामी के सप्तम पट्टधर आचार्य श्री स्थूलभद्र ने महामुनि भद्रबाहु से दस पूर्वो का ज्ञान अर्थसहित और अन्तिम चार पूर्वो का ज्ञान सूत्र रूप मे प्राप्त किया । भद्रबाहु के पश्चात् स्थूलभद्र ने कोशलपूर्वक शासनसूत्र सभाला । उस काल तक वीरसघ मे किसी प्रकार का शाखाभेद नही हुआ था । वह अखड रूप मे चल रहा था । श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि भेद बाद मे हुए ।

स्थूलभद्र के आचार्यत्व काल के ४४ वे वर्ष वीर नि. स. २१४ मे आषाढाचार्य के शिष्य अव्यक्तवादी निन्हव हुए ।

आषाढाचार्य का अन्तिम समय सन्निकट आया । उनके शरीर मे प्रबल वेदना उत्पन्न हुई और उनकी जीवनलीला समाप्त हो गई । वे अपने शिष्यो को जो वाचना दे रहे थे, वह पूर्ण नही हो पाई थी, अतएव धर्मस्नेह के कारण स्वर्ग से आकर वे अपने मृतक शरीर मे पुन· अधिष्ठित हो गए । प्रात.काल शिष्यो को जगाकर वाचना

पूरी की। अन्त मे उन्होंने इस रहस्य को प्रकट कर दिया। बतलाया कि 'मै शरीर त्याग कर स्वर्ग चला गया था और पुन इस शरीर म अधिष्ठित हो गया हू।

इस प्रकार गुरु के रूप म देवता ने काम किया। शिष्या न उनके शरीर को त्याग दिया। मगर इस घटना ने विषम रूप धारण कर लिया। कतिपय साधुआ के मस्तिष्क मे एक व्यापक सन्देह उत्पन्न हो गया। उन्हाने सोचा हमने असयमी दव को साधु समय कर वन्दना की। ऐसी स्थिति म क्या पता चल सकता है कि कौन वास्तव मे साधु है और कौन साधु नही है ? बेहतर है कि कोई किसी का वन्दना ही न करे।

इस प्रकार विचार कर उन्होने आपस मे वन्दन व्यवहार बन्द कर दिया। स्थविरो न उन्ह समझाया-वह वास्तव मे साधु नही था देव था यह आपने कैसे जाना ? देव क कहने से ही न। अगर आप दव के कथन पर विश्वास कर सकत है तो जो साधु अपने को साधु कहत है उनके कथन पर विश्वास क्या नहा करत ? देव की अपेक्षा साधु का कथन अधिक प्रामाणिक होता है। फिर भी आप दव क कहन को सत्य समय और साधु के कथन को असत्य समझल यह न्यायसगत नहा है।

इस प्रकार बहुत कुछ समझाने बुझान पर भी वे सन्देहग्रस्त साधु समझ न सके। तब उन्हे सघ से पृथक कर दिया गया।

पृथक हुए साधुआ की मडली घूमती घूमती राजगृह नगर म पहुँची। वहा के राजा उस समय बलभद्र थे। उन्ह इन साधुआ की भ्रान्त धारणा का पता चल चुका था। बलभद्र जिनमार्ग के श्रद्धालु श्रावक थे। अतएव उन्हाने इन साधुआ को सन्मार्ग पर लाने का निश्चय किया। अपने सवको द्वारा साधुआ का बुलवाया। साधुआ के आने पर राजा ने आज्ञा दी- इन सबको मदोन्मत्त हाथिया क पैरा म कुचलवा दिया जाय।

देखने सुनने वाले दग रह गए। राजसभा म सन्नाटा छा गया। साधुआ के पैर तल की धरती खिसक गई। लोगा न राजा के भीतरी आशय का समझा नहा था अतएव उनके हृदय म उथल-पुथल मच गई। मगर राजा क आदेश क सामने कोई चू न कर सका।

मदमस्त हाथी लाये गये और साधु एक कतार म खड कर दिये गये। साधुआ के सिर पर मौत मडराने लगी। अपना अन्तिम समय समझ कर उनम से एक साधु ने न्याय करन का विचार किया। उसने सोचा- जब मरना है तो डरना क्या? तो आखिर राजा स पूछ तो लेना चाहिए कि किस अपराध म हम पर भयकर

मृत्युदण्ड दिया जा रहा है । राजा क्रुद्ध भी हो गया तो प्राणनाश से अधिक क्या करेगा ? सो वह तो कर ही रहा है । सभव है हमे अपनी सफाई पेश करने का अवसर मिल जाय ।"

इस प्रकार विचार कर साधु ने कहा—"राजन् ! आप श्रावक होकर भी क्यो हम निरपराध साधुओ के प्राण ले रहे है ?"

राजा को अपनी बात समझाने का अवसर मिल गया । उसने उत्तर दिया—"कौन जाने आप लोग साधु है अथवा साधु के वेष मे चोर है ? आप अपने को साधु कहते है मगर आपके कथन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? जब आप लोगो को आपस मे ही एक-दूसरे पर विश्वास नही, आपमे से कोई किसी को निश्चित रूप से साधु नही मानता, फिर हम कैसे आपको साधु मान ले ? अगर आप एक-दूसरे को साधु समझते होते तो परस्पर वन्दना व्यवहार करते ।"

राजा के इतना कहते ही साधुओ की बुद्धि ठिकाने आ गई । उन्होने अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप किया ।

जब शासन मे किसी प्रकार का विसवाद उत्पन्न हो और शासन का अपवाद होता हो तो श्रावक ढाल बन जाता है ओर परिस्थिति को सुधारने का काम करता है। भीतर मे वह कान पकड़े तो भी कोई बुरा नही मानता ।

साधुगण राजा बलभद्र से क्षमायाचना करके गुरुचरणो मे जा पहुँचे ।

वीर निर्वाण सम्वत् २१५ मे स्थूलभद्र स्वर्गधाम सिधारे । इन्ही महामुनि स्थूलभद्र की श्रुताराधना का सुफल हम आज भोग रहे है । हमे इस मगलमय जीवन के चिन्तन का अवसर मिला, यह हमारे कल्याण का कारण बनेगा ।

बन्धुओ ! आपके समक्ष जो आदर्श उपस्थित किए गए है, वे आपके पथ-प्रदर्शक बन सकते है । आप इनसे प्रेरणा लेते रहेगे तो आपका जीवन कल्याणमय बन जाएगा । स्वाध्याय के सम्बन्ध मे पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । आशा करता हूँ कि आप स्वाध्याय की धारा को टूटने नही देगे । उपाश्रय रूपी विद्यालय मे अध्यापक की छड़ी नही घूमेगी, फिर भी आप लोग स्वयचालित अस्त्र के समान चलते रहिए । इन शब्दो के साथ मै आह्वान करता हूँ कि भगवान् महावीर की मगलमयी वाणी को हृदय मे धारण कर स्व-पर एव लौकिक-लोकोत्तर कल्याण के भागी बने ।

गुरु-गजेन्द्र-गणि-गुणाष्टकम्

वसन्ततिलकावृत्तम्

(१)

ह तात । हे दयित । ह भुवनैकवन्द्यो ।
शोभानिधे । सरल । हे करुणैकसिन्धो ।

त्वामाश्रितो गुरु गजेन्द्र जगच्छरण्य ।
मा तारयाशु भवयेत्तु भवाब्धिपोत ।

हे प्राणाधिक वल्लभ तात । हे त्रिभुवन के एकमात्र वन्द्य । ह शोभा के सागर । हे नितान्त सरल । करुणा के अथाह सिन्धु । ससार क सचराचर प्राणिवर्ग का शरण प्रदान करने वाले गुरुवर गजेन्द्र । (श्री हस्तिमलजी महाराज साहब) मैं आपकी शरण म आया हूँ । हे भवसागर से पार उतारने वाले महान् जहाज । मुझे शीघ्र ही ससार सागर से पार उतारिय ।

(२)

स्वाध्यायसघ-सहधर्मितमा न सेवा
सिद्धान्त शि ाविधौ विविधोपदेशा ।

अध्यात्मभावनपरास्तव स्वनादा
गुञ्जन्ति देव । निखिल महिमण्डलेऽस्मिन् ।।

ह गुरुदेव । स्वाध्याय सघ सहधर्मि वात्सल्य समाज सेवा एव शास्त्रा क शिक्षण क सम्बन्ध म आपक विविध शिक्षा क उपदेश और अध्यात्म भाव का प्रबुद्ध कर दन वाल आपक स्वनाद इस सम्पूर्ण महिमण्डल म गूज रह है ।

(३)

क्षोण्या सदा तिलकभूतमरोर्धरायाम्,
राठोड़वशक्षितिपै परिपालितायाम् ।

रूपा-सती-तनय ! केवलचन्द्रसूनो !
जन्माभवत् तव कले मदभञ्जनाय ।।

हे रूपासती के लाल—श्री केवलचन्द्रजी के आत्मज ! आपका जन्म कलिकाल के प्रभाव को निरस्त करने के लिये, राठोड़ वश के राजाओ द्वारा सुशासित-सुरक्षित सदा सकल महीमण्डल की तिलक स्वरूपा मरुभूमि मे हुआ ।

(४)

तिर्यक्-नृ-नारक-निगोद-सुरासुराणा,
वभ्रम्य योनिनिवहेषु चिरोघकालम् ।

पूर्वार्जितै. शुभतरैर्गणिवर्यपुण्यै,
लब्धास्ति ते चरणरेणु-पुनीत-सेवा ।।

हे आचार्य प्रवर ! मुझे नरक, निगोद, तिर्यञ्च, मानव, देव, असुर आदि चौरासी लाख जीव योनियो मे अनन्त काल तक भटकने के पश्चात् पूर्व जन्मो मे उपार्जित अतीव शुभ पुण्यो के फलस्वरूप आपके चरणारविन्दो की पवित्र रज की सेवा प्राप्त हुई है ।

(५)

रत्नत्रयं दुरित-दुर्गक्षयैक वज्र,
प्राप्तोऽस्मि पूज्य ! तव भूरि दया प्रसादात् ।

मिथ्यात्व मोह-ममता-मद-लुम्पका. मा,
कि हा तथापि न हि देव ! परित्यजन्ति ।।

हे पूज्यवर ! आपकी असीम दया के प्रसाद से, मुझे पापो के गढ़ को नष्ट करने मे पूर्णत· सक्षम, वज्रतुल्य रत्नत्रय प्राप्त हुआ है । तथापि हे आराध्यदेव ! यह दुख की बात है कि ये मिथ्यात्व, मोह, ममत्व और मद रूपी लुटेरे मेरा पीछा क्यो नही छोड रहे है ?

(६)

लब्धोऽसि हे कुशलवत्र धुराधुरीण ।
ससार तारणविधौ पटुकर्णधार ।
चित्त कषाय-निखिलार्ति हरौषध त्वा
कल्पद्रु मामपि प्राप्त सुपीडिताऽस्मि ।।

हे कुशल वत्र-श्रमण परम्परा के कुशल धुराग्रणी नायक । भव्यो को ससार सागर से पार लगाने वाले आप जैसे समर्थ कर्णधार मुझे मिल गये है । मुझे बडा आश्चर्य हो रहा है कि विषय कषायो तथा सब प्रकार के दुख द्वन्द्व को नष्ट कर देने मे समर्थ दिव्य औषधि तुल्य एव सभी इच्छाओ को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के समान आपको पाकर भी मै (भव रोग से) पीडित हूँ ।

(७)

नाम्नापि ते गुरु गजेन्द्र । लय व्रजन्ति,
विघ्नोपसर्ग दुरितौघभव प्रपञ्चा ।
साक्षात् विबोध । तव दर्शन-वन्दनेन
कर्मारयोयदिलय ति किमत्र चित्रम् ।।

हे गुरुदेव गजेन्द्राचार्य । आपका नाम लेते ही सभी प्रकार के विघ्न, उपसर्ग, पापपुज और ससार के प्रपञ्च तिरोहित हो जाते है तो हे मूर्तिमान् कल्याणकुञ्ज आपके दर्शन और वन्दन से यदि कर्मशत्रु नष्ट होते है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

(८)

प्रातर्नमामि मनसा तव नाममन्त्र
मध्यऽह्नि ते स्मरणमस्तु सदा गजेन्द्र ।
साय च ते स्मरणमस्तु शिवाय नित्य,
नान्यैव ते वसतु मे हृदयऽम्बुजेऽपि ।।

हे गजेन्द्राचार्य । मै प्रातःकाल आपके नाममन्त्र का अन्तमन से जप करता हूँ । मध्याह्न मे भी आपके मगलकारी नाममन्त्र का स्मरण रहे । नित्य ही सायकाल के समय मे भी कल्याण के लिए आपका स्मरण रहे । हे देव । हमारे हृदय मे केवल आपका कल्याणकारी नाम ही बसा रहे ।